अथर्ववेद संहिता

भाषा-भाष्य

भाग २

❀ ओ३म् ❀

अथर्ववेद संहिता

भाषा-भाष्य

(द्वितीय खण्ड)

भाष्यकार

श्री पण्डित जयदेव शर्मा,

विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ

संपादक

श्री विश्वनाथजी विद्यालंकार

वेदोपाध्याय गुरुकुल कांगड़ी.

प्रकाशक

आर्य साहित्य मण्डल, लिमिटेड, अजमेर

मुद्रक—

दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर.

तृतीयावृत्ति ७५० | सं० २००८ वि० | मूल्य ८) रुपये

म० मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से
फाइन आर्ट प्रिन्टिंग प्रेस, अजमेर में
मुद्रित.

द्वितीय खण्ड की भूमिका

ेद के सम्बन्ध में हमने सामान्यतः प्रथम खण्ड की भूमिका ...किया है। इस द्वितीय खण्ड की भूमिका में हम कुछ अन्य विवादास्पद विषयों पर अपने विचारों को स्पष्ट करना चाहते हैं।

अथर्ववेद में जादू टोना, अभिचार, कृत्या, मणि, वशीकरण, उच्चाटन, मोहन, झाड़ा फूंका आदि नाना तान्त्रिक प्रपञ्चों की बातें कौशिक सूत्र के आधार पर प्रायः मानी जा रही हैं। श्री सायणाचार्य कृत माधवीय वेदार्थ-प्रकाश में प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में विनियोगों को दर्शा कर पुनः भाष्य किया गया है। उससे सर्व-साधारण की यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि ये सब विनियोगों में कही बातें जैसी की तैसी अथर्ववेद में विद्यमान हैं।

इस सम्बन्ध में पूर्व खण्ड की भूमिका में हमने 'अथर्ववेद और जादू टोना' इस शीर्षक के नीचे [पृष्ठ १८–२३ तक] दिग्दर्शन ... है। वहीं हमने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है। उसको ...ः न दोहरा कर इस भूमिका में मुख्यतः मणि, कृत्या, अभिचार, भूत, पिशाच, ओदन, पशुबलि तथा कुछ घृणित और मूर्खतापूर्ण विधानों पर प्रकाश डालेंगे।

(१) मणि

प्रथम नव काण्डों में से लगभग तीस सूक्तों के विनियोगों में श्री सायणाचार्य और उनके सम्पादक श्री शङ्कर पाण्डुरंग ने मणि बांधने का उल्लेख किया है। यह 'मणि' क्या पदार्थ है और वेद में 'मणि' शब्द से क्या पदार्थ अभिप्रेत है इसकी आलोचना करते हैं।

मणि शब्द का अर्थ

उणादि सूत्र 'सर्वधातुभ्य इन्' (४ । ११८) के अनुसार 'मणि शब्दे' (भ्वादिः) धातु से 'इन्' प्रत्यय करने से 'मणिः' शब्द सिद्ध किया है । अपने भाष्य में महर्षि श्री दयानन्द सरस्वती—मणति शब्दयतीति 'मणिः' यह अर्थ लिखते हैं । अर्थात् जो उपदेश दे वही 'मणि' है । फलतः वह पुरुष जो उपदेश दे, शिक्षा दे, मार्ग दिखावे, नेता, शिरोमणि, उपदेष्टा, गुरु, मार्गदर्शी आदि 'मणि' शब्द से कहे जाने योग्य हैं । इसी प्रकार 'मनु ज्ञाने' (दिवादिः) 'मन स्तम्भे' (चुरादिः), 'मनु अवबोधने' (तनादिः) इन तीन धातुओं से 'इन्' प्रत्यय और छान्दस णत्व करने से 'मणि' शब्द सिद्ध होता है । इससे मणि शब्द से तीन अर्थों का लाभ होता है (१) जो ज्ञानवान् हो, (२) जो थामे और (३) शत्रुओं का स्तम्भन करे, राज्य आदि का कोई भार अपने ऊपर ले, और जो दूसरों को ज्ञान करावे, चेतावे, बुद्धि देवे, ये सब अर्थ 'मणि' शब्द से कहे जाने योग्य हैं । लोक में 'मणि' रत्न का वाचक है । इसकी व्युत्पत्ति मडि धातु से करके शोभाजनक रत्नादि का वाचक 'मणि' शब्द बना लेते हैं ।

कौशिक सूत्रों में जहां 'मणि' बांधने आदि का प्रकरण है वहां किसी भी निर्दिष्ट पदार्थ को अभिमन्त्रित करके उसकी गुटिका बना कर या मणका बना कर या तावीज या पुटिका बनाकर बाहु, गले, कटि आदि भागों में पहनने के पदार्थ को ही 'मणि' शब्द से कहा गया है । ओषधि आदि भी धारण द्वारा रोगों को दूर करने से 'मणि' कहा सकती है । परन्तु वेद में जहां जहां मणि शब्द का प्रयोग है वहां वहां क्या पदार्थ लेना चाहिये यह तो मन्त्र में प्रयुक्त मणि शब्द के विशेषणों से ही जानना चाहिये । अन्यथा अनर्थ होगा । उदाहरण के रूप में क्रम से विचार करते हैं ।

(१) कृष्णल मणि—अथर्ववेद [का० १ । सू० ९] अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु०' इस सूक्त से दो कृष्णल मणि धारण करने को लिखा है । इस सूक्त में ४ मन्त्र हैं । चारों मन्त्रों में कहीं भी मणि शब्द का प्रयोग नहीं है । फलतः यह विनियोग मूर्खतायुक्त है । इस सूक्त का प्रयोग राष्ट्रच्युत राजा को पुनः राज्यासन पर बैठाने के लिये भी होता है । आयु, बल, वीर्य आदि प्राप्ति के कार्यों में भी इसका विनियोग है । राजा के लिये बल, वीर्य और ब्रह्मचारी के लिये बल, वीर्य प्राप्त करनेपरक जो उत्तम उत्तम उपदेश निकलते हैं वही इस सूक्त के समुचित अर्थ हैं । यह भाष्य में देखिये ।

(२) 'शुक्ल वीरण-इषीका मणि'—उद्विग्न पुरुष के उद्वेग-नाश के लिये श्वेत सरकण्डे के सींक की बनी मणि को 'उप प्रागाद् देवः० [अथर्व० १।२८॥] इस सूक्त से धारण करने के लिये लिखा है । इस सूक्त में भी कहीं मणि शब्द का प्रयोग नहीं है । कौशिक ने भी मणि का नाम नहीं लिया, प्रत्युत वीरण की चार सींकें लेकर उनको दोनों तरफ से बांधने और दो जलती लकड़ियों को परस्पर रगड़ने की क्रिया लिखी है । जिसका अभिप्राय यह है कि यदि राजा को भय हो तो उसे आथर्वणिक विद्वान् यह उपदेश करे कि जैसे एक एक सींक कमज़ोर है, ऐसे अकेला पुरुष निर्बल है । । जैसे चार सींकें बंधकर मज़बूत हो जाती हैं उसी प्रकार कमज़ोर पुरुषों का भी संगठन कर लो । दूसरे जिस प्रकार एक जलती अकेली लकड़ी बुझ जाती है और कम जलती है, दो के मिलाने से दोनों अधिक ज्वाला देकर जलती हैं उसी प्रकार अग्नि के समान राष्ट्र के तेजस्वी पुरुषों को मिला कर प्रचण्ड करो और शत्रु से मुकाबला करो, फिर शत्रु से भय नहीं । इसी आशय को वेद मन्त्र में 'अग्नि' शत्रुसंतापक राजा के वर्णन में दर्शाया गया है । वह अग्नि अर्थात् अग्रणी नेता, सेनानायक, राक्षसों का नाश-कारी, यातुधानों अर्थात् पीड़ाजनक पुरुषों का नाशक है, वह राष्ट्र में

समस्त प्रकार के अनर्थकारी लोगों का दमन करे। इस प्रकरण को पाठक भाष्य में स्पष्ट देखें।

(३) अभीवर्त्त मणि—रथनेमि मणि या रथचक्र-नेमि मणि। अथर्व० का० १। सू० २८॥ 'अभीवर्त्तेन मणिना०' इत्यादि सूक्त से शत्रु से पीड़ित राष्ट्र की वृद्धि के लिये उक्त 'मणि' नाम देता है। कौशिक 'रथनेमि मणि' बतलाता है। वेद 'अभीवर्त्त' मणि कहता है। तो सन्देह होता है कि यह पदार्थ क्या है। मन्त्र में कौशिक ने तो अयः-सीसलोहरजतताम्रवेष्टितहेमनाभि' रथनेमि मणि का स्वरूप बतलाया है अर्थात बीच में सोने के छल्ले पर क्रम से लोहा, सीसा, चांदी आदि के छल्ले लगे हों, वह पहना जाय। परन्तु इससे राष्ट्र की वृद्धि हो यह असम्भव है।

वेद तो कहता है—'येन मणिना इन्द्रः अभि वावृधे' जिस 'मणि' से इन्द्र ऐश्वर्यवान् राजा बढ़ता है, 'ब्रह्मणस्पते तेन अभीवर्त्तेन राष्ट्राय अस्मान् वर्धय' हे विद्वान् वेदज्ञ ! तू उस अभीवर्त से हम राष्ट्र के वासी को या प्रजा को शक्ति प्रदान करता और राजा को भी शक्ति प्रदान करता है, अर्थात शत्रु के बल को रोकने वाला पुरुष जो नगर को चारों ओर से सुरक्षित रक्खे वह नरमणि, शत्रु-स्तम्भक पुरुष 'अभीवर्त्त मणि' है। इसी की व्याख्या वेद अगले मन्त्र में करता है कि—'नः सपत्नान् अभिवृत्य पृतन्यन्तं अभि तिष्ठ' जो हमारे शत्रु हों उनके मुकाबले पर डट जाय और सेना से चढ़ाई करने वाले का मुकाबला करे और 'यः नः दुरस्यति तम् अभितिष्ठ' जो हम पर दुःखदायी शस्त्र फेंके उसका मुकाबला करे। वह पुरुष वीरश्रेष्ठ पुरुष-'मणि' है। इसी प्रकार वह मणि 'सपत्नक्षयण' (म० ४) शत्रुनाशक कहा गया है। उसको शत्रुओं के पराजय के लिये नियुक्त किया जाता है। राजा भी कहता है कि ऐसा नरपुङ्गव सेनापति ही 'मह्यं राष्ट्राय सपत्नेभ्यः पराभुवे बध्यताम्' मेरे राष्ट्र के शत्रुओं के पराजय करने के लिये बांधा जाय, नियुक्त किया जाय

यहां 'बध्यताम्' का अर्थ बांधा जाय है। केवल तावीज ही नहीं बांधा जाता है प्रत्युत अर्थ या धन द्वारा किसी पुरुष को रक्षा के कार्य पर नियुक्त किये जाने को भी 'बांधा जाना' कहा जाता है। जैसे महाभारत में भीष्म पितामह ने कहा है 'बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः।' मुझे कौरवों ने धन से बांध रक्खा है। भाषा तक में प्रयोग होता है, नौकरी बंध गयी, वेतन बंध गया अर्थात् नियत होगया। फलतः यहां भी कोई तावीज नहीं है। प्रत्युत 'मणि' शब्द से शिरोमणि नेता, शत्रुस्तम्भक पुरुष ही अभिप्रेत है। उसके मानपद के सूचक चिह्न को गौण रूप से 'मणि' शब्द से कहा जा सकता है। जैसे विशेष पदाधिकारी लोगों को पदक दिये भी जाते हैं।

(४) हिरण्यमणि—(अथर्व० १।३५॥) सूक्त से पूर्व कहे कृष्णलमणि और हिरण्यमणि दोनों के बांधने का विनियोग है। यद्यपि वेद में 'हिरण्य' शब्द का प्रयोग अवश्य है। परन्तु वर्णन है 'यदाबध्नन् दाक्षायणा: हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमाना:।' शुभ संकल्प वाले दाक्षायणों ने शतानीक को 'हिरण्य' बांधा। इस सूक्त भरमें मणि शब्द का प्रयोग नहीं। दूसरे यौगिक अर्थ से स्पष्ट है कि दाक्षायण अर्थात् दक्ष = बल और ज्ञान के एकमात्र स्थानभूत पुरुषों ने सैकड़ों सेनाओं के नायक को 'हिरण्य' बांधा। यहां 'हिरण्य' से सुवर्ण, बल और आत्मसामर्थ्य ही प्रतीत होता है। दूसरे मन्त्र में हिरण्य को 'दाक्षायण 'हिरण्य' कहा गया है। अर्थात् बल, उत्साह, क्रियाशक्ति को बढ़ाने वाला 'हिरण्य' है। हिरण्य अर्थात् वह पदार्थ जो हित भी हो और रमणीय भी हो। तृतीय मन्त्र में पहनने वाला स्वयं 'दक्षमाण:' अर्थात् बलवान् पुरुष है। वह तेज:स्वरूप 'हिरण्य' को धारण करता है। इसी प्रकार अथर्व० का० ५ में सू० २८ को भी हिरण्य-बंधन में लगाया गया है। उस में अमृत हिरण्य, आत्मा और आत्मिक बल का वाचक है। उसी को 'एकाक्षर' (५। २८।८) कहा है। वह सिवाय परब्रह्म

के दूसरा नहीं। वही महान् सेनापति के रूप में शत्रुओं के नाशक और उनको गिराने वाला 'भिन्दन् सपत्नानधरांश्च कृण्वत्' शत्रुओं को तोड़ता फोड़ता और नीचे करता हुआ बतलाया गया है। इस से केवल हिरण्य शब्द से सुवर्ण धातु निर्मित खंड लेना दूरदर्शिता नहीं है।

(५) जंगिड़—जंगिड़ का वर्णन अथर्ववेद में दो स्थानों पर आया है। एक, का० २। ४॥ में दूसरा, का० १९ सू० ३४,३५ में॥ इस मणि के धारण करने के सायण ने तीन प्रयोजन बतलाये हैं—१ कृत्या दूषण, २ आत्मरक्षा, ३ विघ्नशमन। यह किसी वृक्ष की लकड़ी का टुकड़ा समझा जाता है। यह वृक्ष बनारस की तरफ होता है। दारिल के मत में यह अर्जुन वृक्ष है। परन्तु वेद इस जंगिड़ का और ही महत्त्व बतलाता है। वह मणि 'विष्कन्ध-दूषण' (२ । ४ । १) अर्थात् शत्रु के सेना शिविरों को विध्वंस करता है और उसको 'दक्षमाणाः रणाय अरिष्यन्तः सदैव बिभृमः' बल का कार्य करते हुए हम जब युद्ध के लिये जाना चाहें तब के लिये हम उसे बांधें, धारण करें। वह स्वयं 'सहस्रवीर्यः' (२ । ४ । २) हजारों बल वाला है, उस के बल से 'व्यायामे सर्वा रक्षांसि सहामहे' (२।४।४) युद्धोद्योग काल में समस्त दुष्ट पुरुषों को पराजित करते हैं। वही 'कृत्यादूषिः' और 'अरातिदूषः' (२ । ४ । ६) अर्थात् शत्रु के गुप्त घातक प्रयोगों और शत्रुओं को भी नाश करने वाला है। वह मणि, नरशिरोमणि किस प्रकार का सेनानायक हो सकता है यह पाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं। वेद को जंगिड़ शब्द से वही अभिप्रेत है। वृक्ष के नाम और गुण तो उस वर्णन में श्लेष से कह दिये हैं। जिनका विस्तृत वर्णन १७ वें काण्ड में किया है, जिसको हम चतुर्थ खंड में दर्शावेंगे।

(६) 'यवमणि'—अथर्व० का० २। सू० ७ वें का विनियोग

शाप, क्रूर दृष्टि, पिशाच आदि के भय-निवारण के लिये यवमणि के बांधने को लिखा है। सूक्त भर में 'यवमणि' का नाम नहीं हैं। यवमणि से शायद पाठक समझेंगे जौ के दाने तावीज में भरकर बांध लिये जाते हैं। ठीक है, कौशिक, सायण आदि तो यही मान कर सन्तुष्ट हैं। परन्तु वेद ने 'यव' का स्वरुप भी बतलाया है। अथर्व० का० ९। सूक्त २। मं० १३ में—

अग्निर्यवः इन्द्रो यवः सोमो यवः।
यवयावानो देवाः यावयन्त्वेनम् ॥

अग्नि = अग्रणी पुरुष 'यव' है। 'इन्द्र' = ऐश्वर्यवान् राजा 'यव' है। 'सोम' = ज्ञानवान् आचार्य 'यव' है। समस्त विद्वान्, शासक लोग 'यव' को साथ लेकर अपने शत्रु का नाश करें। क्रूर पुरुषों की दृष्टि और दुष्ट पिशाचों के नाश के लिये कैसा 'यव' चाहिये इस का निर्णय स्वयं करना उचित है। जौ तो भूख की निवृत्ति के लिये है।

(७) दशवृक्षमणि—ढाक, गूलर, जामुन, काम्पील, स्रक्, बंध, शिरीष, स्रक्ति, वरण, बिल्व, कुटक, गृह्य, बलाबल, बेतस, शिम्बल, सिपुन, स्यन्दन, अर्णि, अश्मयोक्त, तुन्यु, पूतदारु, इन २१ वृक्षों में से किन्हीं १० वृक्षों की लकड़ी के छोटे छोटे टुकड़े लेकर मणि बनालें। वह 'दश वृक्षमणि' या शाकल मणि कही जाती है। उसको लाख और सोने में जड़ कर धारण करते हैं। इसका सम्बन्ध दो सूक्तों से है, अथर्ववेद २। ७। और ८। ७॥ इन में से (८। ७) में तो नाना ओषधियों का वर्णन है उक्त वृक्ष की मणि बना कर पहनने का कोई वर्णन नहीं है। और (२। ७) में 'दशवृक्ष' से दश प्राणयुक्त 'जीव' का वर्णन किया है। मणि-बन्धन का कहीं सूक्त भर में वर्णन नहीं है।

(८) स्राक्त्य मणि या तिलक मणि—वह स्रक्ति या तिलक वृक्ष की मणि बनायी जाती है। इसके बांधने के लिये दो सूक्त बतलाये

जाते हैं, एक अथर्व० (२ । ११) दूसरा अथर्व० (८ । ५) । प्रथम में 'स्रक्त्योऽसि प्रति सरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि' (२।११।१) इस शिरोमणि पुरुष को 'स्रक्त्य' कह कर उसका स्वरूप 'प्रत्यभिचरण' अर्थात् शत्रु के प्रति धावा करने वाला बतलाया गया है । उसके लिये आदेश है कि—'प्रति तम् अभिचर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः' जो हम से द्वेष करे और जिससे हम प्रेम नहीं करते हैं उस पर धावा कर दे । उसी के विशेषण हैं 'सूरिः', 'विद्वान्', 'तनूपान' शरीरों का रक्षक । अथर्व० (८ । ५) में भी वह 'वीर' वीर्यवान्, सपत्नहा, सहस्वान्, वाजी, उग्र आदि कहा है । कार्य भी बतलाया है—

स्राक्त्येन वै मणिना ऋषिणेव मनीषिणा ।
अजैषं सर्वाः पृतनाः विमृधो हन्मि रक्षसः ॥

इस सर्वद्रष्टा ऋषि के समान बुद्धिमान् स्राक्त्य मणि से मैं समस्त सेनाओं को विजय करूं, सब राक्षसों का विनाश करूं इत्यादि । यहां भी वीर सेनानायक पुरुषों का ही वर्णन है । गौण रूप में वीरों को प्राप्त होने योग्य विशेष चिह्न रूप मणि प्रतिदृष्टान्त के रूप में भले ही माना जा सकता है । हम समझते हैं कि पाठकगण इन नाना मणियों के विवेचन से अवश्य वास्तविक शिरोमणियों का अभिप्राय समझ गये हैं ।

शेष 'अस्तृत' आदि मणियों का वर्णन १९ वें काण्ड में होने से उसका स्पष्टीकरण वहां ही किया जायगा । विनियोग लेखकों ने (२ । १७) पाठा मूलमणि, (३ । ५) पर्णमणि, (३ । ६) अश्वत्थमणि, (३ । ७) हरिणशृङ्गमणि, (३ । ९) अरलु मणि, (३ । १६) सिंहनाभि लोममणि, (३ । २१) पलाशमणि, (३।२२) हस्तिदन्तमणि, (३ । २३) (३ । ३३) शरमणि, (४ । ९) आञ्जनमणि, (४ । १०) शंखमणि, (४ । २०) त्रिसांध्यमणि,

(४ । २०) पुष्पमणि, (६ । १५) सर्षपकाण्ड मणि, (६ । ७०) कृष्णचर्म मणि, (६ । ७०) अर्कमणि, (६ । ८९) लोहमणि, (६ । ८९) पाषाणमणि, (७ । ७) नौमणि, (७ । १६) गोबन्धनरज्जु मणि, (८ । २) द्रुत्रणमणि आदि नाना मणियों के बांधने के लिए नाना सूक्तों को दर्शाया है। परन्तु बहुतों का तो सूक्त में कोई आधार नहीं, केवल प्रथामात्र होने से लिखा है। और दो एक जिनका कहीं नाम भर आ गया है उसका अभिप्राय न समझ कर उसको उसी प्रकार खैंच लिया गया है जैसे पूर्व आठ उदाहरणों में हमने दर्शाया है।

जो ओषधियां हैं उनके समीप रहने और शरीर के साथ छूने से उतना तो लाभ अवश्य होता है जितना एक तीव्र रोगनाशक ओषधि से होना सम्भव है। जिस प्रकार फिनाइल की गोलियों से दुष्ट रोग-जन्तु समीप नहीं आते, इसी प्रकार ओषधि की बनी मणियें भी उपयोगी हो सकती हैं परन्तु वेद में जहां उन नामों पर भौतिक पदार्थों से अधिक गुण और कार्यक्षमता का वर्णन है वहां उस गुणवाला पुरुष ही लेना चाहिये। केवल एकांश में गुण की समानता देख कर उन नामों का लौकिक प्रयोग बाद में हुआ समझना चाहिये। अन्यत्र भी जहां मणि आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है उनका स्पष्ट विवरण यथास्थान भाष्य में देखना चाहिये। इन सूक्तों का विनियोग इन मणियों के बांधने के अर्थ के अतिरिक्त और भी बहुत से क्रिया काण्डों में है इसलिए इन मणियों का ही तात्पर्य वेद को अभिप्रेत हो यह बात सर्वथा खण्डित हो जाती है। फलतः वेद का अभिप्राय ऐसा सर्वगामी होना चाहिये जो उन सब विनियोगों को प्रत्यक्ष परोक्ष सम्बन्धों से वश कर सके। अस्तु। अब हम कृत्या और अभिचार की विवेचना करते हैं।

(२) कृत्या

जब तक हम 'कृत्या' शब्द को केवल मन्त्रजपमात्र से होनेवाला टोना समझते रहते हैं तब तक उसका कोई भी स्वरूप निर्माण नहीं किया जा सकता। तन्त्रग्रन्थों के अनुसार 'कृत्या' क्या होती है इसका भी बतलाना कठिन वस्तु है, क्योंकि यह रहस्य शास्त्र है। प्रत्यक्ष-क्रिया का उसमें सर्वथा उल्लेख नहीं है। वेद 'कृत्या' किस को कहता है इसका अनुशीलन किया जा सकता है।

(१) आचार्य सायण ने अथर्व० का० २। सूक्त १२ के चतुर्थ मंत्र के 'अमुम दद हरसा दैव्येन' इस चतुर्थ चरण के व्याख्यान में लिखा है— अमुम अपकर्तारममुकनामानं शत्रु दैव्येन देवसम्बन्धिना मत्कृताभिचारजनितकृत्यारूपदेवताकृतेन हरसा। क्रोधनापैतत्। क्रोधेन आददे स्वीकरोमि निगृह्णामीत्यर्थः।

अर्थात्—'अमुं ददे हरसा दैव्येन' उस अमुक नाम के शत्रु को दैव्य क्रोध से अपने वश करता हूँ। दैव्य क्रोध अर्थात् मेरे से किये अभिचार से उत्पन्न जो 'कृत्या' रूप देवता है उस द्वारा किये क्रोध से मैं शत्रु को वश करूं। यहां सायण कृत्या को एक देवता मानता है, जो अभिचार से पैदा होती है।

(२) अथर्व० काण्ड ४। सूक्त २८। म० ६। 'कृत्याकृतमूल कृद्यातुधाना०' इस मन्त्र में 'कृत्याकृत' पद के भाष्य में सायण लिखते हैं—क्रियानिर्वृत्तया पिशाच्या छिनत्तीति कृत्याकृत। जो पुरुष 'कृत्या' अर्थात् क्रिया से उत्पन्न हुई पिशाची से छेदे वह 'कृत्याकृत' है। यहां सायण 'कृत्या' शब्द से ऐसी पिचाशी लेते हैं जो क्रिया से उत्पन्न हो।

(३) अथर्व० ४। १८। २॥ 'यो देवाः कृत्यां कृत्वा हराद् अविदुषो गृहम्।' इसके भाष्य में सायण 'कृत्या' शब्द की व्याख्या

करते हैं। मन्त्रौषधादिभिः शत्रोः पीड़ाकरीं कृत्याम्' अर्थात् मंत्र और ओषधि से शत्रु को पीड़ा देने वाली कृत्या होती है। और आगे लिखते हैं 'कृत्यानिखननार्थं गच्छेत्' अर्थात् कोई पुरुष कृत्या को गाड़ने के लिये जाता है अर्थात् कृत्या गाड़ी जाती है।

(४) अथर्व० काण्ड १९। सू० ९।'०शं नोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः। शं नो निखाताः वलगाः शमुल्काः।' इसके भाष्य में सायण लिखते हैं—'अभिचाराः मारणार्थं शत्रुभिः क्रियमाणानि कर्माणि। कृत्याः अभिचारकर्मभिरुत्पादिताः पिशाच्यः। अभिचारकर्माणि जडत्वात् स्वयमेव शत्रुसमीपमागत्य न निघ्नन्ति, किंतु हिंसिकाः पिशाचीरुत्पादयन्ति।' अर्थात् मारने या प्राणघात करने के लिये शत्रु जिन कर्मों को करते हैं वे अभिचार हैं और अभिचार कर्मों से पैदा की गई पिशाचियें 'कृत्या' हैं। कर्म तो जड़ होने से स्वयं शत्रु के पास जाकर नहीं मारते, किन्तु मारने-वाली पिशाचियों को वे कर्म ही उत्पन्न करते हैं।

इसी प्रसङ्ग में 'वलगा' शब्द के व्याख्यान में सायण लिखते हैं—'निखाताः, भूमावप्रकाशनिगूहिता वलगाः। वलगाः पीड़ार्थं भूमेरधो बाहु प्रदेशे निखन्यमाना अस्थिकेशादिवेष्टिता विषवृक्षादिनिर्मिताः पुत्तल्यो वलगा इत्युच्यन्ते।' अर्थात् भूमि में एक हाथ भर नीचे खोदकर उनमें हड्डियों और केशों से लिपटी, जहरीले विषवृक्ष आदि की बनी पुतलियां 'वलगा' कहाती हैं।

सायण के इन विवरणों से कुछ २ आभास अवश्य होता है। पर यथार्थ रूप से कृत्याओं का कोई स्वरूप प्रकट नहीं होता। देवता, पिशाची, कृत्या, वलग आदि शब्द कोई विशेष परिभाषाओं को बतलाते हैं। ये सब पदार्थ शत्रुओं को मारने के लिए किये जाते थे। परन्तु अब हम स्वयं वेद के सूक्तों पर दृष्टि डालते हैं, वे 'कृत्या' किसको बतलाते हैं।

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेन अन्यं जिघांसति ।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥
अथर्व० ५ । १८ । ३ ॥

'जो पुरुष दूसरे के लिए 'पाप्मा' को कच्चे बर्तन में करके उससे दूसरे को मारना चाहता है तो उसके जल जाने पर बहुत से पत्थर फट्फट् आवाज से फूट निकलते हैं।' इससे प्रतीत होता है कि 'पाप्मा' बारूद के समान विस्फोटक पदार्थ का नाम है जिसको कच्चे बर्तन में बन्द करके अग्नि लगा देने से जलते ही भीतर भरे नोकीले पत्थर फूट पड़ते हैं।

ऐसी भयानक 'कृत्या' अर्थात् घातक क्रियाओं को जो करना न जानता हुआ भी करता हो तो उसके लिये बड़ा भय है। स्वयं वेद कहता है—

यश्चकार न शशाक कर्त्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् । ४ । १८ । ६॥

जो कृत्या का प्रयोग तो कर दे, और उसका ठीक प्रयोग न कर सके तो वह अपने ही हाथ पांव तोड़ लेता है। इससे वह—

चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ।

वह हमारे लिये तो ठीक ही करता है और स्वयं कष्ट पाता है।

इसी प्रकार काण्ड ५ । सूक्त ३१ में शत्रु जिन कृत्याओं का प्रयोग करता है उनका वर्णन है। जैसे (१) कच्चे बर्तन में घातक क्रिया का प्रयोग करना, जैसे पहले हमने दिखलाया है। (२) मिश्र धान्य अर्थात् जिसमें कई तरह के धान्य मिले हों उनमें विषैले दाने मिला कर शत्रु के देश में बेच आये, इससे उनको खाने वाले मर जायँ। (३) विष की पिचकारी या रोगजनक कीटों का प्रवेश करा दिया, जिससे लोग मर जायँ या रोग उत्पन्न हों। (५ । ३१ । १)

(४) तीतर और चील आदि पक्षियों के साथ विस्फोटक पदार्थ या ज्वलनशील पदार्थ लगाकर शत्रु की सेना में छोड़ दे, वे जहां बैठे या

छिपे हों उन मकानों या झाड़ियों में आग लग जाय (५।३१।२)। कपोतों से ऐसे प्रयोग करने का उपाय अर्थशास्त्रकार कौटिल्य ने भी लिखा है।

(५) गधे, घोड़े, खच्चर आदि पर विषमय प्रयोग करना जिससे वे मरने लग जायं या बीमार हो जायं। (५। ३१। ३)

(६) अमूला और नराची नाम ओषधियां या लताओं के आधार पर या उनमें छिपाकर कोई 'वलग' अर्थात् गढ़ा खोदकर 'घातक' प्रयोग किया जाय या खेत में गढ़े खोद कर उनपर मूल रहित ऐसी जंगली बेलें बिछा दें, जिनपर लोग मुग्ध होकर आवें और आते ही वह गढ़े में गिर जायं इत्यादि। इनका प्रयोग भी अर्थ-शास्त्र कौटिल्य (५। ३१। ४) में कण्टक-शोधक प्रकरण में लिखा है।

(७) गृह में जहां अग्नि के स्थान हों वहां भड़कने वाले पदार्थ रखकर हानि पहुंचाते हैं। (५। ३१। ५)

(८) सभा आदि स्थानों में विस्फोटक पदार्थ या विषैले पदार्थ का प्रकोप कर दें। (५। ३१। ६)

(९) सेना में या धनुषों पर या नक्कारों पर घातक प्रयोग करें विषैले गैस, विषैले लेप लगा दें, जिनके स्पर्श और प्रयोग से लोग मर जायें (५। ३१। ७)

इत्यादि प्रयोगों के करने वालों को उन २ घातक प्रयोगों द्वारा ही दंड देने की आज्ञा वेद ने दी है।

शतपथ में 'वल-गहन' (यजु० ५।२३) मन्त्र के भाष्य में एक कथा दी है कि असुरों ने देवों के लिए कृत्या का प्रयोग किया और वलगों को गाड़ दिया। देवों ने हाथ भर खोद २ कर उन वलगों को खोद डाला। फलतः कदाचित् ये भूमि में रक्खे मगन गोले या बाम्ब ही हों जिनके फूटने पर घोर संहार होना सम्भव हो। गत योरोपीयन महाभारत में, समुद्रों में मगन गोले (mines) बिछाये गये थे जो जहाज़ से टकराते ही फूटते थे। ये सब वैदिक परिभाषा में 'वलग' हैं,

आजकल की विषैली गैसें, भोजन आदि में बैक्टीरियां या रोगकारी परमाणुओं का प्रचार, विषैली ओषधियों का प्रचार, बास्त्र आदि सब घातक प्रयोग वेद में 'कृत्या' कही गई हैं। जिनका एक रूप अथर्व० काण्ड १० सूक्त १ में भी कुछ वर्णन किया है। जैसे—

(१) सुरूप, सुन्दर मूर्ति में कृत्या का प्रयोग, (१।३) खेतों, गौओं और पुरुषों पर कृत्या का प्रयोग, [४], यन्त्र रूप में कृत्या का प्रयोग [८], केवल घोर शब्दमात्र करने वाली कृत्या [१४], प्रबल वायु चलाने वाली कृत्या [१७], गड़े हुए सगन गोले और [१८।१९] अन्धकार में कृत्या का प्रयोग इत्यादि वेद में ऐसे समस्त कृत्याओं के प्रयोग करने वालों को बड़े कठोर दंड देने का विधान किया है क्योंकि अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये० (१०।१।२७) यह गुप्त हिंसा का प्रयोग निरपराधों की हत्या किया करता है।

इस कृत्या के विवेचन में ही अभिचार का भी प्रत्यक्ष रूप आजाता है। तो भी इतना और समझ लेना चाहिये कि 'अभिचरण' शब्द से शत्रु के नाश के लिए उस पर जा चढ़ना यह भाव वेद में स्थान २ पर पाया जाता है। जैसे अभीवर्त मणि के प्रकरण में हम दर्शा आये हैं।

कृत्याओं के भेद

इन कृत्याओं के वेद में चार विभाग किये हैं—

याः कृत्या आंगिरसीर्याः कृत्याः आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः। उभयीस्ताः परायन्तु परावतो नवतिं नाव्या अति। अथर्व० ८।५।९॥

इस मन्त्र में कृत्याओं के ४ प्रकार दर्शाये हैं (१) आंगिरसी, (२) आसुरी, (३) स्वयंकृता और (४) अन्यों द्वारा आभृता। इन चारों को स्पष्ट करते हुए सायण ने लिखा है कि—

(१) आंगिरसीः अंगिरसा प्रयुक्ताः या प्रसिद्धः कृत्याः सन्ति। अंगिरसो महर्षः कृत्याप्रयोगविधातृत्वमांगिरसकल्पाख्यसूत्रनिर्माणादेव प्रसिद्धम्। (२) तथा आसुराः आसुर्यः। असुरैर्निर्मिता याः कृत्याः सन्ति। (३) एवं स्वयंकृताः परार्थप्रयोगे सति केनचिद् वैकल्येन स्वस्मिन्नेव पर्यवासिताः स्वयंकृता इत्युच्यन्ते। (४) या उ च अन्यैर्मत्सरिभिः आभृताः आहृताः प्रयुक्ताः कृत्याः सन्ति।

अर्थात्—(१) आंगिरसी वे कृत्यायें हैं जिनका अंगिरा ऋषि ने प्रयोग किया। महर्षि अंगिरा के आंगिरस कल्पसूत्र बनाने से ही उनका कृत्या प्रयोग करने का ज्ञान होता है। (२) असुरों द्वारा की गई कृत्या 'आसुरी' हैं (३) स्वयं प्रयोग करने पर उलट कर जो किसी भूल चूक से जब अपने पर आ टूटे वे कृत्या 'स्वयंकृता' और दूसरों की प्रयुक्त कृत्या अन्याहृत हैं।

परन्तु मन्त्र में 'उभयी' का प्रयोग है फलत: मुख्य दो ही प्रकार की कृत्या है एक 'आसुरी' दूसरी 'आंगिरसी।

ये दोनों प्रकार की कृत्यायें किस प्रकार की होती हैं हम कल्पना नहीं कर सकते। क्योंकि इनके विधायक ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते। तो भी थोड़ा सा इन कृत्याओं का स्वरूप नीचे लिखे मन्त्रों से अनुमान हो सकेगा।

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता।
प्रत्यग् वि भिन्धि त्वं तं योऽस्माँ अभिदासती।
अथर्व० ४।१९।६॥

'तू सौ शाखाओं में फूटती है, तेरा जनक भी 'विभिन्दन्' अर्थात् नाना शाखाओं में फूटने वाला है। तू हम पर आक्रमण करने वाले शत्रु को तोड़ फाड़ डाल। यह मन्त्र सायण ने सहदेवी ओषधि पर लगाया है। परन्तु इस वर्णन से 'सहदेवी' ओषधि 'अति बलवती

अग्नि या दाह को धारण करने वाली' विशेष कृत्या या घातक शक्ति प्रतीत होती है। जिसका प्रयोग 'बारूद' के समान विस्फोटक पदार्थ से किया जाता है। और वह सेना में पड़ते ही उनको तोड़ फोड़ देती है। इसी का वर्णन अगले मन्त्र में है।

असद् भूम्याः समभवत् तद् द्याम् एति महद् व्यचः।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु ॥

भूमि से कोई पदार्थ छोटा सा नाचीज़ या तुच्छ के रूप में रहता है। वह आकाश में जाते ही फैल जाता है, वहां से नाना प्रकार से प्रज्वलित होता है, तब वह अपने विरोधी तक पहुंचता है।

यह ऐसा गोला प्रतीत होता है जो आकाश में फूटे और वहां से ही शत्रु पर मार करे। आज कल के महायुद्धों में श्रेपनल, बाम्ब आदि के स्वरूप देखने से वैदिक सहदेवी आदि महाशक्तियों का अनुमान हो सकता है। इन गोलों में से निकलने वाले चाकू, कांटे, गोली आदि घातक पदार्थों को सायण ने 'पिशाची' नाम से कहा है। वे शरीर में लगकर खून कर देती हैं। मांस में गड़ जाती हैं इसी से 'पिशाची' हैं। इस प्रकार कृत्या का कुछ विवेचन हमने कर दिया है।

(३) अभिचार

शत्रुओं के आक्रमण को अभिचार कहा जाता है। इसका स्पष्टार्थ मन्त्र में आये प्रयोग से स्पष्ट होता है—प्रति तम अभिचर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वय द्विष्मः। (अथर्व० २। ११। ॥) जो हम से द्वेष करता है जिससे हम द्वेष करते हैं उस पर तू चढ़ जा। वेद में अभिचार शब्द का प्रयोग भी कई स्थानों पर हुआ है जैसे—

(१) परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः।
अथर्व० ८। २। २६॥

(२) यस्त्वा अभिचरः पुरुषः स्वो यद अरणो जनः।

उक्त दोनों प्रयोगों से प्रतीत होता है कि 'अभिचार' शब्द द्वेष कृत आक्रमण का नाम है। केवल दूसरों को हानि पहुंचाने के लिये मन्त्र पाठ करके कोई टोना चला देना 'अभिचार' शब्द से अभिप्रेत नहीं है। लौकिक साहित्य में भी 'अभिचार' शब्द का प्रयोग शत्रु पर आक्रमण करने के लिये प्रयुक्त होता रहा है जैसा कि कामन्दक ने लिखा है—

यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसा।
पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः॥

अर्थात् चाणक्य के अभिचार-रूप वज्र से नन्द-राजारूप पर्वत मूल से उखड़ कर गिर पड़ा। चाणक्य ने नन्द पर कोई टोना नहीं किया था, प्रत्युत राजनीति द्वारा विग्रह किया, उसकी सेनाओं पर आक्रमण कराया और उसका विजय किया था। शत्रु के प्रति समस्त विजयोपयोगी क्रियाकलाप 'अभिचार' शब्द में आ जाता है। वेद में भी अभिचार शब्द से यही अभिप्रेत है। इसके अतिरिक्त विनियोगकारों ने जिन सूक्तों का अभिचार कर्म में प्रयोग लिखा है उन पर थोड़ा विचार करते हैं।

(१) अथर्व० का० २। सू० १२॥ यह सूक्त 'भरद्वाज-प्रव्रस्क' नामक सूक्त कहा जाता है। इसमें तप की साधना का वर्णन है। उसको अभिचार कर्म के लिये दंड काटने के लिये प्रयुक्त किया है।

(२) अथर्व० का० ४। सू० १६॥ वरुण सूक्त है। इसमें सर्वव्यापक परमेश्वर के शासन का वर्णन किया गया है। इस सूक्त का विनियोग भी अभिचार कर्म में शत्रु को ललकारने के लिये है।

(३) अथर्व० का० ५। सू० ८॥ इसको अभिचार कर्म के होम करने में लगाया गया है। परन्तु इसमें सैनिकों और सेनापतियों के कर्तव्यों का वर्णन है। यह वास्तव में युद्धविद्या की शिक्षा देता है।

'अति धावत अतिसरा इन्द्रस्य वचसा हत ।'

'हे शत्रु को अतिक्रमण करके वेग से जाने वाले वीर योद्धाओ ! वेग से दौड़ो और इन्द्र अर्थात् सेनापति की आज्ञा पाकर अस्त्र-प्रहार करो।' और (अविं वृक इव मथ्नीत) भेड़िया जैसे भेड़ को झंझोटता है ऐसे शत्रु को झंझोट डालो। (स वो जीवन् मा मोचि) वह तुम से बच कर न निकल जाय। (प्राणमस्यापि नह्यत) इसके प्राणों के उपायों को बांध लो इत्यादि युद्ध के समय शत्रुविजयोपयोगी कार्यों का वर्णन किया है।

(४) अथर्व० का० ५। सू० १७ और १८ ॥ इसमें ब्रह्मशक्ति का वर्णन है। इन सूक्तों से 'ब्रह्मशक्ति के प्राप्त करने के उपाय प्राप्त होते हैं। परन्तु अभिचार करनेवाले ब्रह्मचारी के लिये इनका जाप करना लिखा है। सरल बात तो महती शक्ति प्राप्त करने और ब्रह्मचर्य करने की है।

(५) अथर्व० का० ७। सू० ७० में दुष्ट पुरुषों के नाश करने की आज्ञा है। उसका प्रयोग अभिचार के लिये तुषों के होमने में किया है।

(६) अथर्व० का० ६। सूक्त ३७ ॥ यह सूक्त अभिचार से बचने के लिये विनियुक्त है। इस सूक्त में वेद कठोर भाषण करने वाले के प्रति सहिष्णुता के व्यवहार का उपदेश करता है। फलतः विनियोगकारों के मत में कठोर वचन कहना भी अभिचार में सम्मिलित है।

(७) अथर्व० का० ६। सू० ५४ ॥ इस सूक्त को अभिचार कर्म में तुष आदि होम में लगाया है। वस्तुत: यह सूक्त राजा की नियुक्ति और उसके दुष्टदमन के कर्त्तव्यों का उपदेश करता है।

(८) अथर्व० का० ६। सू० १३३ ॥ इससे अभिचार कर्म में मेखला-बन्धन करना लिखा है। परन्तु वही उपनयन कर्म में मेखला-बन्धन के लिये भी है। इसमें मेखला-बन्धन का सामान्य

नियम है । एवं उससे बल प्राप्त करने के सिद्धान्त का निरूपण किया है ।

(९) अथर्व० का० ६ । सू० १२ ॥ इससे अभिचार कर्म के निमित्त दंड के अभिमन्त्रण का विनियोग है । इस सूक्त में वज्र या खड्ग द्वारा शत्रुओं के नाश करने की आज्ञा है ।

(१०) अथर्व० का० ७ । सू० ३५,३६,७७ और १०८ (११३) इन सूक्तों से बिजुली से नष्ट वृक्ष की समिधाओं के आधान का उपदेश है, परन्तु इन तीनों सूक्तों में शत्रुओं के पराजय और दुष्ट पुरुष के नाश करने के लिए प्रार्थना की गई है, और राजा को उसके कर्त्तव्य बतलाये गये हैं कि वह हत्याकारी प्रजापीड़क पुरुषों को दंड करे और उनका दमन करे ।

इस विवेचन से हम स्वयं वेद के मन्त्रों का वास्तविक अर्थ जान कर विनियोगकारों की प्रवृत्तिमात्र देख सकते हैं, परन्तु उनमें टोटके वाले अभिचार का वर्णन नहीं है । इसी स्थान पर यह लिखना भी असंगत नहीं है कि वेद में एक 'कृत्या-प्रतिहरण' गण है । इस गण में निम्नलिखित सूक्त हैं—अथर्व० (२ । ११), (४ । १७), (४।१८), (४ । ४०), (४ । १९), (५ । १४), (५ । ३१), (८ । ५) इन सूक्तों में प्रायः राजा और सेनापति को नाना प्रकार से शत्रु पर जा चढ़ने और भयंकर अस्त्र शस्त्रों के प्रयोग करने का उपदेश किया है । इसी प्रकार उनमें वीर-शिरोमणि पुरुषों को रखने, सेनासंचालन करने का भी उपदेश है । जो पाठक यथास्थान भाष्य में देखेंगे ।

(४) टोटके

विनियोगकारों ने कुछ सूक्तों का ऐसे ऐसे कामों में विनियोग किया है जिन से प्रयोक्ता की दुरिच्छा पूरी हो । परन्तु हमारा दृढ़ विश्वास है कि वेद उन दुष्ट कार्यों का उपदेश नहीं करता । इन सूक्तों की हम संक्षेप से यहां विवेचना करते हैं—

(१) स्त्री-दौर्भाग्यकरण—अथर्व० का० १। सू० १४॥ इस सूक्त को कौशिक ने स्त्री और पुरुष के दौर्भाग्य करने के लिये लिखा है। सायण ने केवल स्त्री को घर से निकाल कर उसके गहने कपड़े छीनकर मां बाप के घर आजीवन छोड़ रखने परक सूक्त का अर्थ लिया है। वह बहुत असंगत एवं विरुद्ध है। इसका विवेचन हमने प्रथम खंड की भूमिका में कर दिया है। पाठक वहां ही देखें। वस्तुतः वह सूक्त १म कन्या स्वीकार, २य कन्या दान और ३य विवाह द्वारा सौभाग्यो-त्पादन का प्रतिपादन करता है।

(२) स्त्री-वशीकरण—अथर्व० का० २। सू० ३०॥ यह सूक्त स्त्री को वश करने के लिए वृक्ष की छाल, तगर, अंजन, कूठ आदि घिसकर घी में मिलाकर स्त्री के शरीर पर लगाने में लगाया हुआ है। वस्तुतः इस सूक्त में एक दूसरे के मनको आकर्षित करके परस्पर वरण करने का उपदेश किया है।

(३) सपत्नीजय—अथर्व० का० ३। सू० १८ द्वारा सपत्नी या सौत को वश करने के लिए बाणपर्णी ओषधि के पत्तों को लाल बकरी के दूध में पीस, मिलाकर उसको सेज पर डालने के लिये लिखा है। परन्तु उस सूक्त में किसी ओषधि का नाम नहीं है।

केवल उत्तानपर्णा, देवजूता, सहस्वती, सासहि, सहमाना, सही-यसी आदि शब्दों का प्रयोग किया है। अनुक्रमणिकाकार ने इसका 'उपनिषत्सपत्नी बाधनं देवता' लिखा है। इसकी ऋषिका इन्द्राणी अब पाठक स्वयं देख सकते हैं कि उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्या की सपत्नी क्या है। अवश्य तामस अविद्या ही उसकी सपत्नी है। इस सूक्त में उसी के बांधने का उपदेश है। ऋग्वेद १०। १४५ में भी ये मन्त्र हैं आते हैं बहुतों को वहां भी वही भ्रम होता है। 'ऋग्वेदा-लोचन' पुस्तक के कर्त्ता श्री पं० नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ ने अपनी

पुस्तक के पृष्ठ १६८ में सपत्नी-बाधन सूक्त को देकर उससे वेद में बहुपत्नी विधान और एक पुरुष की बहुतसी पत्नियों में परस्पर कलह के कारण एक दूसरे के नाश करने की आज्ञा वेद में है ऐसा स्वीकार सा कर लिया है। हमारी तुच्छ बुद्धि में यदि देवता पर भी दृष्टि कर ली जाती तो यह कलंक वेद पर न आता। इसका विवरण भाष्य में देखें।

(४) स्त्री-वशीकरण के लिए (अथर्व० ३ । २५) सूक्त का भी प्रयोग किया है। साथ सायण ने जैसे लिखा है—'उत्तुदस्त्वा इति सूक्तं जपन् स्त्रीवशीकरणकामोऽगुल्याः स्त्रियं नुदेत् ।' अर्थात् इस सूक्त से स्त्री को वश करने के लिए अङ्गुली से स्त्री को छेड़े। या बेरी के २१ कांटे घी से भिगो कर रास्ते में डाल दे इत्यादि पांच चार प्रकार बतलाये हैं। क्या वेद में ऐसी छेड़खानी की बातें भी सम्भव हैं ? नहीं। प्रत्युत, वेद ने कामशास्त्र और परस्पर अभिलाषा और प्रेम की वृद्धि का बड़ा मार्मिक उपदेश किया है। जो इस रहस्य को नहीं जानते वे गृहस्थ में कभी सफल नहीं हो सकते। कल्पोक्त क्रियाओं का अभिप्राय और रहस्य अपना अलग है, परन्तु वह नहीं है जो सायण आदि ने लगाना चाहा है।

(५) अथर्व० का० ४ । सू० ३३ को पुरुष और स्त्री के परस्पर अभिरति को दूर करने के लिए बहुत सी कंकरें फेंकने के लिए लगाया है। वस्तुतः यह सूक्त पापनाश करने की प्रार्थनामात्र हैं। इसके विचार से हृदय पवित्र होता है। यदि इससे स्त्री-पुरुषों के परस्पर कामजनित दुर्विचार भी शान्त हों तो कोई आश्चर्य नहीं है, परन्तु यह कोई टोटका नहीं है। 'अग्निस्वरूप परमेश्वर से पापों को जला देने की प्रार्थना द्वारा मन से पाप अवश्य दूर हो जाता है।

इसी प्रकार अन्य भी मोहनादि के विनियोग लिखे हैं उनको हम अनावश्यक जान कर छोड़ते हैं।

(५) घृणित विनियोग

विनियोगकारों ने कुछ एक बहुत ही घृणित विनियोग भी लिखकर अथर्ववेद को बहुत दूषित रूप देने का यत्न किया है। हम कुछ नमूने उनके भी लिखते हैं—

(१) अथर्व० का० ४। सू० ५ में निद्राविषयक विज्ञान का प्रदर्शन किया है। उसे परदारागमन के निमित्त स्त्री के सम्बन्धियों को सुलाने में विनियोग किया है।

(२) का० ५। सू० १,२॥ दोनों का विनियोग पुष्टि के लिये ऋतुमती स्त्री के रजोरुधिर को तर्जनी और मध्यमा अंगुलि से खाने में भी किया है। वस्तुतः ये दोनों सूक्त जगत्स्रष्टा की सर्जन-शक्ति का वर्णन करते हैं।

(३) अथर्व० का० ५। सू० ५ में 'गर्भाधान' के रहस्यविद्या का उपदेश किया है। उसका विनियोग पलाश की लकड़ी को चन्दन के समान रगड़ कर उसको गुह्याङ्ग पर लगाने में किया है।

(४) का० ७। सू० १९ में प्रजापति परमेश्वर से प्रजा और ऐश्वर्य की याचना की है। इस सूक्त का लाल बकरे के मांस के खाने में भी विनियोग किया है।

(५) का० ७। सू० ५२ (५४) में परस्पर मिल कर रहने का उपदेश किया है, परन्तु इस सूक्त का तीन वर्ष की बछड़ी का मांस खाने में विनियोग भी कर डाला है।

(६) का० ७। सू० ८३ (८८) इसमें परमेश्वर से बन्धनों की मुक्ति की प्रार्थना की है। परन्तु कौशिक सूत्र में इस सूक्त से धूमकेतु के दर्शन के प्रायश्चित्त के लिये वरुण के निमित्त पशु काटना लिखा है।

(७) का० ९। सू० ४ में ऋषभ के दृष्टान्त से परमेश्वर की महान् विश्वधारणी शक्ति का प्रतिपादन किया है और इसी प्रकार सू० ५ में अज के नाम से अजन्मा पञ्चौदन आत्मा का वर्णन किया है। परन्तु कौशिक सूत्रानुसारी श्री पं० शंकर पाण्डुरंग ने दोनों का विनियोग क्रम से इन्द्र के निमित्त बैल मारने और पञ्चौदनसव में बकरा मारने में कर दिया है।

इसी प्रकार और भी बहुत से मूर्खतायुक्त विनियोग हैं जिन को कौशिक-सूत्र, वैतान-सूत्र और नक्षत्रकल्प आदि ने दर्शाया है। परन्तु गम्भीर दृष्टि से उन तुच्छ बातों का वेदमन्त्रों के सूक्तों में कहीं लेशमात्र भी नहीं दीखता। जिसका स्पष्ट निरूपण भाष्य में देख सकते हैं।

(६) पशुबलि और पशुहोम

कुछ सूक्तों में हम पूर्व दर्शा आये हैं कि पशुओं के मारने का विनियोग दिखाई देता है। इस स्थल पर संक्षेप में हम पशुबलि की मीमांसा करते हैं।

(१) का० २। सू० ३४। 'य ईशे पशुपति०' इत्यादि सूक्त का श्री सायणाचार्य ने पशुमारणपरक अर्थ किया है। इस में उसको बलि कर्म की दिशा दिखाने वाला कौशिक प्रोक्त विनियोग ही है। परन्तु खेद है कि सायण के से विद्वान् ने पशुबलि के अतिरिक्त इसी सूक्त पर लिखे सर्वाधिपत्य की कामना करने वाले के लिये इंद्र अग्नि के यज्ञपरक विनियोग को देकर भी उन परक अर्थ नहीं दर्शाया। नहीं तो पशुबलिपरक अर्थों का आप से आप समाधान हो जाता। अब ज़रा सायणकृत अर्थों पर विचार करलें।

प्रथम मन्त्र में सायण को अभिमत है कि पशुपति अर्थात् पशुओं का पालक रुद्र—दोपाये, चौपाये सबका नियन्ता है। उससे (निष्क्रीतः)

स्वतन्त्र किया हुआ [वशारूप पशु] यज्ञार्ह भाग को प्राप्त हो और पशु सुवर्ण आदि समृद्धियां यजमान को प्राप्त हों । पाठक थोड़ा विचारें कि जो पशुहत्या करेगा पशुपति परमात्मा क्या उसको पशु-समृद्धि देगा ? कैसी उल्टी बात है । यहां सायण ने 'वशारूप पशु' यह पद अपनी ओर से गढ़ कर लगाये हैं । 'वशा' तो परमेश्वर की सर्ववशकारिणी ज्ञानमयी शक्ति है । यहां तो प्रत्येक जीव को स्वतन्त्र, बन्धनमुक्त होकर ईश्वर के उपास्य रूप को प्राप्त होने की प्रेरणा है । दूसरा मन्त्र लीजिये—

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतः गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।

सायण अर्थ करते हैं, कि 'हे (देवाः) मारे जानेवाले पशु के चक्षु आदि प्राणो ! तुम लोग (भुवनस्य रेतः) समस्त प्राणियों द्वारा या उत्पत्ति के कारणरूप पुण्य लोकों को जाने का मार्ग (धत्त) बनाओ ।'

उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥

'उपाकरण संस्कार से युक्त (शशमानम्) मारे जाते हुए और (यत् देवानां प्रियं पाथः) जो देवों के प्रिय अन्न अर्थात् मांस (अस्थात्) है उसको यह पशु (अप्येतु) प्राप्त हो ।' इस अर्थ में सायण ने मरते तड़पते पशु के प्राणों से यजमान के लिये स्वर्ग के मार्ग बनाने की आशा की है और पशुमांस को देवों का प्रिय बतलाया है । जहां तक हम ग़लती नहीं करते, मांस आदि पिशाचों और राक्षसों का भोजन है, देवों का नहीं है । सायण ने यह वाममार्गपरक अर्थ बड़े खैंच-तान कर किया है । 'देवाः' से मरते प्राणी के प्राण का ग्रहण करना और 'पाथः' शब्द से मरते 'पशु का मांस' ग्रहण करना खैंचातानी है । वास्तविक अर्थ भाष्य में देखिये । पांचवें मन्त्र में सायण ने अद्भुत चमत्कार दिखलाया है । मन्त्र है—

'प्रजानन्तः प्रतिगृह्णन्तु पूर्वं प्राणम् अङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः॥

हे मारे जानेवाले पशु ! देव लोग (प्रजानन्तः) तेरा माहात्म्य जानते हुए तेरे अंगों से निकलते प्राण को ले लें और उन से तू अन्तरिक्ष को जा और देवयान मार्गों से स्वर्ग को जा।

बलिदान करनेवालों का ढकोसला सायण ने वेदमन्त्र से निकाल ही दिया कि यज्ञ में मारा जाने वाला पशु देवों के अनुग्रह से देवयान मार्गों से सीधा स्वर्ग को जाता है। यदि इसी प्रकार पशुओं को देवयान मार्गों से स्वर्ग और मोक्ष मिलने लगा तो संसार भर के सब पशुओं का संहार करके क्यों न स्वर्ग का द्वार खोल दिया जाय। फिर तिर्यग्-योनियों के लिये द्वार खुलते ही मनुष्य-योनि क्यों तपस्या में समय-यापन करे। चार्वाक बृहस्पति ने तो ठीक ही कहा था—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥

यदि ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जा सकता है तो यजमान अपने बाप को मार कर क्यों नहीं स्वर्ग पहुंचाता। सायण की बुद्धि को इन ढकोसलों के आगे इतना भी कहने का साहस नहीं रहा कि वह उपनिषद् में बतलाये देवयान मार्गों को वेद में देख कर मोक्ष-मार्ग का वर्णन वेद में देखता।

सायण के पीछे कदम रखनेवाले योरोपियन पण्डितों ने भी कौशिकोक्त वशाशमन के विनियोग को देख कर अपने अर्थों का झुकाव पशुबलिपरक ही किया है।

यहां तक हमने संक्षेप से एक सूक्त के पशुबलिपरक किये वेदमन्त्रार्थों की विवेचना की है। इनका वास्तविक अर्थ भाष्य में देखने का पाठक गण कष्ट करेंगे।

(२) अथर्व० का० ५। सू० १२ की उत्थानिका में पं० शंकर-पाण्डु रंग ने इस सूक्त से वशाशमन कर्म में उसकी वपा अर्थात् चर्बी के चार भाग करके एक भाग को इस सूक्त से होमने को लिखा है।

इसी प्रकार (५ । २७) सूक्त से द्वितीय भाग को और दोनों से तीसरे भाग को और 'अनुमतये स्वाहा' से चौथे भाग को होमने को लिखा है। इन सूक्तों पर सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं होता और न इनमें कहीं वशाशमन अर्थात् वन्ध्या गौ के मारने का वर्णन ही उपलब्ध होता है। वशा का प्रकरण १० वें काण्ड के १० वें सूक्त में विस्तार से आवेगा, जिस की विवेचना हम तृतीय खण्ड की भूमिका में करेंगे। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि दोनों सूक्तों में ईश्वर के गुणों का वर्णन और उसकी यथार्थ उपासना करने का भली प्रकार उपदेश किया है जिसे प्रस्तुत भाष्य में ही देखना उचित है।

(७) अज पञ्चौदन

अथर्व० का० ४। सू० १४ में अज प्रजापति के स्वरूप का वर्णन है। परन्तु इस सूक्त में भी सायण-भाष्य में वही लीला की है। इस सूक्त के ६ ठे मन्त्र में यजमान को स्वर्ग में ढो कर लेजाने के लिये बलि के मरे बकरे को बड़ा भारी (सुपर्ण) गरुड़ पक्षी बना दिया है जिस पर चढ़कर यजमान सीधा स्वर्ग चला जाय। चार्वाक की युक्ति से तो यदि इस नये आविष्कार से यजमान को ही मार कर गरुड़ बनाया जाता तो बड़ा उत्तम होता। ६ ठे मन्त्र में अजौदन अर्थात् पके बकरे और भात को विचित्र रूप में रखने परक अर्थ किया है—

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि ।
दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥

अर्थात् 'हे पाचक ! तू पूर्व में बकरे का शिर रख और दक्षिण में दांया पासा रख।' और—

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि ।
उत्तरस्यां दिशि उत्तरं धेहि पार्श्वम् ॥
ऊर्ध्वायां दिशि अजस्यानूकं धेहि ।
ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥

अर्थात् 'पश्चिम में बकरे का कटि भाग भात सहित रख और उत्तर में उत्तर का भाग, ऊपर में पीठ का भाग और नीचे भूमि पर पेट का भाग गाड़ दे और बीच में मध्य का भाग और आकाश में शरीर के बीच के आकाश को जोड़ दे।'

मन्त्र ७—शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा ।
सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम् ॥
स उत्तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं ।
पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥

'हे काटने वाले ! तू पके बकरे को पकी चमड़ी से ढक दे। उसके सब अंगों से उसका (विश्व-रूपम्) सर्वाकार बना रहे। हे बकरे ! इस प्रकार तू सब से ऊंचे (नाकम्) सुखमय लोक को पहुँच और चारों पैरों से चारों दिशाओं में प्रतिष्ठित हो।' इस मन्त्र के सायण, ग्रीफ़िथ और ह्विटनी तीनों ने ऐसे ही अर्थ किये हैं। वाह, वेद के कैसे सुन्दर अर्थ किये गये हैं। सायण जैसे विद्वान् और ह्विटनी जैसे गवेषक विद्वानों ने भी इस सूक्त के अर्थ करने में भारी कृपणता से काम लिया है। विकृत पाठों के यथार्थ रूप खोज लेने के लिये तो ये विद्वान् समस्त संस्कृतसाहित्य के अपार सागर की गहरी तह में से भी उस उस प्रकार की सब रचनाओं के नमूने निकाल कर विवेचना करते हैं, परन्तु इन स्थानों पर उन की सब शक्ति कुण्ठित हो जाती है। 'विश्वरूप', 'अज' शब्द देखकर भी विराट्रूप परमेश्वर के वर्णन की संगति इन भाष्यकारों के दृष्टि-गोचर नहीं होती। यदि ये बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रारम्भ में कहे 'विराट् अश्व' के अलंकार को पढ़ जाते तो कदाचित् 'अज प्रजापति' के विराट् रूप की कल्पना भी संगत कर लेते। यदि दूर नहीं जाते तो अथर्ववेद में ही काण्ड ९। सू० ५ में वर्णित अज का स्वरूप तो देख लेते।

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्य उर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम् ।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ म० २० ॥

अर्थात् 'सृष्टि के भी पूर्व वह अजन्मा परमेश्वर इस संसार में व्याप्त है जिसकी छाती यह भूमि है, पीठ द्यौः या आकाश है, अन्तरिक्ष नीचे का भाग है, दिशाएं पार्श्व हैं और समुद्र कुक्षि है ।' इत्यादि वर्णन की ही योजना उक्त विराट् अज के अंगों की स्थिति समझने के लिये लगानी चाहिये थी । यह सब न करके पूर्वलिखित भ्रष्टार्थ और भ्रष्ट कर्मपद्धति बतलाकर भाष्यकारों ने अपनी बुद्धि की मन्दता ही दिखाई है । वेद के वर्णनों को मन्दबुद्धियों के बनाये कर्म काण्डों से लगाने की अपेक्षा वेद के सिद्धान्तप्रदर्शक उपनिषद् जो वेदान्त (वेद-सिद्धान्त) कहाते हैं उनके अनुसार ही लगानी चाहिये थी । जिसका प्रदर्शन पाठकगण भाष्य में स्पष्ट रीति से पावेंगे । भूमिका में तो हमने केवल भाष्य की दशा का ही बोध कराया है और अन्य भाष्यों के नमूने और उनकी दशा का प्रदर्शन कराकर तुलना करके वेद के वास्तविक विशुद्ध अर्थों पर चढ़े अनर्थकारी लेपों का पाठकों को परिज्ञान कराने का ही यत्न किया है ।

(८) विष्टारी ओदन

अथर्व० का० ४ । सू० ३४ में विष्टारी ओदन का वर्णन है । जिस में परम प्रजापति की उपासना और उसका उत्तम मोक्ष फल दर्शाया गया है, परन्तु हमारे बहुश्रुत सायणाचार्य ने एक मन्त्र में ओदन का विराट् प्रजापति रूप स्वीकार कर लिया है परन्तु दूसरे मन्त्र में स्त्रियों से भरे हुए स्वर्ग को ढूंढ लिया है । मन्त्र है—

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥

'(अनस्था:) हड्डी आदि षट् कोषों के बने शरीर से रहित, अमृतमय, पवित्र, शुद्ध तेजस्वी लोग पवित्र लोक को जाते हैं । (जात-वेदाः) समस्त पदार्थों का ज्ञाता अग्नि उनके (शिश्नं न प्रदहति) भोग-साधन इन्द्रिय को नहीं नष्ट करता । क्योंकि वहां उनके लिये (बहु स्त्रैणम्) बहुतसी स्त्रियों का जमघट है ।' सायण के इस अर्थ के अनुसार तो 'नाक' अर्थात् वेदोक्त स्वर्ग भी हूरों से भरे हुए बहिश्त और विष्णु के गोलोक से क्या कम रहा ।

५ वें ६ ठे मन्त्र में तो स्वर्ग में उत्तम नहरें, कमल आदि का वर्णन भी प्राप्त होगया है । फलतः हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि वेद के इस प्रकार के अर्थ सर्वथा बुद्धिविरुद्ध एवं आर्ष आस्तिक दर्शनों के सिद्धान्तों से संगति नहीं खाते । इसलिये ये अर्थ सर्वथा असंगत हैं । इस समस्या का स्पष्टीकरण हमने भाष्य में उसी स्थान पर कर दिया है पाठक वहां ही देखें ।

(६) द्यूत-क्रीडा

अथर्ववेद के कुछ सूक्तों को कौशिक ने द्यूत-क्रीड़ा आदि में भी लगाया है । सायण ने उनके पीछे चलकर कई मन्त्रों में जूए द्वारा धन प्राप्त करने तक के उपदेश वेद के माथे लगा दिये, उसमें देवों को भी सहायक माना है । इस प्रकार सायण ने जुआरी लोगों के बुरे पेशों को वेदानुमोदित कह कर बड़ा अनर्थ किया है । जैसे—

(१) अथर्व० का० ७ । सू० ५० (५२) ॥ इस सूक्त से जूए के पासों को अभिमन्त्रित करके फेंकने के लिये लिखा है, परन्तु इस सूक्त में आत्मसंयम का उपदेश किया है । इस उक्त में 'कितवान् अक्षैर्वध्यासम्' [१] कितवों को अक्षों से मारूं, 'अन्तर्हस्तं कृतं मम' [२] कृत को मैंने अपने हाथ में कर लिया । 'मथ्नामि ते कृतम्' । [४] इत्यादि पदों से सायण 'कृत' शब्द से जूए का एक मोहरा सम-

झते हैं और कितव का अर्थ जुआखोर समझते हैं। इन आधारों से आपने समस्त सूक्त को जूए पर लगा दिया है, परन्तु उनका यह भ्रम-मात्र है। क्योंकि मन्त्र ६ में 'कृतम् इव श्वघ्नी' उपमा दी है। अर्थात् श्वघ्नी द्यूतकार तो उपमान है, उपमेय अवश्य इससे भिन्न है। इसका यथार्थ अर्थ भाष्य में देखें।

(२) अथर्व० का० ७। सू० १०९ (१०४) ॥ इस सूक्त के ४–७ तक चारों मन्त्र द्यूतजयकर्म में विनियुक्त हैं। वस्तुत: इस सूक्त में ब्रह्मचारी को इन्द्रियजय और राजा को अपने चरों पर वशीकरण करने का उपदेश किया है। 'अक्ष' आदि शब्द श्लेष से प्रयोग किये हैं, इसलिये सायण आदि को भ्रम हुआ है। क्या राजा, रानी और इक्का आदि नाम आने से सभी जगह ताशों का खेल ले लेना उचित है ? नहीं। इसी प्रकार कृत, जय, कितव आदि नामों से भी सर्वत्र द्यूत-प्रकरण समझना असंगत है। कितव आदि शब्दों के निरुक्त-प्रतिपादित अर्थों को ले लेने से रूढ़ि द्वारा हुए अनर्थ आपसे आप दूर हो जाते हैं।

(१०) उपसंहार

इस खण्ड के अन्तर्गत काण्डों में आई हुई विशेष समस्याओं को यथासाध्य सुलझाने का जो यत्न हो सका है वह संक्षेप से इस संक्षिप्त एवं अल्प-भाष्य में कर दिया गया है। परन्तु प्रतिपक्षियों के पद पद पर किये अनर्थों और आक्षेपों का विस्तार से उत्तर देने और समाधान करने के लिये बहुत विशाल ग्रन्थ की आवश्यकता है। उसके लिये तो पृथक् ही अथर्ववेद के सम्बन्ध के आलोचना-ग्रन्थ लिखे जाने आवश्यक हैं। उन के लिये आयास तथा आर्थिक व्यय और लेखनार्थ विस्तृत काल भी अपेक्षित है। उस सब को हम भविष्य के लिये रख छोड़ते हैं।

तृतीय संस्करण

इस खण्ड का प्रथम संस्करण १९८५ विक्रमाब्द के माघ मास में प्रकाशित हुआ था, यह एक बड़े हर्ष का विषय है कि अथर्ववेद के द्वितीय खण्ड का तृतीय संस्करण हम जनता के सन्मुख प्रस्तुत कर सके हैं। प्रथम संस्करण के अवसर पर किसी निष्ठ विद्वान् का सहयोग, बहुत चाहने पर भी प्राप्त नहीं हो सका था। अनेक महाशयों ने भाष्य के अनेक स्थलों से अनेक मतभेद भी दर्शाये थे। ऐसा मतभेद होना स्वाभाविक ही था। तृतीय संस्करण के निकालते समय गुरुकुल कांगड़ी के वेदोपाध्याय पं० श्री विश्वनाथजी ने भाष्य का सम्पादन-कार्य स्वीकार कर बड़ा अनुग्रह किया। आपने कई स्थलों पर अपने विचारानुसार ग्रन्थ को सरल और बहुमूल्य विचारों से अलंकृत कर ग्रन्थ का मूल्य बढ़ा दिया। कई स्थलों पर सर्वोपयोगी लौकिक पक्ष को ही महत्व दिया है। हम उनके आभारी व कृतज्ञ हैं। इस नये तृतीय संस्करण में, जो कि हम जनता के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं, अन्य विद्वानों के भी जो विचार वेद के अर्थों, योजनाओं और पक्षान्तरों के सम्बंध में हैं, उनका समन्वय कर सकने में सफल हुए हैं।

श्रीनगर रोड, अजमेर.
श्रावण
२००८ विक्रमीय।

निवेदक—
मथुराप्रसाद शिवहरे
मैनेजिंग डाइरेक्टर
आर्य साहित्य मंडल लि०,
अजमेर

———

अथर्ववेद द्वितीय खंड

विषयसूची

सप्तमं काण्डम् (२३३-४१६)

अष्टमं काण्डम् (४२०-५५७)

* इति *

* ओ३म् *

अथर्ववेदसंहिता

अथ षष्ठं काण्डम्

[१] ईश्वरस्तुतिः।

अथर्वा ऋषिः। सविता देवता। १ त्रिपदा पिपीलिकामध्या साम्नी जगती। २—३ पिपीलिका मध्या पुरउष्णिक्। तृचं सूक्तम्॥

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि।
आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम्॥ १॥

भा०—हे (आथर्वण) कूटस्थ परमात्मा का ध्यान करने वाले या अथर्ववेद के विद्वान्! ब्रह्म के उपासक! (दोषा उ) दिन और रात्रि या प्रातः सायं दोनों कालों में (बृहत्) परमात्मा के सम्बन्ध में बृहत् नामक साम वा उस महान् प्रभु का (गाय) गायन कर। और (द्युमत्) प्रकाशस्वरूप आत्मा का (धेहि) ध्यान कर। और (सवितारम्) सब के उत्पादक, सब के प्रकाशक (देवम्) प्रकाशस्वरूप परम देव के (स्तुहि) गुणों का वर्णन किया कर।

प्रजापतिर्वा अथर्वा। अग्निरेव दध्यङ् आथर्वणः॥ तै० सं०५।६।६।३॥ परमात्मा अथर्वा कहाता है। और अग्नि, ज्ञानी पुरुष दध्यङ् अर्थात्

---

[१] १—आथर्वणान्ता पादसमाप्तिरिति केचित्, ततो गायत्रीछन्दः।

योगसमाधि द्वारा उस प्रजापति का ध्यान चिन्तन करता है 'दध्यङ् आथर्वण' कहाता है। त्वाम् इद्धि हवामहे' इत्यादि [ऋ० ६ । ४६ । १] ऋक् का साम बृहत्साम कहाता है।

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः ।
सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ॥ २ ॥

भा०—(तम् उ स्तुहि) हे विद्वन् ! ब्रह्मवेत्तः ! तू उसी की स्तुति कर (यः) जो (अन्तः सिन्धौ) महाप्रवाह, सागर या मूल प्रकृतिरूप कारण में (सत्यस्य) इस सत्यमय जगत् का (सूनुः) प्रेरक और उसका उत्पादक और (युवानम्) बनाने और प्रलय करने वाला है, जो (अद्रोघ-वाचम्) सदा द्रोहरहित, प्रेम की वाणी से स्मरण करने योग्य एवं प्रेममय वाणी का उपदेष्टा और (सुशेवम्) सुख से सेवन करने योग्य है।

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि ।
उभे सुष्टुती सुगातवे ॥ ३ ॥ ऋ० ७ । ४५ । ३ प्र० द्वि० ॥

भा०—(स घ) वह परमात्मा ही (देवः) एक ऐसा है जो (सविता) सबका उत्पादक है। वही (भूरिं) नाना, बहुत से (अमृतानि) अमृतमय मोक्ष के साधन, दीर्घ जीवन और अन्न (नः साविषत्) हमें देता है। (उभे) दोनों प्रकार की (सु-स्तुती) उत्तम स्तुतियां (सुगातवे) उसी के उत्तम गुणगान के लिये हैं।

दोनों 'सुस्तुति' अर्थात् सामगायन 'स्तुत', और मन्त्रपाठ 'शस्त्र' हैं। प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः स्तोत्रम् । अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम् ।

---

[२] समाधि द्वारा ब्रह्मरस पान।

अथर्वा ऋषिः । सोमो वनस्पतिर्देवता । १–३ परोष्णिहः । तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत ।
स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे ॥ १ ॥

भा०—हे (ऋत्विजः) हे ऋतु ऋतु में यज्ञ करने हारे, अथवा ऋतु = प्राणों का परस्पर यज्ञ = संगति करने वाले समाधि-कुशल योगी पुरुषो ! उस (इन्द्राय) इन्द्र अपने आत्मा के लिये (सोमम्) ब्रह्मा-नन्द रस को (सुनोत) उत्पन्न करो, और उसको (आ धावत च) भली प्रकार और भी परिमार्जित और स्वच्छ करो, (यः) जो इन्द्र आत्मा (स्तोतुः वचः) स्तुति करने हारे विद्वान् की वाणी (मे हवं च) और मेरी पुकार को (शृणवत्) सुनता है ।

आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः ।
विरप्शिन् वि मृधो जहि रक्षस्विनीः ॥ २ ॥

भा०—हे (वि-रप्शिन्) नाना प्रकार से वर्णन किये जाने योग्य महाशक्तिसम्पन्न आत्मन् ! (वृक्षं वयः न) वृक्ष पर जिस प्रकार नाना पक्षिगण आश्रय लेते हैं उसी प्रकार (अन्धसः) प्राण, जीवन शक्ति को धारण करने वाले (इन्दवः) परम विभूति, ऐश्वर्य से सम्पन्न, ज्योतिर्मय ब्रह्म के रस या मुमुक्षुजन (यम्) जिसके भीतर (विशन्ति) प्रवेश करते हैं वह तू (रक्षस्विनीः) विघ्नों से पूर्ण (मृधः) मन से लड़ने वाली मानस दुर्वृत्तियों को (वि जहि) विनाश कर ।

सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥ ३ ॥ ऋ० ७ । ३२ । ८ प्र० द्वि० ॥

भा०—(सोम-पाव्ने) सोम = ब्रह्मानन्द या योगाभ्यास रस का पान करने वाले (वज्रिणे) वज्र = अपवर्ग अर्थात् नाना भवबन्धन के काटने के साधनरूप ज्ञानखड्ग को धारण करने वाले (इन्द्राय) इन्द्र, आत्मा के लिये (सोमं सुनोत) सोम का सेवन करो, अभ्यास-रस को प्राप्त करो । (सः) वही (युवा) सदा शक्तिमान्, अनुपम सुन्दर, अथवा सब विरोधी वर्गों का नाशक, (जेता) सब को विजय करने वाला, (पुरु-स्तुतः) नाना गुणों से स्तुति करने योग्य, (ईशानः) शरीर और इन्द्रियों का स्वामी है ।

[३] रक्षा की प्रार्थना ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । नाना देवताः । १ पथ्याबृहती, २-३ जगत्यौ ।
तृचं सूक्तम् ॥

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः ।
अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥ १ ॥

भा०—रक्षा की प्रार्थना करते हैं । (नः) हमारी (इन्द्रापूषणा) इन्द्र और पूषा = विद्युत् और वायु, (अदितिः) अदिति = पृथिवी या आदित्य, और (मरुतः) नाना प्रकार की भिन्न भिन्न वायुएं या रश्मियां या प्रजागण, (अपां नपात्) अपः—समस्त लोकों का धारक, उनको स्थान से विचलित न होने देने वाला, महान् अन्तरिक्ष अथवा अग्नि, और (सप्त सिन्धवः) सात गतिशील, प्रवहण आदि लोक-संचालक वेग (पान्तु, पातन) रक्षा करें । और (विष्णुः) सर्वव्यापक आकाश और (द्यौः) प्रकाशस्वरूप तेज ये तत्त्व भी (नः पातु) हमारी रक्षा करें ।

अध्यात्म पक्ष में— सप्त सिन्धवः = सात उर्ध्व प्राण । इन्द्र आत्मा, मन, दक्षिण अक्षिगत प्राण, वाक् और वीर्य । पूषा = पुष्टि, पोषक शक्ति, प्रजनन शक्ति । अदितिः = वायु, मुख्यप्राण और अन्नग्राहक शक्ति । मरुतः = प्राणगण । विष्णुः = यज्ञ, आत्मा, वीर्य और श्रोत्र । द्यौः = प्राण । अनुमतिः = वाक् ।

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः । पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥ २ ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (अभिष्टये) अभीष्ट फल प्राप्त करने के निमित्त (नः) हमें (अंहसः) नाशकारी पाप से (पाताम्) सुरक्षित रखें । (ग्रावा) विद्वान् पुरुष जो उत्तम ज्ञान का उपदेश करे वह (अंहसः) पाप से हमें (पातु) सुरक्षित रखे । और

(सोमः) सोम, सबका प्रेरक उत्पादक प्रभु (नः) हमें (अंहसः-पातु) पाप से बचावे । (सुभगा) सुख सौभाग्यमय (सरस्वती) ज्ञानमयी वेदवाणी (देवी) आनन्द को देनेहारी होकर (नः पातु) हमें पाप से बचावे । और (अग्निः) अग्नि ज्ञानमय, स्वप्रकाश परमात्मा और (अस्य) इस प्रभु के बनाये (ये) जो और भी (पायवः) पवित्र करने हारे (शिवाः) कल्याणकारी पदार्थ और विद्वान् हैं वे भी हमें नाश या पापों से बचावें ।

पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम् ।
अपां नपादभिहृती गयस्य चिद् देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये ॥३॥

भा०—(अश्विनौ देवौ) दोनों अश्विदेव अर्थात् माता पिता, गुरु आचार्य (शुभस्पती) शुभ, उत्तम पुरुषों के पालक (नः पाताम्) हमें पापों से बचावें । (उत) और (उषासानक्ता) उषा और रात्रि, दिन और रात, दोनों काल (नः) हमारी (उरुष्यताम्[१]) रक्षा करें । हे (अपां नपात्) समस्त प्रजा और लोकों एवं कर्मों और प्रजाओं तथा जगत् के आदि कारणभूत प्रकृति का रक्षक अधिपति प्रभु ! हे देव ! सर्वप्रकाशक, सर्वव्यापक, सर्व जगत् में रत ! हे (त्वष्टः) समस्त लोकों के घड़ने वाले प्रभो ! (गयस्य चिद्) आत्मा के ही सब प्रकार के उत्तम फल प्राप्त करने के लिये (अभि-हृती) सब प्रकार की विषम दशा में (वर्धय) हमें बढ़ा, शक्ति प्रदान कर ।

[४] रक्षा की प्रार्थना

अथर्वा ऋषिः । नाना देवताः । १ पथ्याबृहती, २ संस्तार पंक्तिः, ३ त्रिपदा विराड् गायत्री । तृचं सूक्तम् ॥

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः ॥ १ ॥

१. उरुष्यतिः रक्षाकर्मा । निरु० ५ । २३ ॥

भा०—(त्वष्टा) त्वष्टा = सब का उत्पादक, (पर्जन्य:) पर्जन्य = मेघ के समान सब पर सुखों का वर्षक, (ब्रह्मणस्पतिः) वेद, सत्यज्ञान और ब्रह्माण्ड एवं प्रकृति का पालक और (अदितिः) अदिति, अखण्ड, एक रस, (दुः-तरं) जो दुस्तर, अपार, अद्वितीय (त्रायमाणम्) रक्षा करने वाला (सदः) परम बल है वह (दैव्यं वचः) और उसके दिव्य वैदिक वचन (पुत्रैः भ्रातृभिः) हमारे पुत्रों और भाइयों सहित (नः) हमारी (पातु) रक्षा करें।

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः ।
अप तस्य द्वेषो गमेदभिह्रुतो यावयच्छत्रुमन्तितम् ॥ २ ॥

भा०—(अंशः) अंश, सब कर्मों और वृत्तियों का प्रजा में विभाजक, (भगः) सर्वैश्वर्यवान्, (वरुणः) सब से श्रेष्ठ, (मित्रः) मृत्यु से बचाने वाला, (अर्यमा) शत्रुओं का दमन करने वाला, (अदितिः) अखण्ड शक्ति वाला और (मरुतः) विद्वान् गण और प्राणगण (पान्तु) ये सब हमारी रक्षा करें । (तस्य) उस शत्रु का हमारे प्रति (अभिह्रुतः) कुटिल द्वेषभाव, अप्रीतिभाव (अप गमेत्) दूर हो । और (अन्तितम्) समीप आये हुए (शत्रून्) शत्रु को भी (यवयत्) दूर करदे । अर्थात् द्वेष भाव नष्ट हो जाने पर शत्रु स्वयं समीप आकर भी हमसे दूर हो जायँ।

धिये समश्विना प्रावतं न उरुष्या ण उरुज्मन्नप्रयुच्छन् ।
द्यौ३ष्पितर्यावय दुच्छुना या ॥ ३ ॥

ऋ० १ । ११७ । २३ ॥

भा०—हे (अश्विना) अश्वियो ! माता पिताओ ! (धिये) उत्तम आचरण और शुभमति के प्राप्त करने के लिये (नः) हमें (सं प्र अवतम्) भली प्रकार उत्तम रीति से आगे बढ़ाओ, उत्साहित करो । और (उरु-ज्मन्) उरु, समस्त लोकों में व्यापक परमात्मन् ! आप (न प्र-

युच्छन्) कभी प्रमाद न करते हुए (नः उरुष्य) हमारी रक्षा करो । हे (पितः) समस्त प्राणियों के पालक ! (द्यौः) प्रकाशस्वरूप भगवन् ! (या दुच्छुना[1]) जो दुःखदायी फलों को लाने वाली तृष्णा है उसे (यवय) हम से दूर कर ।

---

[५] तेज, बल और ऐश्वर्य की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । १, ३ अनुष्टुभौ, २ भुरिग् अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

उदे॑नमुत्त॒रं न॑याग्ने घृ॒तेना॑हुत ।
समे॑न॒ वर्च॑सा सृज प्र॒जया॑ च ब॒हुं कृ॑धि ॥ १ ॥
यजु० १७ । ५० ॥

भा०—हे (घृतेन आ-हुत अग्ने) घी की आहुति से प्रज्वलित आग के समान घृत = प्रकाशमान लोकों की आहुति लेने वाले अग्ने ! अर्थात् प्रकाशमान, सबके प्रकाशक परमेश्वर ! (एनम्) इस मनुष्य को (उत नय) ऊपर उठा । और (उत्तरं नय) उससे भी अधिक ऊंचा कर और (एनम्) इसको (वर्चसा) ब्रह्मतेज से (सं सृज) युक्त कर और (प्रजया च) प्रजा से इस मनुष्य को (बहुं कृधि) बहुत संख्या में उत्पन्न कर ।

इन्द्रे॒मं प्र॑त॒रं कृ॑धि सजा॒ताना॑मसद् व॒शी ।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ सं सृ॑ज जी॒वात॑वे ज॒रसे॑ नय ॥ २ ॥
यजु० १७ । ५१ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ईश्वर ! (इमम्) इस पुरुष को (सजातानाम्) सजातियों में (प्रतरम्) पार उतारने वाला उनसे उत्कृष्ट (कृधि) बना । (वशी असद्) वह उन पर वश करने वाला हो । इस पुरुष को (रायस्पोषेण सं सृज) धन ऐश्वर्य की पुष्टि से युक्त कर । और

१—दुष्टं शुनं सुखमस्याम् इति वा श्वेव दुष्टेति वा सायणः ।

(जीवातवे) चिरजीवन के लिये इसे (जरसे नय) बुढ़ापे के काल तक प्राप्त करा। उसे बुढ़ापे के पूर्व मृत्यु के वश न होने दे।

यस्यं कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम्
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

यजु० १७। ५२ ॥ उत्तरार्धः—अथर्व० ६। ८७। ३ ॥

भा०—(यस्य गृहे) जिसके घर में हम (हविः) यज्ञ के योग्य चरु और अन्न की योग्य रूपसे आहुति (कृण्मः) करते हैं, हे (अग्ने) (तम्) उसको (त्वम्) तू (वर्धय) बढ़ा, (तस्मै) उसके प्रति (सोमः) ज्ञानी पुरुष और (अयं च) यह (ब्रह्मणः पतिः) वेद का पालक विद्वान् भी (अधि ब्रवत्) नित्य उपदेश करे।

[६] दुष्टों के दमन की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। ब्रह्मणस्पतिर्देवता, सोमश्च। १–३ अनुष्टभः। तृचं सूक्तम्।

योऽस्मान् ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणः पते) ब्रह्म वेद के स्वामिन्! (यः) जो (अदेवः) स्वतः देव अर्थात् विद्वान् न होकर (अस्मान्) हमें (अभिमन्यते) अपमानित करता है। (तं सर्वम्) उन सबको (सुन्वते) सोम सवन करने वाले (मे) मुझ (यजमानाय) यजमान, देवोपासक के (रन्धयासि) वश कर।

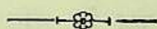
यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति।
वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥ २ ॥

भा०—हे सोम! सौम्य स्वभाव राजन्! (सुशंसिनः) उत्तम वाणी बोलने वाले (नः) हम पर (यः) जो पुरुष (दुःशंसः) कुवाक्यवक्ता होकर (आ दिदेशति) हुक्म चलाता है। हे इन्द्र! राजन्! (अस्य) उसके (मुखे) मुख पर (वज्रेण) वज्र से (जहि) प्रहार

कर । (सः) वह (सं-पिष्टः) अच्छी प्रकार ताड़ित होकर (अप अयति) दूर हट जाय ।

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः ।
अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना ॥ ३ ॥

भा०—हे (सोम) राजन् ! (यः) जो (स-नाभिः) हमारा ही सम्बन्धी होकर (नः) हमारा (अभिदासति) सब प्रकार से नाश करता है और (यः च निष्ट्यः) जो निकृष्ट पुरुष (नः अभि दासति) हमारा विनाश करता है । (मही द्यौः वधत्मना इव) जिस प्रकार संहारकारी विद्युत द्वारा विशाल आकाश वज्रपात करता है उस प्रकार (तस्य बलम्) उसके बल, सेना को (वध-त्मना) संहारकारी अस्त्र से इस प्रकार (अप तिर) विनाश कर ।



[७] उत्तम शासन की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । सोमो देवता, विश्वेदेवा देवताः । १—३ गायत्र्यः, ३ निचृत् । तृचं सूक्तम् ॥

येन सोमादितिः पथा मित्रा वा यन्त्यद्रुहः ।
तेना नोऽवसा गहि ॥ १ ॥

भा०—हे (सोम) राजन् ! (येन पथा) जिस मार्ग से या उपाय से (अदितिः) अखण्डित शासक राजा और (मित्राः वा) उसके प्रजाधिकारी जो प्रजा की परस्पर के मरने मारने से रक्षा करने हारे हैं वे (अद्रुहः) विना परस्पर द्रोह किये (यन्ति) गमन, करते हैं (तेन) उस (अवसा) प्रजारक्षणकारी बल से (नः) हमें (आ गहि) प्राप्त हो और हमें अपना ।

येन सोम साहन्त्यासुरान् रन्धयासि नः ।
तेना नो अधि वोचत ॥ २ ॥

भा०—हे (सोम) हे ऐश्वर्यवन् राजन् ; हे (साहन्त्य) सबको

अपने वश में करने वाले ! नियामक ! (येन) जिस बल से (असुरान्) बलवान् पुरुषों को भी (नः) हमारे कल्याण के लिये (रन्धयासि) अपने वश करता है (तेन) उसी उपाय से (नः) हम पर भी (अधि-वोचत) शासन कर, हम पर हुकूमत चला ।

येन देवा असुराणामोजांस्यवृणीध्वम् ।
तेना नः शर्म यच्छत ॥ ३ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् पुरुष (येन) जिस उपाय से (असुराणाम्) बलवान् शारीरिक बल से बली पुरुषों के (ओजांसि) तेजों को, बलों को (अवृणीध्वम्) अपने नीचे दबा लेते हैं । हे विद्वानो ! (तेन) उसी उपाय से (नः) हमें आप लोग (शर्म) सुख शान्ति (यच्छत) प्रदान करो ।

इस सूक्त में अध्यात्म पक्ष में सोम = आत्मा; अदितिः = अखण्ड चिति शक्ति या बुद्धि, मित्राः = १२ प्राण, असुराः = प्राण, कर्मेन्द्रिय, देव = ज्ञानेन्द्रिय ।



[८] पति-पत्नी की परस्पर प्रेम-प्रतिज्ञा ।

जमदग्निर्ऋषिः । कामात्मा देवता । १–३ पथ्या पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे ।
एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ १ ॥ अथर्व० १ । ३४ । ५ ॥ २ । ३० । १ ॥

भा०—गृहस्थ धर्म का उपदेश करते हैं । (यथा) जिस प्रकार (लिबुजा) लता (वृक्षम्) वृक्ष को (समन्तम्) सब ओर से (परिसस्वजे) चिपट जाती है, उसी का आश्रय लेती है (एवा) इसी प्रकार हे स्त्रि ! (माम्) मुझ पति को तू मेरी धर्मपत्नी (परिष्वजस्व) प्रेम से सब प्रकार से आलिंगन कर और मेरा आश्रय ले । और ऐसा व्यवहार कर कि तू (यथा) जिस प्रकार भी हो (मां कामिनी असः) मुझे ही

कु
(अरु

अनन्य चित्त से चाहने वाली बनी रह, (यथा) जिससे (मत्) मुझे छोड़कर (अपगा) दूर जाने वाली (न असः) न हो । इस प्रकार पति अपनी पत्नी को उपदेश करे और उसे अपने आश्रय पर पालन करे ।

यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम् ।
एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो
यथा मन्नापगा असः ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सुपर्णः) पक्षी (भूम्याम्) भूमि पर (प्रपतन्) वेग से आता हुआ (पक्षौ निहन्ति) पंखों को शिथिल कर देता है (एवा) इसी प्रकार (ते मनः) तेरे विचलित हृदय को मैं (निहन्मि) अपने प्रति निश्चल करता हूं। (यथा) जिससे (मां कामिनी असः) तू मुझे सदा चाहती रहे और (मत् अपगा न असः) मुझे छोड़कर जाने का संकल्प न करे ।

यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः ।
एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (सद्यः) शीघ्र ही उदय होते ही (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, ज़मीन और आस्मान दोनों में सर्वत्र (परि-एति) व्याप जाता है (एवा) इसी प्रकार मैं (ते मनः) तेरे मन, हृदय में (पर्येमि) एक ही वार, तुरन्त व्याप जाऊं। (यथा) जिससे तू (मां कामिनी असः) मुझे चाहने वाली, मेरी प्रियतमा हो जाय और (यथा) जिससे तू (मत्) मुझे छोड़कर (अपगा न असः) दूर चले जाने का संकल्प न करे ।



[९] स्त्री पुरुषों का परस्पर प्रेम करने का कर्त्तव्य।

जमदग्निर्ऋषिः । कामात्मा देवता । १—३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वाञ्छ मे तन्वं पादौ वाञ्छाक्ष्यौ वाञ्छ सक्थ्यौ।
अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु ॥ १ ॥

भा०—स्त्री पुरुषों को परस्पर के प्रति प्रेम और अभिलाषा करने का उपदेश करते हैं। हे प्रियतमे! तू (मे) मेरे (तन्वम्) शरीर को (वांछ) मन से चाह। (पादौ वांछ) मेरे पैरों को चाह, (अक्ष्यौ) मेरी आंखों की (वाञ्छ) चाह कर, (सक्थ्यौ वाञ्छ) मेरे अंगों की चाह कर। अर्थात् मेरे प्रत्येक अंग पर प्रेमभरी दृष्टि से देख। (वृषण्यन्त्याः) मेरे प्रति कामना करने हारी तेरी (अक्ष्यौ) आंखें और (केशाः) केश भी (मां) मुझको (कामेन) मेरी प्रबल कामना से (शुष्यन्तु) सुखाया करें अर्थात् पति भी पत्नी के चक्षुओं और केश आदि अंगों को देखकर प्रबलता से कामना करे तब वह भी उसके अंगों पर सप्रेम दृष्टिपात करे और दोनों पति पत्नी परस्पर को देखने के लिये सदा उत्सुक रहें।

मम त्वा दोषणिश्रिषं कृणोमि हृदयश्रिषम्।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० ३।२५।५ तृ० च० ॥ १।३४।२ तृ० च० ॥

भा०—हे प्रियतमे! मैं (हृदय-श्रिषम्) हृदय में लगी, हृदय में बसी (त्वा) तुझको (मम दोषणि श्रिषं कृणोमि) अपनी भुजा पर चिपटाऊँ, तुझे बाहु से आलिंगन करूं (यथा) जिससे तू (मम क्रतौ) मेरे हृदय की इच्छा के भीतर (असः) रहे और (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) आकर बसे।

यासां नाभिरारेहणं हृदि संवननं कृतम्।
गावो घृतस्य मातरोऽमूं सं वानयन्तु मे ॥ ३ ॥

भा०—(यासाम्) जिनका (आ-रेहणम्) चुम्बन भी (नाभिः) उनको बांधने वाला है और वही मानो (हृदि) हृदय में एक (संवननम्) परस्पर एक दूसरे को स्वीकार करने का उपाय (कृतम्) किया

गया है । (घृतस्य) घृत के समान स्नेहमय प्रेम की (मातरः) उत्पन्न करने वाली (मातरः) माताएं ही, (गावः) जो कि गौवों के समान स्नेहमय चक्षुओं से देखने वाली हैं (अमूम्) इस प्रियतमा को (मे) मेरी तरफ (सं वानयन्तु) प्रेमपूर्वक प्रेरित करें ।

[१०] अग्निहोत्र का उपदेश ।

शंतातिर्ऋषिः । १ अग्निः, २ वायुः, ३ सूर्यः । १ साम्नी त्रिष्टुप्, २ प्राजापत्या वृहती, ३ साम्नी बृहती । तृचं सूक्तम् ॥

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा ॥ १॥

भा०—सम्पत्ति चाहने वाले के लिये अग्निहोत्र का उत्तम उपदेश करते हैं । (पृथिव्यै स्वाहा) इस विशाल पृथिवी के लिये उत्तम हवि की आहुति दें । (श्रोत्राय स्वाहा) पृथिवी के श्रोत्ररूप दिशाओं के लिये भी उत्तम आहुतियों का प्रदान करो । (वनस्पतिभ्यः स्वाहा) वनस्पतियों के लिये भी पुष्टिकारक घृत की आहुति प्रदान करो । (अधिपतये अग्नये स्वाहा) पृथिवी के स्वामी अग्नि देव के लिये भी उत्तम हवि अर्थात् घृत की आहुति प्रदान करो ।

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—(प्राणाय) प्राण रूप वायु (अन्तरिक्षाय) उसके संचार स्थान अन्तरिक्ष, (वयोभ्यः) उसमें विचरने वाले पक्षियों और (अधिपतये वायवे) उनके सर्वतोमुख्य स्वामी वायु के लिये भी (स्वाहा) उत्तम घृत आदि की आहुति देनी चाहिये ।

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥ ३ ॥

भा० - (दिवे) द्यौः या प्रकाश या तेज के लिये, (चक्षुषे) उसके ग्रहण करने वाली इन्द्रिय चक्षु के लिये (नक्षत्रेभ्यः) उस तेज से चमकने वाले नक्षत्रों और (अधिपतये सूर्याय) उनके स्वामी सूर्य के लिये (स्वाहा) उत्तम आहुति का प्रदान करो ।

अध्यात्म में—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः तीन लोक हैं। श्रोत्र, प्राण = घ्राण और चक्षु तीन इन्द्रिय हैं। वनस्पति, पक्षि और नक्षत्र तीनों लोकों की तीन प्रजाएं हैं। अग्नि, वायु और सूर्य ये तीन उनके अधिपति इस त्रिक का परस्पर घनिष्ठ लेनदेन है। यही इनकी उत्तम आहुति है। पृथिवी से वनस्पति उत्पन्न होती है। और अग्नि उसे खा जाती है जोकि पुनः श्रोत्ररूप दिशाओं में फैलती है। अन्तरिक्ष में पक्षिगण विहार करते हैं, उनका रक्षक वायु है। उसका एकांश प्राण वायु नासिका में विचरता है। द्यौःलोक या तेजोलोक की प्रजाएं ये नक्षत्र हैं उनका अधिपति सूर्य है जिसका प्रत्यक्ष नमूना यह सूर्य है। उसके तेज का ग्राहक चक्षु है। ईश्वर की सृष्टि में ये एक दूसरे के धारक और सामर्थ्यदायक हैं। यही इनकी उत्तम आहुति है।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[११] गर्भाधान और प्रजनन विद्या।

प्रजापतिर्ऋषिः। रेतो देवता। १–३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्।

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥ १ ॥

भा०—(शमीम्) शान्त, उद्वेगरहित, धीर स्त्री—मादा, पर (अश्वत्थः) अश्व के समान शीघ्रगामी, दृढाङ्ग रूप से स्थिर पुरुष = नर (आरुढः) गर्भाधान करे, (तत्र) इस अवस्था में (पुंसुवनम्) पुमान् पुत्र के उत्पन्न होने का विधान (पुत्रस्य) पुमान् पुत्र को (वेदनम्) प्राप्त कराने वाला है। (तत्) उसी दृढ़ वीर्य को (स्त्रीषु) स्त्रियों में हम पुरुष (आ भरामसि) धारण करावें।

पुमान् पुत्रों को प्राप्त करने के लिये स्त्री उद्वेगरहित और पुरुष दृढांग होना चाहिये। कइयों के मत से—शमी नामक वृक्ष पर उगा हुआ

पीपल पुमान् पुत्र उत्पन्न करने की ओषधि है। उसीसे पुत्रलाभ होता है और उस औषधि से प्राप्त वीर्य का आधान करना चाहिये ।

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते ।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥

भा०—अश्वत्थ और शमी की समस्या को स्पष्ट करते हैं। (पुंसि वै) पुरुष में ही (रेतः) वीर्य (भवति) उत्पन्न होता है। (तत्) वही वीर्य (स्त्रियाम्) स्त्री के गर्भ में (अनु-सिच्यते) गर्भाधान द्वारा सींचा जाता है। (तद्) वह (वै) ही निश्चय से (पुत्रस्य) पुत्र के (वेदनम्) प्राप्त करने का उपाय है, (तत्) यह (प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर (अब्रवीत्) उपदेश करता है।

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥ ३ ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजापति = पुरुष, (अनुमतिः) और अनुमति अर्थात् पति के अभिमत पुत्रका ही चिन्तन करने वाली (सिनीवाली) सिनीवाली अर्थात् स्त्री (अचीक्लृपत्) गर्भ धारण और पालन में समर्थ होते हैं। (अन्यत्र) अन्य दशा में (स्त्रैसूयं दधत्) बहुत सम्भव है कन्या को गर्भ में धारण करे। परन्तु (इह) इस उक्त प्रकार के के अनुभव करने से (पुमांसम् उ दधत्) स्त्री पुमान् पुत्र को ही धारण करती है।

अनुमतिः—अनुमननात् इति यास्कः। जो स्त्री पति की अभिलाषा के अनुकूल ही पुत्र का निरन्तर चिन्तन करती है वह स्त्री 'अनुमति' कहाती है। योषा वै सिनीवाली। श० ६।५।१।१० ॥



[१२] सर्पविष-चिकित्सा ।

गरुत्मान् ऋषिः। तक्षको देवता। १-३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ।

परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम् ।
रात्री जगदिवान्यद्धंसात् तेना त वारये विषम् ॥ १ ॥

भा०—(रात्री) प्रलय-कालमय रात्रि जिस प्रकार (जगत इव) जगत् को व्याप्त कर लेती है परन्तु (अन्यत् हंसात्) उससे भी परे विद्यमान् हंस = परब्रह्म को वह व्याप्त नहीं करती, उसी प्रकार विष से उत्पन्न होने वाली रात्रि, तमोमय निद्रा या मूर्छा भी (हंसात् अन्यत्) हंस आत्मा से अतिरिक्त शरीर को व्याप्त कर लेती है । (तेन) उसी विषनिवारक बल से मैं (ते विषम्) तेरे विष को (वारये) दूर करता हूं । और (द्याम् सूर्यः इव) द्यौलोक आकाश को जिस प्रकार सूर्य व्यापता है और (अहीनाम्) मेघों की (जनिम्) उत्पत्ति करता है उसी प्रकार मैं भी (अहीनां जनिम्) सर्पों की उत्पत्ति और उनके सब स्वरूपों (आ गमम्) खूब अच्छी प्रकार जानता हूं ।

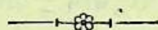
यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद् देवैर्विदितं पुरा ।
यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥ २ ॥

भा०—(यद्) जो (ब्रह्मभिः) वेद के विद्वानों और (यद् ऋषिभिः) जो दूरदर्शी ऋषियों और (यद् देवैः) जो देव = विद्वान् पुरुषों ने (विदितम्) जाना है। हे (आसन्वत्) मुख से काटने वाले सर्प ! (यद्) जो तेरा विष (भूतम्) अभी तक शरीर में चढ़ चुका है और जो (भव्यम्) और भी उसमें चढ़ेगा उस सब (ते विषम्) तेरे विष को मैं (तेन वारये) उस विद्वानों, ऋषियों द्वारा जाने गये उपाय से दूर करूं ।

मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु ।
मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥ ३ ॥

भा०—(मध्वा) मधु से मैं (पृञ्चे) रोगी को जोड़ता हूं । (नद्यः) नदियां (पर्वताः) पर्वत और (गिरयः) छोटे छोटे टीले ये सब (मधु) मधु हैं । इनमें सर्प-विषों को दूर करने की ओषधियां प्राप्त

होती हैं । और (शीपाला) शैवालवाली, शान्त, गम्भीर और (परुवणी) झुकाव झुकाव पर बहती हुई जलधारा भी (मधु) उत्तम मधु = अमृत है । इन उपायों से (आस्ने) मुख के लिए (शम्) शान्ति हो और (हृदे शम्) हृदय में भी कल्याण और शान्ति उत्पन्न (अस्तु) हो ।



[१३] मृत्यु और उसके उपाय ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । मृत्युर्देवता । १-३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

नमो॑ देवव॒धेभ्यो॒ नमो॑ राजव॒धेभ्यः॑ ।
अथो॒ ये विश्या॑नां व॒धास्तेभ्यो॑ मृत्यो॒ नमो॑ऽस्तु ते ॥ १ ॥

भा०—(देववधेभ्यः) देव, विद्वान् ब्राह्मणों के ज्ञात शस्त्रों अर्थात् वैज्ञानिक शक्तियों का (नमः) हम आदर करते हैं । (राजवधेभ्यः नमः) राजा लोगों के युद्ध के शस्त्रों को भी हम मान की दृष्टि से देखते हैं (अथो) और (ये) जो (विश्यानाम्) वैश्यों के (वधाः) अस्त्र शस्त्र आदि साधन हैं अर्थात् इन द्वारा उत्पादित जो आर्थिक संकट आदि हैं, हे (मृत्यो) मौत ! (तेभ्यः) उनको भी (नमः अस्तु) नमः, आदर-भाव हो, क्योंकि वे सब (ते) तेरे ही उपाय हैं ।

नम॑स्ते अधिवा॒काय॑ परावा॒काय॑ ते॒ नमः॑ ।
सुम॒त्यै मृ॑त्यो ते॒ नमो॑ दुर्म॒त्यै त॑ इ॒दं नमः॑ ॥ २ ॥

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यु ! (ते अधि-वाकाय नमः) तेरे विषय में अनुकूल कहे गये ज्ञान को भी हम स्वीकार करते हैं । (ते परा-वाकाय नमः) और तेरे प्रतिकूल तुझे दूर करने के विषय में जो उपदेश हैं उनका भी हम (नमः) ज्ञान करें । हे मृत्यो ! (ते सुमत्यै नमः) तेरी दी सद्-बुद्धि को भी आदर से स्वीकार करते हैं और (ते) तेरे कारण उत्पन्न (दुर्मत्यै) दुष्ट मति को भी (इदम् नमः) यह वश करने का साधन है ।

नमस्ते यातुधानेभ्यो नमस्ते भेषजेभ्यः ।
नमस्ते मृत्यो मूलेभ्यो ब्राह्मणेभ्य इदं नमः ॥ ३ ॥

भा०—हे मृत्यो ! (यातुधानेभ्यः नमः) तुझ मौत या देहावसान रूप कष्ट के लानेवाले यातुधान = पीड़ादायक रोगों को (नमः) हम वश करने का उद्योग करते हैं। इसलिये (ते) तेरी (भेषजेभ्यः) पीड़ा हरने वाली ओषधियों का (नमः) हम संग्रह करते और उपयोग करते हैं। हे मृत्यो ! (ते मूलेभ्यः नमः) तेरे जो मूलकारण हैं उनका अनुसंधान करते हैं। और उनका अनुसंधान करनेवाले (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्म = वेद को जानने वाले विद्वान् पुरुषों का (इदम् नमः) हम इस प्रकार आदर करते हैं।

'नम': = आदरभाव, वज्र और सदुपयोग।



[१४] कफ-रोग निदान और चिकित्सा।

बभ्रुपिङ्गल ऋषिः । बलासो देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

अस्थिस्रंसं परुःस्रंसमास्थितं हृदयामयम् ।
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥ १ ॥

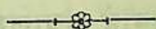
भा०—(अस्थि-स्रंसम्) हड्डियों को तोड़ डालनेवाले, (परुः-स्रंसम्) पोरुओं को भी तोड़ने वाले, उनमें प्रबल पीड़ा उत्पन्न करने वाले और (आ-स्थितम्) जमे हुए (हृदय-आमयम्) हृदय के रोग रूप (बलासम्) शरीर के बलनाशक श्लेष्म रोग को (यः) जो कि (अङ्गेष्ठाः) शरीर के अङ्ग अङ्ग में व्यापक हो और (यः च पर्वसु) जो पोरु पोरु, जोड़ जोड़ में बैठ गया हो उस सब कफविकार को (नाशय) विनाश कर।

निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा ।
छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वाइव ॥ २ ॥

भा०—(बलासिनः) बल का विनाश करने वाले कफ के रोगी के (बलासम्) बलविनाशक कफरोग को (यथा मुष्करम्) कमल-नाल के समान ऐसे (निः क्षिणोमि) निर्मूल करता हूं। और (अस्य) इस कफ या श्लेष्मा के (बन्धनम्) बन्धन को (उर्वार्वाःमूलम् इव) ककड़ी या खरबूजे के मूल के समान (छिनद्मि) तोड़ डालूं।

निर्बलासेतः प्र पताशुङ्गः शिशुको यथा।
अथो इटइव हायनोऽप द्राह्यवीरहा ॥ ३ ॥

भा०—(बलास) समस्त शरीर के बल को हरण करने वाले हे कफजनित तपेदिक रोग ! तू (यथा आशुंगः शिशुकः) शीघ्रगामी हिरनौटे के समान (प्र पत) परे भाग जा। (अथो) और (हायनः इटःइव) प्रतिवर्ष उगने वाले घास के समान तू (अवीरहा) हमारे पुत्रों या प्राणों का नाश न करता हुआ ही (अप द्राहि) परे भाग जा, नष्ट हो जा। सायण के मत में-(इत इव हायनः) गुजरे हुए वर्ष के समान तू भी चला जा।



(१५) सर्वोत्तम होने की साधना।

उद्दालक ऋषिः। वनस्पतिर्देवता। अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥ १ ॥

यजु० १२। १०१ ॥ ऋ० १०। ६७। २३ ॥

भा०—ओषधि रूप से ब्रह्म का वर्णन करते हैं। हे प्रजापते ! परमात्मन् ! आप (ओषधीनाम्) सब औषधियों में (उत्तमः) सब से

३—(द्वि०) 'शुशुक्रो', (तृ०) 'इत इव हायनः' इति सायणाभिमतः।
[१५] १—'त्वमुत्तमास्यौषधे' इति ऋ०।

उत्तम भवरोग के विनाशक ओषधि रूप हैं। (वृक्षाः) देहधारी जीव तव, तेरे (उपस्तयः) उपासक हैं। (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें विनाश करना चाहता है, हम से द्वेष करता है, भगवन् ! हमें ऐसा बल दे कि (सः) वह भी (अस्माकम्) हमारे (उपस्तिः) समीप बैठने वाला, मित्र के समान (अस्तु) हो जाय।

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

भा०—(स-बन्धुः च) हमारा बन्धु और (अबन्धुः च) वह जो हमारा सम्बन्धी नहीं है (यः) जो कोई भी (अस्मान्) हमें (अभि-दासति) विनाश करना चाहता है, हमसे द्वेष बुद्धि करता है (वृक्षाणां सा इव) वृक्षों में जिस प्रकार ओषधि उत्तम है और देहधारियों में जैसे वह ब्रह्मोषधि उत्तम है, उसी प्रकार (तेषाम्) उन सम्बन्धी और असम्बन्धी मेंलोगों में (अहम्) मैं उत्तम (भूयासम्) हो जाऊं।

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः।
तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सोमः) सोमलता (हविषाम्) इन्द्रियों के पुष्टिकारक चरु द्रव्यों के निमित्त (ओषधीनाम्) ओषधियों में सब से (उत्तमः कृतः) उत्तम बतलाया गया है और (वृक्षाणाम्) वृक्षों में से (तलाशा) 'तलाशा' नामक वृक्ष सबसे श्रेष्ठ है उसी प्रकार (अहम्) मैं सब देहधारी जीवों में (उत्तमः) उत्कृष्ट (भूयासम्) होजाऊं। सायण के अनुसार 'पलाशः' पाठ है।

(१६) प्रजापति की शक्ति का वर्णन।

शौनक ऋषिः। मन्त्रोक्ता उत चन्द्रमा देवता, २ हिनो देवता। १ निचृत् त्रिपदा गायत्री, २ अनुष्टुप्, ३ बृहतीगर्भा ककुम्मती अनुष्टुप्, ४ त्रिपदा प्रतिष्ठा गायत्री। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो ।
आ ते करम्भमद्मसि ॥ १ ॥

भा०—प्रजापतिर्देवता । आवयु—अन्न ओषधि के नाम से प्रजापति के गुणों का वर्णन करते हैं । हे (आबयो) सर्वव्यापक ! या खाये जाने योग्य अन्न ! हे (अनाबयो) कहीं भी इन्द्रियों से उपलब्ध न होने वाले या कभी न खाये जाने योग्य ! अथवा हे सर्वप्रकाशक सर्वोत्पादक और हे किसी से भी प्रकाशित और उत्पादित न होनेवाले ! (ते रसः) तेरा रस, आनन्दरस (उग्रः) बड़ा तीव्र है । हे (आबयो) सर्वव्यापक सर्वप्रकाशक या हे अन्न ! (ते) तेरा ही (करम्भम्) दिया हुआ अन्न या क = सुखमय रम्भ = लम्भ = ज्ञान संवेदना या बल का हम (आ अद्मसि) सर्वत्र उपभोग करते हैं ।

विहल्हो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता ।
स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥

भा०—(ते) तेरा (पिता) पालकस्वरूप (वि-हल्हः नाम) नाना प्रकार से सर्वत्र व्यापक है । और (ते माता) तेरी माता (मद-वती) हर्ष से सम्पन्न, वह प्रकृति शक्ति है । हे (हिन) सर्वप्रेरक आत्मन् ! (सः त्वम् असि) तू वही है (यः त्वम्) जो तू (आत्मानम् आवयः) अपने आत्मा को सर्वत्र तन्तुओं के समान ओत प्रोत किये हुए है । 'आवयः' यह पद ही 'आवयु' इस पद का प्रवृत्ति-निमित्त है ।

तौविलिकेऽवेलयावायमैलब ऐलयीत् ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥

भा०—हे (तौविलिके) तुविल = सर्वव्यापक परमेश्वर की शक्ति से अव्यक्त से व्यक्त रूप में प्रकट होनेवाली प्रकृते ! (अयम्) यह

१. 'सर्षप' इति सायणः ।

(एलवः) समस्त प्रकृतिसंचालक शक्ति का स्वामी (अव ऐलयीत्) समस्त संसार को प्रेरित कर रहा है। उसी की शक्ति से हे प्रकृते! तू भी (अव इलय) इस संसार को चला रही है। हे (निराल) निर्बन्धन, मुक्त जीव! तू (बभ्रुः) स्वयं सब को धारण पोषण करने वाला, प्राणरूप और और (बभ्रुकर्णः च) प्राणमय साधनों से सम्पन्न होकर (अप-इहि) इस बन्धन से भाग निकल।

अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा।
नीलागलसाला ॥ ४ ॥

भा०—ब्रह्मशक्ति तीन प्रकार की है (पूर्वा) प्रथम जो सृष्टि के पूर्व में या पूर्ण रूप में (अलसाला) अलं = अति अधिक गतिवाली, क्रियावती या (अ-लसाला) अव्यक्त (असि) है। और (उत्तरा) उसके बाद (सिल-अञ्ज-आला) कण-कण, परमाणु-परमाणु में व्यापक जगत् को व्यक्त करने में समर्थ हो जाती है। और इसका तीसरा रूप (नीलागलसाला) नील अन्धकारमय, तामस आगल = सबकी संहारक प्रचण्ड वेग वाली होती है।



[१७] गर्भधारण, प्रजनन-विद्या।

अथर्वा ऋषिः। गर्भदृंहणं देवता। अनुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ १ ॥

भा०—गर्भधारण की मूलविद्या का उपदेश करते हैं। (यथा) जिस प्रकार (इयम्) यह (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी (भूतानाम्) समस्त उत्पन्न होनेवाले प्राणियों के (गर्भम्) गर्भ, मूलभूत बीजों

१—कौशिक ने "शलञ्जिला" नामक धान्य का उल्लेख किया है।

को (आ दधे) धारण करती है। (एवा) इसी प्रकार (ते) हे प्रियतम स्त्रि ! तेरे भीतर (गर्भः) गर्भ = मूलबीज (सूतुम्) सन्तान के रूप से (अनुसवितवे) यथाकाल प्रसव करने के लिये (ध्रियताम्) धारण कराया जाय।

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (इयम् मही पृथिवी) यह बड़ी विशाल पृथिवी (इमान् वनस्पतीन्) इन वनस्पतियों को (दाधार) अपने में धारण करती और अपने रस से उनको पुष्ट करती है (एवा ते गर्भः ध्रियताम्) हे स्त्रि ! इसी प्रकार तेरा यह गर्भ भी धारण किया जाकर पुष्ट हो जिससे (अनु सूतुं सवितवे) बाद में पुत्र की उत्पत्ति हो।

यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (इयम् मही पृथिवी) यह विशाल पृथिवी (गिरीन् पर्वतान् दाधार) अपने ऊपर इन छोटे छोटे और बड़े बड़े पर्वतों को धारण करती है, उनको डिगने नहीं देती (एवा ते ध्रियताम् गर्भः) उसी प्रकार हे स्त्रि ! यह तेरा गर्भ दृढ़ता से जमा रहे (अनु सूतुं सवितवे) जिससे बाद में यथाकाल सन्तान उत्पन्न हो।

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ ४ ॥

भा०—(यथा इयम् मही पृथिवी) जिस प्रकार यह विशाल पृथिवी (विष्ठितम् जगत्) नाना प्रकार से विभक्त व्यवस्थित चर अचर जीवित संसार को (दाधार) पालन पोषण करती है, सब को अन्न देती और और पालती है (एवा ते ध्रियताम् गर्भः) इसी प्रकार हे स्त्रि ! तेरा

गर्भ पालित पोषित रहे, मरे न, जिससे (अनु सूतुं सवितवे) बाद में पुत्र सन्तति उत्पन्न हो।

(१८) ईर्ष्या का निदान और उपाय।

अथर्वा ऋषिः। ईर्ष्याविनाशनं देवता। अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

ई॒र्ष्याया॒ ध्राजिं॑ प्र॒थ॒मां प्र॑थ॒मस्या॑ उ॒ताप॑राम्।
अ॒ग्निं हृ॑द॒य्यं॑ शोकं॒ तं ते॑ निर्वा॑पयामसि ॥ १ ॥

भा०—(ईर्ष्यायाः) दूसरे की उन्नति को देख कर हृदय में उत्पन्न होने वाली ईर्ष्या के (प्रथमाम्) प्रथम (ध्राजिम्) तीव्र वेग को (निः वापयामसि) हम पहले ही शान्त कर लिया करें। यदि वह न हो सके तो (उत) फिर (प्रथमस्याः) पहले वेग से उत्पन्न दूसरा उससे मन्द वेग होता है उस (अपराम्) दूसरे वेग को ही (निः वापयामसि) हम शान्त करलें। हे पुरुष! हम तो (ते) तेरे (तम्) उस पूर्वोक्त के (हृदय्यम्) हृदय में सुलगनेवाले (अग्निम्) आगरूप (तं शोकम्) उस शोक विषाद को भी (निः वापयामसि) शान्त करें।

यथा॑ भूमि॑र्मृ॒तम॑ना मृ॒तान्मृ॒तम॑नस्तरा।
यथो॒त म॒म्रुषो॒ मन॑ ए॒वेर्ष्योर्मृ॒तं मनः॑ ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (भूमिः मृतमनाः) यह भूमि, मिट्टी, मरे दिलवाली, अचेतन है और (मृतात्) यह मरे हुए मुर्दे से भी अधिक (मृतमनस्तरा) मुर्दादिल है (उत) और (यथा) जिस प्रकार (मम्रुषः मनः) मरे हुए मनुष्य का मन मर चुकता है (एवा) उसी प्रकार (ईर्ष्योः मनः मृतम्) ईर्ष्यालु पुरुष का भी मन, मनन शक्ति मर जाती है इसलिये ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये।

अदो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् ।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि (अदः) अमुक ईर्ष्यायुक्त जो (मनस्कम्) तुच्छ मन (ते हृदि) तेरे हृदय में (श्रितम्) समाया है वह (पतयिष्णुकम्) तुझे सदा नीचे गिराने वाला है । (ततः) इस कारण से (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (मुञ्चामि) तुझ से ऐसे छुड़ाता हूं, जैसे (दृतेः) चाम की बनी धोकनी से (ऊष्माणम् निर्) गर्म वायु की फूंक निकाल दी जाती है ।



[१९] पवित्र होने की प्रार्थना ।

शन्तातिर्ऋषिः । नाना देवता, उत चन्द्रमा देवता । १ अनुष्टुप् ; २, ३ गायत्र्यौ । तृचं सूक्तम् ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ १ ॥

यजु० १९ । ३९ ॥ ऋ० ९ । ६७ । २७ ॥

भा०—पवित्र और शुद्ध होने का उपदेश करते हैं । (मा) मुझ अशुद्ध पुरुष को (देवजनाः) विद्वान् लोग (पुनन्तु) पवित्र करलें । और (मनवः) मननशील विचारवान् पुरुष मुझे (धिया) ज्ञान और कर्म के बल से (पुनन्तु) पवित्र करलें । (विश्वा भूतानि) समस्त प्राणिगण भी मुझे सद्भावना से पवित्र करें । और (पवमानः) सब को पवित्र करनेहारा पतितपावन प्रभु मुझे (पुनातु) पवित्र करे ।

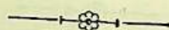
पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
अथो अरिष्टतातये ॥ २ ॥

भा०—(पवमानः) सब के पावन प्रभु (मा) मुझे (क्रत्वे)

ज्ञान, (दक्षाय) बल, (जीवसे) सम्पूर्ण जीवन, (अथो) और (अरिष्टतातये) क्लेशरहित, सुख कल्याण के लिये (पुनातु) पवित्र करें।

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च ।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥ ३ ॥

भा०—हे (सवितः देव) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक परमेश्वर देव! (पवित्रेण) अपने पवित्र करनेहारे ज्ञान और (सवेन च) कर्म (उभाभ्याम्) दोनों से (चक्षसे) अपने साक्षात् दर्शन के लिये (अस्मान्) हमें (पुनीहि) पवित्र कर ।



(२०) ज्वर का निदान और चिकित्सा ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनं देवता । १ अतिजगती, २ ककुम्मती प्रस्तारपंक्तिः, ३ सतःपंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति ।
अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने॥१

भा०—(शुष्मिणः) प्रबल (अग्नेः इव) आग के समान (दहतः) शरीर को भस्म करते हुए, तपाते हुए, इस ज्वर का वेग (एति) आता है और रोगी तब (मत्तः) मत्त, विचारहीन नशेबाज के समान (उत) और (विलपन्) बड़बड़ाता हुआ (अप अयति) उठ कर भागा करता है । ज्वर (अव्रतः) जो कि व्रतहीनता की निशानी है (अस्मद् अन्यं कंचित्) हमसे अतिरिक्त किसी दूसरे अर्थात् व्रतहीन अनाचारी पुरुष को (इच्छतु) हुआ करता है । (तपुः-वधाय) ताप रूप शस्त्र को धारण करनेवाले (तक्मने) कष्टदायी ज्वर का तो (नमः) शान्ति का उपाय ही हम करें । पापचारी को रोग सताते हैं, पुण्यात्मा, सदाचारी युक्ताहार-विहारवान् व्रतनिष्ठ योगी को नहीं सताते ।

नमो॑ रु॒द्राय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॒ नमो॒ राज्ञे॒ वरु॑णाय॒ त्विषी॑मते ।
नमो॑ दि॒वे नमः॑ पृथि॒व्यै नम॒ ओष॑धीभ्यः ॥ २ ॥

भा०—(रुद्राय नमः) उस रुलानेवाले ज्वर का उपाय करो कि वह शान्त हो जाय । (तक्मने) कष्टमय जीवन के कारणभूत ज्वर का (नमः) उपाय करो । और (वरुणाय) सर्वश्रेष्ठ उस (त्विपीमते) कान्तिमान् (राज्ञे) राजाधिराज परमात्मा को नमस्कार करो । उसको सदा याद रक्खो और उससे उतर कर सुखी जीवन के बनाने के साधन (दिवे नमः) तेजोरूप सूर्य को नमस्कार अर्थात् उसका सदुपयोग करो, और उस द्वारा (ओपधीभ्यः नमः) उत्पन्न रोगहारी ओषधियों का सदुपयोग करो । इससे तुम्हारे जीवन हृष्ट पुष्ट, स्वस्थ, नीरोग रहेंगे । रोगों से रहित होने के लिये सूर्य का प्रभास्नान करो, पृथिवी पर परिभ्रमण करो और ओषधियों का सेवन करो ।

अ॒यं यो अ॑भिशोचयि॒ष्णुर्विश्वा॑ रू॒पाणि॒ हरि॑ता कृ॒णोषि॑ ।
तस्मै॑ तेऽरु॒णाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमः॑ कृणोमि॒ वन्या॑य त॒क्मने॑ ॥ ३ ॥

भा०—(अयम्) यह (यः) जो (अभिशोचयिष्णुः) सब को सब प्रकार से शोकित और पीड़ित करनेवाला ज्वर है, जो (विश्वा रूपाणि) सब शरीरों को (हरिता) पीला (कृणोपि) कर देता है । (ते) तेरे (तस्मै) उस (अरुणाय) लाल और (बभ्रवे) भूरे रंगवाले (वन्याय) जंगल में पैदा हुए (तक्मने) कष्टदायी बुखार की (नमः कृणोमि) मैं चिकित्सा करता हूँ ।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

---

(२१) वीर्यवती ओषधियों के संग्रह करने का उपदेश ।

शंतातिर्ऋषिः । चन्द्रमा देवता । १—३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ १ ॥

भा०—(इमाः) ये (याः) जो (तिस्रः) तीन (पृथिवीः) विशाल लोक हैं (तासाम्) उनमें से (ह) निश्चय से (भूमिः) यह भूमि ही (उत्-तमा) सर्वश्रेष्ठ है । (तासाम्) उन तीनों लोकों के (अधि त्वचः) आवरण भाग ऊपरी पीठ पर उत्पन्न होनेवाले (भेषजम्) रोगापहारी औषध पदार्थों को (अहम्) मैं (सम् जग्रभम् उ) भली प्रकार संग्रह कर लिया करूं ।

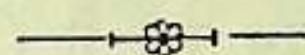
श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम्
सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू ही (भेषजानाम् श्रेष्ठम् असि) सब रोगहारी औषधों में श्रेष्ठ है और (वीरुधानाम्) नाना प्रकार की उगनेहारी बेल-बूटियों में सब से अधिक (वसिष्ठम् असि) उत्तम रस और गुणों और वीर्यों से युक्त है । जिस प्रकार (यामेषु सोमः भग इव) दिन और रात के प्रकाश में चन्द्र शान्तिदायक और सूर्य तेजस्वी है उसी प्रकार तू भी सब भेषजों में उत्तम शान्तिदायक और वीर्यवान् है । और (देवेषु) सब प्रकाशमान् पदार्थों में या राजाओं में सब का प्रकाशक (यथा वरुणः) जैसे सर्वश्रेष्ठ वरुण = चुना हुआ राजा या परमात्मा है उसी प्रकार तू भी सर्वश्रेष्ठ है ।

रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ ।
उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥ ३ ॥

भा०—हे (रेवतीः) वीर्यवाली ओषधियो ! आप (अनाधृषः) कभी निर्बल नहीं हो सकतीं । आप सदा (सिषासवः) सब को आरोग्यता देना चाहती हुई (सिषासथ) आरोग्य प्रदान करना ही चाहा करती हो । और आप (केश-दृंहणीः स्थ) केशों को दृढ करने या क्लेशों

को नाश करनेवाली हो, साथ ही निश्चय से (अथो केशवर्धनीः ह) केशों की वृद्धि करनेवाली भी हुआ करती हो। केशों को दृढ़ करना और बढ़ाना यह आरोग्यतादायक वीर्यवान् ओषधियों का स्वभाव है। निर्बलता में केशों का झड़ना, टूटना आदि घटनाएं होती हैं।



(२२) सूर्य-रश्मियों द्वारा जल-वर्षा के रहस्य का वर्णन

शंतातिर्ऋषिः । आदित्यरश्मयो मरुतश्च देवता: । १, ३, त्रिष्टुभौ, २ चतुष्पदा भुरिग् जगती । तृचं सूक्तम् ।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥ १ ॥

ऋ० १ । १६४ । ४६ ॥ अथर्व० ९ । १० । २२ ॥ १३ । ३ । ९ ॥

भा०—(कृष्णम्) कर्षणशील, खैंचने में समर्थ (नियानम्) नियमन करने में समर्थ या आकाशमण्डल में गति करते हुए सूर्य को आश्रय लिये (सुपर्णाः) उत्तम रूप से गति करनेवाली (हरयः) तथा जल हरण करने वाले रश्मिगण या वायुएं (अपः वसानाः) जलों को अपने भीतर छुपाकर (दिवम्) पुनः अन्तरिक्ष में (उत्पतन्ति) उठती हैं। (ते) वे (ऋतस्य सदनात्) उदक या जल के आश्रयस्थान से (आववृत्रन्) लौटती हैं और (आदित्) अनन्तर पुनः (घृतेन) जल से (पृथिवीम्) पृथिवी को (वि ऊदुः) बरसाकर गीला कर देती हैं।

अर्थात् सूर्य की तापमय रश्मियां पृथिवी के जल के भागों पर पड़ती हैं और हलका जल ऊपर उठता है। पुनः वह उष्ण भाफ शीत के कारण जम कर नीचे आता है और जल बरसता है। हरयः = वायुएं या आदित्यरश्मियां।

पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः
ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु ॥ २ ॥

भा०—हे (रुक्म-वक्षसः मरुतः) सुवर्ण के समान कान्तिमान् तेजस्वी सूर्य को अपने वक्षस्थल पर करने वाली वायुओ ! या सुवर्ण के आभूषणों को छाती पर पहनने वाले (मरुतः) मारकाट के व्यसनी भटों के समान तीव्र गतिवाले 'मरुत्' वायुओ ! (यद्) जब तुम लोग (शिवाः) कल्याणकारी शुभ रूप में (एजथ) चला करते हो तब (अपः) पृथिवी पर विराजमान सब जल के स्थानों और (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (पयस्वतीः कृणुथ) पुष्टिकारक रस से पूर्ण कर देते हो। और हे (नरः) मेघों को लेजानेवाले (मरुतः) वायुगण ! (यत्र) जिस देश में तुम (मधु सिञ्चथ) जल का सेचन करते हो, जल देते हो, (तत्र) उस देश में (ऊर्जम्) पुष्टिकारक अन्न और (सुमतिं च पिन्वत) प्रजा के भीतर उत्तम मति, शुभ संकल्पों को भी पुष्ट करते हो ।

उ॒द॒प्रुतो॑ म॒रुत॒स्ताँ इ॑यर्त वृ॒ष्टिर्या विश्वा॑ नि॒वत॑स्पृ॒णाति॑ ।
एजा॑ति॒ ग्लहा॑ क॒न्ये॑व तु॒न्नैरुं॒ तुन्दा॑ना॒ पत्ये॑व जा॒या ॥ ३ ॥

भा०—हे (मरुतः) वायुगणो ! तुम (तान्) उन (उदप्रुतः) जल से पूर्ण मेघों को (इयर्त्त) प्रेरित कर धकेल कर लाओ । (या) जिनसे होनेवाली (वृष्टिः) वर्षा (विश्वा निवतः) सब निम्न भागों और नीचे बहने वाली नदियों को (पृणाति) पूर्ण कर दे । अथवा हे (उद-प्रुतःमरुतः) जल से पूर्ण मानसून वायुओ ! तुम (तां = ताम्) उस वृष्टि को (इयर्त) ला बरसाओ (या वृष्टिः) जो वृष्टि (विश्वा निवतः पृणाति) सब नदी नालों को भर डालती है । (तुन्ना कन्या इव) जिस प्रकार पीड़ित, दुःखित कन्या अपने पिता को व्यथित, कम्पित करती है और (तुन्दाना जाया पत्या इव) जिस प्रकार भय से व्यथित स्त्री अपने प्राणपति को व्यथित, कम्पित करती है उसी प्रकार (ग्ला) माध्यमिका वाग् विद्युत् मानो व्यवस्थित-सा होकर (एरुम्) प्रेरक मेघ को भी (एजाति) कंपाती है ।

(२३) जलधाराओं द्वारा यन्त्र-सञ्चालन ।

शन्तातिर्ऋषिः । आपो देवताः । १ अनुष्टुप्, २ त्रिपदा गायत्री, ३ परोष्णिक् ।
तृचं सूक्तम् ॥

स॒स्रुषी॑स्त॒द॒पसो॑ दि॒वा नक्तं॑ च स॒स्रुषीः॑ ।
वरे॑ण्यक्रतुर॒हम॒पो दे॒वीरुप॑ह्वये ॥ १ ॥

भा०—(तत्) उस अनादि अनन्त जीवन-रस को (सस्रुषीः) निरन्तर बहानेवाली (अपसः) ब्रह्माण्ड निर्मापक शक्तिधाराएं या जल-धाराएं (दिवा नक्तं च) रात और दिन (सस्रुषीः) बहनेवाली जल-धाराओं के समान बराबर चलती ही रहती हैं । (वरेण्य-क्रतुः) सब से वरण करने योग्य क्रतु = ज्ञान और कर्म से युक्त (अपः) व्यापक प्रकृति शक्तियों को (उप-ह्वये) अपने समीप ही अपनी हुकूमत में रखता हूँ । अथवा—मैं (वरेण्य-क्रतुः) उत्तम ज्ञान और कर्मवाला पुरुष उन दिव्य शक्तिसम्पन्न (अपः) जलों को (उप-ह्वये) अपने कलायन्त्रादि द्वारा अधीन रखता हूँ ।

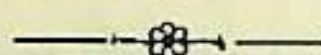
ओता॒ आपः॑ कर्म॒ण्या मु॒ञ्चन्त्वि॒तः प्रणी॑तये ।
स॒द्यः कृ॑ण्व॒न्त्वेत॑वे ॥ २ ॥

भा०—(ओताः) निरन्तर बंधी धारा से बहनेवाली (आपः) जलधाराएं ही (कर्मण्याः) कर्म, क्रियाशक्ति उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं । हे पुरुषो (प्रणीतये) अपने यन्त्रों को उत्तम रीति से चलाने के लिए उन जलधाराओं को (इतः) इस रीति या इस निर्दिष्ट मार्ग से (मुञ्चन्तु) छोड़ दो कि (एतवे) गति देने के लिये ये (अपः) जल-धाराएं भी (सद्यः) शीघ्र ही (कृण्वन्तु) क्रिया करें ।

जलधाराओं की शक्ति से यन्त्र चलाने का इसमें उपदेश है कि निरंतर बहती धारा से शक्ति उत्पन्न करो और शीघ्र चलने वाला यन्त्र चलाओ ।

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

भा०—(सवितुः) सबके प्रेरक, उत्पादक (देवस्य) प्रकाशमान देव की (सवे) प्रेरणा में (मानुषाः) सब मनुष्य (कर्म) अपना अपना नियत काम (कृण्वन्तु) करें। (ओषधीः) ताप को धारण करनेवाले (अपः) जल (नः) हमें (शिवाः) सुखकारी और शान्तिदायक हों।



[२४] हृदय-रोग पर जल चिकित्सा।

शंतातिर्ऋषिः। आपो देवताः। १—३ अनुष्टुप्। तृच सूक्तम् ॥

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्योतभेषजम् ॥ १ ॥

भा०—(हिमवतः) हिमवाले पर्वतों से जो जलधाराएं (प्रस्रवन्ति) बहकर आती हैं उनका (सिन्धौ) बहने वाले बड़े प्रवाहों में (समह) एकही साथ (संगमः) मेल हो जाता है। (तद्) तब (देवीः) दिव्य गुणों से युक्त (आपः) वे जल (मह्यम्) मुझे (हृद्योत भेषजं ददन्) हृदय की पीड़ा के रोग को अच्छा करने का लाभ देती हैं। अर्थात् हिमवाले पर्वतों से बहती हुई जलधाराओं में नाना प्रकार के गुणों के एकत्र मिल जाने से हृदय के रोग के नाश करने का विशेष गुण होता है।

यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत्।
आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥

भा०—(यत्) जो रोग (मे) मेरे (अक्ष्योः) आखों और (पार्ष्ण्योः) एड़ियों और (प्रपदोः च) पैरों के अगले हिस्सों में (आविद्योत) जलन पैदा करता है (तत् सर्वम्) उस सब रोग को (आपः)

जलधाराएं (निष्करन्) दूर कर देती हैं, क्योंकि वे ही (भिषजाम्) सब ओषधियों में (सुभिषक्-तमाः) उत्तम रोग की चिकित्सा करनेहारी हैं।

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्य स्थन ।
दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै ॥ ३ ॥

भा०—(सिन्धु-पत्नीः) अपने निरन्तर प्रवाह को पालने वाली, सदा बहार और (सिन्धु-राज्ञीः) नित्य बहते प्रवाह से शोभा देनेवाली (याः) जितनी विशाल (नद्यः) बड़ी नदियां (स्थन) हैं। हे नदियो ! तुम सब (नः) हम मनुष्यों को (तस्य) उस पीड़ाकर रोग के (भेषजम्) निवारक ओषधि का (दत्त) प्रदान करो। (तेन) उसके बल पर ही हम (वः) तुम सब नदियों का (भुनजामहै) उपभोग करें। नदियों के कारण ही हम स्वस्थ रहकर नदियों का आनन्द लाभ उठाते हैं।

[२५] कण्ठमाला रोग का निदान और चिकित्सा।

शुनःशेप ऋषिः । मन्याविनाशनं देवता । १-३ अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ १ ॥

भा०—गले के ऊपर के भाग में (याः) जो (पञ्च च पञ्चाशत् च) पचपन प्रकार की (मन्याः) गण्डमालाएं (अभि संयन्ति) आ जाती हैं (ताः) वे सब (अपचिताम्) अप = बुरे माद्दे के सञ्चयों से उत्पन्न (वाकाः इव) वाक = पकी फुन्सियों के समान होती हैं (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) यहां से (नश्यन्तु) दूर हो जायं।

सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ २ ॥

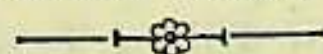
भा०—और (याः) जो (ग्रैव्याः) गर्दन में होने वाली (सप्त च सप्ततिः च) ७७ (सतहत्तर) प्रकार की गंडमालाएं (अभि संयन्ति)

गर्दन पर आ जाती हैं (ताः) वे भी (अप चिता वाकाः इव) बुरे मादे के संचय से उत्पन्न फोड़ों के समान होती हैं। (ताः सर्वाः इतः नश्यन्तु) वे सब इस गर्दन भाग से नष्ट हो जांय।

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ ३ ॥

भा०—(नव च नवतिः च याः) जो निन्यानवे प्रकार की गंड-मालाएं (स्कन्ध्याः) कन्धे की चारों ओर (अभि संयन्ति) आजाती हैं। वे भी (अपचितां वाका इव) बुरे मादे के समान (ताः सर्वा इतः नश्यन्तु) इस स्कन्ध भाग से नष्ट हो जायं।

डा० बाईज़ "हिन्दुसिस्टम आफ़ मैडिसिन" में लिखते हैं—'जब छोटी छोटी गोटियां (Tumonrs) बेर के फल के समान गला, गर्दन, कन्धे और पीठ पर उठती हैं तो वे कफ दोष से बढ़ जाती हैं और शनैः शनैः बढ़ती जाती हैं। उनको 'अपचि' कहते हैं।



[२६] पाप के भावों पर वश करना।

ब्रह्मा ऋषिः। पाप्मा देवता। १—३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविहुतम् ॥ १ ॥

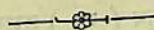
भा०—हे (पापमन्) पाप के भाव! (मा अवसृज) मुझसे परे रह। तू (वशी सन्) वश में आकर (नः) हमारे (मृडयासि) सुख का कारण हो। हे पाप्मन्! पाप के भाव (माम्) मुझको (अविहृतम्) सरल, निष्कपट रूप में (भद्रस्य लोके) सुख, कल्याणमय लोक में (आ धेहि) रहने दे। मनुष्य सदा यही भावना करे कि पाप मुझसे परे रहे और मैं सदा उस पर वश कर के रहूं। सरल, निष्कपट रूप से कल्याणमय लोक में निवास करूं।

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ।
पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥ २ ॥

भा०—हे पाप्मन् ! पाप के भाव ! (नः) हमें (यः) जो तू (न जहासि) नहीं छोड़ता तो (तम्) उस (त्वा उ) तुझको ही (वयम्) हम स्वयं (जहिमः) परित्याग करते हैं। (पथाम्) सत्पथ से (वि-आवर्त्तने) उल्टे अर्थात् असत्पथ में वर्त्तमान (अन्यम्) अन्य जन को ही जो कि हम सत्पथ गामियों से भिन्न मार्ग में चलनेवाला है (पाप्मा) पाप (अनुपद्यताम्) प्राप्त हुआ करता है ।

अन्यत्रास्मन्न्यु/च्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः ।
यं द्वेषाम तमृच्छतु यमु द्विष्मस्तमिज्जहि ॥ ३ ॥

भा०—(अमर्त्यः) मनुष्यों के अयोग्य पाप (सहस्राक्षः) हजारों का जो क्षय करता है (अस्मत्) हमसे (अन्यत्र) पृथक् (नि-उच्यतु) ही रहे । (यं द्वेषाम) जिस मार्ग के प्रति हम प्रेम नहीं करते (तम् ऋच्छतु) उसी मार्ग में वह रहे (यम् उ द्विष्मः) जिस मार्ग के साथ हम सन्मार्गियों का अनुराग नहीं (तम् इत्) उस मार्ग का (जहि) नाश ही हो जाय ।



[२७] राजा और राजदूतों का आदर ।

भृगुर्ऋषिः । यमो निर्ऋतिर्वा देवता । १,३ जगत्यौ, २ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम । तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १ ॥ ऋ० १० । १६५ । १ ॥

भा०—विद्वान् राजदूतों के साथ करने योग्य व्यवहार का उपदेश करते हैं। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (निर्ऋत्याः) कष्टदायी विप-

त्तियों या सेनाओं का (दूतः) ज्ञान करने या दूर करनेवाला (कपोतः)[1] कपोत के समान संदेश-हर, विद्वान् पुरुष (यद्) जब (इषितः) किसी से प्रेरित या प्रेषित होकर या (इच्छन्) स्वयं अपनी अभिलाषा से (इदम्) हमारे घर में, हमारे पास (आजागाम) आ जाय (तस्मा अर्चाम) तब उसको हम बड़े आदर से पूजें। उसकी उपेक्षा न करें और और उसके (निःकृतम् कृणवाम) श्रम का प्रतिकार करें जिससे वह (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यों और (चतुष्पदे) चौपायों को (शं) सुख कल्याणकारी (अस्तु) हो। इसी से कपोत पक्षी द्वारा दूत का का कार्य लेना भी सूचित होता है।

शिवः कुपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥२॥

भा०—(इषितः) किसी से प्रेरित (कपोतः) विशेष लक्षणों से युक्त संदेशहर विद्वान् (नः) हमें (शिवाः) शुभ ही (अस्तु) हो। हे (देवाः) विद्वन् पुरुषो! (शकुनः) क्योंकि वह शक्तिवाली होकर भी (नः) हमारे (गृहम्) घर के प्रति (अनागाः) कोई अपराध या हानि न पहुंचावें। वह (अग्निः) अग्नि = आहवनीय अग्नि (हि) के समान (विप्रः) मेधावी पुरुष (नः) हमारे (हविः) चरु के समान पवित्र अन्न को (जुषताम्) प्रेम से स्वीकार करे। जिससे (पक्षिणी) पंखों से युक्त (हेतिः) आयुध बाण या सेना (नः) हम से (परि वृणक्तु) चारों ओर से बचे अर्थात् दूर रहे, हमें न लगे। अर्थात् पराये राष्ट्र के भेजे राजदूत के साथ आदर का बर्ताव करे, उसको अन्न-भोजन का प्रबन्ध कर दे नहीं तो उसके साथ दुर्व्यवहार करके भी भावी में

१. कवतेरोतन् उणादिर्वस्य च पः। उणा० १। ६२॥ कवते वर्णयति दर्शयति इति कपोतः। अस्य सूक्तस्य ऋग्वेदे कपोतो नैर्ऋत ऋषिः कपोतोपहतौ प्रायश्चित्ते वैश्वदेवं देवता। विश्वेदेवा देवता इति क्षेमकरणः।

भयंकर राष्ट्रकलह उत्पन्न होते हैं और भयानक अस्त्रों का प्रहार होता है।

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने।
शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवा इह हिंसीत्
कपोतः ॥ ३ ॥   ऋ० १० । १६५ । १३ ॥

भा०—(पक्षिणी) पंखों से युक्त (हेतिः) आयुध, बाण या सेना (अस्मान्) हमें (न दभाति) नहीं विनाश करे। (आष्ट्री) शक्तिमान् राजा (अग्निधाने) अग्निशाला में (पदं कृणुते) पैर रक्खे, और वहां विद्वान् दूत से अग्नि के साक्षी में बात करे। (नः) हमारे (गोभ्यः) गौओं और (पुरुषेभ्यः) मनुष्यों के लिए भी (शिवः) कल्याण (अस्तु) हो। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! (कपोतः) पूर्वोक्त लक्षणवान् विद्वान् दूत-सूचक (इह) यहां (नः मा हिंसीत्) हमें विनाश न करे। इस मन्त्र के अनुसार प्राचीन काल में राजा लोग प्रायः अग्निशाला में दूतों की बातें सुना करते थे। देवाः = विद्वान् लोग जो राजसभाओं के सभासद् हैं। निर्ऋतिः = शत्रु का आक्रमण रूप विपत्ति। पक्षिणी हेतिः = सेना जिसके दोनों पक्ष कहाते हैं।



[२८] राजा और राजदूत के व्यवहार।

भृगुर्ऋषिः। यमो निर्ऋतिश्च देवते। १ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ जगती।
तृचं सूक्तम् ॥

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः।

३—'आष्ट्र्यां पदं कृणुते', 'शं नो गोभ्यः पुरुषेभ्यश्चास्तु, 'यो नः हिंसीदिह देवा कपोताः' इति ऋ०।

सं लोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात् पथिष्ठः ॥१

ऋ० १० । १६५ । ५ ॥

भा०—(ऋचा) उत्तम अर्चना, आदर सत्कार से (प्रणोदम्) शिक्षा प्राप्त, स्तुति योग्य (कपोतम्) विशेष लक्षण या वर्णयुक्त विद्वान् राजदूत को आप लोग भी (नुदत) अपना संदेशहर बना बना कर भेजो। हम भी (इषम्) अपनी अभिलाषा को (मन्दतः) हर्षपूर्वक (गां परिनयामः) इस पृथ्वी में सब ओर पहुंचावें। (दुरतानि पदानि) दुःखदायी स्थानों का (सं लोभयन्तः) विनाश करें। वह हमारे (ऊर्जम्) बल को हित्वा ग्रहण करके स्वयं (पथिष्ठः) मार्ग तय करता हुआ (प्र प्रदात्) बराबर आगे बढ़ता चला जाय।

राजा अपने दूतों को समस्त पृथिवी में भेजे, अपनी आज्ञाओं को उसके द्वारा सर्वत्र प्रचारित करे। दुर्गम स्थानों को सुगम करके वहां से राष्ट्र के हितार्थ ऊर्ज = बल प्राप्त करके अगले देशों में प्रवेश करे।

परीमे॒ऽग्निम॑र्षत॒ परी॒मे गाम॑नेषत ।
दे॒वेष्व॑क्रत॒ श्रव॒: क इ॒माँ आ द॑धर्षति ॥ २ ॥

ऋ० १० । १५५ । ५ ॥

भा०—(इमे) ये विद्वान् लोग (अग्निम् अर्षत) अग्नि के समान प्रकाशमान ज्ञानी विद्वान् को प्राप्त करते हैं (गाम् परि अनेषत) और समस्त पृथिवी का परिभ्रमण या वेद वाणी का अभ्यास करते हैं।

---

[२८] १–(द्वि०) 'नयध्वम्' । (तृ० च०) 'संयोपयन्तो दुरितानि विश्वा हि त्वा न ऊर्जं प्रपतात् पतिष्ठः ।' इति ऋ० ।

अस्य सूक्तस्य ऋग्वेदे कपोतो नैर्ऋत ऋषिः, कपोतोपहते वैश्वदेवं प्रायश्चित्तं देवता इति ।

२–(प्र० द्वि०) 'परिमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत' इति ऋ० ।

(देवेषु) विद्वानों में और राजाओं में भी (श्रवः अक्रत) इन्होंने अपना बल या यश स्थापित किया है । (इमान्) अब इनको (कः) कौन (आ दधर्षति) परास्त कर सकता है ।

जो विद्वान् दूतों को रखकर समर्थ पृथिवी में पहुंच कर राजाओं में बल प्राप्त करलें उनको विजय नहीं किया जा सकता ।

यः प्रथमः प्रवतमासुसाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः ।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥३
प्र० द्वि० ऋ० १० । १४ । १ । प्र६ द्वि० ॥ तृ० च० ऋ० १० । १६५ । ४ तृ० च० ॥ १० । १२१ । ३ तृ० च० ॥

भा०—(यः) जो (प्रथमः) सब से श्रेष्ठ, सब से प्रथम (बहुभ्यः) और बहुत से लोगों के लिये (पन्थाम्) मार्ग को (अनुपस्पशानः) अपने पीछे दिखाता हुआ (प्रवतम्) उच्च पद को प्राप्त किए है और जो (अस्य द्विपदः) इस मानव संसार (चतुष्पदः) और इस पशु संसार का (ईशे) स्वामी है (यमाय) सर्वनियन्ता (मृत्यवे) सबको बन्धनों से मुक्त करने वाले (तस्मै) उस प्रभु को (नमः अस्तु) नमस्कार है ।

उक्त दोनों सूक्त अध्यात्मपरक भी हैं । अध्यात्म में (१) निर्ऋति = संसार (दूतः) क्लेश पाकर, कपोत = आत्मा किसी गुरु से प्रेरित होकर या स्वयं अपनी अभिलाषा से (इदम्) प्रत्यक्ष परमात्मा को प्राप्त हो जाय तो उस आत्मा का आदर करो वह सबका कल्याणकारी है । (२) वही आत्मा शिव, निष्पाप, शक्तिमान् है और यह हमारा शरीर उसका गृह है । वही विप्र अग्नि है जो इस हवि स्तुति को स्वीकार करता है । (३) पक्षिणी–हेति = पक्षपातवाली तृष्णा हमें न सतावे । वह सर्व भक्षिणी अग्नि = आत्मा के स्थान पर भी आक्रमण कर देती है । हमारे पशु

३–(तृ०) 'योऽस्य दूतः प्रहित एष तत्तस्मै' इति ऋ० । (प्र० द्वि०) 'परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनु पस्पशानम्' इति ऋ० ।

इन्द्रियों और पुरुषों, प्राणों का कल्याण हो, वह आत्मा हमें अघात न करे।

१ स्तुति या वेद-ज्ञान के अनुसार आत्मा को प्रेरित करे, हर्ष से अनुभव करते हुए वाणियों का उच्चारण करे। दुष्ट विषयों का विनाश करते हुए उनका त्याग करे, देवयान मार्ग में गतिशील हमारा आत्मा उस (ऊर्जम्) रसरूप ब्रह्म को प्राप्त हो। (२) योगी लोग उस अग्निदेव परमेश्वर को प्राप्त करते, वाणी का उच्चारण करते या अपनी स्तुतियां उस तक पहुंचाते हैं और अपने प्राणों में बल धारण करते हैं अब उनका विजय कौन कर सकता है। (३) वह परमात्मा सब से पूर्व बहुत से अन्य जीवों का मार्ग दिखाता हुआ सबसे उच्च स्थान मोक्ष में विराजता है वह सब पशु मनुष्यों का स्वामी, सर्वनियन्ता और बन्धन मोचन है उसको नमस्कार है।

[२९] राजदूतों के व्यवहार

भृगुर्ऋषिः। यमो निर्ऋतिश्च देवते। १—२ त्रिपदा विराण्नामगायत्री, ३ त्र्यवसाना सप्तपदा विराडष्टिः। तृचं सूक्तम् ॥

अमून् हेतिः पतत्रिणी न्येतु यदुलूको वदति मोघमेतत्।
यद् वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६५ । ४ प्र० द्वि० ॥

भा०—(यत्)[1] जब (उलूकः) उल्लू के समान कुटिल गुप्त दूत (मोघम्) व्यर्थ बात (वदति) बोलता है (यद्वा) या जब (कपोतः) विद्वान् दूत भी (अग्नौ) अग्नि में, अग्नि के समान तेजस्वी

[२९] १–'यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति। यस्य दूतः प्रहित एष एतत्तस्मै यमाय नमोऽस्तु मृत्यवे' इति ऋ०। कपोतो नैर्ऋत ऋषिः। कपोतोपहतौ वैश्वदेवं देवता इति ऋग्वेदे, प्रजापतिरिति क्षेमकरणः।

राजा और (पदम् कृणोति) अपना अधिकार जमाना चाहता है तब (पतत्रिणी) पक्षों वाली (हेतिः) घातक सेना (अमून्) उन शत्रुओं पर (नि-एतु) जा चढ़े ।

यौ ते॑ दू॒तौ नि॑र्ऋत इ॒दमे॒तोऽप्र॑हितौ॒ प्रहि॑तौ वा गृ॒हं नः॑ ।
क॒पो॒तो॒लू॒काभ्या॒मप॑दं॒ तद॑स्तु ॥ २ ॥

भा०—हे (निर्ऋते) विपत्ते ! (ते) तेरे (यौ दूतौ) जो दो प्रकार दूत (इदम् न गृहम्) इस हमारे घर पर (अप्रहितौ) विना भेजे या (प्र-हितौ) भेजे हुए (एतः) आते हैं (तत्) तब, उस समय जब कि पूर्वोक्त प्रकार से सेना का आक्रमण हो जाय तब हमारा गृह (कपोत-उलूकाभ्याम्) मूर्ख और बुद्धिमान् दोनों प्रकार के दूत पुरुषों के लिए (अपदम् अस्तु) आश्रय के लिये न हो । अर्थात् उस समय हम शत्रु के भले बुरे किसी भी प्रकार के राजदूत को आश्रय नहीं दें ।

अ॒वै॒र॒ह॒त्याये॒दमा प॑पत्यात् सु॒वी॒रता॑या इ॒दमा स॑सद्यात् ।
परा॑ङे॒व परा॑ वद॒ परा॑ची॒मनु॑ सं॒वत॑म् ।
यथा॑ य॒मस्य॑ त्वा गृ॒हेऽर॒सं प्र॑ति॒चाक॑शा॒नाभू॒कं॑ प्रति॒चाक॑शान् ॥३

भा०—युद्ध के समय राजदूतों के साथ किस सावधानी का वर्ताव करे इसका उपदेश करते हैं । (इदम्) चाहे यह राजदूत (अवैरहत्याय आपपत्यात्) वैर से हमारे पुरुषों का घात करने का उद्देश्य न लेकर भी आया हो और चाहे (इदम्) वह (सुवीरतायाः आससद्यात्) अपनी अच्छी वीरता का जोर दिखलाने ही आया हो, दोनों दशाओं में (पराङ् एव) दूर रह कर ही (पराचीम् संवतम्) दूर की वेदी या आसन पर खड़ा रह कर (परा वद) दूर से ही अपना संदेश कहे । (यथा) जिससे हे दूत ! (त्वा) मुझे राजसभा के लोग (यमस्य गृहे) नियन्ता राजा के घर में (अरसम्) निर्बल रूप में (प्रति चाकशान्) देखें और (आभूकं प्रति चाकशान्) सामर्थ्यहीन, नाचीज़ जानें ।

—⊕—

[३०] राजा के कर्त्तव्य

उपरिबभ्रव ऋषिः । शमी देवता । १ जगती, २ त्रिष्टुप्, ३ चतुष्पदा शंकुमती अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ १ ॥ ऋ० ६१ । २ ॥

भा०—जौ कि खेती के दृष्टान्त से राष्ट्र के शासन का वर्णन करते हैं। (देवाः) देव विद्वान् लोग (इमम्) इस (यवम्) जौ धान्य को जिस प्रकार (सरस्वत्याम्) नदी के तट पर (मणौ) उत्तम भूमि में (अचर्कृषुः) हल जोत कर बोते हैं और उत्तम फसल प्राप्त करते हैं उसी प्रकार (देवाः) विद्वान् शासक लोग भी (मधुना) उत्तम धन धान्य समृद्धि से (सं-युतम्) सम्पन्न (यवम्) इस समूहित राष्ट्र को (सरस्वत्यां मणौ) सरस्वती-सत्यवाणी धर्म पुस्तक [कोड्बुक] के आधार पर उत्तम पुरुषों के आश्रय पर (अचर्कृषुः) चलाते हैं। इस राष्ट्ररूप खेती में (सीरपतिः) हलका स्वामी (इन्द्रः आसीत्) राजा होता है जो (शतक्रतुः) सैकड़ों फल और ज्ञान सामर्थ्यों से युक्त होता है। और (सु-दानवः) उत्तम दानशील, उदार (मरुतः) प्रजागण लोग (कीनाशाः) किसानों के समान (आसन्) होते हैं।

यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि ।
आरात् त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ॥२॥

भा०—शमी वृक्ष के दृष्टान्त से राजा के कर्तव्यों का उपदेश करते हैं। हे (शमि) ! शत्रुओं को शमन करने हारी शक्ति! शमी के मद या रस के समान (ते) तेरा (यः) जो (मदः) हर्ष या उन्माद (अव-केशः) बालों को खोलने वाला (वि-केशः) या बालों को विकृत कर देनेवाला

है जिससे तू (पुरुषं अभिहस्यं कृणोषि) पुरुष को उपहास का पात्र बना देती है हे शमि ! उस मद से (शत-वल्शा) सैकड़ों शाखावाली होकर (त्वम्) तू शमी वृक्ष के समान ही (विरोह) बढ़ । (त्वत् आरात्) तेरे पास से (अन्या वनानि) और वृक्षों के समान उच्छेद करने योग्य विरोधी राजाओं को (वृक्षि) काट डालता हूं ।

राजा का मद अपने आधीन आए शत्रु की चाहे तो इतनी दुर्दशा करे उसके बाल खुलवादे या मूंड दे और उसको सबका उपहास का पात्र बनादे । मन्त्री आस पास के और राजाओं का नाश कर राजा को मुख्य बनाता है और सब राज्य प्रबन्ध को, राजा को मूल में रखकर, उसके शाखा रूप में रख देता है । इससे राज्य की शक्ति बढ़ती है ।

बृहत् पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि ।
मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि ॥ ३ ॥

भा०—(शमि) हे शमि ! हे शान्तिकारिणी राजशक्ते ! राजसंभे ! हे (बृहत्पलाशे) बड़े ज्ञान सम्पन्न पुरुषों से सम्पन्न ! हे (सुभगे) ऐश्वर्यसम्पन्न हे (वर्षवृद्धे) सुखादि वर्षण करने में सबसे अधिक बलशालिनी हे (ऋतावरी) सब सत्य ज्ञान = विज्ञान एवं कानून की रक्षा करने वाली ! तू (केशेभ्यः) केशों को; राष्ट्र के सुन्दर मूर्धन्य पुरुषों को (पुत्रेभ्यः माता इव) पुत्रों को माता के समान (मृड) सुखी कर ।

---

[३१] सूर्यादि लोक-परिभ्रमण ।

उपरिबभ्रव ऋषिः । गौर्देवता । गायत्रं छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

यजुः ३ । ६ ॥ ऋ० १० । १८९ । १ ॥ साम० मन्त्र संख्या ६३०

---

[३१] 'ऋग्वेदे सार्पराज्ञी ऋषिः । सूर्यः सार्पराज्ञी देवता ।

भा०—(अयं गौः) ये गतिशील आदित्य आदि लोक (पृश्निः) समस्त रसों और ज्योतियों के ग्रहण करने हारे होकर (आ-अक्रमीत्) चारों तरफ घूम रहे हैं। और (मातरं पुरः) अपने बनाने वाले मूल कारण के सहित (स्वः) तेजःस्वरूप (पितरं च) अपने परिपालक विशाल लोक की भी (प्रयन् च) प्रदक्षिणा करते हैं।

अर्थात् जिस प्रकार बालक माता के सहित पिता के साथ रहता और वशवर्त्ती रहता है। इसी प्रकार चन्द्र पृथिवी के सहित सूर्य की परिक्रमा करता है पृथिवी अपने मूल सूर्य सहित किसी और नियामक लोक की प्रदक्षिणा-पथ पर गति करती है। इसका अध्यात्मिक अर्थ सामवेद भाषाभाष्य मन्त्र संख्या ६३० में देखो।

अथवा—(अयं गौः) यह पृथ्वी (पृश्निः पृश्निम्) सूर्य के गिर्द (आ अक्रमीत्) चक्र लगाती है। इत्यादि योजना भी जानना।

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः।
व्यख्यन्महिषः स्वः ॥ २ ॥

ऋ० १० । १८९ । २ ॥ साम० मन्त्र संख्या ६३१ ॥ यजु० ३ । ७ ॥

भा०—(प्राणादपानतः) प्राण और अपान की क्रिया करने वाले प्राणियों के (अन्तः) अन्दर (अस्य) इस सूर्य का (रोचना) प्रकाश और ताप (चरति) विचरता है। (महिषः) वह महान् सूर्य (स्वः) अन्तरिक्षलोक तथा द्युलोक को भी (व्यख्यत्) प्रकाशित करता है।

त्रिंशद् धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत्।
प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १८९ । ३ ॥ यजु० ३ । ८ ॥ साम० मन्त्र संख्या ६३२ ॥

२–(द्वि०) 'अस्य प्राणादपानती' (तृ०) 'महिषो दिवम्' इति यजुः, साम०, ऋ०।

भा०—(प्रतिवस्तोः) प्रतिदिन (अहर्भिः) दिन के उत्पादक सूर्य की किरणों के द्वारा (वाक्) उत्पन्न हुई हुई वाणी (त्रिंशत् धाम) दिन और रात के ३० मुहूर्तों में लगातार (विराजति) विराजमान रहती है, (पतङ्गः अशिश्रियत्) और सूर्य ही इस वाणी का मुख्य आश्रय या आधार है। अर्थात् वायुमण्डल में दिन रात नाना प्रकार की अवाज़ तथा गूँज हो रही है जो कि हमें स्थूल कानों से सुनाई नहीं देती और जिनकी विद्यमानता का कारण सूर्य की किरणें हैं।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तान्येकादश, ऋचश्च त्रयस्त्रिंशत्]

[३२] दुष्टों के दमन का उपदेश।

१–२ चातन ऋषिः, ३ अथर्वा ऋषिः । अग्नी रुद्रो मित्रावरुणौ देवताः । १, ३ त्रिष्टुभौ, २ प्रस्तारपंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

अन्तर्दावे जुहुता स्वे३तद् यातुधानक्षयणं घृतेन ।
आराद् रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि॥१

भा०—विघ्नकारी, पीड़ाकारी दुष्टों के नाश करने का उपदेश करते हैं। हे विद्वान् लोगो ! (घृतेन) जिस प्रकार घृत के द्वारा अग्नि में चरु आदि पदार्थ भस्म कर दिये जाते हैं उसी प्रकार (घृतेन) घृत = बल के द्वारा (यातुधान-क्षयणम्) पीड़ा देने वाले रोगों के नाश करनेवाले पदार्थों की (दावे अन्तः) विशाल अग्नियों में (सु-जुहत) उत्तम रीति से आहुति कर दो। और हे (अग्ने) अग्नि के समान जलाने वाले या शत्रुओं को परिताप देने हारे राजन् ! (आरात्) तू दूर से ही (रक्षांसि) राष्ट्र की व्यवस्था और जन-समाज के जीवन सुख में विघ्न करने वाले दुष्ट, राक्षस, विघ्नकारी पुरुषों, रोगों और पीड़ाकारी जन्तुओं को (प्रति दह) भस्म कर डाल। हे अग्ने ! (त्वम्) तू (नः) हमारे (गृहा-

णाम्) गृहों को और घर के पुरुषों को (न उप तीतपासि) कभी पीड़ित न करना ।

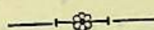
रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः।
वीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥ २ ॥

भा०—हे (पिशाचाः) मांस खाने वाले दुष्ट पुरुषो ! एवं मांस खा खा कर जीने वाले परभोजी (Paresites) रोगजन्तुओं ! (वः) तुम्हारी (ग्रीवाः) गर्दनें (रुद्रः) अर्थात् तुमको रुलाने वाला राजा और वैद्य (अशरैत्) काट ले । और हे (यातुधानाः) पीड़ादायक जन्तुओं ! वही रुद्र (वः पृष्टीः) तुम लोगों की पीठों को (अपि) भी (शृणातु) तोड़ डाले । और (विश्वतोवीर्या) समस्त प्रकार के बलों वाली या सब ओर अपना बल दिलाने वाली (वीरुत्) नाना प्रकार से फैलाने वाली ओषधि लता जिस प्रकार रोग-जन्तुओं का नाश करती है उसी प्रकार वह (विश्वतो वीर्या) सर्व बलवती (वीरुत्) विशेष प्रकार से रोकने में समर्थ रुद्र की शक्ति (वः) तुम दुष्ट पुरुषों को (यमेन) व्यवस्था के साथ (सम् अजीगमत्) सम्बन्ध करे, जिससे ये राष्ट्र में पीड़ा न दें ।

अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोर्चिषात्रिणो नुदतं प्रतीचः ।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्॥३

भा०—दुष्टों का विनाश करने के लिये भेद-नीति का उपदेश करते हैं—(मित्रावरुणौ) हे मित्र ! हे वरुण अर्थात् हे राजन् ! और हे सेनापते ! (इह) इस राष्ट्र में (अभयम् अस्तु) हमें सदा अभय रहे । (न अत्रिणः) हमें खाजाने वाले दुष्ट पुरुषों को (अर्चिषा) अपने चमचमाते तेजस्वी अस्त्र से (प्रतीचः) पीछे उल्टे पैर (नुदतम्) फेर दो । वे लोग (मा ज्ञातारं विदन्त) किसी भी ज्ञानी को अपने नेता होने के लिये प्राप्त न करें प्रत्युत सदा मूर्खता में पड़े रहें । (मा प्रतिष्ठां

विदन्त) वे कभी मान, आदर और प्रतिष्ठा, दृढ़स्थिति या कीर्ति को प्राप्त न करें। बल्कि (मिथः) परस्पर (विघ्नानाः) एक दूसरे को विरोध से मारते हुए स्वयं (मृत्युम् उप यन्तु) मौत को प्राप्त होजायं। वे आपस में लड़कर अपना नाश न करलें।



[३३] इन्द्र, परमेश्वर की महिमा।

जाटिकायन ऋषिः । इन्द्रो देवता । १, ३ गायत्री, २ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ।

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः ।
इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥ १ ॥ साम० १ । १ । ३ ॥

भा०—ईश्वर का वर्णन करते हैं—हे जनाः (यस्य) जिसका (इदम्) यह (रजः) समस्त अनुरञ्जन करने वाला वैभव (युजः) योगसमाधि में उसके साथ मिलने वाले योगी के (आ तुजे[1]) सब ओर से पालन, रक्षा या बल सम्पादन करने के लिये है और जिस परमेश्वर का (वनं स्वः) भजन करना ही परम सुखकारक है उस (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (रन्त्यम्) यह रमण करने योग्य धन-ऐश्वर्य (बृहत्) बड़ा भारी है।

नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः ।
पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पुरा) पहले भी कभी (व्यथिः) कोई पीड़ा देने वाला अत्याचारी पुरुष (इन्द्रस्य श्रवः) इन्द्र के यश को और (शवः) बल को (न आ-धृषे) कभी दबा नहीं सका उसी

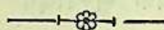
[३३] '१—आ रजो युजस्तुजे जने वन स्वः' इति साम ।

१. तुज हिंसायात् पालने च । भ्वादिः । तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु । चुरादिः । पट पुटि लुट तुजि इत्यादयो भाषार्थाः । चुरादिः ॥ इत्येतेभ्यः सम्पदादिलक्षणो भावे क्विप् ।

प्रकार उसके (शवः) बल को अभीतक भी कोई (धृषितः[1]) बड़ा विजेता भी (न आ धृषे) दबाने में समर्थ नहीं हुआ है। बल्कि वह स्वयं (धृषाणः) सब का दबानेवाला, सर्वविजयी (धृषितः शवः) तब अभिमानी विजेताओं के बल को (आ दधृषते) दबा लेता है।

स नो॑ ददातु तां र॒यिमु॒रुं पि॒शङ्ग॑संदृशम् ।
इन्द्रः॒ पति॑स्तु॒विष्ट॑मो॒ जने॒ष्वा ॥ ३ ॥

भा०—(सः) वह इन्द्र अर्थात् परमेश्वर (नः) हमें (ताम्) उस (उरु) महान्, विशाल, सर्वलोकव्यापी (पिशंग-सदृशम्) तेजः स्वरुप, प्रभापटल के रूप में प्रकट होनेवाली (रयिम्) शक्ति और धर्म का (ददातु) प्रदान करे। वह (इन्द्रः) परमेश्वर (तुविस्तमः) सर्वशक्तिमान् होने के कारण सबका (पतिः) पालक है और (जनेषु आ) समस्त प्राणियों और जनों में व्यापक है।



[३४] परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना।

चातन ऋषिः। अग्निर्देवता। १–५ गायत्र्यः। पञ्चर्चं सूक्तम्।

प्राग्नये॒ वाच॑मीरय वृष॒भाय॑ क्षिती॒नाम् ।
स नः॑ पर्ष॒दति॒ द्विषः॑ ॥ १ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष ! (क्षितीनाम्) समस्त भूमियों पर जलों की वर्षा करनेहारे मेघ के समान (क्षितीनाम्) समस्त प्रजाओं पर (वृषभाय) सुखों की वर्षा करनेहारे (अग्नये) उस ज्ञानवान् सबके पथप्रदर्शक, गुरु अग्रणी परमेश्वर को स्तुति के लिये (वाचं प्र इरय)

---

१. सुपां सुपो भवन्ति इति षष्ठ्याः स्थाने प्रथमा। धृषितः कर्तरि क्तः।

[३४] १—ऋग्वेदे अस्य सूक्तस्य वत्स आग्नेय ऋषिः।

अपनी वाणी को प्रेरित कर (सः) वही ईश्वर (नः) हमें (द्विषः) भीतरी शत्रु काम आदि प्रबल दुर्भावों के (अति पर्षत्) पार पहुंचा दे।

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा ।
स नः पर्षदति द्विषः॥ २॥ ऋ० १०। १८७। ३॥

भा०—(यः) जो ईश्वर (अग्निः) अग्नि, अग्रणी, नेता होकर अपने (तिग्मेन) तीक्ष्ण (शोचिषा) प्रताप तेज से (रक्षांसि) विघ्नकारियों अर्थात् काम क्रोध आदि को (निजूर्वति) भून डालता और लुंजा कर देता है। (सः न द्विषः अतिपर्षत्) वह हमें हमारे इन शत्रुओं से पार कर दे।

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥ ऋ० १०। १८७। २॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (परस्याः परावतः) दूर से भी दूर अर्थात् (धन्व तिरः) द्युलोक और अन्तरिक्ष को भी पार कर (अतिरोचते) सब से अधिक प्रकाशमान (सः नः द्विषः अतिपर्षत्) वह हमें हमारे शत्रुओं से पार करे।

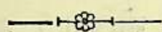
यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जो (विश्वा भुवना) समस्त लोकों को (अभि विपश्यति) साक्षात् देख रहा है (सं पश्यति च) और खूब अच्छी तरह से देखता है (सः) वह (नः) हमें (द्विषः अतिपर्षत्) शत्रुओं से पार करे।

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥

२—(द्वि०) 'वृषा शुक्रेण' इति ऋ० ।

भा०—(यः) जो (शुक्रः) ज्योतिःस्वरूप (अस्य) इस समस्त (रजसः पारे) रजः अर्थात् लोक समूह के पार या रजोनिर्मित प्राकृत संसार से परे (अग्निः)[1] ज्ञानमय उसमें लीन होने वाला (अजायत) विद्यमान है (सः नः) वह हमें (द्विषः) द्वेष = अप्रीति के पदार्थ कर्म-बन्धनों अर्थात् सकाम कर्मों के बन्धनों से (अति पर्षत्) पार करे, मुक्त करे।



[३५] ईश्वर स्तुति, प्रार्थना।

कौशिक ऋषिः । वैश्वानरो देवता । गायत्रं छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः ।
अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ १ ॥ यजु० १८ । ७२ । १७ । ८ ॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त मनुष्यों का कल्याणकारी, समस्त आत्माओं में व्यापक या सब पदार्थों का नेता प्रभु (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिए (परावतः) दूर देश से भी (आ प्र यातु) आवे। अर्थात् चाहे जितनी भी दूर हो तब भी वह हमारी रक्षा करे। वही (अग्निः) ज्ञानप्रकाशस्वरूप होकर (नः) हमारी (सु स्तुतीः) उत्तम स्तुतियों को (उप) स्वीकार करे।

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप। अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥ २॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त आत्माओं का हितकारी प्रभु (नः) हमारे (इयम्) इस (यज्ञम्) उपासना यज्ञ में (सजूः) प्रेम प्रदर्शन करता हुआ (उप आगमत्) आवे। वही (अग्निः) प्रकाशस्वरूप या

१. अग्निः अक्रोपनो भवति (निरु० ७ । १४) ।

[३५] १. (तृ०) अग्निरुक्थेन वाहसा इति यजु० १७ । ८ ॥

हमारा अग्रणी (अंहसु) प्राप्त करने योग्य (उक्थेषु) प्रशंसनीय कार्यों में भी (उप) हमारा साथ दे।

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत् ।
ऐषु द्युम्नं स्व/र्यमत् ॥ ३ ॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त जीवों का कल्याणकारी प्रभु (अङ्गिरसाम्) ज्ञानवान् पुरुषों की (स्तोमम्) स्तुतियों और (उक्थम्) कहे वचन या उच्चारण किये वेदमन्त्र को (च) भी (चाक्लृपत्) समर्थ सफल या फल-उत्पादन में समर्थ करता है। वही (स्वः) प्रकाशस्वरूप और सुखमय प्रभु (एषु) इन ज्ञानियों को (द्युम्नम्) प्रकाश धन और ज्ञान (आ यमम्) प्रदान करता है।

[३६] ईश्वर की प्रार्थना

स्वस्त्ययनकाम अथर्वा ऋषिः आग्निर्देवता । गायत्रं छन्दः । तृचं सूक्तम् ॥

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् ।
अजस्रं घर्ममीमहे ॥ १ ॥　　यजु० २६ । ६ ॥

भा०—(ऋतावानम्) सत्यज्ञानवान् (ऋतस्य ज्योतिषः पतिम्) जीवनमय ज्योति अर्थात् चेतना के परिपालक (अजस्रम्) निरन्तर विद्यमान अर्थात् नित्य (घर्मम्) प्रकाशस्वरूप (वैश्वानरम्) परमेश्वर की (ईमहे) हम नित्य प्रार्थना करते हैं।

स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी ।
यज्ञस्य वय उत्तिरन् ॥ २ ॥ साम० २ । १०५८ ॥

भा०—(सः) वह परमेश्वर (विश्वा) समस्त प्राणियों को, समस्त पदार्थों को (प्रति चाक्लृपे) बनाता, उनको प्रेरित करता और

२—'य इदं प्रतिपप्रथे' (तृ०) 'यज्ञस्य स्वः' इति साम० ।

शक्ति देता है । वह (वशी) सब पर वश करनेहारा (यज्ञस्य) संवत्सर रूप यज्ञ पुरुष के (वयः) काल को (उत्तिरन्) विभक्त करता हुआ या (यज्ञस्य वयः उत्तिरन्) यज्ञ = यज्ञाहुति के (वयः) अन्नों को अग्नि के समान सर्वत्र फैलता हुआ या इस महान् सृष्टिचक्र में होने वाले भूत संघों के परस्पर संगम रूप यज्ञ के (वयः) जीवन को (उत्तिरन्) सर्वत्र प्रकट करता हुआ (ऋतून् उत् सृजते) छहों ऋतुओं का निर्माण करता है ।

अ॒ग्निः परे॑षु धाम॑सु कामो॑ भू॒तस्य॒ भव्य॑स्य ।
स॒म्राडेको॒ वि रा॑जति ॥ ३ ॥ साम० २ । १०५६ ॥ यजु० १२ । ११७ ॥

भा०—वही परमात्मा (परेषु धामसु) उत्कृष्ट, सुदूरवर्ती प्रकाशमान लोकों में भी (अग्निः) प्रकाशक अग्नि है । वह (भूतस्य) उत्पन्न पदार्थ और (भव्यस्य) आगे उत्पन्न होनेवाले भविष्य के गर्भ में छिपे पदार्थों का भी (कामः) उत्पादक आरम्भक संकल्प है । वही (एकः सम्राट्) समस्त लोकों का एकमात्र प्रकाशक, स्वयं सब में अकेला प्रकाशमय, सबका एक महेश्वर (विराजति) विशेष रूप से विराजमान है ।

[३७] कठोर भाषण से बचना ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । चन्द्रमा देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

उप॒ प्रागा॑त् स॒हस्रा॒क्षो यु॒क्त्वा श॒पथो॒ रथ॑म् ।
श॒प्तार॑मन्वि॒च्छन् मम॒ वृक॑ इ॒वावि॑मतो गृ॒हम् ॥ १ ॥

भा०—(सहस्र-अक्षः) हज़ारों आंखों वाला या इन्द्रियों में उत्तेजना पैदा करने वाला (शपथः) शपथ = कठोर वचन रूप राजा तू (रथं युक्त्वा) रथ जोड़ कर (उप प्र अगात्) सब तर्फ भली प्रकार

३—(प्र०) 'अग्निः प्रियेषु' इति यजु० ।

पहुँच जाता है । (वृक इव) जिस प्रकार भेड़िया गन्ध के पीछे (अवि-मतः) भेड़ पानेवाले के घर पहुँच जाता है इसी प्रकार वह शपथ रूप राजा भी (मम शप्तारम्) मेरे ऊपर व्यर्थ दोषारोपण करने वाले का (अनु इच्छन्) पता लगता हुआ उस अपराधी को जा पकड़े और उसे दण्ड दे ।

परि णो वृङ्धि शपथ हृदमग्निरिवादहन् ।
शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥ २ ॥

भा०—हे (शपथ) शपथ ! कठोर वचन रूप राजन् ! (अग्निः इव) अग्नि जिस प्रकार (ह्रदम्) तालाब को (अदहन्) नहीं जलाता हुआ उसे छोड़ जाता है, उसी प्रकार तू (नः अदहन्) हमें बिना जलाये (परि वृङ्धि) सदा के लिये छोड़ दे । (दिवः अशनिः) आकाश से गिरनेवाली बिजली जिस प्रकार (वृक्षम् इव) वृक्ष को मार जाती है और भीतर से जला देती है उसी प्रकार (नः) हम में से (शप्तारम्) व्यर्थ बुरा भला कहने वाले, शाप देने वाले (अत्र) इस जीवन में (जहि) हे शाप ! तू नष्ट कर देता, उसको भीतर भीतर जला देता है ।

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।
शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ३ ॥

भा०—(नः) हममें से (यः) जो (अशपतः) गाली या कठोर बचन कहते हुओं के प्रति (शपात्) कठोर वचन कहता है या (यः च) जो (शपतः नः) कठोर वचन कहते हुओं के भी प्रति (शपात्) कठोर वचन कहता है (तम्) उस पुरुष को (शुनः) कुत्ते की (अवक्षामम्) सूखी (पेष्ट्रम् इव) रोटी के समान (मृत्यवे) मौत के आगे (प्रत्यस्यामि) डाल दूं ।

कठोर वचन या गाली देते हुए पुरुष के प्रति मनुष्य अपनी प्रबल

इच्छा-शक्ति का इसी प्रकार प्रयोग करे और विचारे कि कठोर वक्ता के कठोर वचन स्वयं उसी को दण्ड देते हैं उसके दिल को कष्ट पहुँचाते हैं हम पर उसका प्रभाव न पड़े, जैसे की आग का पानी के तालाब पर नहीं पड़ता। वह अपने कठोर वचनों से बिजली के मरे वृक्षों के समान भीतर भीतर जलता रहता है और जो व्यर्थ हम पर जले और बके या उसे समझाने के लिए हमारे कुछ कठोर कहने पर पागल होकर हम पर बके झके तो उसको तुच्छ सा जानकर अपनी मौत मरने देना चाहिए, स्वयं उसपर हाथ न चलाना चाहिए।



[३८] तेज की प्रार्थना।

वर्चस्कामोऽथर्वा ऋषिः। बृहस्पतिरुत त्विषिर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः।

चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥१॥

भा—(या त्विषिः) जो तेज या कान्ति, ज्योति, शक्ति (सिंहे) सिंह में (व्याघ्रे) व्याघ्र में (उत) और (या) जो तेज (पृदाकौ) महा अजगर में हैं और (या) जो तेज (अग्नौ) अग्नि में (ब्राह्मणे) ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञानी में और (सूर्ये) सूर्य में है और (या सुभगा देवी) सौभाग्यमयी दिव्य कान्ति (इन्द्रम्) पुरुष को इन्द्र = ऐश्वर्यवान् राजा (जजान) बनाती है (सा) वह (नः) हमें (वर्चसा) तेज, ब्रह्मवर्चस से (सं-विदाना) सम्पन्न करती हुई (एतु) प्राप्त हो।

या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु या गोषु पुरुषेषु।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥२॥

भा०—(या) जो कान्ति (हस्तिनि) हाथी में और (द्वीपिनि)

चीते में है और (या) जो कान्ति (हिरण्ये) सुवर्ण में और (अप्सु) जलों में है और (या) जो कान्ति (गोषु) गौओं में और (पुरुषेषु) युवा बलवान् पुरुषों में हैं और (या देवी सुभगा) जो सौभाग्यमयी लक्ष्मी (इन्द्रं जजान) राजा को उत्पन्न करती है (सा नः वर्चसा संविदाना एतु) वही लक्ष्मी कान्ति हम में तेज को धारण करती हुई हम में प्राप्त हो।

रथे॑ अ॒क्षेष्वृ॑ष॒भस्य॒ वाजे॒ वाते॑ प॒र्जन्ये॒ वरु॑णस्य॒ शुष्मे॑।
इन्द्रं॒ या दे॒वी सु॒भगा॑ ज॒जान॒ सा न॒ ऐतु॒ वर्च॑सा संविदा॒ना ॥३॥

भा०—(या सुभगा देवी) जो सौभाग्यकारिणी दिव्य कान्ति (रथे) रथ में (अक्षेषु) इन्द्रियों की रथ की धुरी में (ऋषभस्य वाजे) श्रेष्ठ पुरुष के वेग ज्ञान बल में (वाते पर्जन्ये) प्रचण्ड वात और मेघ में और (वरुणस्य शुष्मे) वरुण = सूर्य के प्रखर ताप में है, और वह जो (इन्द्रं जजान) इन्द्र, राजा को उत्पन्न करती है (सा नः वर्चसा सं-विदाना एतु) वह हम में तेज धारण कराती हुई हमें प्राप्त हो।

रा॒ज॒न्ये॒ दु॑न्दु॒भावाय॑ताया॒मश्व॑स्य॒ वाजे॒ पुरु॑षस्य मा॒यौ।
इन्द्रं॒ या दे॒वी सु॒भगा॑ ज॒जान॒ सा न॒ ऐतु॒ वर्च॑सा संविदा॒ना ॥४॥

भा०—(राजन्ये) राजा में (आयतायाम् दुन्दुभौ) कसे कसाये नियमपूर्वक बजनेवाले मारू बाजे में (अश्वस्य वाजे) घोड़े के वेग में और (पुरुषस्य मायौ) वीर पुरुष के उच्च स्वर के नाद में जो शक्ति है और जो (देवी) दिव्य (सुभगा) सौभाग्यकारिणी शक्ति (इन्द्रं जजान) राजा को बनाती है (सा) वह (नः) हमें (वर्चसा सं-विदाना) ब्रह्मतेज से युक्त करती हुई (नः आ—एतु) हमें प्राप्त हो।

---

[३९] यश और बल की प्रार्थना।

वर्चस्कामोऽथर्वा ऋषिः। बृहस्पतिर्देवता। १ जगती, २ त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

यशो॑ ह॒विर्व॑र्धता॒मिन्द्र॑जूतं स॒हस्र॑वीर्यं॒ सुभृ॑तं॒ सह॑स्कृतम् ।
प्र॒सर्स्रा॑णमनु दी॒र्घाय॒ चक्ष॑से ह॒विष्म॑न्तं मा वर्धय ज्ये॒ष्ठता॑तये॥१॥

भा०—हमारा (सहः-कृतम्) बल और सहनशक्ति का बढ़ानेवाला (सुभृतम्) उत्तम रीति से हमारा धारण पोषण करनेवाला (सहस्र-वीर्यम्) अनन्त सामर्थ्यों से युक्त (इन्द्र-जूतम्) ईश्वर से प्रदत्त या ईश्वर के निमित्त प्रेरित या राजा को अभिमत, हमारा (यशः) यश और (हविः) अन्न और बल (प्रसर्स्राणम्) खूब विस्तृत होकर (वर्धताम्) बढ़े । हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (अनु) और फिर (हविष्मन्तम्) अन्न समृद्धि से युक्त (मा) मुझ को (दीर्घाय चक्षसे) दीर्घदर्शी होने और (ज्येष्ठ-तातये) सब से बड़ा हो जाने के लिए (वर्धय) उन्नत कर ।

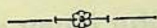
अच्छा॑ न॒ इन्द्रं॑ य॒शसं॑ यशो॑भिर्यश॒स्विनं॑ नमसा॒ना वि॑धेम ।
स नो॑ रास्व रा॒ष्ट्रमिन्द्र॑जूतं॒ तस्य॑ ते रा॒तौ य॒शसः॑ स्याम ॥ २ ॥

भा०—हम लोग (अच्छा) साक्षात् (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् (यशसम्) यशो रूप या सर्वव्यापक (यशोभिः) अपनी व्यापक शक्तियों से (यशस्विनम्) यशस्वी प्रभु को (नमसानाः) नमस्कार-पूर्वक पूजा करते हुए (विधेम) उसके गुणों को अपने भीतर धारण करें । (सः) वह (नः) हमें (इन्द्र-जूतम्) एक बड़े राजा से संचालित (राष्ट्रं रास्व) राष्ट्र को प्रदान करे । हे परमात्मन् (तस्य) उस (ते) महेश्वर जगदीश्वर के (रातौ) दिये राष्ट्र में हम (यशसः) यशस्वी होकर (स्याम) रहें ।

य॒श इन्द्रो॑ य॒श अ॒ग्निर्य॒शाः सोमो॑ अजायत ।
य॒शा विश्व॑स्य भू॒तस्या॒हम॑स्मि य॒शस्त॑मः ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः यशाः) इन्द्र ऐश्वर्यवान् सूर्य यशस्वी है, (अग्निः यशाः) पृथिवी की अग्नि यशस्वी है (सोमः यशाः अजायत) सोम,

प्रेरक आल्हादक चन्द्र भी यशस्वी है। इसी प्रकार (यशाः) यश का अभिलाषी (विश्वस्य भूतस्य) समस्त प्राणियों में (अहम्) मैं (यशस्तमः) सबसे अधिक यशस्वी (अस्मि) होऊं ।



[४०] अभय और कल्याण की प्रार्थना ।

१, २ अभयकामः, ३ स्वस्त्ययनकामश्चाथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवताः । १, २ जगत्यौ, ३ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु ।
अभयं नोऽस्तूर्वन्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु ॥१॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौः और पृथिवी, अस्मान् और ज़मीन इस संसार में (नः अभयम् अस्तु) हमारे लिए भय रहित हों (सोमः) चन्द्र और (सविता) सब का प्रेरक सूर्य (नः) हमें (अभयं कृणोतु) भय रहित करें। (उरु अन्तरिक्षम् नः अभयम्) यह विशाल अन्तरिक्ष = वातावरण भी हमारे लिए भय रहित रहे। (सप्त-ऋषीणां च हविषा) सप्त ऋषियों, सातों प्राणों के बल और ज्ञान से (अभयं नः अस्तु) हमें सर्वत्र ही अभय रहे ।

अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु । अशत्रिवन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः ॥ २ ॥

भा०—(नः) हमारे (अस्मै ग्रामाय) इस ग्राम की (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओं में (सविता) सविता, धन धान्य का उत्पादक, एंव नाना प्रकार के पदार्थों को उपन्न और नाना कारखानों के चलाने की प्रेरणा करने वाला अधिकारी शासक अथवा परमात्मा (सुभूतम्) उत्तम रीति से उत्पन्न होने वाला (ऊर्जम् कृणोतु) अन्न आदि

पदार्थ उत्पन्न कराए और इस प्रकार (नः स्वस्ति कृणुतोतु) हमारा कल्याण करे । (इन्द्रः) राजा (नः) हमारे लिए (अशत्रु अभयम्) शत्रुओं से रहित, अभय (कृणोतु) करे और (राज्ञाम्) राजाओं का (मन्युः) क्रोध और उससे प्रेरित सेनाबल भी (अन्यत्र) अन्य स्थान में (यातु) चला जाय ।

राजा ग्रामों का ऐसा प्रबन्ध करे कि उनके बाहर की भूमियों में अन्न आदि प्रभूत तथा उत्तम उत्पन्न हो और उनकी ऐसी रक्षा करे कि योद्धा राजा की सेनाएं उनके खेतों को ख़राब न करें और ग्रामों को न उजाड़ें ।

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात् ।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्र) हे परमात्मन् अथवा राजन् ! (नः) हमारे (अधरात्) नीचे की ओर (अनमित्रम्) कोई शत्रु न रहे, (उत्तरात् नः अनमित्रम्) ऊपर की ओर भी कोई शत्रु न रहे । (पश्चात् नः अनमित्रम्) पीछे की ओर भी शत्रु न रहे और (पुनः नः अनमित्रं कृधि ऐसा कीजिये जिससे आगे की ओर भी हमारा कोई शत्रु न रहे ।



[४१] अध्यात्म शक्तियों की साधना ।

ब्रह्मा ऋषिः । बह्व उत चन्द्रमा देवता । १ भुरिगनुष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये ।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥

भा०—(मनसे) मनः-शक्ति, (चेतसे) सम्यग् ज्ञान, (धिये)

३—(प्र०) 'मे अधराग्' (द्वि०) 'उदक् कृधि' इति का० यजु० ।

धारण शक्ति, (आकूतये) प्रतिभा (उत्) और (चित्तये) चेतना शक्ति, (मत्यै) तत्व विचार करने वाली मननशक्ति, (श्रुताय) गुरु-उपदेश द्वारा प्राप्य वेद ज्ञान या श्रवण शक्ति और (चक्षसे) भीतरी चक्षु आत्मा की दर्शनशक्ति, इन सब शक्तियों के प्राप्त करने के लिए (वयम्) हम (हविषा) अन्न आदि पौष्टिक सात्विक पदार्थों द्वारा या आत्मशक्ति या मस्तिष्क शक्ति या मन और वाणी की शक्ति से प्राप्त करने की (विधेम) सदा साधना किया करें। हविः = जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम् । श० १। २।१।२०॥ तस्य पुरुषस्य शिर एव हविर्धाने । कौ० १७।७॥ वाक् च वै मनश्च हविर्धाने । कौ० ९। ३॥ अर्थात् हवि = आत्मा, जीव, शिर की ज्ञानशक्ति, वाणी और मन इनकी साधना से मनुष्य उपरोक्त सब शक्तियां प्राप्त करे।

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे ।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥ २ ॥

भा—(अपानाय) अपान, (वि-आनाय) व्यान और (भूरि-धायसे) बहुत बलों को धारण करने वाले (प्राणाय) प्राण और (उरुव्यचे) विशाल आत्मा में व्यापक या नाना लोकों में व्यापक (सरस्वत्यै) ज्ञानधारा की प्राप्ति के लिये (वयम्) हम (हविषा) हवि अर्थात् जीव, मस्तिष्क शक्ति या मन से (विधेम) उद्योग करें।

अपान = मुख नासिका से बाहर के वायु को पुनः भीतर लेना। प्राण = भीतर की वायु को नासिका से बाहर फेंकना। व्यान = ऊपर नीचे दोनों ओर की गति न करके प्राण का स्थिर रहना। अथवा कण्ठ से ऊर्ध्वगत शक्ति प्राण, कण्ठ से नाभि तक की शक्ति व्यान, नाभि से गुदा तक की शक्ति अपान है।

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः ।
अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥३॥

भा०—(दैव्याः ऋषयः) दिव्य गुणसम्पन्न अथवा देव आत्मा से सम्बद्ध, अथवा देव इन्द्रियमय ऋषिगण, ज्ञानसाधन आंख, नाक, कान मुख, त्वचा, रसना आदि ज्ञानेन्द्रियें (नः) हमें (मा हासिषुः) जीवन भर त्याग न करें। और (ये) जो (नः) हमारे (तनूपाः) शरीर के रक्षक प्राण और (तन्वः) शरीर के ही अङ्ग और (तनूजाः) शरीर से उत्पन्न होने वाले हाथ पांव आदि अंग हैं वे भी हमारा त्याग न करें। ये सब हमारे स्वस्थ बने रहें। हे आत्मा के (अमर्त्याः) न मरने वाले प्राणो! तुम (नः) हम (मर्त्यान्) मर्त्य पुरुषों को (अभि सचध्वम्) प्राप्त होओ। और (नः) हमारे (जीवसे) जीवन के लिये (प्रतरम् आयुः) बहुत दीर्घ जीवनकाल (धत्त) बनाये रक्खो।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि, ऋचश्च त्रयस्त्रिंशत्]



[४२] क्रोध को दूर करके परस्पर मिलकर रहने का उपदेश।

परस्परचित्तैककरणकामो भृग्वङ्गिरा ऋषिः। मन्युर्देवता १—३ अनुष्टुभः (१,२ भुरिजौ)। तृचं सूक्तम्।

अव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो म॒न्युं त॑नोमि ते हृ॒दः।
यथा॒ संम॑नसौ भू॒त्वा सखा॑यावि॒व सचा॑वहै ॥ १ ॥

भा०—क्रोध को दूर करके मित्रभाव से रहने का उपदेश करते हैं। मित्र अपने क्रोधी पुरुष के क्रोध उतारने के लिये इस प्रकार कहता है—हे मित्र! (धन्वनः ज्याम् इव) जिस प्रकार धनुर्धर पुरुष शान्त होकर अपने धनुष से डोरी का उतार लेता है और किसी की हिंसा नहीं करता उसी प्रकार मैं शान्त पुरुष (ते हृदः) तेरे हृदय से (मन्युम्) क्रोध को (अव तनोमि) उतारने का यत्न करता हूं। (यथा) जिससे हम

दोनों (सं-मनसौ) एक समान चित्त वाले (भूत्वा) होकर (सखायौ इव) दो मित्रों के समान एक ही होकर (सचावहै) सदा मिले रहें ।

सखा॑याविव सचावहा अव॑ म॒न्युं त॑नोमि ते ।
अ॒धस्ते॑ अश्म॑नो म॒न्युमुपा॑स्यामसि॒ यो गु॒रुः ॥ २ ॥

भा०—क्रोध के विरोध का उपदेश करते हैं । हम दोनों (सखायौ इव) दो मित्रों के समान (सचावहै) मिल कर रहें और यदि इस मित्रतापूर्वक रहते हुए कभी क्रोध भी आ जाय तो प्रत्येक हममें से अपना यही कर्त्तव्य समझे कि (ते मन्युम् अव तनोमि) मैं तेरे क्रोध को शान्त करूं । यदि फिर भी क्रोध उमड़ना चाहे तो यह विचार हो कि (अश्मनः अध इव) भारी शिला के समान भारी पदार्थ के नीचे जिस प्रकार उड़ता हुआ पदार्थ दब जाता है फिर नहीं उड़ता उसी प्रकार (ते मन्युम्) तेरे क्रोध को भी (यः गुरुः) जो हमारा गुरु, उपदेशक (उपास्यामसि) उस उपदेष्टा गुरु के अधीन कर दें जिसके गौरव से दब कर पुनः क्रोध न उठे । क्रोध आ जाने पर गुरु के समीप जाकर कलह के कारण को मिटा लेना चाहिये, जिससे फिर क्रोध न सतावे ।

अ॒भि ति॑ष्ठामि ते म॒न्युं पार्ष्ण्या॒ प्रप॑देन च ।
यथा॑व॒शो न वा॑दि॒षो मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ ३ ॥

भा० - क्रोध शान्त करने का तीसरा उपाय बतलाते हैं । हे क्रोधी पुरुष (ते मन्युम्) तेरे क्रोध को (पार्ष्ण्या) अपनी एड़ी से और (प्रपदेन) अपने पैरों के अगले भाग से (अभि तिष्ठामि) दबा कर उस पर वश करता हूँ । जिस प्रकार आते हुए वेग को अपनी एड़ी और पंजों पर मज़बूती से खड़ा होकर सहा जाता है उसी प्रकार दूसरे के क्रोध के वेग को धीरता और मज़बूती से खड़े रह कर सहना चाहिए । (यथा अवशः) जिससे लाचार होकर (न वादिषः) फिर तू क्रोध के

वचन न बोले और (मम चित्तम्) मेरे चित्त के (उप आयसि) समीप में आकर मेरा मित्र बन जाय। जिसको मित्र बनाना है उसके क्रोध के उद्वेगों को धीरता से सहन करना चाहिए।



[४३] क्रोधशान्ति के उपाय।

परस्परैकचित्तकरणकामो भृग्वाङ्गिरा ऋषिः। मन्युशमनं देवता। अनुष्टुप् छन्दः। तृचं सूक्तम्।

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च।
मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥ १ ॥

भा०—क्रोध शान्त करने का चौथा उपाय बतलाते हैं। (अयम्) यह (दर्भः) दाभ, दमन या कुश घास है वह (स्वाय च) अपने सम्बन्धियों और (अरणाय च) अपने शत्रु के लिये भी (वि-मन्युकः) सर्वथा क्रोधरहित है इसमें कांटा नहीं, सरल सीधा है, हवा के झोंके से भी मुड़ जाता है। पर तो भी बहुतों को रस्सी बन कर (दर्भः) बांध लेता है। इसी प्रकार जो पुरुष (स्वाय च अरणाय च) अपने संबन्धी और शत्रु दोनों के लिये (वि-मन्युकः) क्रोध रहित शान्त पुरुष है वह (दर्भः) समाज को रस्सी के समान गांठने वाला होता है वह (वि-मन्युकः) स्वभावतः मन्यु रहित पुरुषों के उठे हुए (मन्योः) क्रोधों का भी अथवा (मन्योः विमन्युकस्य) क्रोधी और क्रोध रहित पुरुषों के बीच में आकर उनके (मन्यु-शमनः) क्रोध या कलह को शान्त करा देनेवाला (उच्यते) कहा जाता है वह पुरुष उनके कलहों को मिटा सकता है।

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति।
दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥ २ ॥

भा०—(दर्भः) दर्भ—दाभ जिस प्रकार (भूरि-मूलः) लम्बी गहरी और अधिक मूल वाला (पृथिव्याः उत्थितः) पृथिवी के ऊपर उठा हुआ होकर भी (समुद्रम् अव-तिष्ठति) समुद्र, आकाश के नीचे धीरता से खड़ा रहता है इसी प्रकार (अयम्) वह पुरुष जो (दर्भः) समाज का संगठन करने में समर्थ है वह भी (पृथिव्या उत्थितः) अपनी विशाल मातृसमाज से उत्पन्न होकर (भूरि-मूलः) बहुत से मूल रूप आश्रयों पर प्रतिष्ठित होकर (समुद्रम् अव-तिष्ठति) समुद्र = महान् प्रभु की क्षत्रछाया में रहता है। वही लोक में सब के (मन्यु-शमनः) क्रोधों का शान्त करने हारा, सब कलहों को मिटाने वाला (उच्यते) कहा जाता है। अथवा दर्भ या दाभ रस्सी का प्रतिनिधि है। यदि क्रोधी क्रोध करे तो उसको प्रधान पुरुष बंधन में डालें कि उसका सब क्रोध उतर जाय।

वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

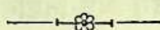
तृ० च० अथर्व० ६। ४२।३ तृ० च० ॥

भा०—हे पुरुष (ते) तेरी (हनव्याम्) ठोड़ी में विद्यमान और (ते मुख्याम्) तेरे मुख में विद्यमान (शरणिम्) हिंसा और क्रोध के भाव को उत्पन्न करने वाली वाणी को (वि नयामसि) विनीत शिक्षित कर लें। (यथा) जिससे (अवशः) लाचार होकर (न वादिषः) तू अधिक क्रोध के वचन न बोल सके और (मम चित्तम् उप आयसि) मेरे चित्त के अति समीप होकर रहे।। अर्थात् परस्पर का क्रोध शान्त करने के लिए वाणी पर वश करना चाहिए। इससे भी दोनों के चित्त परस्पर मिल जायेंगे।

यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥

३—'मुख्य' इति क्वचित्।

अथवा वाणी को सभ्य शिक्षा देनी चाहिए जिससे गाली आदि मुँह पर न आवे ।



[४४] रोग की चिकित्सा में विषाणका नाम ओषधि ।

विश्वामित्र ऋषिः । मन्त्रोक्ता उत वनस्पतिर्देवता । १, २ अनुष्टुभौ, ३ त्रिपदा महाबृहती । तृचं सूक्तम् ॥

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥ १ ॥

भा०—यह (द्यौः) विशाल द्युलोक (अस्थात) स्थिर है (पृथिवी) पृथिवी भी (अस्थात्) स्थिर है (इदं विश्वं जगत्) यह समस्त जगत् भी स्थिर (ऊर्ध्व-स्वप्नाः वृक्षाः) उत्तान खड़े खड़े सोने वाले वृक्ष भी स्थिर हैं, इसी प्रकार (अयं तव रोगः) यह तेरा रोग भी (तिष्ठात्) स्थिर हो जाय, आगे अधिक न बढ़े ।

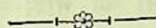
शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च ।
श्रेष्ठमास्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥ २ ॥

भा०—(यानि ते शतम्) जो तेरी सैकड़ों और (सहस्रम्) हजारों (भेषजानि) ओषधियां (संगतानि च) प्राप्त हो गई हैं और निदान के अनुकूल भी हैं तो भी उनमें से जो (श्रेष्ठम्) सब से अधिक गुणकारी और (वसिष्ठम्) मुख्य रूप से देह में वास करने वाली उसके भीतर प्रवेश करके असर कर जाने वाली (आस्राव-भेषजम्) रक्तस्राव को अच्छा औषध है वह (रोग-नाशनम्) रोग का अवश्य नाश करती है ।

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः ।
विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥३

भा०—हे ओषधे ! तू (रुद्रस्य) रुद्र-रोगहारी तीव्र द्रव्य का

(सूत्रम्) सार भाग [टिंचर] (असि) है। (अमृतस्य) परन्तु रोग विनाश करनेवाली अमृतरूप शक्ति का (नाभिः) मूलस्थान है। (विषाणका नाम वा असि) तेरा नाम 'विषाणका' है। (पितणाम्) पालक ओषधियों के मूल में से (उत्थिता) उत्पन्न होती है। और (वातीकृत-नाशनी) वात के द्वारा उत्पन्न रोगों का नाश करती है। विषाणका या विषाणिका के नाम से अजश्रृङ्गी, अवर्त्तकी श्रृङ्गी, वृश्चिकाली, सातला और रोहिणी ओषधियों का ग्रहण है। अजश्रृङ्गी और अवर्त्त-की हृद्रोग, वातरोग और रक्तार्श पर गुणकारी है। उनका टिञ्चर निकाल कर प्रयोग करने से वह शीघ्र ही असर करती है।



[४५] मानस पाप के दूर करने के दृढ़ संकल्प की साधना।

प्रचेताः, अंगिराः, यमश्च ऋषिः । दुःस्वप्ननाशनं देवता । १ पथ्यापंक्तिः, २ भुरिक् त्रिष्टुप् , ३ अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षान् वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥१
ऋ० १०। १६४। १॥

भा०—मानसिक पापों के दूर करने के मूलमन्त्र का उपदेश करते हैं। (मनः-पाप) हे मानसिक पाप, दुर्विचार! (परः अपेहि) परे हट, तू (अशस्तानि) बुरी बुरी निन्दा योग्य कुचालियां करने को (किम्) क्यों (शंससि) कहता है। (परा इहि) चल परे हो। (न त्वा कामये) मैं तुझे नहीं चाहता। हे (मनः) मेरे मन! तू पाप से हटकर (वृक्षान् वनानि सं चर) हरे हरे वृक्षों और वनों उपवनों में विहार कर। और (गृहेषु गोषु सं चर) अपने गृहों और गौओं में

[४५] १—अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर। परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः' इति ऋ०॥ ऋग्वेदे प्रचेताः ऋषिः। दुःस्वप्नघ्नं देवता।

बिहार कर । पाप में जब मन जाय तब पाप के संकल्पों को दूर करके हरे वृक्षों, वनों, उत्तम गृहों, सम्बन्धियों और गौ आदि पशुओं के साथ मन को बहलाना चाहिए ।

अवशसा निःशसा यत् पराशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥ २ ॥

ऋ० १० । १६४ । ३ ॥

भा०—पापों के दूर करने के निमित्त प्रार्थना । (अव-शसा) नीचे गिराने वाले (निः-शसा) निर्बल करके गिराने वाले और (परा-शसा) सत्कर्मों से दूर लेजाकर आत्मा का नाश करने वाले जिस जिस दुष्ट विचार युक्त पाप से हम (जाग्रतः) जागते हुए या (स्वपन्तः) सोते हुए (यत्) जब जब भी (उप-आरिम) पीड़ित होते हैं तब तब (अग्निः) वह सर्वप्रकाशक पापों को भस्मसात् करने वाला अग्नि, परमेश्वर (विश्वानि) सब (अजुष्टानि) असेवनीय और अवांछनीय, मन के अप्रीतिकर, बुरे (दुःकृतानि) पाप कर्मों को (अस्मद्) हमसे (आरे) दूर (अप दधातु) करदे ।

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि ।
प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १६४ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (ब्रह्मणस्पते) समस्त ब्रह्मज्ञान के परिपालक ! (यद् अपि) जब जब भी हम (मृषा चरामसि) असत्य और छल कपट का आचरण करते हैं तू उनको (प्रचेताः) खूब भली प्रकार

२—'यदा शसा निःशसाभिशसोपारिम' इति ऋ०।

३—'यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि । प्रचेता न आङ्गिरसो द्विषतां पात्वंहसः' इति ऋ० ।

जानता है । तू (आंगिरसः) प्रकाशस्वरूप, तेजोमय ज्ञानी होकर (नः) हमें (दुरतात्) बुरे निन्दनीय (अंहसः) पाप से (पातु) पालन कर ।

---

[४६] स्वप्न का रहस्य ।

अंगिरा ऋषिः । स्वप्नो दुःस्वप्ननाशनं वा देवता । १ ककुम्मती विष्टारपांक्तिः, २ त्र्यवसाना शक्वरीगर्भा पञ्चपदा जगती, ३ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न ।
वरुणानी ते माता यमः पितारुरुर्नामासि ॥ १ ॥

भा०—स्वप्न का रहस्य बतलाते हैं। हे स्वप्न (यः) जो (न जीवः असि) तू न जीवित, जागृत दशा है और (न मृतः) न मृत = सुषुप्त दशा है अपितु (देवानाम्) इन्द्रियगण जिस दशा में (अमृत-गर्भः असि) अमृत = आत्मा के गर्भ = भीतर में छुपे रहते हैं। तब वह दशा है उस समय इन्द्रियगण बाह्य विषयों का ज्ञान नहीं करते । हे स्वप्न ! (ते माता) तुझ स्वप्न की जननी, माता, उत्पादक भी स्वतः (वरुणानी) वरुण की स्त्री आत्मा की शक्ति चितिशक्ति चेतना ही है और स्वयं (यमः) सब इन्द्रिय और शरीर का नियामक आत्मा ही स्वप्न का (पिता) पालक या बीजप्रद है । तू (अररुः नाम असि) 'अररु' नाम वाला है । निरन्तर गतिशील, अति तीव्र गति वाला, क्षणावस्थायी है अथवा शीघ्र ही विस्मृत हो जाता है । लम्बे से लम्बा स्वप्न ५ सेकण्ड में उत्पन्न होकर समाप्त भी हो जाता है । स्वप्नकाल में इन्द्रियां प्राण में, प्राण मन में लीन हो जाता है ।

स्वप्नकाल में मनसहित इन्द्रियगण आत्मा में रहकर भी केवल मन की गति से सब पूर्वानुभूत संस्कारों की जागृति होती रहती है । उस समय इन्द्रियां प्राणमय आत्मा में गर्भित रहती हैं ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ २ ॥ अथर्व० १६ । ५ । ६ ॥

भा०—हे स्वप्न ! (ते जनित्रं विद्म) हम तेरे स्वरूप और उत्पत्ति के रहस्य को जानते हैं कि तू (देव-जामीनाम्) ज्ञान को उत्पन्न करने वाली देव-इन्द्रियगण की सूक्ष्म शक्तियों का या ज्ञानतन्तुओं का जो कि मस्तिष्क में आश्रित हैं (पुत्रः) पुत्र है, उससे उत्पन्न होता है। पर तो भी (यमस्य करणः) नियामक प्राणात्मा का तू करण अर्थात् कार्य है। हे स्वप्न ! तू (अन्तकः असि) अन्त करने वाला (मृत्युः असि) और मार देने वाला है। हे स्वप्न ! (तम्) उस तुझको (तथा) जैसा तू है उसी प्रकार (सं विद्म) हम भली प्रकार जानते हैं (सः) वह तू (नः) हमें (दुःस्वप्न्यात्) दुष्ट स्वप्न से जो मन और शरीर को गिराने वाले भय, काम और वीर्यनाश के प्रयोजक हैं उनसे (पाहि) बचा।

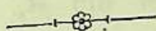
यथा कलां यथा शफं यथर्णं सं नयन्ति ।
एवा दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते संनयामसि ॥ ३ ॥
अथर्व० १६ । ५७ । १ ॥ ऋ० ८ । ४७ । प्र०-च० ॥

भा०—(यथा) जैसे (कलाम्) कला $\frac{1}{16}$ वां भाग करके या (यथा शफम्) $\frac{1}{8}$ वां भाग करके (यथा ऋणम्) जिस प्रकार ऋण को (सं नयन्ति) चुका देते हैं। उसी प्रकार (सर्वं दुःष्वप्न्यम्) समस्त

२–जामिः स्त्री इति सायणः । भगिनी इति ह्विटनिः ।

३–(च०) 'आप्तय सं नया'–इति ऋ० । 'अनेहसोऽवदूतयः सु ऊतयो व ऊतयः' इति ऋग्वेदेऽधिकः पाठः । तत्र त्रित आप्तय ऋषिः । आदित्या उषाश्च देवते ।

प्रकार के दुःस्वप्नों को (द्विषते) अपने अप्रीतिभाजन पुरुष का ऋण सा जानकर (सं नयामसि) सर्वथा त्याग दें। अर्थात् दुःस्वप्न आदि के दुर्विचार नीच घृणित पुरुषों के लिए रहने दें। उनमें सदाचारी आर्य पुरुष अपने को न गिरावें अर्थात् जिस प्रकार कला = १६ वां सोलहवां हिस्सा करके या एक आठवां एक आठवां हिस्सा करते करते पूरा ऋण चुका देते हैं इस प्रकार हम बुरे विचारों को भी (द्विषते) शत्रु का ऋण सा ही मानकर, शनैः शनैः क्रमशः उनको ऐसे छोड़ते जायं मानो हम बुरे भावरूप अपने शत्रु का कर्जा धारते हैं। उसे शीघ्र चुकाकर मुक्त हो जायं।



[४७] दीर्घायु, सुखी जीवन और परम सुख की प्रार्थना।

अंगिरा ऋषिः। १ अग्निर्देवता, २ विश्वेदेवाः, ३ सुधन्वा देवता।

१–३ त्रिष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृद् विश्वशंभूः।
स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम॥ १॥

भा०—(प्रातःसवने) प्रातः काल के सवन = वसु ब्रह्मचर्य के अवसर में (वैश्वानरः) समस्त पुरुषों का हितकारी, समस्त पुरुषों में व्यापक विराट् (विश्व-शम्भूः) सब के लिये सुख शान्ति का उत्पत्तिस्थान, (विश्व-कृद्) संसार का रचयिता (अग्निः) अग्नि = ज्ञानमय परमात्मा, सबका अग्रणी (पातु) हमारी रक्षा करे। (सः पावकः) वह पावक सबका पवित्र करने वाला (नः) हमें (द्रविणे दधातु) बल और धनसमृद्धि में स्थापित करे। और हम सब (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयु वाले होकर (सह-भक्षाः) एक साथ भोजन करनेहारे (स्याम) हों।

विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः ।
आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ २ ॥

भा०—(अस्मिन् द्वितीये सवने) इस द्वितीय सवन अर्थात् रुद्र-ब्रह्मचर्य के अवसर पर (इन्द्रः) हमारा राजा, आत्मा और (विश्वे-देवाः) समस्त देव, इन्द्रियगण विद्वान् पुरुष और (मरुतः) समस्त प्रजाएं और प्राणगण (अस्मान्) हमें (न जह्युः) परित्याग न करें। (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयु से सम्पन्न होकर (एषां प्रियं वदन्तः) इन सब के प्रति प्रिय भाषण करते हुये (वयम्) हम (देवानाम्) विद्वान् पुरुषों की (सु-मतौ) शुभ मति में, उत्तम उपदेशों के अनुसार (स्याम) रहें।

इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त ।
ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु ॥ ३ ॥

भा०—(इदं तृतीयं सवनम्) यह तीसरा सवन अर्थात् आदित्य-ब्रह्मचर्य (कवीनाम्) क्रान्तदर्शी, मेधावी, विद्वान् पुरुषों का ही है, (ये) जो (ऋतेन) सत्य और ब्रह्मज्ञान के बल से (चमसम्) अपने मस्तिष्क को प्रेरित करते हैं, अर्थात् जो सत्य, ज्ञान और तप के बल से अपने मस्तिष्क को तीसरे दर्जे के ब्रह्मचर्य की पूर्ति के लिये प्रेरित करते हैं (ते) वे (सौधन्वनाः) धनुर्धरों के समान उत्तम रूप से ओंकार रूप औपनिषद धनुष को धारण करते हुए (स्वः आनशानाः) मोक्ष सुख या प्रकाशमय ब्रह्म का आनन्द लाभ करते हुए (नः) हमारे (स्विष्टिम्) उत्तम ब्रह्मचर्य-यज्ञ के प्रति (वस्यः) उत्तम श्रेष्ठ फल (अभि नयन्तु) प्राप्त करावें।

अध्यात्म में चमसपात्रों का निर्णय इस प्रकार है। प्राणापानाभ्यामेवोपांश्वन्तर्यामौ निरमिमीत । व्यानादुपांशुसवनं, वाच ऐन्द्रवायवं,

पक्षक्रतुभ्यां मैत्रावरुणं, श्रोत्रादाश्विनं, चक्षुषः शुक्रामन्थिनौ, आत्मन आग्रयणं, अङ्गेभ्य. उथ्यं, आयुषो ध्रुवम्, प्रतिष्ठाया ऋतुपात्रे। तै० १। ५। १। २॥ यहां चमस = समस्त आयु है। यज्ञ में चमसस्थित पात्र के सोम को चार भागों में विभाग किया जाता है। जिसका अभिप्राय जीवन को चार भागों में बांटना है। इस प्रकार यज्ञपर अर्थ सङ्गत होता है, तीन सवनों की व्याख्या अध्यात्म साधना में--जीवन के तीन भाग हैं। प्रथम सवन २४ वर्ष का ब्रह्मचर्य, द्वितीय सवन ४४ वर्ष का ब्रह्मचर्य, और तृतीयसवन ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य। (देखो छान्दो० उप० ३। १६)

---

[४८] तीन सवन, त्रिविध ब्रह्मचर्य ।

अङ्गिरा ऋषिः। मन्त्रोक्ता देवता। उष्णिक्। तृचं सूक्तम्॥

श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वा रभे।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा॥ १॥

भा०—पूर्वोक्त तीनों सवनों और तीन प्रकार के ब्रह्मचर्य कालों का विशेष वर्णन करते हैं। हे प्रातःसवनरूप प्रथम ब्रह्मचर्य! तू (श्येनः असि) श्येन अर्थात् ज्ञान, ब्रह्मतेज का सम्पादन करानेहारा और (गायत्रछन्दाः) गायत्रच्छन्दाः = प्राणसाधना, आत्मसाधना, ब्रह्मवृत्ति ब्रह्मवर्च, तेज और वीर्य का प्राप्त करानेहारा है और २४ अक्षरोंवाले गायत्रीछन्द के समान जीवन का प्रारम्भ रूप २४ वर्ष तक पालन करने योग्य है। (त्वा) तेरा मैं (अनु रभे) अनुष्ठान करता हूँ, तेरा पालन गुरु के अधीन रह कर करता हूँ। (अस्य) इस (यज्ञस्य) ब्रह्मचर्य यज्ञ के (उदृचि) अन्तिम ऋचापाठ की समाप्ति तक (मा) मुझे (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (सं वह) प्राप्त करा। (स्वाहा) यही हमारी अपनी दृढ प्रतिज्ञा है।

ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वा रभे ।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—हे तृतीयसवन ! ४८ वर्ष तक के ब्रह्मचर्यकाल ! तुम (ऋभुः) ऋभु = अति तेजस्वी, सत्य, ब्रह्मज्ञान सम्पन्न हो और (जगत्-छन्दाः) तुम जगतीछन्द के समान ४८ अक्षरों के प्रतिनिधि ४८ वर्षों तक पालन किये जाने योग्य हो । एवं तुम आदित्यस्वरूप हो । (त्वा अनुरभे) तेरा मैं पालन करता हूँ । (अस्य यज्ञस्य उदृचि) इस यज्ञ की समाप्ति तक (मा) मुझको (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (सं वह) प्राप्त करा । (स्वाहा) यह मैं अपने आत्मा से दृढ़ भावना करता हूँ ।

वृषासि त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वा रभे ।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ ३ ॥

भा०—हे माध्यन्दिन सवन ! ४४ वर्ष तक के ब्रह्मचर्य ! तू (वृषा असि) वृषा = वीर्य सेचन से समर्थ इन्द्र रूप और (त्रिष्टुप्छन्दाः) ४४ अक्षर वाले त्रिष्टुप्छन्द के समान हो । (त्वा अनुरभे) तेरा पालन करूँ (मा) मुझे (यज्ञस्य उदृचि) इस यज्ञ की समाप्ति तक (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक निर्विघ्न (सं वह) प्राप्त करा । (स्वाहा) यह मैं स्वयं अपने प्रति दृढ़ संकल्प एवं प्रार्थना करता हूँ ।

(१) श्येनः—श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः ॥ निरु० । ज्ञान करने वाला आत्मा श्येन है ।

(२) गायत्रछन्दः—ब्रह्म हि गायत्री ॥ तां० ११ । ११ । १९ ॥ गायत्री ब्रह्मवर्चसम् ॥ तै० २ । ७ । ३ । ३ ॥ तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री । ऐ० १ । ५ । २२ ॥ वीर्यं गायत्री ॥ श० १ । ३ । ५४ ॥ चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री ॥ ऐ० ३ । ३९ ॥ वसवो गायत्रीं समभरन् ॥ जै० उ० १ । ६८ । १४ ॥

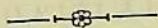
गायत्री ब्रह्म है, ब्रह्मवर्चस, तेज, वीर्य है । इसके २४ अक्षर हैं । २४ वर्ष तक अक्षत वीर्य का पालन करने वाले वसुगण उस गायत्री का धारण करते हैं ।

ऋभुः—ऋभवः उरु भान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा ऋतेन भवन्तीति वा ॥ निरु० दैवत० अ० ५ । २ । ५ ॥ अति तेजस्वी, ऋत ज्ञान से प्रकाशवान् या ऋत से सामर्थ्यवान् ऋभु कहाते हैं ।

जगत् छन्दः—अष्टाचत्वारिंदक्षरा वै जगती ॥ श० ६ । २ । २ । २३ ॥ आदित्याः जगतीं समभरन् ॥ जै० उ० १ । १ । ८ । ६ ॥

४८ अक्षर का जगती छन्द होता है । ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य पालन करने वाले विद्वान् आदित्य ब्रह्मचारी जगती का पालन करते हैं ।

त्रिष्टुप् छन्दः—ऐन्द्रं त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम् ॥ गो० उ० ४ । ४ ॥ वीर्यं वै त्रिष्टुप् ॥ ऐ० १ । २१ ॥ आत्मा त्रिष्टुप् ॥ ऐ० ६ । २ । १ । २४ ॥ त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी ॥ गो० उ० २ । ९ ॥ रुद्राः त्रिष्टुभं समभरन् ॥ जै० उ० १ । १८ । ५ ॥ चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् । कौ० १६ । ७ ॥ त्रिष्टुप् छन्द ४४ अक्षरों का है । ४४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले विद्वान् रुद्र त्रिष्टुप् का पालन करते हैं । वही रुद्रों की शक्ति है । उनका आत्मा इन्द्र उसका देवता है ।



[४९] कालाग्नि का वर्णन ।

गार्ग्य ऋषिः । अग्निर्देवता । १ अनुष्टुप् , २ जगती,
३ निचृज्जगती । तृचं सूक्तम् ॥

नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश मर्त्यः ।
कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव ॥ १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (ते तन्वः) तेरे अग्निमय शरीर के (क्रूरम्)[१]

१. कृतेश्छः क्रू च । उणादि० पा० २।२१ ॥ कर्त्तनसामर्थ्यं छेदनसामर्थ्यम् ।

छेदन भेदन सामर्थ्य को अर्थात् परमाणु परमाणु अलग कर डालने वाले विशेष सामर्थ्य को (मर्त्यः) यह मरणधर्मा पुरुष (न आनंश) नहीं प्राप्त नहीं कर सकता । तू (कपिः[१]) कपि = अति कम्पवान् होकर (तेजनम्) अग्नि या ताप को अपने भीतर (बभस्ति) ऐसे धारण कर लेता है जैसे (गौः) गौ (स्वयं जरायुः) अपनी जेर को खा जाती है ।

अथवा—हे अग्ने ! परमात्मन् ! तेरे क्रूर = छेदन भेदन सामर्थ्य को मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता । तू (कपिः) सब को कंपाने वाला होकर (तेजनम्[२]) पाप को ऐसे खा जाता है, जला देता है, विनाश कर देता है जैसे गौ जरायु को ।

अथवा (स्वं जरायु गौरिव) अपनी अजीर्ण त्वचा या आवरण को जिस प्रकार सूर्य बार बार लील जाता है उसी प्रकार (कपिः) क = प्रजापति हिरण्यगर्भ का पालक परमात्मा समस्त (तेजनम्) ब्रह्माण्ड को (बभस्ति)[3] अपने प्रलयकाल में लील जाता है । इसलिए (मर्त्यः अग्नेः तन्वः क्रूरम् न आनंश) यह मनुष्य उस कालाग्नि परमेश्वर के छेदनभेदन सामर्थ्य तक नहीं पहुँच सकता ।

जरायुः शणा ॥ श० ६ । ६ । १ । ५ ॥ यत्र वा प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वा एतस्मात् यज्ञात् तस्य यन्नेदिष्ठमुल्वमासीत् ते शणाः ॥ जिसमें प्रजापति हिरण्यगर्भ रूप में उस यज्ञ रूप परमात्मा से उत्पन्न हुआ वह ऊपर का गर्भावरण = उल्क, शण या जरायु नाम से कहा जा जाता है ।

---

१. कम्पतेः 'सर्वधातुभ्य इन्' । उणादिः ४।१४४ यकृद्वा कम् उदकं शरीरगतं रसं पिबति इति कपिः । सायणः ॥

२. पाप्मा वै तेजनी ॥ तै० ३ । ८ । १९ । २ ॥

३. बभस्तिरत्तिकर्मा इति यास्कः । निरु० ५ । १२ ॥

मेषइव वै सं च वि चोर्वऽच्यसे यदुत्तरद्रावुपरश्च खादतः । शीर्ष्णा शिरोऽप्ससाप्सो अर्दयन्नंशून् बभस्ति हरितेभिरासभिः ॥ २ ॥

भा०—प्रलयकाल की वह अग्नि किस प्रकार ब्रह्माण्ड को खा जाती है इसे स्पष्ट करते हैं । हे अग्ने ! प्रलयकालाग्ने ! परमात्मन् ! तू (मेषइव) मेष = सूर्य के समान (उरु) इस विशाल ब्रह्माण्ड में (सं अच्यसे च वि अच्यसे च) संकुचित होता और विशेष या विविध रूप से फैल जाता है । जिस प्रकार (खादतः) खाते हुए पुरुष के (उत्तरद्रौ) ऊपर के जबाड़े में (उपरः = उपलः) नीचला जबाड़ा लगकर दोनों भोजन को चबाते हैं उसी प्रकार तुम भी उस द्यौ और पृथिवी दोनों पाटों के बीच में समस्त संसार को पीस कर खाजाते हो और इस ब्रह्माण्ड के (शिरः) ऊपर के भाग को अपने (शीर्ष्णा) ऊपर के भाग से और (अप्ससा अप्सुः) अपने समस्त व्यक्ति रूप सामर्थ्य से इस रूपवान् जगत् को (अर्दयन्) पीड़ित करता हुआ—पीसता हुआ (हरितेभिः आसभिः) अपने हरणशील संहारकारी तीव्र प्रलयकारी मुखों = विक्षेपकारी शक्तियों से (अंशून्) इन समस्त लोकों को (बभस्ति) खा जाता है, लील जाता है ।

सौर-मण्डल के खण्डप्रलय के समान ही महाप्रलय की कल्पना विद्वान् वैज्ञानिकों ने मानी है । अर्थात् उस समय सूर्य की ज्वालाएं बुझते दीपक के समान कभी बड़ी दूर तक फैलेंगी, कभी बुझेंगी और फिर फैलेंगी । वे ज्वालाएं दूर पास के सब ग्रहों को भस्म करेंगी । वेद ने उन ज्वालाओं को 'हरित आस' नाम से पुकारा है । यही प्रलय या अत्यय की रीति अध्यात्मक्षेत्र में आत्मा और उसके मन प्राण इन्द्रियों में होती हैं । वहां भी मेष = आत्मा उत्तरद्रु, उपर = प्राण, अपान । अंशु = इन्द्रियगण, हरित आस = सूक्ष्म प्राण हैं ।

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः ।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्याश्रितः ॥३॥
ऋ० १० । ९४ । ५ ॥

भा०—हे[1] अग्ने ! कालाग्ने ! (सुपर्णाः) सूर्य की ऊपर उठने वाली वे ज्वालाएंही (वाचम् अक्रत) यह वाणी उपदेश कराती हैं, इस बात की सूचना देती हैं कि (आखरे) उनके आवासस्थान सूर्य में (कृष्णाः) कृष्ण-समस्त अपने ग्रह उपग्रहों को खींचने में समर्थ और (इषिराः) गतिमान् चिह्न धब्बे (अनर्त्तिषुः) नाचते हैं। (यत्) जब (उपरस्य) ऊपर आये हुए मेघावरण की (निष्कृतिम्) रचना को वे सुपर्ण अर्थात् शीघ्रगामी पतनशील किरणें (नि नियन्ति) सर्वथा तोड़ डालती हैं, तब ही वे ज्वालाएं (सूर्य-श्रितः) सूर्य में आश्रय लेती हुई (पुरु रेतः दधिरे) बड़ा भारी तेज, वीर्य, प्रचण्ड ताप उत्पन्न करती हैं। इस मन्त्र के गूढ़ाशय को समझने के लिए सूर्यमण्डल में उठनेवाले ज्वालोद्रेक (Perterbation या Prominencos) ज्वालापटलों की और सूर्य में दिखाई पड़नेवाले काले धब्बों की वैज्ञानिक तत्वमीमांसा का स्वाध्याय करना चाहिए। देखो एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Art. Sun)

---

[५०] अन्नरक्षा के लिए हानिकारक जन्तुओं का नाश ।

अभयकामोऽथर्वा ऋषिः । अश्विनौ देवते । १ विराड् जगती, २-३ पथ्या पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

हतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम् ।
यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याय ॥ १ ॥

३-(तृ०) न्यान्नियन्ति', 'निष्कृतम्', सूर्याश्रितः' इति ऋ० ।

१-ऋग्वेदे अर्बुदः काद्रवेयः सर्प ऋषिः । प्राणो देवता ।

भा०—हे (अश्विना) अश्विगणो ! धान्य के उत्पादक और रक्षक स्त्री पुरुषो ! (तर्दम्) हिंसक जन्तु (समङ्कम्) बिल में छिपने वाले मूसाजाति (आखुम्) और भूमि को खनकर रहनेवाले अन्ननाशक जन्तु को (हतम्) मारो, (शिरः) उनके शिर को (छिन्तम्) मार कर टुकड़े टुकड़े कर डालो जिससे उनका प्राण नष्ट होजाय और वह जीता न रह जाय बल्कि उनकी (पृष्टीः) पीठ की पसलियां (अपि) भी (शृणीतम्) तोड़ डालो और हो सके तो (मुखम् अपि नह्यतम्) उसके मुख भी बांध दो जिससे (यवान्) वे यवों को (न इत्) नहीं (अदान्) खा सकें। इस प्रकार (धान्याय) धान्य के लिये (अभयं कृणुत) अभय कर दो ।

तर्द् है पतङ्ग् है जभ्य् हा उपक्वस ।
ब्रह्मेवा संस्थितं हविरनदन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपोदित॥२

भा०—(है तर्द) हे हिंसक जन्तो ! (है पङ्ग) हे टिड्डीदल ! (है जभ्य) हे हिंसा योग्य वा विनाश करने योग्य और (है उपक्वस) हे टिड्डे आदि कीटो (ब्रह्मा इव) जिस प्रकार ब्रह्मा (असंस्थितम् हविः) असमाप्त या असंस्कृत हवि को नहीं लेता उसी प्रकार तुम लोग भी (असंस्थितं हविः) असंस्थित, अपरिपक्व, अधकची, अरक्षित अन्न को (अनदन्तः) न खाते हुए और (इमान् यवान्) इन जौ धान्यों को (अहिंसन्तः) हानि न पहुँचाते हुए (अप उदित) परे चले जाओ । धान्यरक्षक लोग उक्त कृषि-नाशक जन्तुओं से खेती को बचावें और ऐसा प्रबन्ध करें कि वे उनको हानि न पहुँचा सकें।

तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे। य आरण्या व्यद्वरा ये के च स्थ व्यद्वरास्तान्त्सर्वाञ् जम्भयामसि ॥३॥

भा०—हे (तर्दापते) हिंसकों के स्वामी ! हे (वघापते) कृषिना-

शक जन्तुओं के मुख्य पति ! हे (तृष्टजम्भाः) तीक्ष्ण दांतों वाले जन्तुओ ! (मे आ शृणोत) मेरा वचन सुनो । (ये आरण्याः) जो जंगली (व्यद्वराः) खास तौर पर खेती को खा जानेवाले, बड़े जानवर और (ये के च) जो कोई भी (व्यद्वराः स्थ) मेरी खेती को खानेवाले जन्तु, जैसे और जहां भी हों (तान् सर्वान्) उन सबों को (जम्भयामसि) हम विनाश कर डालें ।

[५१] पवित्र होकर उन्नत होने की प्रार्थना ।

शंतातिर्ऋषिः । १, सोमः २ आपः, ३ वरुणश्च देवताः । १ गायत्री, २ त्रिष्टुप्, ३ जगती । तृचं सूक्तम् ॥

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥ यजु० १९ । ३ प्र० द्वि० ॥

भा०—(प्रत्यङ्) भीतरी शुद्ध आत्मा (सोमः) सोम, जीव (वायोः) सर्वव्यापक, सर्वप्रेरक प्रभु के (पवित्रेण) परम पावन स्वरूप के ध्यान से (पूतः) पवित्र होकर (अति-द्रुतः) संसार के दुःखों को अतिक्रमण करके शीघ्र ही मुक्त हो जाता है । वही तब (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील प्रभु का (युज्यः) योग समाधि में मिलनेवाला (सखा) उसका परम मित्र बन जाता है । कश्चिद् धीरः प्रत्यग् आत्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् इति । कठ उप० ४ । ९॥

आपो अस्मान् मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु ।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ॥२॥
(प्र० द्वि०) यजु० ४ । २ ॥ इत्यस्याः पूर्वार्धः । ऋ० । १७ । १० ॥

---

[५१] १–(द्वि) 'अतिप्लुतः' इति यजु० ।

२–'मातरः शुचयन्त' इति पाठः यजु०, ऋ० ।

भा०—(अस्मान्) हम को (मातरः) समस्त विश्व का निर्माण करनेवाली (आपः) आप्त शक्तियां (सूदयन्तु) प्रेरित करें, सदा समर्थ बनावें । और (तघृत्वः) तेज से पवित्र करनेवाले तेजोमय सूर्य आदि पदार्थ (घृतेन) अपने घृत = प्रकाश से (नः) हमें सदा (पुनन्तु) पवित्र करें, हमारे शरीर मन, और वाणी के मलों का शोधन करें । क्यों-कि (देवीः) दिव्य शक्तियां ही (विश्वम्) समस्त (रिप्रम्) मल और पाप भाव को (प्रवहन्ति) नदियों के समान दूर बहा ले जाती हैं और धो डालती हैं । (आभ्यः इत्) इनमें स्नान करते ही मैं (शुचिः) शुद्ध पवित्र होकर (उत्) ऊर्ध्व गति को प्राप्त होकर सात्विक भाव में (आ-पूतः) सर्वथा पवित्र होकर (एमि) उस प्रभु को प्राप्त होऊँ ।

यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या३श्चरन्ति ।
अचित्त्या चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥ ३ ॥ ऋ० ७ । ८९ । ५ ॥

भा०—हे (वरुण) राजन् ! हे प्रभो ! (दैव्ये) दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् (जने) पुरुष के प्रति (मनुष्याः) लोग (इदं यत् किं च) यह जो कुछ भी (अभिद्रोहम्,) अभिद्रोह, अनुचित विरोध (चरन्ति) कर बैठते हैं और यदि (अचित्या) विना जाने (तव धर्मा) तेरे बनाये नियमों को हम लोग (युयोपिम चेत्) न पालन करें तो भी हे देव ! (नः) हमें (तस्माद् एनसः) उस अपराध के कारण (मा रीरिषः) कष्ट न दे । इसी मन्त्र के आधार पर अज्ञान में किये गये बड़े बड़े अपराध भी कानूनन दण्ड योग्य न होकर क्षमायोग्य होते हैं । ईश्वर भी अज्ञान में किये कार्यों को अपराध नहीं गिनता । इसी से भोगयोनि में किये हिंसादि कर्म भावी में नया प्रारब्ध नहीं पैदा करते ।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

३—'मनुष्याश्चरामसि' अचित्यायत् तव' इति ऋ० ॥

[५२] तमोविजय और ऊर्ध्वगति ।

भागलिर्ऋषिः । मन्त्रोक्ता बहवो देवताः । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् ।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥

ऋ० १ । १९१ । ९ ॥

भा०—जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (दिवः) द्युलोक, विशाल आकाश में (पुरः रक्षांसि निजूर्वन्) अपने आगे आये विघ्नकारी अन्धकारों और मेघों का नाश करते हुआ (उद् एति) उदित होता है उसी प्रकार यह जीव (सूर्यः) सब इन्द्रियों और शरीर का प्रेरक, विज्ञानवान् होकर (पुरः रक्षांसि निजूर्वन्) अपने आगे आये समस्त विघ्नकर तामस भावों, राजसी विचारों, काम क्रोध आदि आचरणों को जो उसे आगे नहीं बढ़ने देते, उन्हें जीर्ण शीर्ण छिन्न-भिन्न करता हुआ (दिवः उत् एति) उस तेजोमय ब्रह्म के प्रति उत्तम पद को चला जाता है । और वही (आदित्यः) सब प्राण शक्तियों को अपने भीतर लेने वाला वशी, जितेन्द्रिय, ज्ञानी सूर्य के समान (अदृष्टहा) उस अ-प्रत्यक्ष परलोक में भी गति करनेवाला होकर (विश्व-दृष्टः) विश्व—सर्वव्यापक प्रभु से दया दृष्टि से जाकर (पर्वतेभ्यः) आवरणकारी मेघों के समान आवरणों से भी (उत् एति) ऊपर चला जाता है ।

सूर्यपक्ष में—(विश्व-दृष्टः अदृष्टहा सूर्यः पर्वतेभ्यः उद् एति) समस्त प्राणियों को प्रत्यक्ष सूर्य अदृष्ट कष्टों का विनाशक होकर मेघों या पर्वतों के पीछे से उदय होता है ।

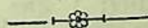
नि गावो गोष्ठे असदन् नि मृगासो अविक्षत ।
न्यूर्मयो नदीनां न्यदृष्टा अलिप्सत ॥ २ ॥

[५२]–१,२ एतयोर्ऋग्वेदे अगस्त्य ऋषिः । अबोषधिसूर्या देवताः ।
१–'उदपप्तदसौ सूर्यः पुरुविश्वा निजूर्वन् । 'आदित्यः पर्वतेभ्यो' । इति ऋ० ।
२–(तृ०) 'निकेतयोजनानां' । इति ऋ० ।

भा०—जब योगी का आत्मा आदित्य के समान समस्त तामस आवरणों से ऊपर उठ जाता है तब (गावः) जिस प्रकार शान्त सायंकाल में गौएँ विश्राम के लिये है (गोष्ठे) गोशाला में (नि-असदन्) आ जाती हैं और विश्राम लेती हैं उसी प्रकार प्राण भी उस अपने आश्रय-भूत गोष्ठ-आत्मा में ही विश्राम करते हैं । वे बाहर विषयतृष्णा में नहीं भागते । और (मृगासः) विषयों को खोजनेवाली इन्द्रियें (नि-अविक्षत) सर्वथा भीतर ही निलीन हो जाती हैं । किस तरह से ? जैसे (नदीनाम्) वायुओं के शान्त हो जाने पर या वेग के शान्त होजाने पर नदियों की (ऊर्मयः) विशाल तरंगें भी (निः) उसी में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार ये प्राणेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय भी (नि-अदृष्टाः) सर्वथा प्रत्यक्ष न होकर तन्मय, तल्लीन होकर (नि अलिप्सत) उसी आत्मा को प्राप्त करने या खोजने में लग जाती हैं ।

आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम् ।
आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान् नि शमयत् ॥ ३ ॥

भा०—मैं (विश्वभेषजीम्) समस्त कष्टों का निवारण करने वाली (आयुर्ददम्) दीर्घ जीवन को देने वाली, (विपश्चितम्) ज्ञानमयी, (श्रुताम्) प्रसिद्ध या गुरुमुख से उपदेश द्वारा श्रुतिवचनों से श्रवण की गई (कण्वस्य) मेधावी पुरुष की उस (वीरुधम्) आत्मज्ञान रूप वल्ली को (आभारीषम्) प्राप्त करूं । वह (अस्य) इस जीव के (अदृष्टान्) अदृष्ट अर्थात् न दीखने वाले बुरे संस्कारों को भी (नि शमयत्) सर्वथा नष्ट करे ।



[५३] रक्षा की प्रार्थना ।

बृहच्छुक्र ऋषिः । नाना देवताः । १ जगती, २-३ त्रिष्टुभौ । तृचं सूक्तम् ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन् दक्षिणया

पिपर्तु । अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च ॥ १ ॥

भा०—(द्यौः) आकाश और (पृथिवी च) पृथिवी के तुल्य माता पिता (प्र-चेतसौ) उत्कृष्ट ज्ञानवान् होकर (मे) मेरे लिये (इदम्) इस उत्तम फल को प्राप्त करावें या इस देह की रक्षा करें । (बृहन् शुक्रः) वह महान् प्रकाशमान प्रभु (दक्षिणया) अपनी ज्ञान और कर्म शक्ति से हमें (पिपर्तु) पालित पोषित करे । (स्वधा) यह स्वयं धारण करने वाली चितिशक्ति (अनुचिकिताम्) उस प्रभु के दिये ज्ञान के अनुसार ही सत्य ज्ञान को प्राप्त करे। और (नः) हमें (सोमः) उत्पादक, (अग्निः) सर्वज्ञ, (सविता) प्रेरक (भगः च) और ऐश्वर्यवान् परमात्मा (पातु) सदा पाले ।

द्यौः-पृथिवी = उत्तरारणि और अधरारणि या सूर्य पृथिवी के समान ऊपर नीचे की दोनों शक्तियां, प्राण अपान, माता और पिता ।

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु ।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥२॥

भा०—(नः) हमारा (प्राणः) प्राण (पुनः) फिर भी (आ एतु) प्राप्त हो जाता है (आत्मा पुनः आ एतु) हमारा आत्मा जीव हमें पुनः भी प्राप्त होजाता है । (चक्षुः पुनः) यह आंख और उसके सहयोगी अन्य इन्द्रियां भी फिर फिर प्राप्त हो जाती हैं । (नः असुः पुनः एतु) यह प्राण भी हमें पुनः पुनः प्राप्त हो जाता है । क्यों ? क्योंकि (नः) हमारा (वैश्वानरः) नेता, प्राणों का स्वामी आत्मा (अदब्धः) कभी भी नहीं मरता । प्रत्युत वही (तनूपाः) समस्त शरीर की रक्षा करता है और (विश्वा दुरितानि) समस्त पाप कर्मों को जानता हुआ भी निराश न होकर (अन्तः तिष्ठाति) भीतर धैर्यवान् होकर विराजता है ।

जीवस्य चेन्धनाग्नेश्च सदा नाशो न विद्यते ।
सन्निधास्मुपयोगान्ते सन्नेवाग्निर्न दृश्यते ॥
प्राणान् धारयते योऽग्निः स जीव उपधार्यताम् ।
न जीवनाशोऽस्ति हि देहमध्ये मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः ॥
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥ २७ ॥
(महाभारते, शान्ति० अ० १८५)

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो३ यद् विरिष्टम्
॥ ३ ॥ यजु० २ । २४ ॥

भा०—हम लोग (वर्चसा) तेज और ब्रह्मवर्चस से, (पयसा) उत्तम पुष्टिकारक बल से, (तनूभिः) उत्तम शरीरों से और (शिवेन) शुभ (मनसा) मन से (सं, सं, सं-अगन्महि) भली प्रकार युक्त रहें । (त्वष्टा) सर्वोत्पादक प्रभु (अत्र) इस लोक में (नः) हमें (वरीयः) सबसे उत्तम, वरण करने योग्य धन, ज्ञान, यश (कृणोतु) प्राप्त करावे और (यत्) जो (नः तन्वः) हमारे शरीर का (विरिष्टमम्) विशेष प्रकार से पीड़ित भाग हो उसका (अनु मार्ष्टु) स्वयं अनुमार्जन करे, उसे अनुकूलता से रोगरहित करे । अर्थात् प्रथम हम अपने अंगों को साफ़ रक्खें । तब ईश्वर भी हमारे शरीरों को रोग से मुक्त रक्खेगा ।

[५४] राजा की नियुक्ति और कर्तव्य ।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्नीषोमौ देवते । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ।

इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये ।
अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ॥ १ ॥

३–(तृ० च०) 'त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्' । इति यजुः० ।

भा०—(वृष्टिः तृणम् इव) जिस प्रकार वर्षा तृण = घास को बढ़ाती है उसी प्रकार हे इन्द्र राजन् ! (अस्य) इस राष्ट्र के (क्षत्रम्) क्षात्र बल को और (महीम्) बड़ी भारी (श्रियम्) श्री, लक्ष्मी को बढ़ावे । (इदम्) इसी प्रयोजन से (तत्) उस पद पर (उत्तरम्) मनुष्यसमाज से उत्कृष्ट (इन्द्रम्) इन्द्र, राजा को (युजे) राज्यकार्य में नियुक्त करता हूँ और (अष्टये) उत्तम फलों को प्राप्त करने और उत्तम रूप से राष्ट्र पर वश प्राप्त करने के लिये (इन्द्रम्) राजा को (शुम्भामि) अलंकृत करता हूँ ।

अ॒स्मै क्ष॒त्रम॑ग्नीषोमाव॒स्मै धा॑रयतं र॒यिम् ।
इ॒मं रा॒ष्ट्रस्या॑भीव॒र्गे कृ॑णु॒तं यु॒ज उत्त॑रम् ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्नि-सोमौ) अग्नि = सेनापति और सोम = पुरोहित ब्राह्मण गण (अस्मै) इसी राजा के उपयोग के लिये (रयिम्) अपने ज्ञान और बल को (धारयतम्) धारण करो और (इमम्) इस राजा को (राष्ट्रस्य अभीवर्गे) राष्ट्र की रक्षा के कार्य में (कृणुतम्) समर्थ करो और इसी प्रयोजन के लिये मैं राष्ट्र का पुरोहित उसको (उत्तरम्) अन्यों से उत्कृष्ट जान कर (युजे) इस पद पर नियुक्त करता हूँ ।

सब॑न्धश्चास॑बन्धुश्च॒ यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति ।
सर्वं॒ तं र॑न्धयासि मे॒ यज॑मानाय सुन्व॒ते ॥ ३ ॥

अथर्व० १५ । २ प्र० द्वि०, ६ तृ० च० ॥

भा०—हे पुरोहित ! (सबन्धुः च असबन्धुः च) चाहे सगोत्री या कोई असगोत्री (यः अस्मान् अभि-दासति) जो हमारा विनाश करना चाहता है (तं सर्वम्) उस सब को तू (मे सुन्वते) मेरे राष्ट्र का संचालन करते हुए (यजमानाय) तथा सबको सुव्यवस्थित करने वाले राजा के लिये (रन्धयासि) वश कर । इसी प्रकार पुरोहित राजा के प्रति भी ऐसा ही कहे ।

[५५] उत्तम मार्गों से जाने और सुखसे जीवन व्यतीत करने का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषि: । १ विश्वेदेवा देवता:, २, ३ रुद्रः ।, १, ३ जगत्यौ २ त्रिष्टुप् ॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥१॥

प्र० द्वि० अथर्व० ३ । १५ । २ ॥

भा०—(ये) जो (देवयानाः) विद्वानों के जानने योग्य (बहवः) बहुत से (पन्थान:) ज्ञानमार्ग (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, ज्ञान और कर्म, परलोक और इहलोक, ब्रह्म और प्रकृति और राजा प्रजा के (अन्तरा) बीच में (सं चरन्ति) चल रहे हैं (तेषाम्) उनमें से (यतमः) जो भी (अज्यानिम्) हानिरहित समृद्धि, आत्मरक्षा को (वहाति) प्राप्त कराता है (तस्मै) उस मार्ग के लिए (सर्वे देवाः) सब विद्वान् लोग (मा) मुझे (इह) संसार में (परि धत्त) पुष्ट करें, बल दें उस उत्तम मार्ग में चलने को कटिबद्ध करें।

ब्रह्मज्ञान का मार्ग सबसे उत्तम है । "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीन्महती विनष्टिः ।" इसी शरीर में रहकर आत्मज्ञान कर लिया तो ठीक, नहीं तो बड़ा भारी विनाश हो जाता है । कठ उप० ।

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात ।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम ॥ २॥

भा०—काल पर विचार करके उससे उपस्थित वि-पत्तियों से बच कर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह करने का उपदेश करते हैं । (ग्रीष्मः हेमन्तः शिशिरः वसन्तः शरद् वर्षाः) ग्रीष्म, हेमन्त, शिशिर, वसन्त शरद् और वर्षाकाल ये छः ऋतु हैं । हे छहों ऋतुओ ! तुम (नः) हमें (स्विते) सुख से गुजरने वाले जीवन में ही (दधातु) रक्खो । कभी कष्ट में न

डालो । (नः) और हमारे (गोषु) गवादि पशुओं और (प्रजायाम्) प्रजा-पुत्र आदि में भी (आ भजत) सुख का वितरण करो । हम सदा (वः निवाते) प्रबल वायु के झकोरों या उपद्रवों से रहित आप (शरणे) छहों ऋतुओं के अनुकूल घर में (स्याम) रहें, निवास करें ।

इ॒दा॒व॒त्स॒राय॑ परिवत्स॒राय॑ संवत्स॒राय॑ कृणुता बृ॒हन्नमः॑ ।
तेषां॑ व॒यं सु॑म॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒मपि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ॥ ३ ॥

तृ० च० ऋ० ३ । १ । १२ ॥

भा०—(इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय) इदावत्सर, परि-परिवत्सर संवत्सर के लिये (बृहत् नमः कृणुत) बहुत प्रचुर अन्न उत्पन्न करो । (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) यज्ञ करने वाले पुरुष की (सु-मतौ) शुभ कल्याणकारिणी बुद्धि में और (सौमनसे) उत्तम मनः-संकल्प से उत्पन्न होने वाले (भद्रे अपि) कल्याण सुख में (स्याम) सदा रहें ।

प्रभव से आदि लेकर प्रत्येक पंचयुगी के वर्षों में क्रम से संवत्सर परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और उदावत्सर ये पांच संज्ञाएं होती हैं । अथवा-अग्निर्वा संवत्सरः । आदित्यः परिवत्सरः । चन्द्रमा इदावत्सरः । वायुरनुवत्सरः । तै० ब्रा० १ । ४ । १० । १ ॥ अग्नि आदित्य और चन्द्रमा इनके लिये हम नमः करते हैं अर्थात् इनका सदा ध्यान रखते हैं । जिससे ठीक ठीक काल का ज्ञान हो और ठीक ठीक समय पर उचित यज्ञों का विधान कर सकें और विद्वानों की शुभ मति और उत्तम कल्याणकारी सुख में सदा रहें ।



[५६] सर्प का दमन और सर्पविष-चिकित्सा ।

शन्तातिर्ऋषिः । १ विश्वेदेवाः, २, ३ रुद्रो देवता । १ उष्णिग्-गर्भा पथ्या पंक्तिः; २, ३ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

मा नो देवा अहिर्वधीत् सतोकान्त्सहपूरुषान् ।
संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमन्नमो देवजनेभ्यः ॥ १ ॥

भा०—हे (देवाः) विष को दूर करनेवाले विद्वान् लोगो ! (अहिः) सांप (स-तोकान्) हमारी सन्तानों समेत और (सहपुरुषान्) पुरुषों समेत (नः) हमें (मा वधीत्) न मारे, हमें न काटे या हमारी मृत्यु का कारण न हो । (देव-जनेभ्यः नमः) देवजन—विषवैद्य या सर्प विष के निकालनेवाले चतुर पुरुषों के इस शिल्प का हम बड़ा आदर करते हैं कि जब वे सांप का मुख (संयतम्) बन्द करते हैं तब (न विष्परत्) वह उसे खोल नहीं सकता और यदि (व्यात्तम्) सांप ने मुंह खोल लिया तो फिर वह (न सं-यमत्) बन्द नहीं कर सकता ।

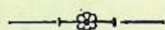
नमोऽस्त्वसिताय नमस्तिरश्चिराजये ।
स्वजाय बभ्रवे नमो नमो देवजनेभ्यः ॥ २ ॥

भा०—(असिताय नमः) असित—काले नाग का भी वश करने का उपाय है । (तिरश्चि-राजये नमः) पीठ पर तीरछी धारियों वाले सर्प का भी वश करने का उपाय है । (स्वजाय बभ्रवे नमः) स्वज = शरीर से लिपट जानेवाले सर्प का भी वश करने का उपाय है । इन विशेष हुनरों के लिये (देवजनेभ्यः नमः) ऐसे उन सर्पों के वशोपाय जानने हारे विद्वानों का हम स्वयं आदर करें ।

सं ते हन्मि दता दतः समु ते हन्वा हनू ।
सं ते जिह्वया जिह्वां सम्वास्ना ह आस्यम् ॥ ३ ॥

भा०—सांप को पकड़ने का उपाय बतलाते हैं । हे सर्प ! (ते दता दतः सं हन्मि) तेरे ऊपर के दांतों को नीचे के दांतों से सटा दूं । और (ते हन्वा हनू सम्) तेरी ठोढ़ी को ठोढ़ी से सटा दूं । (जिह्वाया ते जिह्वाम् सम्) तेरी जीभ से जीभ को सटा दूं, इस प्रकार की रीति से

मैं (आस्ना) मुख भाग से (आस्यम्) सांप के मुख को (सम् हन्मि) अच्छी प्रकार भीचूं और इस प्रकार सर्प को वश कर लेता हूं ।



[५७] व्रणचिकित्सा ।

शंतातिर्ऋषिः । १–२ रुद्रः, ३ भेषजं देवता । १, २ अनुष्टुभौ, ३ पथ्या बृहती । तृचं सूक्तम् ॥

इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम् ।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ॥ १ ॥

भा०—(इदम् इत्) यह ही (वा उ) निश्चय से (भेषजम्) ओषधि है, (इदम्) यह (रुद्रस्य भेषजम्) रुद्र = वैद्य की उपदेश की हुई औषध है (येन) जिससे (एक-तेजनम्) एक काण्डवाले और (शत-शल्याम्)सैकड़ों फलेवाले (इषुम्) बाण को भी (अप ब्रवम्) बाहर खैंच लिया जाता है ।

अध्यात्म में रुद्र = परमात्मा का उपदिष्ट ब्रह्म-ज्ञान ही इस भव रोग की एकमात्र औषध है जिससे एकतेजना–एक काण्डवाले और 'शतशल्य' तीर को दूर किया जा सकता है । यह देह या जीवन ही एक काण्डवाला बाण है । जिसमें सैकड़ों व्याधियां ही 'शतशल्य' हैं । उस जन्म या भवरोग की ओषधि भगवान् का उपदिष्ट ब्रह्मज्ञान ही है ।

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत ।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥ २ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (जालाषेण) जल से (अभि सिञ्चत) स्नान कराओ, (जालाषेण उपसिञ्चत) जल से ही व्रण आदि को धोओ । (जालाषम्) जल ही (उग्र-भेषजम्) तीव्र रोगनाशक पदार्थ है । हे परमात्मन् ! (तेन) उस जल के द्वारा ही (जीव से) सुखमय जीवन

के लिये (नः) हमें (मृड) सुखी कर । अध्यात्म में—'ज-लाष' प्राणियों का एकमात्र अभिलाषा का विषय = परम ब्रह्मसुख ।

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत् ।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ५९ । ८ । प० च० (एवं० पं०) १० पं० पं० ॥

भा०—(नः शं च) हमें शान्ति प्राप्त हो और (मयः च) सुख प्राप्त हो । (न) हमारा (किं चन) कोई भी अंग (मा अममत्) रोग-पीड़ित न हो । (रपः) पाप और पाप का फल दुःख सबको हम (क्षमाः) सहन करने और उसको वश करने में समर्थ हों । (नः) हमारे (विश्वम्) समस्त पदार्थ (भेषजम् अस्तु) दुःखनिवारक हों । (सर्वं नः भेषजम् अस्तु) हमारे सब पदार्थ रोगनाशक हों । अथवा (विश्वम्) विश्वमय और (सर्वं) सर्वमय परमात्मा सब भव-रोगों को शान्त करें ।

[५८] यश की प्रार्थना ।

यशस्कामोऽथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवता । १ जगती, २ प्रस्तारपंक्तिः, ३ अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (मघवान्) सब विभूतियों का स्वामी है, वह (मा) मुझे (यशसं कृणोतु) यशस्वी बनावे । (उभे द्यावापृथिवी) दोनों सूर्य और पृथिवी, जमीन और अस्मान (मा यशसं कृणोतु) मुझे यशस्वी बनावें । (देवः सविता) सबका प्रेरक सूर्य देव भी (मा यशसं कृणोतु) मुझे यशस्वी बनावे ।

३–(द्वि०) 'मो षु ते' । 'द्यौः पृथिवी क्षमा रपा' इति ऋ०

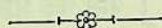
और (अहम्) मैं (दक्षिणायाः) दान दक्षिणा और अन्न के (दातुः) देनेवाले पुरुष का (प्रियः स्याम्) प्रिय होकर रहूं।

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (इन्द्रः) परमेश्वर (द्यावापृथिव्योः) आकाश और पृथिवी के बीच (यशस्वान्) सर्वशक्तिमान् है और (यथा) जिस प्रकार (आपः ओषधीषु) जल सब ओषधियों में (यशस्वतीः) बलशालिनी हैं। (एवा) इसी प्रकार (विश्वेषु देवेषु) समस्त विद्वानों में और (सर्वेषु) सब जीवों में (वयम्) हम (यशसः) यशस्वी और बलवान् (स्याम) हों।

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

भा०—व्याख्या देखो कां० ६, सू० ३९, मं० ३ ।



[५९] गृह-पत्नी के कर्तव्य, पशुरक्षा और गोपालन ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र उत मन्त्रोक्ता देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ।

अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति ।
अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥ १ ॥

भा०—हे (अरुन्धति) अरुन्धति ! अरोधनशीले ! सबको मुक्त करनेहारी, सुखकारिणी गृहपत्नि ! (प्रथमम्) पहले (त्वम्) तू (अनडुद्भ्यः) बैलों (धेनुभ्यः) गायों और (अधेनवे वयसे) गाय के अतिरिक्त पांच बरस तक के बछड़ों और (चतुष्पदे) चौपायों के लिये (शर्म यच्छ) सुख या सुखदायी रहने का घर या शाला बना दे। और

उनको पृथक् पृथक् शालाओं में रख । बैलों, गौओं, बड़े बछड़ों और अन्य पशुओं की अलग अलग शालाएं बनायें ।

शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती ।
करत् पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत पूरुषान् ॥ २ ॥

भा०—(अरुन्धती) घर की स्वामिनी (देवीः सह) घर की अन्य सहेली स्त्रियों के साथ मिल कर (ओषधिः) ओषधि = अन्न आदि जड़ी बूटियों के प्रयोग से (शर्म यच्छतु) सब को सुख प्रदान करे । और पशुओं को भी हरा चारा दे । और (गोष्ठम्) गोशाला को (पयस्वन्तं करत्) पुष्टिकारक दूध और जल से सम्पन्न करे । (उत) और सब पदार्थ स्वच्छ रक्खे जिससे (पूरुषान्) घर के और पुरुषों को भी (अयक्ष्मान् करत्) राजक्षमा से रहित, नीरोग करे । अर्थात् घर की स्त्री ही घर के पशुओं, मनुष्यों और बालकों के लिये भोजन आच्छादन और ओषधि आदि का उपचार करे ।

विश्वरूपां सुभगामच्छा वदामि जीवलाम् ।
सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः ॥ ३ ॥

भा०—हम (विश्व-रूपाम्) नाना प्रकार से समस्त पदार्थों को उत्तम रूप से बनानेवाली वा उनको निरीक्षण करने-वाली (जीवलाम्) सबको जीवन प्रदान करनेवाली (सुभगाम्) सौभाग्यशील, ऐश्वर्यवाली स्त्री को (अच्छ वदामसि) बड़ा उत्तम कहते हैं । (सा) वह आनेवाले (रुद्रस्य) रुलानेवाले, रोग आदि कष्टदायक और हिंसक पदार्थों के (हेतिम्) शस्त्र, आघातकारी आयुध को (नः) (गोभ्यः) हमारी गौओं से (दूरं नयतु) दूर करे ।

—:❀:—

[६०] कन्यादान और स्वयंवर ।

अथर्वा ऋषिः । अर्यमा देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद् विषितस्तुपः ।
अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये ॥ १ ॥

भा०—(अयम्) यह (अर्यमा) कन्या का दान करने वाला पुरुष (पुरस्तात्) अपने समक्ष (विषित-स्तुपः) नाना स्तुति योग्य गुणों को प्रकट करता हुआ (अस्यै) इस अपनी (अग्रुवै) कन्या के लिये (पतिम् इच्छन्) पति के प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ (उत) और (अजानये) विना पत्नी के पुरुष के लिये योग्य (जायाम्) पुत्रोत्पादक भार्या को प्राप्त कराने की इच्छा करता हुआ (आयाति) आता है ।

इस सूक्त में—'अर्यमा इति तम् आहुर्यो ददाति । तै० १ । १ । २ ४ ॥ दाता या कन्या का प्रदाता पुरुष अर्यमा कहाता है ।

अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती ।
अङ्गो न्वर्यमन्नस्या अन्याः समनमायति ॥ २ ॥

भा०—(अर्यमन्) हे कन्या के दान करने हारे ! उसके पिता भ्राता आदि पुरुष ! (इयम्) यह कन्या (अन्यासाम्) अन्य सखी, बहनों आदि के (समनाम्) सम्मान को (यती) प्राप्त करती हुई (अश्रमत्) विद्या आदि के अभ्यास और ब्रह्मचर्य व्रतपालन में श्रम करती रही है । (अङ्ग उ) हे (अर्यमन्) अर्यमन् ! कन्यादातः ! (अन्या:) और अन्य सखियां भी (अस्याः) इसके (समनम्) संमान को (आयति) प्राप्त होती हैं ।

अथवा—(इयम् अन्यासां समनं यती अश्रमत्) यह अन्यों के समन = पति संगमन, पति मिलाप के अवसर पर जाती रहे और अब (अन्याः अस्या समनम् आयति) अन्य सखियां इसके पति-लाभ के अवसर पर आवें ।

समनं, संमननात् सम्माननाद्वा । निरु० अ० ७ । ४ । ३ ॥

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् ।
धातास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् ॥ ३ ॥

भा०—(धाता) धारण, पालन करने वाला या उत्पादक परमेश्वर जिस प्रकार (पृथिवीम्) पृथिवी को धारण करता है (उत धाता) और धाता ही (द्याम् सूर्यम्) प्रकाशमान् सूर्य को भी धारण करता है । इसी प्रकार (धाता) परिपालक, संरक्षक (अस्यै अग्रुवै) इस स्वयंवरा कन्या के लिये (प्रति काम्यम्) इसके प्रति अभिलाषा करने वाले, इसके प्रिय (पतिम्) पति को (दधातु) धारण या प्राप्त करावे ।



[६१] ईश्वर का स्वतः विभूति-परिदर्शन ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्रो देवता । त्रिष्टुभः, २–३ भुरिजौ । तृचं सूक्तम् ॥

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम् ।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥१॥

भा०—(आपः) सब लोक या समस्त प्रजाएं या जल (मह्यम्) मेरे निमित्त (मधुमत्) मधुरता अमृतयुक्त रस को (आ-ईरयन्ताम्) प्राप्त करावें अथवा (आपः) आप्त पुरुष मेरे निमित्त (मधुमत्) ब्रह्ममय ज्ञान का उपदेश करें । और (सूरः) सबका उत्पादक, प्रेरक सूर्य या परमात्मा और विद्वान् (मह्यम्) मेरे निमित्त (ज्योतिषे) सर्व पदार्थों के प्रकाशित करने के लिये अपनी ज्योति को (अभरत् कम्) निश्चय से धारण करें । (उत) और (विश्वे) समस्त (तपोजाः) तप से उत्पन्न होने वाले तपस्वी (देवाः) विद्वान् पुरुष और (सविता) सूर्य के समान (देवः) विद्वान् आचार्य (मह्यम्) मुझे (व्यचः) सर्वव्यापक ब्रह्मज्ञान या विशेष ज्ञातव्य ज्ञान का (धात्) प्रदान करे या धारण करावे ।

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूरँजनयं सप्त साकम्।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥ २ ॥

भा०—(अहम्) मैं ही (पृथिवीम्) इस विशाल पृथिवी को और (उत द्याम्) द्यौलोक को (विवेच) पृथक् पृथक् थाम रखता हूं और (अहम्) मैं (साकम्) एक साथही (सप्त) सात (ऋतून्) गतिशील प्राणों को (अजनयम्) अपने सामर्थ्य से इस शरीर में उत्पन्न करता हूं। (सत्यम् अनृतं यत्) सत्य क्या है और असत्य क्या है, यह जो कुछ भी है उसको (अहं वदामि) मैं ही ठीक ठीक बतलाता हूं। और (दैवीम्) ज्ञानमयी, विद्वानों की (वाचम्) वाणी को (परि-विशः) प्रजा के भीतर भी (अहम्) मैं ही बतलाता हूं, उपदेश करता हूं। अर्थात् यह सब परमात्मा ही करता है। वही इन सब सामर्थ्यों का धारक है।

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूरँजनयं सप्त सिन्धून्।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया ॥३॥

भा०—(अम्) मैं ईश्वर ही (पृथिवीम्) पृथिवी को (जजान) प्रकट करना हूं, उत्पन्न करता हूं। (उत) और (द्याम्) द्युलोक को भी (जजान) प्रकट करता हूं। (अहम्) मैं ही (ऋतून्) गतिशील (सप्त सिन्धून्) सात प्राण, प्रवाहों को भी (अजनयम्) प्रकट करता हूं, उत्पन्न करता हूं। और (सत्यं यत्) सत्य, परमार्थ सत् क्या है ? और (अनृतम्) व्यवहार में असत् एवं विनश्वर, अध्रुव, ध्वंसयोग्य असत्य क्या है यह सब ठीक ठीक (अहं वदामि) मैं ही उपदेश करता हूं। और (सखायौ) समान आख्यान वाले, वा सामान रूप से 'ख' = इन्द्रियों में 'अय' = गति करने वाले (अग्निषोमौ) अग्नि और सोम, सूर्य और चन्द्र, प्राण और अपान इन दोनों को मैं आत्मा ही

(अजुषे) सेवन करता हूं। इस सूक्त की गीता के 'विभूति-योग' नाम दशम अध्याय से तुलना करनी चाहिये ।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च त्रिंशत्]

[६२] आभ्यन्तर शुद्धि का का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र उत मन्त्रोक्ता देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः ।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम् ॥१॥

भा०—(वैश्वानरः) वैश्वानर, सूर्य, और अग्नि (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (नः) हमें (पुनातु) पवित्र करे। और (वातः प्राणेन) वात, वायु और प्राण क्रिया द्वारा हमारे शरीर को पवित्र करे। और (इषिरः) सबका प्रेरक वायु अपने (नभोभिः) अन्तरिक्ष प्रदेशस्थ वायुगत मेघों द्वारा हमें पवित्र करें। और (ऋतावरीः) जल से पूर्ण (पयस्वतीः) पुष्टिकारक रस से पूर्ण (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, अस्मान और जमीन दोनों (यज्ञिये) यज्ञ = दान क्रिया में या परस्पर संगत होकर उपकार करने में समर्थ होकर (नः) हमें (पुनीतम्) पवित्र करें ।

वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः ।
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २ ॥

यजु० १९ । ४४ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (वैश्वानरीम्) उस ईश्वर विषयक (सूनृताम्) शुभ सत्यमयी वाणी रूप देवी, वेद को (आरभध्वम्) प्रारम्भ

२–(प्र०, द्वि०) वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद् यस्यामिमा बह्व्यः तन्वो वीतपृष्ठाः । तया मदन्तः सधमादेषु' इति यजु० ।

करो, उसका नित्य अभ्यास करो । (वीतपृष्ठाः) प्रकाशमय पृष्ठवाली (आशाः) दिशाएं (यस्याः) जिसके (तन्वः) शरीर हैं अर्थात् जिनका ज्ञान सर्वत्र व्यापक है । (तया) उस वेद वाणी से ही (सधमादेषु) एकत्र आनन्द प्राप्त करने के अवसरों में (गृणन्तः) उपदेश करते हुए (वयम्) हम लोग (रयीणाम्) सर्व सम्पत्तियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों ।

वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ३ ॥

अथर्व० १२ । २ । २८ प्र० द्वि ॥

भा०—(वैश्वानरीम्) उस परमात्मा सम्बन्धी वेदवाणी को हे विद्वान् पुरुषो ! (शुचयः) मन और शरीर से = शुचि पवित्र और (पावकाः) औरों को भी पवित्र करने में समर्थ, (शुद्धाः भवन्तः) और शुद्ध होकर (वर्चसे आ रभध्वम्) बल वीर्य प्राप्त करने के लिये अभ्यास किया करो । और (इह) इस संसार में (इडया) अन्न से (सधमादं मदन्तः) एक ही साथ हर्ष उत्सव का आनन्द लेते हुए हम सब (ज्योक्) चिरकाल तक (उत्-चरन्तम्) ऊपर उठते हुए (सूर्यम्) सूर्य को (पश्येम) देखा करें । शुद्ध पवित्र होकर वेद का अभ्यास करें परस्पर मिलकर अन्न का भोग करें और दीर्घजीवन निभावें ।

[६३] अविद्या-पाश का छेदन ।

द्रुहण ऋषिः । निर्ऋतिर्देवता, अग्निः । १ अतिजगतीगर्भा जगती, २, ३ जगत्यौ, ४ अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यत् ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत् ।
तत् ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः ॥१॥

यजु० १२ । ६५ ॥

भा०—हे पापी पुरुष ! (ते निर्ऋतिः) निरुद्ध-ऋति अर्थात् सत्य गति या ज्ञानमय आचरण से शून्य, अविद्या ने (देवी) तुझे लुभाने-वाली होकर (यत् दाम) जिस बन्धन को (ते) तेरी (ग्रीवासु) गर्दनों में (आ बबन्ध) बांध रक्खा है और (यत्) जो (अ-विमोक्यम्) सहज में नहीं छूटता । उसको भी मैं (ते) तेरी (आयुषे) आयु (वर्चसे) तेज और (बलाय) बल वृद्धि के लिये (वि श्यामि) काट कर दूर करता हूं । तू इस प्रकार (प्रसूतः) उत्कृष्ट मार्ग में प्रेरित होकर अथवा उत्कृष्ट विद्यायोनि से उत्पन्न होकर (अदो-मदम्) अमुक-परलोक में हर्षप्रद सुखदायक (अन्नम्) इस ज्ञानमय अन्न, परम सुख का (अद्धि) उपभोग कर ।

नमो॑ऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽय॒स्मया॒न् वि चृ॑ता बन्धपा॒शान् ।
य॒मो मह्यं॒ पुन॒रित् त्वां द॑दाति॒ तस्मै॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृत्यवे॑
॥ २ ॥　　यजु० १२ । ६३ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (निर्ऋते) सत्य विद्या से विपरीत अविद्ये ! (ते नमः अस्तु) तुझे दूर से नमस्कार है । अथवा तेरा (नमः) वशीकार किया जाय । हम तुझे वश करेंगें । किस प्रकार ? हे (तिग्मतेजः) तीक्ष्ण तेजवाले सूर्य समान परमात्मन् ! आत्मन् ! (अयस्मयान्) लोहे के से दृढ़ या आवागमन से बने इन (बन्ध-पाशान्) बन्ध के पाशों को (वि चृत) काट डाल । हे निऋते ! अविद्ये ! (यमः) वह सर्व-नियन्ता परमात्मा (पुनः इत्) फिर भी (मह्यम्) मेरे लिये (त्वा) मुझे (ददाति) प्रदान करता है अर्थात् तुझे ईश्वर ने मेरे आधीन कर रक्खा है । अर्थात् जब चाहूं तुझ में फसूं जब चाहूं न फसूं । इस लिये (तस्मै) उस (मृत्युवे) देहबन्धन से मुक्त करने वाले (यमाय) सर्वनियामक परमेश्वर के लिये (नमः) हम नमस्कार करते हैं ।

२–(प्र०) 'नमःसु' इति यजु० । (द्वि०) 'अयस्मयं विचृता बन्धमेतम्' इति यजु० ।

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ३ ॥

यजु० १२ । ६३ तृ० च० ॥

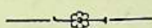
भा०—हे अविद्ये ! बन्धकारणी ! जब तू (अयस्मये) लोहे के समान दृढ़ वा आवागमनस्वरूप, (द्रुपदे) वृक्ष के खूंटे के समान वर्तमान इस कठोर देह के साथ जीव को (बेधिषे) बांध लेती है तब (इह) इस लोक में वह जीव (मृत्युभिः) नाना प्रकार के शरीर-नाशक ज्वर आदि कारणों से, (ये सहस्रम्) जो सैकड़ों संख्या में हैं। (अभिहितः) बँध जाता है । हे पुरुष ! (त्वम्) तू (पितृभिः) अपने परिपालक आचार्य आदि गुरुओं और (यमेन) उस अन्तर्यामी परमात्मा से (संविदानः) उत्तम रीति से ज्ञान लाभ करता हुआ (उत्तमम्) उत्कृष्ट (इमम्) उस (नाकम्) सुखमय परम ब्रह्मलोक को (अधि रोहय) प्राप्त हो ।

सं समिद् युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १९१ । १ ॥ यजु० १५ । ३० ॥

भा०—हे (वृषन्) सब सुखों के वर्षक ! हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप ! आप (अर्यः) सबके प्रेरक और सबके स्वामी हैं । आप (आ) सब तरफ (विश्वानि) सब पदार्थों को (सं सं युवसे इत्) चला रहे हैं, और (इडस्पदे) इला = अन्न के आश्रयभूत भूतल पर, अथवा इडा = श्रद्धा के पद, आश्रयस्थान हृदय में अथवा इडा = चेतना मनन शक्ति के पद, आश्रय, आत्मा में (समिध्यसे) प्रकाशित होते हो (सः) वह आप (नः) हमें (वसूनि) नाना जीवनोपयोगी धनों को (आ भर) प्राप्त कराओ ।

'इडस्पदे'—इडा वै श्रद्धा । श० ११।२।७।२०॥ इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिनी आसीत् । तै० १।१।४।४॥ सा वै इडा पञ्चावत्ता भवति। श० १।८।१।१२॥ (१) श्रद्धा इडा है। (२) मनु = मननशील के यज्ञ आत्मा या देह में अनुप्रकाश करने वाली चितिशक्ति 'इडा' है। वह इडा पांच विभाग में बांटी जाती है। यही पांच भाग पांच चैतन्य ज्ञानेन्द्रिय हैं। उस इडा का पद आश्रय, आवास आत्मा है। राजा के पक्ष में इडा पृथिवी और अग्नि राजा है।



[६४] एकचित होने का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः । साम्मनस्यं देवता । १, ३ अनुष्टुभौ, २ त्रिष्टुप् ।

तृचं सूक्तम् ॥

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥
ऋ० १० । १९१ । २ ॥

भा०—हे पुरुषो ! (यथा) जिस प्रकार (पूर्वे) पूर्व के विद्यमान (देवाः) विद्वान् लोग (संजानानाः) समान रूप से एकत्र होकर ज्ञान प्राप्त करते हुए (भागम्) अपने भजन करने योग्य फल को (उपासते) प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार (सं पृच्यध्वम्) आप लोग एकत्र होकर, एक दूसरे से सम्पर्क रक्खो। (वः) आप लोगों के (मनांसि) मन, चित्त (सं जानताम्) प्रत्येक पदार्थ को समान रूप से ही जानें।

३–'यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधिरोहयैनम्' इति यजु० ।

४–ऋग्वेदेऽस्या संवनन ऋषिः । अग्निर्देवता ।

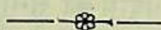
[६४] १–(प्र०) 'संगच्छध्वं सं वदध्वं' इति ऋ० । ऋग्वेदे संवनन ऋषिः । संज्ञानं देवता ।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभि सं विशध्वम्
॥ २ ॥ ऋ० १० । १९१ । ३ ॥

भा०—(एषाम्) इन समस्त लोगों का (मन्त्रः समानः) मन्त्र अर्थात् मनन, विचार भी समान हो, (समितिः समानी) एकत्र होकर बैठने की सभा भी समान एक ही हो, (समानं व्रतम्) व्रत, आचार, कर्तव्य भी समान = एक ही हो और (चित्तं सह) सबका चित्त भी एक साथ ही हो ! हे लोगो ! (वः) तुम सबको (समानेन हविषा) मैं समान प्रकार के, एकही हवि = ग्रहण करने योग्य मार्ग से (जुहोमि) प्रेरित करता हूं। आप लोग (समानं चेतः) एक चित्त होकर (अभि सं विशध्वम्) नगर में निवास करो।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १९१ । ४ ॥

भा०—हे पुरुषो ! (वः) आप लोगों की (आकूतिः) संकल्प, कामना भी (समानी) एक समान हो। और (वः) आप लोगों के (हृदयानि) हृदय भी (समाना) समान हों। (वः मनः) आप लोगों के मन (समानम्) समान (अस्तु) हों। (यथा) जिससे (वः) आप लोगों के सब कार्य (सह) एक साथ मिलकर (सु असति) उत्तम रूप से हुआ करें।



[६५] विजयी, दमनकारी राजा का शत्रुओं को निःशस्त्र करना।

अथर्वा ऋषिः। चन्द्र उत इन्द्रः पराशरो देवता। १ पथ्या पंक्तिः, २-३ अनुष्टुभौ। तृचं सूक्तम् ॥

२-(द्वि) 'समानं मनः' (च०) समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः। इति ऋ०।

अव मन्युरवायतावं बाहू मनोयुजा ।
पराशर त्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दयाधा नो रयिमा कृधि ॥१॥

भा०—हे राजन् ! (मन्युः) तेरा क्रोध (अव) नीचे अर्थात् शान्त रहे । (आयता) उठे हुए शस्त्र भी (अव) नीचे हो जायँ । (मनोयुजा बाहू) मन के संकल्प के साथ उठने वाली बाहुएं भी (अव) नीचे ही रहें । तिस पर भी हे (पराशर) दूर के शत्रुओं के नाशक इन्द्र ! (त्वम्) तू (तेषाम्) शत्रुओं के (पराञ्चम्) दूर से दूर वर्तमान (शुष्मम्) बल या सेना विभाग को (अर्दय) विनाश कर । (अध) और (नः) हमें (रयिम्) धन ऐश्वर्यवान् (आ कृधि) प्राप्त करा ।

अथवा शत्रुओं का क्रोध, उद्यत शस्त्र और बाहुएं नीची हों और हे इन्द्र ! तू उनके दूर के सेनादल को भी पीड़ित कर, हमें धन प्राप्त करा ।

निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! शासक पुरुषो ! (निर्हस्तेभ्यः) हस्त = हनन साधन या सामर्थ्य से रहित पुरुषों के लिये (नैर्हस्तम्) सदा निहत्थापन रूप (यं शरुम्) जिस शस्त्र को आप (अस्यथ) फैंकते हो, प्रयोग करते हो । (अनेन हविषा) उसी उपाय से (अहम्) मैं देश विजयी राजा (शत्रूणां बाहून्) शत्रुओं के बाहुओं अर्थात् बाधाकारी उपायों को भी (वृश्चामि) काटता हूं, निर्मूल करता हूं । अर्थात् निर्बल प्रजाओं को सदा निर्बल बनाये रखने के लिये विद्वान् लोग जिस निःशस्त्रीकरण उपाय का प्रयोग करते हैं राजा उसी उपाय का प्रयोग अपने शत्रु को निर्बल करने के लिये करे । अर्थात् उनको निःशस्त्र ही करदे ।

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः ।
जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र राजा (प्रथमम्) सबसे पहले (असुरेभ्यः) असुरों, निर्दय, बलवान् शत्रुओं पर (नैर्हस्तम्) निहत्थापन के उपाय को (चकार) करे । तब (मम) मेरे (सत्वानः) वीर्यवान् भट (स्थिरेण) स्थायी (मेदिना) बलशाली (इन्द्रेण) सेनापति राजा के साथ (जयन्तु) विजय करें ।

[६६] शत्रुओं का निःशस्त्रीकरण ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्र उत इन्द्रो देवता । १ त्रिष्टुप्, २-३ अनुष्टुप् ।
तृचं सूक्तम् ॥

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान्।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥ २॥

भा०—(अभिदासन्) हमें विनाश करने वाला (शत्रुः) शत्रु (निर्हस्तः अस्त,) निहत्था होकर रहे । और (ये) जो (अस्मान्) हम पर (सेनाभिः) सेनाओं सहित (युधम् आयन्ति) युद्ध करने के लिये चढ़ आते हैं उनको हे इन्द्र ! सेनापते ! तू (महता वधेन) बड़े भारी शक्तिशाली हथियार से (सम्-अर्पय) उन पर प्रहार कर । जिससे (एषाम्) उनमें से (अघ-हारः) सबसे प्रबल आघातकारी पुरुष (वि-विद्धः) नाना प्रकार से पीड़ित होकर (द्रातु) भाग जाय ।

आतन्वाना आयच्छन्तोस्यन्तो ये च धावथ ।
निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोऽद्य पराशरीत् ॥ २ ॥

भा०—निःशस्त्र किनको किया जाय ? (ये) जो शत्रुगण (आतन्वानाः) धनुष पर चिल्ला चढ़ाते हैं, (आ यच्छन्तः) उनकों खैंचते हैं, और (अस्यन्तः) बाण फेंकते हैं और (ये च) जो (धावथ) वेग से

आक्रमण करते हैं, ऐसे हे (शत्रवः) शत्रु लोगो ! तुम ही (निर्हस्ताः) निहत्थे (स्थन) होकर रहो, नहीं तो (इन्द्रः) हमारा सेनापति राजा (वः) तुमको (अद्य) आज (पराशरीत्) मार डालेगा । आक्रमण-कारी मारने की चेष्टा करने वालों को निहत्था करदें । नहीं तो सेनापति उनका वध कर दे ।

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि ।
अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भंजामहे ॥ ३ ॥

भा०—(शत्रवः) शत्रु लोग (निर्हस्ताः सन्तु) निहत्थे होकर रहें और हम (एषाम् अङ्गा) उनके अङ्गों को (म्लापयामसि) लुंजा पुंजा करदें । और हे इन्द्र ! (एषाम्) इनके (वेदांसि) धनों को हम (शतशः) सैकड़ों प्रकार से (वि भजामहे) आपस में बाँट लिया करें ।

---

[६७] शत्रु-विजय

अथर्वा ऋषिः । चन्द्र उत इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः ।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥ १ ॥

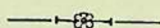
भा०—(इन्द्रः) इन्द्र, मुख्य सेनापति और (पूषा च) पुष्टि-कारक अन्न आदि सामग्री का प्राप्त कराने वाला, अथवा पोषक, सहायक सेना-पति दोनों (सर्वतः) सब प्रकार के (वर्त्मानि) मार्गों में (परि सस्रतुः) प्रयाण करें जिससे (अमूः) वे (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सेनाः) सेनाएं (परस्तराम्) सर्वथा (मुह्यन्तु) निराश होकर पछाड़ खावें और किसी भी रास्ते से आगे न बढ़ सकें ।

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः ।
तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥

भा०—हे (अमित्राः) शत्रुओ ! तुम लोग (मूढाः) मूढ, किंकर्तव्यविमूढ़ होकर, बिना मार्ग प्राप्त किये, भटकते हुए (अशीर्षाणः) बिना सिर के (अहयः इव) सर्पों के समान अन्धे होकर (चरत) विचरो, (अग्नि-मूढानाम्) हमारे अग्रणी सेनापति के प्रयाण से मोहित और मार्ग छोड़कर भटकते हुए (तेषां वः) उन तुम्हारे में से (इन्द्रः) वीर सेनापति राजा (वरं-वरं हन्तु) अच्छे अच्छे चुने वीर पुरुषों को मार डाले ।

एषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि ।
पराङमित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥ ३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! (एषु) इन वीर भटों में तू (वृषा) सब सुखों का वर्षक होकर (हरिणस्य) हरिण की (अजिनम्) खाल को (आ नह्य) कवचरूप में बन्धवा दे । इस प्रकार शत्रु के लिये (भियं कृधि) भय उत्पन्न कर । (अमित्रः) शत्रु लोग (पराङ्) परे (एषतु) भाग जांय । (गौः) पृथ्वी (अर्वाची) हमारे समीप, (उप-एषतु) हमें प्राप्त हो ।



[६८] केश-मुण्डन और नापितकर्म का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवता । १ । पुरोविराडतिशक्करीगर्भा चतुष्पदा जगती, २ अनुष्टुप्, ३ अतिजगतीगर्भा त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि ।
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ १ ॥

---

[६७] २–(प्र० द्वि) 'अन्धा अमित्रा भवताशीर्षाणोहय इव' (तृ०) 'अग्निनुन्नानाम्' इति साय० । 'शीर्षाणा अह–' (तृ०) अग्निदग्धानामग्निमूढानां' इति ऋ० ।

भा०—विद्वान् पुरुषों को नापित बनकर केश मूंडने का उपदेश करते हैं। यह (सविता) सूर्य जिस प्रकार तीक्ष्ण किरणों से काले अन्धकार को दूर कर देता है उसी प्रकार (अयम्) यह नापित (क्षुरेण) अपने छुरे से काले केशों को भी दूर कर देता है वही (अयम् आगन्) यह आता है। और हे (वायो) जिस प्रकार वायु मेघ द्वारा जल लाकर जंगल पर बरसाता है उसी प्रकार हे वायो! ज्ञानवन्! तू भी (उष्णेन उदकेन आ इहि) गरम जल के सहित यहां आ। और जिस प्रकार (आदित्याः) आदित्य, बारह मास, (रुद्राः) वायुगण, (वसवः) पृथिवी आदि पदार्थ सब जंगलों को हरा भरा कर देते हैं उसी प्रकार आप लोग (सचेतसः) एक चित्त और ज्ञानवान् होकर केशों को (उन्दन्तु) गीला करें और तब (प्रचेतसः) हे उत्कृष्ट ज्ञान वाले पुरुषों! (राज्ञः सोमस्य) सोम्य गुण वाले राजा के (वपत) केशों को छुरे से मूंड दो। अथवा (राज्ञः सोमस्य) सुन्दर सोम, शिष्य, बालक के केशों को मूंड दो।

उपनिषत् की परिभाषा में सोम राजा = जीव। उसके अज्ञान को दूर करने के लिये सविता आचार्य या परमात्मा तीक्ष्ण ज्ञानरूप क्षुर सहित उसको साक्षात् होता है। वायु प्राण उसको उष्ण जल से आर्द्र करता है मानों तपस्या और योग समाधि का उपदेश करता है, आदित्य, रुद्र, वसु ये विद्वान्गण साधारण जीव को उपदेश करते हैं और इस प्रकार सब विद्वान् उसके अज्ञान का नाश करते हैं।

अदि॑तिः श्मश्रु॑ वप॒त्वाप॑ उन्द॒न्तु वर्च॑सा।
चिकि॑त्सतु प्र॒जाप॑तिर्दी॒र्घायु॒त्वाय॒ चक्ष॑से ॥ २ ॥

भा०—(अदितिः) आदित्य = सूर्य जिस प्रकार अन्धकार को काट डालता है उसी प्रकार अदिति = अखण्ड, तीक्ष्ण छुरे की धार (श्मश्रु) सिर के बालों को (वपतु) काट दे। और ज्ञानी (आपः)

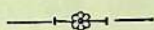
आप्त पुरुष जिस प्रकार (वर्चसा) तेज से हृदय को आर्द्र कर देते हैं उसी प्रकार (आपः) ये जल केशों को गीला कर दें। (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी परमात्मा जिस प्रकार सबको चक्षु देता और दीर्घ-जीवन देता है उसी प्रकार (प्रजापति:) नाई भी वैद्य के समान जर्राही द्वारा, अथवा फोड़ा फुंसी के रोग से बचाये रखने के लिये (चक्षसे) चक्षु की दर्शनशक्ति की वृद्धि और (दीर्घायुत्वाय) दीर्घजीवन के लिये (चिकित्सतु) रोग से बचाये रक्खे।

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥३॥

भा०—(सविता) सूर्य (येन) जिस प्रकार के (क्षुरेण) ज्योतिर्मय छुरे से (राज्ञः सोमस्य) राजा अर्थात् प्रकाशमान सोम अर्थात् चन्द्र के अन्धकार को (अवपत्) छिन्न भिन्न करता है और (विद्वान्) विद्यावान् आचार्य (येन क्षुरेण) जिस उपदेशमय क्षुर = उपदेश से और सञ्चय के उपाय से (वरुणस्य) राजा के अज्ञान को (अवपत्) छिन्न भिन्न करता है (तेन) उसी ज्ञान और ज्योतिर्मय उपदेश और प्रकाश के छुरे से, हे (ब्रह्माणः) ब्राह्मण, विद्वान् पुरुषो ! (अस्य) इस अपने शिष्य के (इदम्) इस अज्ञान अन्धकार को भी (वपत) छिन्न भिन्न करो। उसी के साथ २ छूरे से आरोग्य और दीर्घ जीवन के लिए बालों को भी काटा करो, जिससे (अयम्) यह राजा और शिष्य (गोमान्) गो = ज्ञानेन्द्रियों से युक्त और (अश्ववान्) अश्व = कर्मेन्द्रियों से युक्त और (प्रजावान्) उत्तम सन्तान से भी युक्त हो।

जिस प्रकार सूर्य चन्द्र अन्धकार को दूर करता है और उसमें ज्योतिर्मय धन का वितरण करता है या जिस प्रकार विद्वान् मन्त्री राजा के ऊपर के संकटों को दूर करता है और विशेष उपाय से सावधान होकर समृद्धि बढ़ाता है उसी प्रकार आचार्य ज्ञानद्वारा शिष्य के

अज्ञान को हटावे, छुरे से बालों को दूर करे, उसके ज्ञान आरोग्य और दीर्घ जीवन की वृद्धि करे ।



[६९] यश और तेज की प्रार्थना ।

वर्चस्कामो यशस्कामश्चाथर्वा ऋषिः । बृहस्पतिरुताश्विनौ देवता । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः ।
सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥ १ ॥

अथर्व ६ । १ । १८ ॥

भा०—(यद् यशः) जो यश, कीर्त्ति और धन (गिरौ) पर्वत में, (अरगराटेषु) अरगराट अर्थात् रथों या यन्त्रों से विचरने वाले शिल्पी लोगों में, (हिरण्ये) सुवर्ण में, और (गोषु) गाय बैलों में विद्यमान है और जो (मधु) मधुर रस (सिच्यमानायाम्) पात्रों में पड़नेवाली (सुरायाम्) सुरा = जलधारा में और (कीलाले) अन्न में है । (तत्) वह यश इस (मयि) मेरे आत्मा में विद्यमान हो ।

अरगराट = सायण के मत में (१) अराः रथचक्रावयवाः कीलकाः, तान् गिरति आत्मना संश्लेषयति इति अरगराः रथाः । तेन अटन्ति संचरन्तीति अरगराटाः रथिनः । (२) यद्वा अरा अरयः तान् गच्छन्ति इति अरगाः वीराः । तेषां राटाः जयघोषाः । अर्थात् अरगराट रथी या वीरों के जयघोष । क्षेमकरण के मत में–"अरस्य ज्ञानस्य गरेषु विज्ञाप-

१. क्षुरः—क्षु शब्दे इत्यस्माद् औणादिको रक् निपात्यते (उणा० २ । २८) अथवा क्षुर विलेखने (अदादिः) क्षुर सञ्चये (स्वदिः) इत्येताभ्यां पचाद्यच् । क्षुरः उपदेशः । विलेखनोपकरणं, लोमशातनोपकरणं वा छूरा इति प्रसिध्दम् । सञ्चयोपायो वा । इति दया० ।

केषु उटन्ति इति ।" अर्थात् गुरुओं के पास जाने वाले शिष्य । इस मतभेद में सायण ने लिखा है "व्युत्पत्त्यनवधारणाद् नावगृह्यते । साफ २ अर्थ नहीं खुलने से इसका अर्थ ठीक तरह से विदित नहीं होता । ग्रीफिथ के मत में अरगराट = घाटियां । अथवा—"अरम् अत्यर्थगर्गर् शब्देन अटन्ति इति अरगराटाः = महानदाः । अथवा अरघट्टाः जलयन्त्राणि, धान्यपेषणार्थं जलधारया प्रवर्त्तितं पेषणायन्त्रं 'घराट' इति प्रसिद्धं तादृशो वा अन्यो विद्युदादियन्त्रविशेषः ।

अर्थात्—खूब घर घर आवाज़ से चलनेवाले महानद व अरघट्ट वा जल द्वारा चलने वाली चक्कियां, मिलें वा बिजली के यन्त्र ।

आश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ २ ॥

अथर्व० ६ । १ । १६ ॥

भा०—(शुभस्पती) शुभ-उत्तम शोभा को पालन करने वाले (अश्विनौ) माता और पिता (सारघेण) मधुमक्षिका के तैयार किये हुए (मधुना) शहद से (मा) मुझे (अङ्क्तम्) आंजें, मुझे खिलावें (यथा) जिससे (जनान् अनु) समस्त लोगों के प्रति मैं बालक बड़ा होकर (भर्गस्वतीम्) दीप्ति, चमत्कार युक्त और ओजस्विनी (वाचम्) वाणी को (आवदानि) बोलूं ।

मां बाप बालकों को शहद खिलाया करें जिससे उनकी वाक्-शक्ति बढ़े और कफ आदि का नाश हो ।

मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत् पयः ।
तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥ ३ ॥ साम० १ । ६ । ३ ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमेश्वर जिस प्रकार (दिवि द्याम् इव) द्युलोक में सूर्य को दृढ़ता से स्थापित करता है उसी

प्रकार वह प्रजापति, पिता (मयि) मेरे शरीर में (वर्चः) तेज (यशः) बल और (यत्) जो (यज्ञस्य) यज्ञ = आत्मा का (पयः) सारभूत बल ज्ञान है (तत्) उसको (मयि) मेरे में धारण करावे ।

[७०] माता के प्रति उपदेश ।

कांकायन ऋषिः । अघ्न्या देवता । जगती । तृचं सूक्तम् ॥

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम् ॥ १ ॥

भा०—(अघ्न्ये) न मारने योग्य हे मातः ! (यथा) जिस प्रकार (मांसम्) मांस = उत्तम अन्न रस मनुष्यों के मनको लुभा लेता है और (यथा सुरा) जिस प्रकार सुरा = शुद्ध जल मनुष्य के मनको खैंच लेता है और (यथा अधि-देवने) जिस प्रकार संसाररूपी क्रीड़ा-क्षेत्र में (अक्षाः) इन्द्रियां, मनुष्य के मन को हरलेती हैं, और जिस प्रकार (वृषण्यतः) हृष्ट पुष्ट वीर्यवान् (पुंसः) ब्रह्मचारी पुरुष का (मनः) मन (स्त्रियाम्) स्त्री में (नि-हन्यते) विवाह के लिये रत या उत्सुक हो जाता है इसी प्रकार हे (अघ्न्ये) मातः ! (ते) तेरा (मनः) मन (अधि वत्से) अपने पुत्र पर (नि-हन्यताम्) लगा रहे ।

यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम ॥ २ ॥

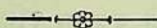
भा०—उसी विषय को और भी स्पष्ट करते हैं । (यथा) जिस

३-(तृ०) 'परमेष्ठी प्रजा-' इति साम० ।

प्रकार (हस्ती) हस्तक्रिया में कुशल, वर (हस्तिन्याः) हस्तक्रिया में कुशल, बधू के (पदेन) पैर के साथ अपना (पदम्) पांव (उद्-युजे) सप्तपदीविधि में उठाता है । (यथा पुंसः वृषण्यतः मनः स्त्रियां निहन्यते) और जिस प्रकार वीर्यवान् ब्रह्मचारी पुरुष का मन स्त्री पर रत होजाता है, (एवा अघ्न्ये ते मनः वत्से अधि निहन्यताम्) उसी प्रकार हे माता ! तेरा मन अपने पुत्र के साथ लगा रहे ।

यथा॑ प्र॒धिर्यथो॑प॒धिर्यथा॒ नभ्यं॑ प्र॒धावधि॑ ।
यथा॑ पुं॒सो वृ॑षण्य॒त स्त्रि॒यां नि॑ह॒न्यते॒ मनः॑ ।
ए॒वा ते॑ अघ्न्ये॒ मनोऽधि॑ व॒त्से नि ह॑न्यताम् ॥ ३ ॥

भा०—और भी उसी विषय को स्पष्ट करते हैं । (यथा) जिस प्रकार (प्रधिः) लोहे का हाल भीतरी लकड़ी के बने चक्र पर रहता है और (यथा) जिस प्रकार (उपधिः) लकड़ी का चक्र अरों द्वारा बीच के धुरे पर रहता है और (यथा) जिस प्रकार (नभ्यम्) बीच का धुरा (अधि प्रधौ) क्रम से अरों और लकड़ी के चक्र सहित हाल पर आ जाता है और (यथा वृषण्यतः पुंसः मनः स्त्रियां निहन्यताम्) जिस प्रकार वीर्यवान् ब्रह्मचारी पुरुष का मन स्त्री पर जमता है उसी प्रकार हे (अघ्न्ये ते मनः अधि वत्से निहन्यताम्) मातः ! तेरा मन अपने बच्चे पर लगा रहे ।



[७१] दुष्ट अन्न का त्याग और उत्तम अन्न आदि पदार्थों को ग्रहण करने का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्निर्देवता, ३ विश्वेदेवाः । १—२ जगत्यौ, ३ त्रिष्टुप् ।
तृचं सूक्तम् ॥

यद॑न्न॒मद्मि॑ बहु॒धा विरू॑पं॒ हिर॑ण्य॒मश्व॑मु॒त गाम॒जामवि॑म् ।
यदे॒व किं च॑ प्रति॑ज॒ग्रहा॒हम॒ग्निष्टद्धोता॒ सुहु॑तं कृणोतु ॥ १ ॥

भा०—(बहुधा) प्रायः (यत्) जो (अन्नम्) अन्न मैं (विरूपम्) नाना प्रकार का (अद्मि) खाता हूँ (हिरण्यम् अश्वम् उत गाम् अजाम् अविम्) और सोना, घोड़ा, गाय, बकरी और भेड़ और (यत् एव किं च) अन्य जो कुछ भी (अहम्) मैं (प्रति जग्रह) दूसरे से लेता हूँ, (तत्) उसको (होता अग्निः) देने वाला, सर्वप्रद परमेश्वर (सुहुतं कृणोतु) उत्तम आहुति के समान दान देने और स्वीकार करने योग्य बना दे ।

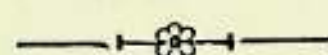
यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः ।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ २ ॥

भा०—(यत्) जो (हुतम्) श्रद्धापूर्वक दिया गया (अहुतम्) या श्रद्धापूर्वक न दिया गया और (पितृभिः) पालक पिता माता गुरु भाई आदि से (दत्तम्) दिया गया या (मनुष्यैः अनुमतम्) मनुष्यों, मननशील विद्वानों द्वारा अनुमत, स्वीकृत पदार्थ (आजगाम) मेरे पास आ गया हो और (यस्मात्) जिससे (मे मनः) मेरा मन (उद् रारजीति इव) ऊपर उठता हुआ, प्रसन्न सा होता हो (तत्) उसको (होता अग्निः) सर्व पदार्थों का दाता परमेश्वर (सुहुतं कृणोतु) उत्तम दान अर्थात् स्वीकार करने योग्य पदार्थ बना दे ।

यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि ।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ॥ ३ ॥

भा०—(देवाः) हे विद्वान् पुरुषो ! (दास्यन्) गृहस्थ में अन्न का दान करता हुआ (अनृतेन) खेती से अन्न को उत्पन्न करूं (यद् अन्नं अद्मि) जो मैं अन्न खाता हूँ (अदास्यन्) अथवा ब्रह्मचर्य या सन्यास आदि आश्रमों में अन्न का दान न करता हुआ भी जो अन्न मैं खाता हूं, (संगृणामि) तथा जो मैं प्रण, प्रतिज्ञा या व्रत करता हूं, (महतो

वैश्वानरस्य महिम्ना) महान् तथा सब नरों को हित करने वाले प्रभु की महिमा, कृपा से (अन्नम्) वह अन्न तथा व्रत आदि (मह्यम्) मेरे लिये (शिवं) कल्याणकारी तथा (मधुमत्) मधुर (अस्तु) हो।



[७२] प्रजनन अंगों की पूर्ण वृद्धि।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः। शेपोऽर्को देवता। १। जगती, २ अनुष्टुप्, ३ भुरिगनुष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु॥ १॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (असितः) बन्धनरहित आत्मा (असुरस्य) असुर, मन की (मायया) माया = निर्माण शक्ति या बुद्धि से (वपूंषि कृण्वन्) अपने देहों को रचता हुआ (वशान् अनु) अपने वश हुए अंगों को या प्राणों को देह में (प्रथयते) विस्तृत करता है, फैलाता है, प्रेरित करता है (एव) उसी प्रकार (अंगेन अङ्गम्) जिस प्रकार एक अंग से दूसरे अंग को समता प्राप्त है (अयम्) यह (अर्कः) आत्मा पुरुष (ते) तेरे (शेपः) ज्ञान सामर्थ्य या प्रजननाङ्ग को (सहसा) बल से (सं समकम्) ठीक ठीक अनुपात में (कृणोतु) करे।

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम्।
यावत् परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः॥ २॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पसः) पुरुष का प्रजननाङ्ग (वातेन) प्राण के बल से (स्थूलभं कृतम्) स्थूलरूप किया जाकर (तायादरम्) सन्तान उत्पादक अंग योनि भाग में प्रवेश योग्य हो जाता है। और (यावत्) जितना (परस्वतः) पूर्णता प्राप्त पुरुष का (पसः) प्रजननाङ्ग

होना चाहिये (तावत्) उतना हे पुरुष ! (ते पसः) तेरा प्रजनाङ्ग भी (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो ।

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत् ।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ ३ ॥

भा०—(यावत् अङ्गीनम्) जितने अंगों वाला शरीर (पारस्वतम्) पूर्ण पुरुष का होता है और (यत्) जितना (हास्तिनं गार्दभं च) हाथी का या गधे का अथवा (वाजिनः अश्वस्य यावत्) वेगवान्, बलवान् अश्व का अंग दृढ़, हृष्ट-पुष्ट, अमोघवीर्य होता है (तावत् ते पसः वर्धताम्) हे पुरुष ! उतना ही तेरा भी प्रजननांग पुष्ट हो ।

पं० ग्रीफिथ ने इस सूक्त को अश्लील समझ कर छोड़ दिया है । पं० क्षेमकरणजी ने इस सूक्त में 'शेपः' और 'पस' आदि शब्दों का अर्थ 'राष्ट्र' किया है । पर हमारी सम्मति में शरीर के जिस अंग से मानव सृष्टि उत्पन्न होती है उसके परिपक्व और पुष्ट होने का उपदेश करना कोई असंगत, अश्लील और अनुचित बात नहीं है । कइयों की सम्मति में 'तायादर' और 'परस्वान्' कोई विशेष पशु हैं । अतः उनके अंग की उपमा होना अनुचित नहीं ।

राष्ट्रपक्ष में—(२) (यथा तायादरं पसः) जितना पालने योग्य राष्ट्र (वातेन स्थूलभं कृतम्) यज्ञ द्वारा परस्पर संगति, संगठन द्वारा विशाल बना लिया जाय (यावत् पारस्वतः पसः) और जितना राष्ट्र पालन शक्ति से युक्त राजा का होना चाहिये (तावत्) उतना (ते पसः वर्धताम्) तेरा राष्ट्र भी बढ़े ।

(३) (यावद् अंगीनम्) जितने अंगों से युक्त (पारस्वतम्) वीर भटों का बना, (हास्तिनम्) हाथियों का (गार्दभम्) गधों खच्चरों का और (अश्वस्य वाजिनः) वेगवान् अश्वों का बना हुआ (पसः) राष्ट्रबल होना सम्भव है (तावत् ते वर्धताम्) उतना ही तेरा भी बढ़े ।

राजा के वीर्य के प्रतिनिधि राष्ट्र और सेनाबल हैं। शरीर में—यह हृष्ट-पुष्ट शरीर और हृष्ट-पुष्ट प्रजननेन्द्रिय हैं इसलिये वेद में दोनों का समान ही परिभाषा-शब्दों से वर्णन किया जाता है।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकादश सूक्तानि, ऋचश्च चतुस्त्रिंशत्]



[७३] एकचित्त होने का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः । सांमनस्यमुत मन्त्रोक्ता नाना देवताः । १, २ अनुष्टुप्, ३, त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु ।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः ॥१॥

भा०—(इह) इस प्रदेश में या राजसभा के स्थान में (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ वरुण, राजा (सोमः) सोम, शान्तस्वभाव (अग्निः) सबका अग्रणी और (बृहस्पतिः) वेदवाणी का पालक या बृहत् राष्ट्र का पालक राजा बनकर (आ यातु) आवे और (इह) यहां वह (वसुभिः) आठ वसु, प्रजा के प्रतिनिधि या विद्वान् अमात्यों सहित आवे। हे अमात्यो ! (सर्वे) तुम सब लोग (अस्य श्रियम्) इस राजा की श्री—लक्ष्मी, शोभा को (उप-सं-यात) स्वीकार करो, प्राप्त होओ। क्योंकि (उग्रस्य) उग्रस्वभाव, बलशाली, सदा न्यायपूर्वक दण्ड देने वाले (चेत्तुः) सबको चेताने वाले और स्वयं सावधान रहने वाले विवेकी राजा के (सं-मनसः) मनके साथ एक मन होकर रहते हुए (स-जाताः) एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न भाइयों के समान बन्धु होकर रहो।

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा ।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥२॥

भा०—राजा अपने सचिवों और अधीन शासकों के प्रति कहे, हे सचिवो और मेरे अधीन शासको ! (यः) जो (वः) तुम्हारा (शुष्मः) बल है और (या) जो (वः मनसि) तुम्हारे मन में और (हृदयेषु) हृदयों में (आकूतिः) प्रबल इच्छा या कामना (अन्तः प्रविष्टा) भीतर घर किये बैठी है (तान्) उन सब बलों को और आपलोगों की उन उन इच्छाओं को (घृतेन) अपने स्नेह, और तेज (हविषा) अन्न और आजीविका प्रदान द्वारा (सीवयामि) अपने साथ बाँधता हूँ । हे (स-जाताः) बन्धुओ ! (वः) तुम लोगों की (रमतिः) आनन्द विनोद और अनुकूल प्रवृत्ति या अनुग्रह (मयि अस्तु) मेरे ऊपर रहे ।

इहैव स्त मापं याताध्यस्मत् पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु ।
वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥३॥

भा०—हे अधीन मन्त्रियो ! और शासक लोगो ! (इह एव स्त) आप लोग मेरे इस राष्ट्र में ही रहो । (अस्मत् अधि मा अप यातम्) हम से परे, हमें छोड़कर तुम मत जाओ । (परस्तात्) नहीं तो अन्य स्थानों में (पूषा) राष्ट्र के पोषक मित्र राजा (वः) आपके लिये (अपथं कृणोतु) रास्ता न दे । (वास्तोष्पतिः) राजसभा के भवन का पालक (अनु) मेरे अनुकूल, मेरी अनुपस्थिति में (वः) आप लोगों को (जोहवीतु) पुनः पुनः हमारे कार्य के लिये आह्वान करे और आप लोगों की सम्मति लिया करे । हे (स-जाताः) बन्धुजनो ! हे भाइयो ! (वः) आप लोगों की (रमतिः) प्रवृत्ति (मयि अस्तु) मेरे प्रति ही झुकी रहे ।

राजा अपने अधीन लोगों को उनकी वृत्ति सदा देता रहे । इस प्रकार उनको सदा अपने साथ गांठे रहे । (२) उनको स्थिर रूप से रखकर अपने को छोड़कर न जाने दे । यदि द्वेषवश छोड़कर जावे तो मित्रवर्गों से उनका पर राष्ट्र में जाने का मार्ग न देने दे । राजसभा में

प्रथम अपने समक्ष उनसे कार्य ले, अपनी अनुपस्थिति में अपना प्रतिनिधि नियुक्त करे और वही मन्त्रियों से कार्य ले।



[७४] एकचित्त होकर रहने का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। सांमनस्यं देवता। १, २ अनुष्टुभौ, ३ त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥ १ ॥

भा०—हे लोगो! (वः) तुम लोगों के (तन्वः) शरीर परस्पर (सं पृच्यन्ताम्) एक दूसरे के प्रेम से मिला करें, आप लोग एक दूसरे का प्रेम से आलिङ्गन किया करो और (मनांसि सं) आपस में मन भी मिला करें। (व्रता उ सम्) कृषि, वाणिज्य आदि कर्म भी मिलकर हुआ करें। या एक दूसरे के व्यवसाय एक दूसरे के व्यवसाय के सहायक हों। (अयम्) यह (ब्रह्मणः पतिः) ब्रह्म, वेदवाणी का पालक प्रधान विद्वान् ब्राह्मण (सम् अजीगमत्) सदा जोड़े रक्खे और (भगः) ऐश्वर्यवान् धन सम्पत्ति का स्वामी राजा भी तुमको (सम् अजीगमत्) सदा मिलाये रक्खे।

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ २ ॥

भा०—(वः) आप लोगों के (मनसः) चित्त को (सं-ज्ञपनम्) उत्तम रीति से ज्ञान सम्पन्न करता हूं। (अथो) और (हृदः) हृदयों को (संज्ञपनम्) उत्तम ज्ञानवान् करता हूं। (अथो) और (भगस्य) ऐश्वर्यशील राजा का (यत्) जो (श्रान्तम्) परिश्रम है (तेन) उससे भी (वः) आप लोगों को (सं-ज्ञपयामि) अच्छी तरह से परिचित कराता हूं।

अर्थात् राजा के प्रतिनिधिगण प्रजा के चित्तों को शिक्षित करें, उनको राष्ट्र के हितों को विचारने का अवसर दें, हृदयों में एक दूसरे के प्रति सच्चे भाव उत्पन्न करें और प्रजाजन राजा के उत्तम भावों को जानें। इस प्रकार प्रजा शिक्षित, संगठित होकर राजा के अधीन रहे। मूर्ख और फुटैल प्रजा पर असत्य से राजा शासन न करें।

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः ।
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमान् जनान्त्संमनसस्कृधीह ॥ ३ ॥

भा० –(यथा) जिस प्रकार (आदित्याः) आदित्य, विद्वान् लोग (वसुभिः) राष्ट्रनिवासी प्रजाओं और (मरुद्भिः) वैश्य लोगों के साथ मिलकर (उग्राः) बलवान् होकर (अहृणीयमानाः) किसी से नहीं दबते हैं उसी प्रकार हे (त्रि-णामन्) तीन प्रकार की शक्तियों से प्रजा को वश करने वाले राजन्! तू भी (अहृणीयमानः) किसी से भी न दबता हुआ ही (इमान् जनान्) इन प्रजाजनों को (इह) इस राष्ट्र में (सं-मनसः कृधि) अपने अनुकूल एक चित्त वाले बनाये रख। कोई राजा अपनी प्रजा को अपने विपरीत रखकर उन पर शासन नहीं कर सकता।

त्रि-नामन् = तीनों शक्तियों से प्रजा को वश में करने वाला। तीन शक्तियां–प्रज्ञा, उत्साह और वीर्य अथवा अमात्य, कोश और दण्ड।



[७५] शत्रु को मार भगाने का उपदेश।

सपत्नक्षयकामः कबन्ध ऋषिः। मन्त्रोक्ता इन्द्रश्च देवताः। १–२ अनुष्टुभौ, ३ षट्पदा जगती। तृचं सूक्तम् ॥

निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति ।
नैर्बाध्येन हविषेन्द्र एनं पराशरीत् ॥ १ ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (यः) जो (सपत्नः) हमारे राष्ट्र पर हमारे बराबर अपना प्रभुत्व दिखाने वाला शत्रु (पृतन्यति) हम पर सेना द्वारा आक्रमण करता है। (अमुम्) उसको (ओकसः) हमारे घर से, देश से (निर्-नुद) निकाल डाल। हे इन्द्र, राजन् ! (एनम्) इस शत्रु को तो (नैर्बाध्येन हविषा) निर्बाध = बाधा से रहित हवि = आज्ञा और उपाय से (पराशरीत्) मार डाल। अर्थात् उक्त प्रकार के शत्रु को मार डालने की ऐसी आज्ञा और उपाय करे जिसमें कोई बाधा न डाल सके।

परमां तं परावतमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा।
यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ २ ॥

भा०—(वृत्रहा इन्द्रः) वृत्र—नगर को घेरने वाले शत्रु को मारने वाला इन्द्र = राजा सेनापति (तम्) उस शत्रु को (परमां परावतम्) खूब दूर तक (नुदतु) खदेड़ आवे। इतनी दूर तक खदेड़ दे कि (यतः) जहां से (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनन्त वर्षों तक (पुनः) फिर (न आयति) लौट कर न आवे।

एतु तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति।
एतु तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति
शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि ॥ ३ ॥

ऋ० ८। ३२। २२ प्र० द्वि० ॥

भा०—हमारे से मार भगाया हुआ शत्रु (तिस्रः परावतः अति एतु) तीन दूरस्थ सीमाओं को पार कर जाय। और (पञ्च जनान् अति एतु) पांचों प्रकार की प्रजाओं को लांघ जाय। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद इन पांचों प्रकार की प्रजा में भी स्थान न पा सके। (तिस्रः रोचना अति एतु) तीनों प्रकाशमान ज्योतियों से भी वंचित हो

अर्थात् वह न सूर्य का प्रकाश पा सके, न दीपक का और न चन्द्र का, प्रत्युत अंधेरी कोठड़ी में मारे भय के छिपा रहे । ऐसी जगह और ऐसी दुरवस्था में रहे कि (यतः) जहां से (पुनः) फिर (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनन्त वर्षों तक (यावत् दिवि सूर्यः) जब तक आकाश में यह सूर्य (असत्) विद्यमान है तब तक (न आयति) वह लौटकर न आवे ।



[७६] ब्राह्मणरूप सांतपन अग्नि का वर्णन ।

कबन्ध ऋषिः । सांतपनोऽग्निर्देवता । १, २, ४, अनुष्टुभः । ३ ककुम्मती अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे ।
संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ॥ १ ॥

भा० – ब्राह्मणरूप अग्नि का वर्णन करते हैं । (ये) जो लोग (एनम्) इस ब्राह्मणरूप सांतपन अग्नि के (परि षीदन्ति) चारों ओर बैठते हैं और उससे उपदेश लेते हैं और (चक्षसे) सम्यग् दर्शन के लिये (सम् आदधति) उस ब्राह्मण का उत्तम रीति से आधान करते हैं, उसकी प्रतिष्ठा करते हैं । साक्षात् (अग्निः) अग्नि = आग जिस प्रकार अपनी ज्वालाओं से प्रकाशित होता है उसी प्रकार वह भी (सं-प्र-इद्धः) उत्तम रीति से उत्कृष्ट ज्ञान से प्रकाशित होकर (हृदयाद् अधि) अपने शुद्ध अन्तःकरण से निकलने वाली (जिह्वाभिः) ज्ञानमय वाणियों से (उत् एतु) उदित हो, प्रकट हो, सबको ज्ञान का उपदेश करे ।

अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे ।
अद्धातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः ॥ २ ॥

भा०(सांतपनस्य) उत्तम तपस्याशील (अग्नेः) ज्ञानी ब्राह्मण के (पदम्) ज्ञान को (अहम्) मैं अपनी (आयुषे) आयु वृद्धि के लिए

(आरभे) प्राप्त करने का यत्न करूं। (यस्य) जिसके (आस्यतः) मुख से (उद् यन्तम्) उठते हुए (धूमम्) धूम के समान निकलते हुए उद्गार को (अद्धातिः) प्रत्यक्षदर्शी विद्वान् स्वयं (पश्यति) साक्षात् करता है।

"एष ह वै सान्तपनो अग्निर्यद् ब्राह्मणः । यस्य गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन-जातकर्म-नामकरण-निष्क्रमणान्नप्राशन-गोदान-चूड़ाकरणोपनयनाप्लावनाग्निहोत्रव्रतचर्यादीनि कृतानि भवन्ति स सान्तपनः । गो० पू० २ । ३ । धूमो वा अस्य अग्नेः श्रवो वयः । स हि एनम् श्रावयति श० ७ । ३ । १ । २ । अर्थात् गर्भाधान से लेकर व्रतचर्यादि तक संस्कारशील ब्राह्मण 'सान्तपन अग्नि' कहाता है, उसके ज्ञानोपदेश धूम हैं।

यो अस्य समिधं वेद क्षत्रियेण समाहिताम् ।
नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे ॥ ३ ॥

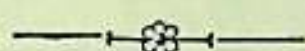
भा०—(यः) जो विद्वान् (अस्य) इस पूर्वोक्त अग्नि की (क्षत्रियेण) क्षत्रिय द्वारा (सम् आहिताम्) प्रतिष्ठित की हुई (समिधम्) समिधा को (वेद) जान लेता है (सः) वह (मृत्यवे) अपनी मौत के लिये (अभिह्वारम्) कुटिल मार्ग में (पदं न निदधाति) पैर नहीं रखता।

अर्थात् जो यह जानता है कि ब्राह्मणों की रक्षा और उनका उत्तेजन क्षत्रिय = राजा के द्वारा है वह ब्राह्मण के अपमान आदि अनुचित कार्य में पैर नहीं रखता। वैसा करने से राजा स्वयं ब्रह्मनिन्दक को दण्ड देता है।

नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति ।
अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे ॥ ४ ॥

भा०—(एनम्) पूर्वोक्त अग्निरूप विद्वान् निष्ठ ब्राह्मण के (पर्यायिणः) समीप आने वाले पुरुष भी (न घ्नन्ति) उसकी हिंसा नहीं

करते, क्योंकि वह भी (सन्नान्) समीप बैठों को (न अवगच्छति) कुछ नहीं कहता। (यः क्षत्रियः) जो क्षत्रिय होकर भी (विद्वान्) ज्ञानवान् होकर (अग्नेः) अग्रणी रूप ब्राह्मण का (नाम गृह्णाति) नाम उच्चारण करता है वह भी (आयुषे) उसके दीर्घ जीवन के लिये होता है। प्रसिद्ध विद्वान् का आश्रय लेकर क्षत्रिय भी चिरकाल तक विनष्ट नहीं होता।



[७७] ईश्वर से राजा की प्रार्थना।

कबन्ध ऋषिः। जातवेदो देवता। १—३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत्।
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम्॥ १॥

भा०—सर्वनियन्ता ईश्वर की शक्ति से (द्यौ अस्थात्) यह द्यौः आकाश समस्त तारों सहित स्थिर है, (पृथिवी) पृथिवी भी अपने स्थान में स्थिर है। (इदम्) यह (विश्वम्) समस्त (जगत्) जगत् भी (अस्थात्) स्थित, व्यवस्थित है। अपने अपने (आ स्थाने) स्थान में (पर्वताः अस्थुः) पर्वत भी स्थिर हैं, इसी प्रकार मैं अपने (अश्वान्) अश्वों के समान गमनशील व्यापक, विषयों तक पहुंचने वाले प्राणों को भी (स्थाम्नि) इस स्थिर देह में (अतिष्ठिपम्) व्यवस्थित करूं।

य उदानट् परायणं य उदानण्न्यायनम्।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे॥ २॥

(प्र० द्वि) ऋ० १०। १९। ५॥ (तृ० च०) ऋ० १०। १९। ४॥

[७७] २–(प्र०) य उदानड व्ययनं' (द्वि०) 'य उदानट् परायणम्' इति ऋ०। ऋग्वेदे मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा ऋषिः। आपो गावो वा देवता।

भा०—(यः) जो महान् आत्मा (परायणम्) परम स्थान, मोक्ष में (उद् आनट्) व्यापक है। और (यः) जो (न्यायनम्) नीचे के अयन, तामस लोकों को भी (उद् आनट्) उन्नत करता है और (यः) जो जीव के (आ-वर्त्तनम्) यहां आगमन और (निवर्त्तनम्) यहां से गमन, मुक्ति इन दोनों को वश करता है। ऐसा जो (गोपाः) लोकों का पालक है (तम् अपि हुवे) उसको भी मैं स्मरण करता हूँ।

जातवेदो नि वर्तये शतं ते सन्त्वावृतः।
सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥ ३ ॥

(द्वि० तृ०) यजु० १२। ८। ऋ० १०। १९। ५॥

भा०—हे (जात-वेदः) सर्वज्ञ सर्वव्यपाक ईश्वर ! (ते) तेरे रचे हुए (शतम्) सैकड़ों (आ-वृतः) आवरण, देह, व्यवस्थाएं हैं। तो भी हमें (नि वर्त्तय) उन सब बंधनों से दूर कर। (ते उप-आवृतः सहस्रम्) तेरे बनाए कर्मबन्धन भी असंख्य हैं (ताभिः) उनसे (नः) हमें (पुनः) फिर (आ कृधि) अपने को ही साक्षात् करने में समर्थ कर।



[७८] स्त्री पुरुष का परस्पर व्यवहार।

अथर्वा ऋषिः। चन्द्रमास्त्वष्टा देवता। १-३ अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः।
जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम् ॥ १ ॥

भा०—(तेन) उस (भूतेन) प्रभूत, प्रचुर, परिपक्व (हविषा) अन्न से (अयम्) यह पति (पुनः) बार बार (आप्यायताम्) पुष्ट हो और (याम्) जिस (जायाम्) स्त्री का (अस्मै) इस पुरुष के

३-'पुनर्नो नष्टमाकृधि', 'पुनर्नो रयिमाकृधि' इति यजु०।

साथ (आ-आवाक्षुः) विवाह किया है (ताम्) उसको भी (रसेन) रस, पोषक पदार्थ से (अभि वर्धताम्) पुष्ट करे । पति अपनी स्त्री को भी वही पुष्टिकारक अन्न खिलावे जिससे वह स्वयं पुष्ट होता है ।

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् ।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥ २ ॥

भा०—मनुष्य (पयसा) पुष्टिकारक पदार्थ से (अभिवर्धताम्) बढ़े और (राष्ट्रेण) राष्ट्र से भी बढ़े । (इमौ) ये दोनों स्त्री और पुरुष (सहस्र-वर्चसा) सहस्रों प्रकार के बल देने वाले (रय्या) धन द्वारा (अनुपक्षितौ) कभी दरिद्र न (स्ताम्) हों ।

त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम् ।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥

भा०—(त्वष्टा) परमात्मा (जायाम्) पुत्र उत्पन्न करने वाली स्त्री को उत्पन्न करता है । और (अस्यै) इस स्त्री के लिए हे पुरुष ! (त्वष्टा) त्वष्टा, परमात्मा ही (त्वां पतिम्) तुझ पति को भी उत्पन्न करता है । (त्वष्टा) परमात्मा ही (वाम्) तुझ दोनों का (सहस्रम्) हजारों (आयूंषि) वर्षों तक का (दीर्घम्-आयुः) दीर्घ जीवन (कृणोतु) करे ।



[७९] प्रचुर अन्न की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । संस्फानो देवता । १,२ गायत्र्यौ, ३ त्रिपदा प्राजापत्या जगती । तृचं सूक्तम् ॥

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु । असमातिं गृहेषु नः ॥ १ ॥

भा०—(अयम्) यह ही प्रत्यक्ष सूर्य, मेघ या वायु (सं-स्फानः) अन्न को बढ़ाने वाला (नभसः) अन्तरिक्ष या वर्ष के प्रथम मास

श्रावण का पति, पालक है। वह (नः) हमारी (अभि रक्षतु) सब प्रकार से रक्षा करे। और (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (असमातिम्) इतनी अन्न आदि की समृद्धि प्रदान करे जो समा भी न सके।

त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय। आ पुष्टमेत्वा वसु ॥२॥

भा०—हे (नभसः पते) नभ, अन्तरिक्ष के स्वामिन्! (त्वम्) तू (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (ऊर्जम्) पुष्टिकारक अन्न को (धारय) भर। और (पुष्टम्) हृष्ट पुष्ट, (वसु) सम्पन्न धन प्राप्त करा।

देव संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे। तस्य नो रास्व
तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥ ३ ॥

भा०—हे (देव) प्रकाशस्वरूप (संस्फान) अन्न के वृद्धिकारक! तू (सहस्र-पोषस्य) हजारों जीवन के पोषण करने में समर्थ धनधान्य का (ईशिषे) स्वामी है। (तस्य) उसे (नः) हमें भी (रास्व) प्रदान कर और (नः) हमें (तस्य) वही (धेहि) दे। (ते) तेरे (तस्य) उसी अपरिमित धन के हम भी (भक्तिवांसः स्याम) भागी हों।



[८०] कालकञ्ज नक्षत्रों के दृष्टान्त से प्राणों का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। चन्द्रमा देवता। १ भुरिग् अनुष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३ प्रस्तार पंक्तिः। तृचं सूक्तम् ॥

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत्।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ १ ॥

ऋ० १० । १३६ । ४ प्र०, द्वि० ॥

भा०—दिव्य श्वा के दृष्टान्त से प्राण का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार दिव्य श्वा (अन्तरिक्षेण पतति) अन्तरिक्ष मार्ग से गमन

करता है उसी प्रकार यह दिव्य श्वा—देव इन्द्रियों के लिये हितकारी प्राणमय आत्मा अन्तरिक्ष = देह के भीतरी भाग में गति कर रहा है। और जिस प्रकार वह (विश्वा भूता) समस्त नक्षत्रों में (अव-चाकशत्) अधिक प्रकाशमान् है उसी प्रकार यह प्राणमय आत्मा (विश्वा भूता) समस्त पञ्चभूत के विकार तन्मात्र इन्द्रियों और समस्त जीवों को प्रकाशित करता है, जीवित चैतन्य बना देता है। उस (दिव्यस्य) दिव्य, क्रीड़नकारी, तेजोमय (शुनः) चेतनामय गतिशील प्राणमय आत्मा का (यत् महः) तो चेतनास्वरूप तेज है, हे अग्ने ! आत्मन् ! (तेन हविषा) उस अन्न जीवन रूप शक्ति से (ते विधेम) तेरी अर्चना करें, तेरा ज्ञान करें।

ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवाइव श्रिताः ।
तान्त्सर्वानह्व ऊतयेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥

भा०—(ये) जो (त्रयः) तीन (कालकाञ्जाः) नामक तारे, कालकाञ्ज मृगशिरा नक्षत्र मण्डल में (दिवि) द्युलोक, आकाश में (श्रिताः) आश्रय पाये हुए हैं। वे (देवाः इव) इस मूर्धास्थल शिरोभाग में विदयमान तीन प्राणों की शक्तियों अर्थात् चक्षु, वाणी और श्रोत्र के समान हैं। इसी प्रकार आत्मा में और भी प्राण गुंथे हुए हैं। वे सब भी कालकाञ्ज अर्थात् कलना, चेतनाशील कञ्ज पद्म = सहस्रकमल रूप मूर्धागत मस्तिष्क शक्ति के पुत्रवत् हैं (तान् सर्वान्) उन सबको (अस्मै) इस पुरुषस्वरूप आत्मा के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये और (ऊतये) रक्षा के लिये (अह्वे) पुकारता हूँ, उनका उपदेश करता हूँ।

मृगशिरा नक्षत्र मंडल, कालपुरुष मण्डल भी कहाता है। उसके बीच के तीन तारे कालकाञ्ज कहाते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में—"कालकञ्जा वै नामासुरा आसन्। ते सुवर्गाय लोकाय अग्निमचिन्वत" इत्यादि आख्यायिका में लिखा है—

स इन्द्र इष्टकामावृहत् । ते अवाकीर्यन्त । य अवाकीर्यन्त त ऊर्णनाभयोऽभवन् । द्वावुदपतताम् । तौ दिव्यौ श्वानावभवताम् ॥ इत्यादि ऐतिह्य सृष्टि-क्रम के सिद्धान्त को स्पष्ट करता हुआ अध्यात्म में पंच प्राणों को स्पष्ट करता है । अर्थात् काल पुरुष मण्डल के मृगशिरा भाग में तीनों तारे कालकञ्ज हैं, उनमें से बहुत से तारे एक नेबुला या मूल मेघ या या नीहारिका से आवृत हैं । जिनको तैत्तिरीय ब्राह्मण के शब्दों में 'ऊर्णनाभि' शब्द से कहा है और उनमें दो 'श्वा' एक 'कैनिस मेजर' और दूसरा 'कैनिस माइनर' सब मिलकर 'कालकाञ्ज' कहलाते हैं । उसी प्रकार अध्यात्म में शिरो भाग में या इस काल = चेतनमय देह में कान, आंख, मुख ये तीन 'कालकाञ्ज' हैं और इसके साथ दोनों प्राण दो श्वान हैं ।

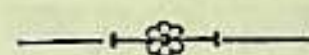
अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम् ।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! (अप्सु) समस्त संसार के मूल कारणरूप नीहारिकाओं में से (ते जन्म) तेरा जन्म हुआ है और (दिवि) द्युलोक में (ते) तेरी (सधस्थम्) अन्य तेरे जैसे सहस्रों प्रकाशमान पिण्डों के साथ स्थिति है । और तू (समुद्रे अन्तः) इस विशाल आकाश के भीतर है । और (ते महिमा) तेरी महिमा, विशाल कार्यक्षमता (पृथिव्याम्) पृथिवी पर प्रकट होती है । वास्तव में (दिव्यस्य) दिव्य आकाशस्थ (शुनः) श्वा = 'कैनिस मेजर' का (यत् महः) जो नील प्रखर तीव्र प्रकाश है (तेन हविषा) उस रूप से हम (ते विधेम) तेरे रूप को भी जानते हैं ।

यह बात वेद ने बड़े महत्व की बतलाई है । इस पृथिवी का यह सूर्य, आकाश के अति प्रकाशवान् व्याध तारे के समान ही है । उसका भी नीला तेज ही है । वैज्ञानिकों का मत है कि पृथिवी तथा सूर्य के

निजी वातावरण के कारण सूर्य पीला दीखता है वास्तविक रूप उज्वल नील है ।

अध्यात्म में—अग्निस्वरूप आत्मा आप: = प्राणों के भीतर लिपटकर या जलों में जीवन ग्रहण करता है । प्राणों इन्द्रियों के बीच में रहता है, इस हृदय-समुद्र में व्यापक होकर भी पृथिवी = पार्थिव देह में अपनी चेतनामय महिमा को प्रकट करता है । दिव्य 'श्वा' = मुख्य प्राण की शक्ति अहंकार से हम उस आत्मा की अचना करते हैं । इस सूक्त का रहस्य देखो कौषीतकी उपनिषत् अ० ३ ।



[८१] पति पत्नी का पाणि-ग्रहण, सन्तानोत्पादन कर्त्तव्यों का उपदेश।

त्वष्टा ऋषि: । मन्त्रोक्ता उत आदित्यो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ।

यन्तासि यच्छसे यस्तावप रक्षांसि सेधसि ।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ॥ १ ॥

भा०—पत्नी कहती है—हे पते ! (यन्ता असि) तू यन्ता, नियामक अर्थात् अपने आपको नियमों में रखने वाला है । (हस्तौ) तू अपने हाथों का सहारा (यच्छसे) मुझे देता है । (रक्षांसि) हमारे गृहस्थ के विघ्नकारी पुरुषों को (अप सेधसि) दूर करता है । इसी कार्य से (अयम्) यह मेरा पति (परिहस्तः) मुझे अपने हाथ का सहारा देने वाला होकर (प्रजाम्) मेरी भावी सन्तान और (धनं च) धन को (गृह्णानः) स्वीकार करने का अधिकारी (अभूत्) हो ।

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे ।
मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे ॥ २ ॥

भा०—(परि-हस्त) जाया या पत्नी का हस्त ग्रहण करने वाले हे पते ! तू (योनिम्) पुत्रों को उत्पन्न करने वाली स्त्री का (गर्भाय)

गर्भगत सन्तान के (धातवे) धारण कराने और पोषण करने के लिये (वि धारय) विशेष रूप से पालन कर । पति अपनी पत्नी को आज्ञा देता है कि (हे मर्यादे) मर्यादा में रहने वाली वा 'मर्य' पुरुष को अपनाने वाली, पत्नि ! तू (पुत्रम्) पुत्र को (आधेहि) धारण कर । (तम्) और उस पुत्र को (आगमे) मेरे सहवास में (आगमय) उत्पन्न कर अथवा (तम् आगमे आगमय) उस पुत्र को आगम अर्थात् उत्पन्न होने के उचित अवसर पर, जब शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्ति उत्पन्न करने की आज्ञा दे तब उत्पन्न कर ।

यं परिहस्तमबिभरददितिः पुत्रकाम्या ।

त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ॥ ३ ॥

भा०—(अदितिः) अखण्डित, ब्रह्मचारिणी स्त्री (पुत्रकाम्या) पुत्र की अभिलाषा वाली होकर (परिहस्तम्) निज पाणिग्रहण करने वाले जिस पति को (अबिभः) धारण करती है (तम्) उसको (अस्याः) इस पत्नी के संग (त्वष्टा) परमात्मा (इति) इसलिये (आ बध्नात्) सब प्रकार से बांधता है कि (यथा) जिससे यह स्त्री (पुत्रं जनात्) पुत्र उत्पन्न करे ।



[८२] वर-वरण का उपदेश ।

जायाकामो भग ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः ।

इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः ॥ १ ॥

भा०—विवाह करने वाले वर का स्वागत करने का उपदेश करते हैं । हे विद्वान्, योग्य पुरुषो ! (आ गच्छतः) आते हुए (आ गतस्य) या कन्या को प्राप्त करने के लिये द्वार पर आये

हुए वर के (नाम) नाम को (गृह्णामि) मैं लेता हूँ, स्पष्ट रूप से सबके सामने उच्चारण करता हूं जिससे आप लोग सब जान जायँ कि मैं अपनी कन्या का विवाह कितने उत्तम पुरुष से कर रहा हूं। और (आयतः) आये हुए (वृत्रघ्नः) विघ्नों के नाशक, (वासवस्य) धन, ऐश्वर्य के स्वामी (शतक्रतोः) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्मों के साधक, विद्वान् क्रियाशील (इन्द्रस्य) इन्द्र अर्थात् राजा के समान प्रतिष्ठाशील पुरुष को अपनी कन्या के लिये (वन्वे) वरता हूं स्वीकार करता हूं।

येन सूर्यां सावित्रीमश्विनोहतुः पथा ।
तेन मामब्रवीद् भगो जायामा वहतादिति ॥ २ ॥

भा०—(अश्विनौ) दिन और रात (येन पथा) जिस मार्ग से, जिस विधि से (सावित्रीं सूर्याम्) प्रकाश उत्पन्न करने वाली प्रभा को (ऊहतुः) बड़े आदर से समस्त विश्व में फैलाते हैं उसी प्रकार (अश्विना) वर के माता पिता (सावित्रीम्) पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ नवयुवती, नवोढा कन्या को उसी मान आदर से (ऊहतुः) अपने घर लेजावें। इसलिये वर कहता है कि (भगः) ऐश्वर्यवान् मेरा पिता (माम् इति अब्रवीत्) मुझे यह उपदेश करता है कि (जायाम्) अपनी स्त्री को भी (तेन) उसी आदर से (आ वहतात्) रथ पर बैठाकर लेजाओ। इस विवाह प्रकरण का विशेष विवरण (ऋ० मं० १० । सू० २५) में देखो। उसका विवरण (ऐ० ब्रा० ४ । ७) में स्पष्ट है।

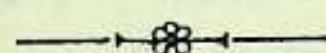
यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः ।
तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (यः) जो (ते) तेरा (अंकुशः) अंकुश, शासन (वसुदानः) बहुत धन वितरण करने वाला (हिरण्ययः)

सुवर्णमय (बृहन्) बहुत बड़ा है हे (शचीपते) समस्त शक्तियों के स्वामिन् ! (तेन) उसी अंकुश या शासन से (जनीयते) पुत्रोत्पादन करने योग्य पत्नी की कामना करने वाले (मह्यम्) मुझे (जायाम् धेहि) जाया, स्त्री का प्रदान कर ।

॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि ऋचश्चैकत्रिंशत् ।]



[८३] अपची या गण्डमाला रोग की चिकित्सा ।

अंगिरा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवता । १-३ अनुष्टुप्, ४ एकावसाना द्विपदा निचृद् आर्ची अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव ।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोपोच्छतु ॥ १ ॥

भा०—गण्डमाला की चिकित्सा का उपदेश करते हैं । हे (अपचितः) गण्डमाला अर्थात् अपची के पके फोड़ो ! (वसतेः) अपने वास-स्थान से (सुपर्णः इव) पक्षी श्येन के समान (प्र पतत) शीघ्र ही विनष्ट हो जाओ । (सूर्यः) सूर्य (भेषजम्) चिकित्सा (कृणोतु) करे । (वा) अथवा (चन्द्रमाः) चन्द्र (अप उच्छतु) उनको दूर करे सूर्य की किरणों से या चन्द्र की किरणों से गण्डमाला की चिकित्सा करनी चाहिये ।

नीले रंग की बोतल से रक्तविकार के विस्फोटक दूर होते हैं । यही प्रभाव चन्द्रालोक का भी है । रात्रि के चन्द्रातप में पड़े, जल से प्रातः विस्फोटकों को धोने से उनकी जलन शान्त होती और विष नाश होजाता है । यह लेखक का निजी अनुभव है ।

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे ।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥ २ ॥

भा०—उक्त गण्डमालाओं में से (एका) एक (एनी) हलकी लाल श्वेत रंग की स्फोटमाला होती है और (एका) दूसरी एक (श्येनी) श्वेत फुन्सी वाली होती है। (एका) तीसरी एक (कृष्णा) काली फुन्सियों वाली होती है । और (द्वे) दो प्रकार की (रोहिणी) लाल रंग की होती हैं । उनको क्रम से ऐनी, श्येनी कृष्णा और रोहिणी नाम से कहा जाता है । इस प्रकार (अहम्) मैं (सर्वासाम्) इन सबके (नाम) नाम और लक्षणों का अथवा इनके नमन या दमन या वश करने के उपाय का (अग्रभम्) उपदेश करता हूँ । जिससे ये (अवीरघ्नीः) पुरुष का जीवन विनाश किये बिना ही (अपेतन) दूर होजाया करें ।

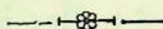
असूतिका रामायण्यऽपचित् प्र पतिष्यति ।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥ ३ ॥

भा०—(असूतिका) जो गण्डमाला पीप पैदा नहीं करती, वह (रामायणी) रामा = रक्तनाड़ी में ही छिपी रहती है, ऐसी (अपचित्) अपची या गण्डमाला भी पूर्वोक्त उपचार से (प्र पतिष्यति) विनष्ट हो जायेगी । (इतः) इस स्थान से (ग्लौः) व्रण की पीड़ा भी (प्र पतिष्यति) विनष्ट हो जायेगी । (सः) वह (गलुन्तः) गलने से, परिपक्व होजाने से (नशिष्यति) विनष्ट हो जायेगी ।

वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि ॥ ४ ॥

भा०—हे पुरुष ! रोगिन् ! तू (स्वाम्) अपनी (आहुतिम्) भोजन सामग्री को (मनसा जुषाणः) अपने मन से प्रेम करता हुआ (वीहि) खाया कर । (यद्) जो कुछ भी (इदम्) यह कटु ओषधि भी (जुहोमि) मैं तुझे दूं उसको (मनसा) मनसे (स्वाहा) उत्तम जानकर सेवन कर तभी रोग नष्ट होगा और खाये हुए औषध और अन्न का फल होगा । अथवा (मनसा) मननपूर्वक भोजन करो और जो

मैं ईश्वर (जुहोमि) तुम लोगों को देता हूं। उसको भी मननपूर्वक (स्वाहा) स्वीकार करो। अविवेक से किसी पदार्थ को न खाओ और न उपयोग में लो।



[८४] आपत्ति और कष्टों के पापों से मुक्त होने की प्रार्थना।

अङ्गिरा ऋषिः। निर्ऋतिर्देवता। १ भुरिक्-जगती, २ त्रिपदा आर्ची बृहती, ३ जगती, ४ भुरिक् त्रिष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

यस्या॑स्त आ॒सनि॑ घो॒रे जु॒होम्ये॒षां ब॒द्धाना॑मव॒सर्ज॑नाय॒ कम्।
भूमि॒रिति॑ त्वाभि॒प्रम॑न्वते॒ जना॒ निर्ऋ॑ति॒रिति॑ त्वा॒हं परि॑ वेद
स॒र्वतः॑॥ १॥ यजु० १२। ६४॥

भा०—हे निर्ऋते! पापमय, असत्यमय, आलस्यमय प्रवृत्ति! (यस्याः ते) जिस तेरे (घोरे आसनि) घोर मुख में (एषाम्) इन (बद्धानाम्) विषयों में बंधी हुई इन्द्रियों के (अव-सर्जनाय) सुखपूर्वक विचरण के लिये (जुहोमि) अपने आपको आहुति कर देता हूं। उस (त्वा) तुझको (जनाः) प्राणी लोग (भूतिःइति) अपने जीवन का आश्रय, सुख-भूमि रूप से (अभि-प्रमन्वते) मानते हैं, परन्तु (अहम्) मैं ज्ञानवान् पुरुष तो (त्वा) तुझको (सर्वतः) सब प्रकार से (निर्ऋतिः) आनन्दरहित, निःसुख, कष्टकारिणी ही (परि वेद) जानता हूं।

दुनियां इन्द्रियों के विषय-सुखों को जीवन का आश्रय समझती है परन्तु आत्मज्ञानी विषयसुखों को ही 'हेय' पदार्थ समझता है। निर्ऋतिर्निरमणात् (निरु०)।

भूते॑ ह॒विष्म॑ती भवै॒ष ते॑ भा॒गो यो अ॒स्मासु॑।
मु॒ञ्चेमान॒मूनेन॑सः॒ स्वाहा॑॥ २॥

१-(प्र०) 'घोर आसन् इति यजु०। (द्वि०) 'बन्धानाम्' यजु०।

भा०—हे (भूते) संभूते ! आत्मा के देह में उत्पन्न होने के कारण-रूप ! तू (हविष्मती) हवि अर्थात् अन्न, व भोग्य पदार्थों से सम्पन्न (भव) हो । (एषः) यही (ते) तेरा (भागः) भाग = सेवन करने योग्य यथार्थ है (यः) जो (अस्मासु) हम प्राणियों में विद्यमान है (इमान्) इन इहलोक के वासी और (अमून्) उन; उस लोक में शरीर छोड़कर जाने वाले सब जीवों को (एनसः) पाप से (मुञ्च) मुक्त कर, (स्वाहा) हमारी यही उत्तम प्रार्थना है । प्राणी उत्पन्न हों तो उनको उत्तम अन्न आदि भोग्य पदार्थ प्राप्त हों । और वे सब जीव कुप्रवृत्ति से मुक्त होकर पाप से दूर रहें ।

एवो ष्व१स्मन्निर्ऋतेऽनेहा त्वमयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥
अथर्व० ६ । ६३ । २ (द्वि० तृ० च०)

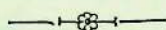
भा०—हे (निर्ऋते) दुष्प्रवृत्ते ज्ञानशून्ये ! अविद्ये ! दुःखकारिणि ! (अनेहा) निश्चेष्ट अथवा आघातरहित होकर (एव उ) ही (त्वम्) तू हमारे (अयः-मयान्) आवागमन के बने हुए, मानो लोहे से बने (बन्धपाशान्) कर्मबन्धन के फन्दों को (अस्मत्) हमसे (विचृत) खोल दे, दूर कर । (यमः) सर्वनियन्ता प्रभु (पुनः इत्) फिर भी (त्वा) तुझको (मह्यम्) भोगनिमित्त मुझे (ददाति) प्रदान करता है । मैं (तस्मै) उस (यमाय) सर्वनियन्ता को (नमः) नमस्कार करता हूँ (मृत्यवे) जो देह को आत्मा से और आत्मा को बन्धनों से मुक्त करता है ।

भोगापवर्गार्थं दृश्यम् । सांख्य० । प्रकृति का बना संसार 'भोग' के लिये है और यही तत्त्वज्ञानी के लिये 'अपवर्ग' का कारण होता है ।

(तृ० च०) 'ये त्वाजनो भूमिरिति प्रमदन्ते निर्ऋतिं त्वाह परिवेद विश्वतः' इति यजु० ।

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

भा०—व्याख्या देखो ६ । ६३ ।



[८५] यक्ष्मा रोग की चिकित्सा ।

अथर्वाऋषिर्यक्ष्मनाशनकामः । वनस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ १ ॥

अथर्व० १० । ३ । ५ ॥

भा०—यक्ष्मा रोग के नाश का उपदेश करते हैं । (अयम्) यह (वरणः) वरण नाम का (देवः) दिव्यगुण वाला (वनस्पतिः) वृक्ष (वारयाते) बहुत से दोषों को नाश करता है । (अस्मिन्) इस पुरुष में (यः) जो (यक्ष्मः) रोगकारी कीटाणु (आविष्टः) प्रवेश कर गये हैं (तम् उ) उनको भी (देवाः) विद्वान् लोग (अवीवरन्) वरण नामक औषध के बल से ही दूर करदें । वरण = वरुण = जीरक, इसके तीन भेद हैं । शुक्ल जीरक, कृष्ण जीरक और बृहत्पाली । जिन में बृहत्पाली जीर्ण ज्वर का भी नाशक है । कृमिघ्न तो सभी हैं वरुण तमाल वृक्ष का भी नाम है । वह सुगन्ध होने से कदाचित् यक्ष्म दोष को दूर करने में सहायक हो ।

इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च ।
देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे ॥ २ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) सूर्य (मित्रस्य) मरण से त्राण = रक्षा करने वाली शुद्ध वायु और (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ और व्यापक विद्युत् सम्बन्धी (वचसा) उत्तम उपदेशों द्वारा और (सर्वेषां देवानाम्) समस्त देव

विद्वानों की वाणी, सत् शिक्षा से हम (ते यक्ष्मम्) तेरे राजरोग को भी (वारयामहे) दूर करें।

यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः।
एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (वृत्रः) मेघ (विश्वधा यतीः) सब ओर बहने वाले (इमाः आपः) इन जलों को (तस्तम्भ) अपने भीतर रोक रखता है उसी प्रकार वैद्य रोगी की धातुओं को क्षीण होने से रोके और (एव) इस प्रकार (वैश्वानरेण) सब मनुष्यों के हित-कारी (अग्निना) अग्नि से (ते यक्ष्मम्) तेरे राज-रोग को (वारये) दूर करूं।

[८६] सर्वश्रेष्ठ होने का उपदेश !

वृषकामोऽथर्वा ऋषिः। एकवृषो देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम्।
वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥ १ ॥

भा०—सबसे श्रेष्ठ होने के लिए वेद उपदेश करता है। हे पुरुष ! (इन्द्रस्य) उस परम ऐश्वर्य से तू भी (वृषा) सब काम्य सुखों का वर्षक (भव) हो। (दिवः) 'द्यौः' अर्थात् सूर्य के तेज से जिस प्रकार मेघ पानी बरसाता है उसी प्रकार तू भी तेज से युक्त होकर (वृषा भव) सब पर सुखों की वर्षा करने वाला हो। (अयम्) यह मेघ (पृथिव्याः वृषा) पृथिवी पर जिस प्रकार सब वृष्टियां करता और अन्न उत्पन्न करता है उसी प्रकार तू भी सब पदार्थ दूसरों पर न्योछावर करके उनके सुखों को उत्पन्न कर। (विश्वस्य भूतस्य वृषा) समस्त चर अचर प्राणियों के लिए सुखों का वर्षक होकर हे पुरुष ! (त्वम्) तू भी (एक-वृषःभव) एकमात्र सर्वश्रेष्ठ हो।

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी ।
चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार (स्रवताम्) बहने वाले जलों, नदी-नालों को (समुद्रः) समुद्र ही (ईशे) वश करता है, जिस प्रकार (पृथिव्याः) पृथिवी के तल पर होने वाली सब वनस्पतियों को (अग्निः) अग्नि, उन्हें भस्म करने वाला होने के कारण (वशी) उन्हें वश किये हुए है, और जिस प्रकार (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों में से (चन्द्रमाः ईशे) चन्द्र ही अपने तेज से सबके प्रकाशों को दबा लेता है, उसी प्रकार हे पुरुष ! तू समस्त प्रजाजनों के बीच में (एक-वृषः) एकमात्र सर्वश्रेष्ठ (भव) हो, होने का यत्न कर ।

सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् ।
देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥ ३ ॥

भा०—हे उत्तम पुरुष ! तू (असुराणाम्) बलवान् पुरुषों का भी (सम्राट् असि) सम्राट् है । (मनुष्याणाम्) साधारण मनुष्यों अथवा मननशील पुरुषों में भी (ककुत्) सबके ऊपर विराजमान है । (देवानाम्) दिव्य शक्तियों के धारण करने वाले विज्ञानी पुरुषों में (अर्धभाक् असि) श्रेष्ठ पद को पाने वाला है । अतः (त्वम्) तू ही (एकवृषः भव) एकमात्र सर्वश्रेष्ठ हो ।



[८७] राजा को स्थायी और दृढ़ शासक होने का उपदेश ॥

अथर्वा ऋषिः । ध्रुवो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।

[८७] १–'अन्तरेधि' (द्वि०) 'चाचलिः' इति ऋ० (च०) 'अस्मिन्

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७३ । १ ॥

भा०—राजा को प्रजा का स्थायी शासक होने का उपदेश करते हैं। हे राजन्! मैं समस्त प्रजाजनों का प्रतिनिधि, पुरोहित (त्वा) तुझको (आहार्षम्) यहां राजसभा के मुख्य पद पर लाता हूं। तू (अन्तः अभूः) हम सब के बीच में शक्तिमान् होकर रह। तू (ध्रुवः) स्थिर अवि-चाचलत्) कभी भी प्रलोभन, भय और स्वार्थ के झंकोरों से भी न डिगता हुआ (तिष्ठ) इस आसन, राज्य-सिंहासन पर बैठ। (त्वा) तुझको (सर्वाः विशः) समस्त नगर में बसने वाली प्रजाएं (वाञ्छन्तु) हृदय से चाहें। देख, कहीं तेरे किसी दोष से यह (राष्ट्रम्) तेरा राष्ट्र (त्वत्) तेरे अधिकार से (मा अधि-भ्रशत्) न फिसल जाय। अर्थात् जब तक प्रजा तुझको चाहेगी तब तक ही तू इस पद पर राष्ट्र का शासन कर पायेगा और जब यह प्रजाएं न चाहेंगी तो यह राष्ट्र तेरे शासन से निकल जायेगा।

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वतइवाविचाचलत् ।
इन्द्रइवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥ २ ॥

ऋ० १० । १७३ । २ ॥

भा०—हे राजन्! (इह एव एधि) इस राष्ट्र में तू सत्तावान् होकर रह। (मा अप च्योष्ठाः) तू कभी च्युत मत हो, अपने कर्त्तव्य से मत गिर। और (पर्वतः-इव) पर्वत के समान (अविचाचलत्) किसी प्रकार विचलित न होता हुआ (इन्द्रःइव) सूर्य के समान

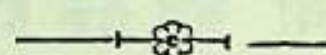
राष्ट्रमधिश्रय' इति तै० सं०। 'अस्मे राष्ट्राणि धारय' इति तै० सं०।
ऋग्वेदे, ध्रुव ऋषिः। राज्ञः स्तुतिर्देवता।
२–(द्वि०) 'चाचलिः' इति ऋ०।

(ध्रुवः) स्थिर होकर (इह) इस राजपद पर (तिष्ठ) विराज और (राष्ट्रम् उ धारय) राष्ट्र का पालन कर।

इन्द्र एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १७३ । ३ ॥

भा०—जिस प्रकार (इन्द्रः) परमेश्वर (एतम्) इस ब्रह्माण्ड को (ध्रुवेण) अपनी स्थिर, सदा वर्त्तमान (हविषा) दानशक्ति से (ध्रुवम्) स्थिर रूप में (अदीधरत्) धारण कर रहा है उसी प्रकार राजा भी इस राष्ट्र को (इन्द्रः) अधिपति होकर अपनी (ध्रुवेण हविषा) स्थिर प्रतिष्ठापक शक्ति से (अदीधरत्) धारण करे। (तस्मै) उस इन्द्ररूप राजा को (सोमः) यह शान्तप्रकृति, या सबका प्रेरक धर्माध्यक्ष और (ब्रह्मणः-पतिः च) वेद का विद्वान् आचार्य भी (अधि ब्रवत्) उपदेश करे।



[८८] राजा को ध्रुव होने का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। ध्रुवो देवता। १-२ अनुष्टुभौ, ३ त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७३ । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (द्यौः ध्रुवा) यह द्युलोक, स्थिर है। जिस प्रकार (पृथिवी ध्रुवा) पृथिवी भी स्थिर है वह अपने क्रान्तिमार्ग से विचलित नहीं होती। (इदं विश्वं जगत्) यह समस्त संसार (ध्रुवम्) ध्रुव, अपने नियमों में स्थिर है। जिस प्रकार (इमे पर्वताः ध्रुवासः) ये पर्वत भी ध्रुव हैं। उसी प्रकार (अयम् राजा) यह राजा भी (विशाम्) प्रजाओं में (ध्रुवः) स्थिर हो।

३-(प्र०) 'इममिन्द्रो अदी' (तृ०) 'तस्मा उ' इति ऋ० ॥

[८८] १-प्र० तृ० द्वि० च० इति पादक्रम ऋ०।

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ २ ॥

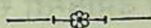
ऋ० १० । १७३ । ५ ॥

भा०—हे राजन् ! (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (राजा वरुणः) सबका राजा, वह सर्वश्रेष्ठ प्रभु (ध्रुवम्) स्थिर करे । (देवः बृहस्पतिः) वही समस्त विशाल लोकों का पालक, परम देव तेरे राष्ट्र को (ध्रुवम्) स्थिर करे । (इन्द्रः च) वह ऐश्वर्यशील और (अग्निः च) ज्ञानस्वरूप प्रभु (ते) तेरे राष्ट्र को (ध्रुवं धारयताम्) स्थिर रूप से धारण करे ।

अथवा वरुण, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि ये राष्ट्र के विशेष शासकों के पद हैं । वरुण—पोलिस विभाग का अध्यक्ष । बृहस्पति–मुख्य सचिव । इन्द्र–सेनापति । अग्नि–नायक ।

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व ।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥३॥

भा०—हे राजन् ! तू (अच्युतः) अपने कर्त्तव्यों से न चूक कर (ध्रुवः) स्थिर रहता हुआ (शत्रून्) राष्ट्र का नाश करने वाले पुरुषों को (प्र मृणीहि) खूब कुचल डाल । और (शत्रूयतः) शत्रु पुरुषों के समान आचरण करने वाले पुरुषों को (अधरान्) नीचे (पादयस्व) गिरा दे । (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं, सब दिशाओं का निवासी प्रजाएं (सध्रीचीः) एक साथ रहती हुई (सं-मनसः) एक चित्त होकर रहें । (समितिः) प्रजाओं की महासभा (इह) इस राष्ट्र में (ते ध्रुवाय) तेरी स्थिरता के लिये (कल्पताम्) बनी रहें ।



[८९] पति का कर्तव्य—पत्नीसंरक्षण ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

इदं यत् प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम् ।
ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि ॥ १ ॥

भा०—(यत्) जो (इदम्) यह (प्रेण्याः) प्रियतमा पत्नी का (वृष्ण्यम्) बलप्रद (शिरः) शिर अर्थात् इज़्ज़त कीर्त्ति (सोमेन) सर्व जगत् के प्रेरक परमात्मा ने हे पुरुष ! तेरे हाथ में (दत्तम्) दी है (ततः) उस स्त्री की कीर्ति से (प्र-जातेन) उत्पन्न हुए उत्कृष्ट तेरे यश या कर्त्तव्य से (ते) तेरे (हार्दिम्) हृदय के भावों को (परि शोचयामसि) हम उद्दीप्त करते हैं । मनुष्य स्त्रियों की कीर्त्ति की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझे और उनकी बे-इज़्ज़ती होती देखे तो अपने हृदय में मन्यु धारण करे । इसी प्रकार स्त्रियां भी अपने पतियों के यश की रक्षा करें ।

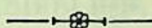
शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः ।
वातं धूमइव सध्र्यङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥ २ ॥

भा०—हे मित्र ! उसी कर्त्तव्य से (ते) तेरे (हार्दिम्) हृदय के भावों को हम (शोचयामसि) उद्दीप्त करते हैं । (ते मनः) तेरे मन को (शोचयामः) उद्दीप्त करते हैं ! हे स्त्री ! (ते मनः) तेरा संकल्प विकल्प करने वाला मन, अन्तःकरण (वातं धूमः इव) जिस प्रकार वायु के झकोरे के साथ धूआं उड़ा चला जाता है उसी प्रकार (माम् एव) मेरे ही (सध्र्यङ्) साथ साथ (अनुएतु) पीछे पीछे चले । इसी प्रकार स्त्री पुरुष के प्रति भावना करे ।

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती ।
मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥ ३ ॥

भा०—हे स्त्री ! (त्वा) तुझको (मित्रावरुणौ) मित्र = मरण से बचाने वाला और वरुण = सर्वशरीरव्यापी प्राण और अपान (समस्य-

ताम्) मिलायें। (देवी सरस्वती त्वा मह्यं समस्यताम्) देवी सरस्वती, यह वाणी तुझे मेरे साथ मिलाये रक्खे। (भूम्या मध्यम्) भूमि का मध्य भाग जहां हमारा घर बना है और (उभौ अन्तौ) उसके दोनों छोर भी (त्वा मह्यं समस्यताम्) तुझे मेरे साथ जोड़े रक्खें। अर्थात् प्राण, अपान जीवन, और वाणी से हम दोनों स्त्री पुरुष परस्पर प्रेम करें। भूमि के बीच में और देश देशान्तरों में भी एक दूसरे का त्याग न करें।



[९०] रोग-पीड़ाओं को दूर करने के उपायों का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। रुद्रो देवता। १-२ अनुष्टुभौ। ३ आसुरी भुरिग् उष्णिक्। तृचं सूक्तम्॥

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च।
इदं तामद्य त्वद् वयं विषूचीं वि वृहामसि॥ १॥

भा०—हे पुरुष! (रुद्रः) सर्वशरीरस्थ आत्माओं को रुलाने वाला रुद्र (याम्) जिस (इषुम्) बाण को तेरे (अंगेभ्यः) शरीर के अंगों और (हृदयाय च) हृदय के प्रति (आस्यत्) फेंकता है (अद्य) आज, अब (ताम्) उस पीड़ाकारी बाण को (त्वत्) तुझसे (विषूचीम्) परे, विपरीत दिशा में (वृ वृहामसि) दूर कर देते हैं। हृदय और शरीर में आने वाली पीड़ा और दुःख के कारणों का पहले ही से उपाय करना चाहिये।

यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः।
तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि॥ २॥

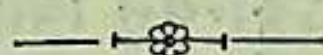
भा०—(याः) जो (ते) तेरे शरीर की (शतं धमनयः) सैकड़ों नाड़ियां (अङ्गानि) शरीर के अंगों अंगों में (अनु-विष्ठिताः) व्यापक

हो रही हैं (ते) तेरी (तासां सर्वासाम्) उन सबों के (निर्विषाणि) अंगों को विषरहित, शुद्ध करने के उपाय (ह्वयामसि) करें। शरीर में विष (Poison) बैठ जाने से अंगों में दर्द होता है इसलिये पीड़ा को दूर करने लिये शरीर के विषों को दूर करना चाहिये। दर्द आप से आप दूर हो जायगा।

नम॑स्ते रु॒द्रास्य॑ते॒ नम॑: प्रति॑हितायै ।
नमो॑ विसृ॒ज्यमा॑नायै॒ नमो॑ निप॑तितायै ॥ ३ ॥

भा०—रोगपीड़ा की चारों दिशाओं में चिकित्सा का उपदेश करते हैं। हे रुद्र ! रुलाने वाले कारण ! (ते) तेरे (अस्यते) फेंकते हुए तुझे (नमः) हम वश करें। यदि उस समय तुझे न वश कर सकें तो (प्रतिहितायै नमः) तेरे फेंकने के लिये तैयार बाण या शूलकारी तीक्ष्ण धार को (नमः) हम वश करें। यदि उसे भी न रोक सकें तो (विसृज्यमानायै नमः) जब छोड़ ही दिया हो ऐसे बाण को मध्य में वश करें अथवा (निपतितायै) जब गिर पड़े तब उसको (नमः) वश करें।

पीड़ाजनक रोग को बाण से उपमा देकर उसके वश करने का उपदेश किया है। प्रथम रोग के कारणों को दूर करें और दूसरे जब रोग के कारणों से रोग उत्पन्न होने को हों तब उनको रोकें और तीसरे जब उत्पन्न हो रहे हों तब रोकें और चौथे जब रोग आ भी जाय तब भी उसको वश करें।



[९१] भवरोग-विनाश के उपाय।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। बहवो देवताः। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः ।
तेना ते तन्वो_रपोपाचीनमप व्यये ॥ १ ॥

भा०—भव-रोग के विनाश का उपाय बतलाते हैं । (इमम्) इस (यवम्) शरीर इन्द्रिय आदि संघात को मिलाये रखने वाले आत्मा को (अष्टायोगैः) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि, इन आठ प्रकार के योगाङ्गों द्वारा और (षड् योगैः) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और मुमुक्षुत्व इन छः के योग, सम्पत्ति से (अचर्कृषुः) कर्षण करते हैं अर्थात् आत्मभूमि का शोधन करते हैं । (तेन) इस योगाभ्यास से (ते) तेरे (तन्वः) आत्मा और शरीर के (रपः) पाप और रोग (अपाचीनम्) दूर (अप व्यये) करने का उपदेश करता हूं ।

न्यग् वातो वाति न्यक् तपति सूर्यः ।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्यक् भवतु ते रपः ॥ २ ॥

ऋ० १० । ६० । ११ ॥

भा०—हे पुरुष ! (वातः) प्राण वायु (न्यग्) शरीर के नीचे की ओर (वाति) गति करता है । (सूर्यः) साधक का चेतनामय सूर्य (न्यक्) नीचे के मूल भागों में भी (तपति) प्रकाशित होता है । (अघ्न्या) कभी न नाश होने वाली चेतना (नीचीनम्) नीचे के मूल भाग में विशेष रूप में प्रकट होती है, साथ ही (ते रपः) तेरा पाप भी (न्यग् भवतु) स्वयं दब कर दूर हो जाय । अथवा—जिस प्रकार (वातः न्यग् वाति) वायु नीचे की तरफ़ वेग से जाता है, (सूर्यः न्यक् तपति) सूर्य जिस प्रकार नीचे भूमि पर तपता है, जैसे (अघ्न्या

२–(प्र०) 'वातो अववाति' इति ऋ० । तत्र बन्ध्वादयो गौपायना ऋषयः । सुबन्धोर्जीविताह्वानं देवता ।

नीचीनम् दुहे) गाय नीचे झुककर दूध देती है उसी प्रकार तेरा (रपः) पाप भी (न्यग्) नीचे (भवतु) हो जाय ।

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १३७ । ६ ॥ अथर्व ३ । ७ । ५ ॥

भा०—अथवा (आपः इत् या) जल ही (भेषजीः) सब रोगों की चिकित्सा है, क्योंकि (आपः) जल ही (अमीव-चातनीः) रोगों का नाशक है । (आपः) जल ही (विश्वस्य) समस्त प्राणियों के (भेषजीः) रोग को दूर करता है, वही (भेषजम्) रोग को दूर (कृण्वन्तु) करें ।

इस सूक्त में तीन प्रकार से मल और पापों का नाश करने का उपदेश किया है (१) योगाभ्यास से चित्त के पापों को दूर करे । (२) क्रिया-योग से कायिक दोषों को दूर करे और (३) जल स्नान से शरीर के बाह्य मलों को दूर करे ।



[९२] प्राणरूप अश्व का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । वाजी देवता । १ जगती, २, ३ त्रिष्टुभौ । तृचं सूक्तम् ॥

वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु
॥ १ ॥ यजु० ९ । ८ ॥

भा०—हे (वाजिन्) वाज, बल, ज्ञान से युक्त प्राण ! (युज्यमानः) तू इस देह में नियुक्त होकर (वात-रंहाः भव) वायु के वेग वाला हो । और (मनोजवा) मानसिक वेग से गतिमान् होकर तू (इन्द्रस्य) इस आत्मा के (प्रसवे) उत्तम ज्ञान-सम्पादन और इन्द्रियों

३—(द्वि०) 'सर्वस्य भेष० इति ऋ० । ऋग्वेदे सप्त ऋषय ऋषयः ।

के और शरीर के संचालन के कार्य में (याहि) गति कर । (त्वा) तुझे (मरुतः) ज्ञानी पुरुष (विश्व-वेदसः) सब ज्ञानों को प्राप्त करनेवाले तपस्वी (युञ्जन्तु) योगाभ्यास द्वारा नियुक्त करें । (त्वष्टा) स्वयं इन्द्र आत्मा (ते) तेरे (पत्सु) समस्त चरणों, गमन साधनों में (जवम्) वेग का (दधातु) आधान करे ।

इन्द्रो वै त्वष्टा । (ऐ० ६।१०) शरीर का प्राण; प्राण वायु के वेग से चलता है । परन्तु मानसिक बल से प्रेरित होकर वह शरीर के सब कार्यों को चलाता है । विद्वान् लोग उन प्राणों को वश करते हैं । वह आत्मा स्वयं उस प्राण में वेग उत्पन्न करता है । अथवा इन्द्रियगण उस प्राण को अपने ज्ञान और कर्म करने में लगाते हैं ।

अश्वपक्ष में—हे (वाजिन् युज्यमानः त्वं वात-रंहाः भव) हे वेगवान् अश्व ! गतिमान् यन्त्र-रथ में जुड़ा हुआ तू वायु के वेगवाला हो । और (इन्द्रस्य प्रसवे मनोजवाः याहि) राजा, स्वामी की प्रेरणा में आकर तू मन के वेगवाला होकर चल । (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युञ्जन्तु) समस्त साधनों और ज्ञानों के स्वामी मरुत् वेगवान्, तीव्रगामी वीरभट तुझे अपने रथों में लगावें । और (त्वष्टा) त्वष्टा, गढ़ने वाला, कारीगर (ते पत्सु जवं दधातु) तेरे पैरों में वेग को उत्पन्न करे ।

जवस्ते अर्वन् निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत् परीत्तः ।
तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥२॥

भा०—हे (अर्वन्) गतिशील प्राण ! (ते) तेरा (जवः) वेग (यः) जो (गुहा) गुहा, भीतरी अन्तःकरण में (निहितः) रक्खा है

[९२] १–(द्वि०) इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि' इति यजु० ।
२–(प्र०) 'जवो यस्ते वाजिन्' (द्वि०) श्येने परीतो अचरश्च वाते (तृ०) 'तेन नः' (च०) 'वाजजिच्च भव समने च परि०' इति यजु० ।
यजु० ९ । २ प्र० ॥

और (यः) जो (श्येने) श्येन, ज्ञान के कर्त्ता आत्मा में (परीत्तः) सुरक्षित है (उत) और (यः) जो वेग (वाते) वायु में, प्राण वायु में (परीत्तः) व्याप्त होकर (अचरत्) शरीर भर में फैल जाता और इन्द्रियों में विचरण करता है, हे (वाजिन्) बलवान् प्राण ! (तेन) उस सब (बलेन) बल से (बलवान्) बलवान् होकर (समने) इस जीवनसंग्राम अथवा समन, इन्द्रिय-देहादि संघात में (पारयिष्णुः) सब बन्धनों को पार करता हुआ, सबको वश करता हुआ (आजिम्) चरम पद को (जय) विजय कर, प्राप्त कर।

गौण रूप से अश्व अर्थात् घोड़े की तरफ भी लगता है—हे अश्व ! जो वेग हृदय में, बाज़ में और वायु में है उस वेग वाला होकर तू समन = संग्राम में सबको पार करता हुआ राज्यलक्ष्मीको प्राप्त कर।

तनूष्टे वाजिन् तन्वं नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम्।
अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात् ॥३॥

भा०—हे वाजिन् ! प्राणात्मन् (ते तनूः) तेरा व्यापार या तेरी गति (तन्वम्) इस देह को (नयन्ती) चलाती हुई (अस्मभ्यम्) हमें (वामम्) उस प्राण-आत्मा को (धावतु) प्राप्त करावे या शुद्ध करे और (तुभ्यम्) तुझे (शर्म) सुख शान्ति अनुद्वेग प्राप्त करावे। तूही (देवः) प्रकाशात्मक या शरीर के भीतर सब क्रीड़ाएं करने वाला होकर (धरुणाय) इस शरीर के धारण करने के लिये (अह्रुतः) कभी मूर्छित न होने वाला (महः) महान् शक्ति है। (ज्योतिः) जिस प्रकार सूर्य (दिवि) आकाश में स्वयं प्रकाशमान होता है उसी प्रकार (देवः) तू भी स्वतः प्रकाशमान होकर (स्वम्) अपने इस आत्मा को (आमिमीयात्) प्राप्त हो, उसको ज्ञान कर। अश्वपक्ष में स्पष्ट है।

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि दश, ऋचश्च द्वात्रिंशत्]

३–(द्वि०) 'धातु शर्म' (तृ०) 'देवान्' (च०) 'मिमीयाः' इति ऋ० । ऋ० १० । ५७ । २ ॥

[९३] सेनाओं से रक्षा ।

शंतातिर्ऋषिः । रुद्रो देवता । १—३ त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

य॒मो मृ॒त्युर॑घमा॒रो नि॑र्ऋ॒थो ब॒भ्रुः श॒र्वोऽस्ता नील॑शिखण्डः ।
दे॒व॒ज॒नाः सेन॑योत्तस्थि॒वांस॒स्ते अ॒स्माकं॒ परि॑ वृञ्जन्तु वी॒रान् ॥१॥

भा०—(यमः) सब का नियन्ता, व्यवस्था में रखने वाला, (मृत्युः) सबको मारने वाला, (अघमारः) दुष्टों को पाप अपराधों के कारण दण्ड देने वाला, (बभ्रूः) सबका पालक, या पीली वर्दी पहनने वाला, (शर्वः) हिंसा करने वाला, (अस्ता) बाणों का फैंकने वाला, (नील-शिखण्डः) सिर पर नीला तुर्रा लगा कर चलने वाला, ये सब (देव-जनाः) देव = राजा के भिन्न भिन्न प्रकार के अधिकारी पुरुष हैं। ये (सेनया) कप्तान सहित सेना बनाकर (उत्-तस्थिवांसः) दूसरे राष्ट्रों पर चढ़ाई करते हुए भी (अस्माकम्) हम प्रजाओं के (वीरान्) वीर पुरुषों को (परिवृञ्जन्तु) हानि से बचाये रक्खें।

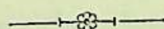
मन॑सा हो॒मैर्हर॑सा घृ॒तेन॑ श॒र्वायास्त्र॑ उ॒त राज्ञे॑ भ॒वाय॑ ।
न॒म॒स्येभ्यो॒ नम॑ एभ्यः कृणोम्य॒न्यत्रा॒स्मद॒घविषा नयन्तु ॥२॥

भा०—(शर्वाय) शत्रुहिंसक, (अस्त्रे) शत्रुओं पर बाणों को फेंकने वाले, और (राज्ञे) राजा और (भवाय) सामर्थ्यवान् सब कार्यों के उत्पादक पुरुषों के लिये (मनसा) अपने चित्त से, (होमैः) दानों, धन-राशियों से, (हरसा) अपनी शक्ति से (घृतेन) और अपने तेज या स्नेहमय पुष्टिकारक पदार्थों से हम सहायता करें। (एभ्यः) इन (नमस्येभ्यः) आदरयोग्य पुरुषों के लिये (नमः) मैं आदर (कृणोमि) करता हूँ। और चाहता हूँ कि ये लोग (अघ-विषाः) पापों के ज़हर या विष से पूर्ण, या पापों से पूर्ण, नीच व्यक्तियों को

(अस्मत् अन्यत्र) हम से अलग (नयन्तु) करें, हम में पापियों को को न रहने दें।

त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधाद् विश्वे देवा मरुतो विश्ववेदसः।
अग्नीषोमा वरुणः पूतदक्षा वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम ॥२॥

भा०—(विश्वे देवाः) सब शक्तिशाली विद्वान् लोग और (विश्व-वेदसः) सब कुछ जानने वाले, (मरुतः) शीघ्रगामी सेनानायक लोग (नः) हमें (अघ-विषाभ्यः) पाप से पूर्ण हत्याकारी सेनाओं से और (वधात्) हत्याकारी शस्त्रों से (त्रायध्वम्) बचावें। (अग्नी-षोमौ) अग्नि = सेनानायक और सोम = प्रेरक राजा और (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ महाराज हमें पूर्वोक्त पापियों और हत्याकारों से बचावें। और हम (वातापर्जन्ययोः) वात = तीव्र वायु के समान शत्रु को उड़ा देनेवाले अथवा राष्ट्र के प्राणस्वरूप और राष्ट्र पर सुखों की वर्षा करने और उनको पराजित करने वाले सेनापति और राजा के (सुमतौ) शुभ संकल्प में (स्याम) सदा रहें।



[९४] एकचित्त रहने का उपदेश।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः। सरस्वती देवता। १, ३ अनुष्टुभौ, २ विराड् जगती। तृचं सूक्तम्।

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ १ ॥

भा०—व्याख्या देखो ३।८।५।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥२॥
अथर्व० ३। ८। ६॥

भा०—(अहम्) मैं (मनसा) मन से (मनांसि) आप लोगों के मनों को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूं। आप लोग (चित्तेभिः) अपने ज्ञानवान् चित्तों के साथ (मम) मेरे (चित्तम् एत) चित्त के प्रति आकर्षित होकर आओ। (वः) आप लोगों के (हृदयानि) हृदयों को मैं (मम वशेषु) अपने वशों में, अपने अभिलषित कार्यों में (कृणोमि) लगाता हूं आप लोग स्वयं (अनु-वर्त्मानः) मेरे अनुकूल मार्ग पर चलते हुए (यातम्) पूर्व आप्त पुरुषों द्वारा चले गये मार्ग पर या (मम यातम्) मेरे चले हुए मार्ग पर, मेरे पीछे (एत) गमन करो।

ओते॑ मे॒ द्यावा॑पृथि॒वी ओता॑ दे॒वी सर॑स्वती ।
ओतौ॑ म॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒र्ध्यास्मे॒दं स॑रस्वति ॥३॥ अथर्व० ५।२३।१॥

भा०—(मे) मेरी दृष्टि में (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (ओते) जैसे परस्पर ओत-प्रोत हैं वैसे हम भी परस्पर ओत-प्रोत से रहें, (देवी सरस्वती) दिव्य गुणों वाली वेदवाणी जैसे परमात्मा के साथ ओत-प्रोत रहती है वैसे हम भी परस्पर ओत-प्रोत से रहें, (मे) मेरी दृष्टि में (इन्द्रः च अग्निः च) आत्मा और आत्मिक ज्ञान से (ओतौ) जैसे परस्पर ओत प्रोत से रहें, हे (सरस्वति) वेदवाणी! तू हमें मार्ग दिखा ताकि (इदम्) इस ओत-प्रोत होने के भाव को हम प्राप्त होकर (ऋध्यास्म) ऋधि सिद्धि को प्राप्त कर सकें।



[९५] कुष्ठ ओषधि और सर्वव्यापक परमात्मा का वर्णन।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । वनस्पतिर्मन्त्रोक्ता च देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

अ॒श्व॒त्थो दे॑व॒सद॑नस्तृ॒तीय॑स्यामि॒तो दि॒वि ।
तत्रा॒मृत॑स्य॒ चक्ष॑णं दे॒वाः कुष्ठ॑मवन्वत ॥ १ ॥

भा०—व्याख्या देखो ५।४।३।

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ २ ॥

भा०—व्याख्या देखो ५।४।४।

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो हिमवतामुत ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! तू (ओषधीनां) ओष = ताप, परिपाक शक्ति को धारण करने वाले लोकों का (गर्भः) उत्पत्तिस्थान (उत) और (हिमवताम्) हिमवाले अतिशीत लोकों का भी (गर्भम्) उत्पत्ति स्थान है, (विश्वस्य भूतस्य) और तू तो समस्त उत्पन्न विश्व का (गर्भः) उत्पत्ति स्थान है, तू (मे) मेरे (इमम्) इस आत्मा को (अगदम्) गद = रोग, जरा, जन्म, मरण आदि भव-बाधाओं से रहित (कृधि) कर।



[९६] पाप-मोचन की प्रार्थना।

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

भा०—(याः) जो (ओषधयः) परिपाक योग्य या उष्णता या सामर्थ्य को धारण करने वाली ओषधियाँ = प्रजाएँ, (सोम-राज्ञीः) सोम अर्थात् चन्द्र की रात्रियों के समान सोम अर्थात् राजा ही से अपना सामर्थ्य ग्रहण करने वाली, (बह्वीः) बहुत सी (शतविचक्षणाः) सैकड़ों कार्यों के सम्पादन में समर्थ, व्यवहारकुशल हैं (बृहस्पति-

९६–(प्र० द्वि०) यजु० १२।९२ प्र० द्वि० ॥ (तृ० च०) यजु० १२।८९
१–(प्र०) 'या ओषधीः' इति ऋ० ।
(प्र० द्वि०) ऋ० १०।९७।१८ प्र० द्वि० ॥ (तृ० च०) ऋ० १०।९७।१५

प्रसूताः) बृहती—वेद-वाणी के पालक विद्वान् द्वारा प्रेरित होकर (ताः) वे (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ २ ॥

भा०—वे पापों को सन्तापित और दग्ध करने वाली प्रजाएँ या, व्यवस्थाएँ (मा) मुझको (शपथ्यात्) वाणी द्वारा दूसरे के प्रति दुर्वचन बोलने से उत्पन्न हुए अपराध (उत) और (वरुण्याद्) दमन करने योग्य झूठ बोलने आदि के अपराध से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें। (अथो) और (यमस्य) नियन्ता राजा की (पड्वीशात्) डाली हुई पैरों में पड़ी बेड़ियों से और (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (देव-किल्विषात्) देव अर्थात् राजा, विद्वान् और अधिकारीगण के प्रति किये अपराध से मुक्त करें।

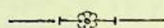
यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु ॥ ३ ॥

भा०—(जाग्रतः) जागते हुए हम लोग (यत्) जो कुछ (चक्षुषा) आँख से और (यत् च मनसा) जो कुछ मन से और (वाचा) वाणी से (उपारिम) प्राप्त करें, या वाणी से बात कहें (तानि) उन सब ज्ञानेन्द्रिय के गृहीत ज्ञानों और किये कामों को (नः) हमारा (सोमः) सबका प्रेरक आत्मा और विद्वान् पुरुष (स्वधा) अपनी धारणा, मनन, विवेक शक्ति से (पुनातु) पवित्र करे।

आंख आदि बाह्येन्द्रिय, वाणी आदि कर्मेन्द्रिय और मन, अर्थात्

२–ऋ० १० । ९७ । १६ अथर्व० १७ । ११२ । २ ॥ यजु० १२।९०॥
(च०) 'सर्वस्मात्' इति ऋ० ।

अन्तःकरण इनके किये पर मनुष्य स्वयं अपने बुद्धि से विवेक करे तो उसके आत्मा पर बुरा पाप संकल्प नहीं रहता ।



[९७] विजयप्राप्ति का उपाय ।

अथर्वा ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । १ त्रिष्टुप्, २ जगती, ३ भुरिक् त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

अ॒भि॒भूर्य॒ज्ञो अ॑भि॒भूर॒ग्निर॑भि॒भूः सोमो॑ अभि॒भूरिन्द्रः॑ ।
अ॒भ्य॑१हं विश्वा॒ः पृत॑ना॒ यथासा॒न्ये॒वा वि॑धेमा॒ग्निहो॑त्रा इ॒दं ह॒विः॑ ॥ १ ॥

भा०—(यज्ञः) एकत्र होकर मिलकर किया हुआ कार्य (अभिभूः) सबका पराजय करता है । (अग्निः) आगे चलने और सेना को ठीक ठीक मार्ग पर ले जानेवाला विद्वान् पथप्रदर्शक (अभि-भूः) विजय दिलाता और संकटों को दूर करता है । (सोमः अभिभूः) सबका प्रेरक, और कार्य-सम्पादक पुरुष या विद्वान् पुरुष विजय करता और सब शत्रुओं का दमन करता है । (इन्द्रः अभिभूः) ऐश्वर्य और शक्तिमान् राजा शत्रुओं पर दमन करता है । हे पुरुषो ! आप लोग (अग्निहोत्राः) जिस प्रकार अग्नि में घृताहुति देकर उसे तीव्र करते हैं उसी प्रकार अपने अग्रणी के कार्य में अपनी आहुतियाँ देकर उसकी शक्ति बढ़ाने वाले हो । हे वीर पुरुषो ! हम सबलोग मिल कर (एव) इस रीति से (हविः) परस्पर मन्त्रणा करके (विधेम) कार्य करें (यथा) जिससे (अहम्) मैं राजा (विश्वा:पृतना) समस्त सेनाओं या समस्त मनुष्यों को (अभि असानि) अपने वश करूँ और और परसेनाओं का पराजय करूँ ।

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम् ।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्रमुमुक्तमस्मत् ॥ २ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! मित्र = न्यायाधीश और वरुण = राजन् ! आप दोनों (विपश्चितौ) मेधावी, बुद्धिमान् पुरुष हैं । आपके लिये (स्वधा अस्तु) अन्न, जो आपके अपने ही धारण करने के योग्य आपका षष्ठांश भाग है वह आपको प्राप्त हो । और (प्रजा-वत्) उत्तम प्रजा से युक्त (क्षत्रम्) क्षत्रिय बल और धन को (इह) इस राष्ट्र में (मधुना) मधु से अमृत या अन्न या राजबल से (पिन्व-तम्) युक्त करो । (निर्ऋतिम्) पाप या संकट में डालनेवाली निर्ऋति शत्रु की सेना या विपत्ति को (दूरे) दूर से ही (पराचैः) परे करते हुए (बाधेथाम्) विनष्ट करो । और (कृतम्) किये हुए (चित्) भी (एनः) हमारे अपराध को (अस्मत्) हमसे (प्रमुमुक्तम्) दूर करो ।

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ ३ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्र लोगो ! आप लोग (उग्रम्) उग्र-स्वभाव, नित्य दण्ड देनेवाले, बलवान् (वीरम्) वीर्यवान् (ग्राम-जितम्) ग्राम को जीतने वाले (गोजितम्) इन्द्रिय को वश में करने वाले (वज्रबाहुम्) वज्र = खड्ग को बाहु में धारण करने वाले और (ओजसा) अपने बल से ही (अज्म) शत्रु के बल को (प्रमृणन्तम्) विध्वंस करने वाले और (जयन्तम्) विजय प्राप्त करने

२—(तृ०च०) ऋ० १ । १४ । ६

३—ऋ० १० । १०३ । ६ ॥ अथर्व० १९ । १३ । ६ ॥ यजु० १८ । ३२ ॥
(तृ०) 'गोत्रभिदं गोविदं' इति ऋ० । पूर्वोक्तयोरर्धयोर्विपर्ययः ।
(प्र०) 'इमं सजाता अनुवीरयध्वम् इति ऋ० ।

वाले (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशाली राजा को मुख्य मान कर (अनु सं रभ-ध्वम्) उसकी अनुमति के अनुकूल सब कार्य करो ।

अध्यात्म में सखायः = इन्द्रियगण, इन्द्र = आत्मा, ग्राम = मानस दोषगण, गौ = इन्द्रिय, वज्र = ज्ञान, अज्म = काम-विकार ।



[९८] विजयशील राजा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १, २ त्रिष्टुभौ, ३ बृहतीगर्भा पंक्तिः । तृचं सूक्तम् ॥

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै ।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रः) वह पुरुष, इन्द्र है जो (जयाति) विजय करता है, (न पराजयातै) और कभी पराजित नहीं होता और (राजसु) जो राजाओं में (अधिराजः) सबके ऊपर महाराज होकर (राजयातै) शोभा देता है । (इह) इस राष्ट्र में इन्द्र ! तू (चर्कृत्यः) सब अपने विरोधियों के दलों को बराबर काटता है, इसी कारण तू (ईड्यः) सब के स्तुति योग्य, (वन्द्यः) सबके नमस्कार करने योग्य, (उप-सद्यः) अपनी दुःख-कथा कहने के लिये प्राप्त करने योग्य, शरण्यः और (नमस्यः) झुक कर आदर करने योग्य (भव) होता है । परमात्मा पक्ष में स्पष्ट है ।

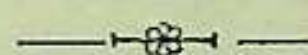
त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥ २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् (त्वम्) तू (अधि-राजः) सब प्रजाओं का अधिराज और (श्रवस्युः) कीर्तिमान् है । (त्वं) तू, (जनानाम्) सब प्रजाओं का (अभिभूतिः) वश करनेवाला (भूः) हो । (त्वं) तू,

(दैवीः) विद्वान् क्रियाशील (इमाः विशः) इन सब प्रजाओं पर (वि राज) राजा रूप से विराजमान रह, जिससे (ते) तेरा (क्षत्रम्) क्षात्र बल (आयुष्मत्) दीर्घायु युक्त, (अजरम्) कभी कम न होने वाला (अस्तु) रहे ।

प्राच्या॑ दि॒शस्त्वमि॑न्द्रासि॒ राजो॒तोदी॑च्या दि॒शो वृ॑त्रहञ्छत्रु॒होऽसि ।
यत्र॒ यन्ति॑ स्रो॒त्यास्तज्जि॒तं ते॑ दक्षिण॒तो वृ॑ष॒भ ए॑षि॒ हव्यः॑ ॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (त्वम्) तू (प्राच्याः दिशः) प्राची दिशा का (राजा असि) राजा है । (उत) और (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा का भी राजा है । और हे (वृत्रहन्) आवरणकारी, राष्ट्र को घेरने वाले शत्रुओं को मारने वाले ! तू ही (शत्रुहः असि) शत्रुओं का नाश करने वाला है । (यत्र) जिस देश में (स्रोत्याः) स्रोत से सदा बहने वाली नदियां (यन्ति) जाती हैं (तत्) वह राष्ट्र (ते) तेरे लिये (जितम्) वश करके रखने योग्य है । तभी (वृषभः) अपनी प्रजा पर सब सुखों की वर्षा करनेवाला (हव्यः) प्रजा से करसंग्रह करने का अधिकारी होकर तू (दक्षिणतः) राष्ट्र की दक्षिण दिशा के भाग से या बल कार्य से सदा (एषि) आ ।



[९९] राष्ट्ररक्षा का उपाय ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता, ३ सोमः सविता च देवते । १, २ अनुष्टुभौ, ३ भुरिग् बृहती । तृचं सूक्तम् ॥

अ॒भि त्वे॑न्द्र॒ वरि॑मतः पु॒रा त्वा॑हूर॒णाद्धु॑वे ।
ह्वया॑म्यु॒ग्रं चे॒त्तारं॑ पुरु॒णाम॑न॒मेक॒जम् ॥ १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! विद्वन् आचार्य ! (वरिमतः) तेरे महान् होने के कारण ही मैं (त्वा अभि) तेरे समीप रहता हूँ और

(पुरा अंहूरणात्) किसी घोर पाप या संकट के पूर्व ही (त्वा हुवे) तुझे पुकारता हूं, क्योंकि मैं चाहता हूं कि सदा (उग्रम्) बलवान् (चेत्तारम्) स्वयं ज्ञानी (पुरु-नामानम्) बहुत प्रकार की वशीकरण साधनों से सम्पन्न (एक-जम्) अकेले, स्वयं सामर्थ्यवान् पुरुष को (ह्वयामि) संकट में बुलाऊं ।

यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन् न उदीरते ।
इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (अद्य) अब भी तुरन्त (सेन्यः वधः) सेना का हथियार (नः जिघांसन्) हमें मारने के कामना से (उद् ईरते) उठे (तत्र) वहां ही, उसी समय (इन्द्रस्य बाहू) राजा की भुजायें (समन्तम्) हम अपने चारों तरफ (परि दद्मः) अपनी रक्षार्थ खड़ी पावें ।

शत्रु के आक्रमण होते ही हमारा राजा अपनी सेनाओं से हमारी रक्षा के लिये तैयार रहे ।

परि दद्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः ।
देव सवितः सोम राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये ॥ ३ ॥

भा०—हम प्रजागण (इन्द्रस्य) राजा की (बाहू) भुजाएँ अर्थात् रोकने वाली सेनाएं (परि दद्मः) अपने चारों ओर खड़ी पावें । (त्रातुः) देश की पालक राजा की (बाहू) भुजाएँ अर्थात् बाधक सेनाएं (नः) हमें (समन्तम्) सब ओरों से (त्रायताम्) रक्षा करें । हे (देव) विजिगीषु ! (सवितः) सब राष्ट्र के कार्यों के संचालक ! हे (सोम) सर्व उत्तम कार्यों के प्रवर्तक ! (राजन्) राजन् ! (मा) मुझे (स्वस्तये) कल्याण के लिये (सुमनसम्) शुभ चित्त वाला (कृणु) बनाये रख ।

——-❀-——

[१००] विष-चिकित्सा ।

गरुत्मान् ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

देवा अदुः सूर्यो अदाद् द्यौरदात् पृथिव्यदात् ।
तिस्रः सरस्वतीरदुः सचित्ता विषदूषणम् ॥ १ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् लोग और दिव्य पदार्थ (विष-दूषणम्) विष का निवारण करने का उपाय (स-चित्ताः) एक चित्त होकर (अदुः) सबको प्रदान करते हैं, क्योंकि (सूर्यः) सूर्य अपना प्रकाश (अदात्) देता है और उससे विषैले जन्तु नष्ट हो जाते हैं और विष का नाश होता है । (द्यौः) यह प्रकाशमान आकाश (अदात्) प्रकाश तथा स्वच्छ वायु प्रदान करता है वह भी विष का शमन करता है । (पृथिवी अदात्) पृथिवी भी अपनी शक्ति (अदात्) देती है जिससे मिट्टी का लेप भी विष का नाश करता है और (तिस्रः सरस्वतीः) तीनों सरस्वतीएं, तीनों वेदवाणियां भी (अदुः) समानरूप से विष के नाश का उपदेश करती हैं ।

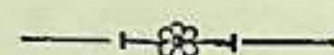
यद् वो देवा उपजीका आसिञ्चन् धन्वन्युदकम् ।
तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम् ॥ २ ॥

भा०—(उपजीकाः) उपजीव्य अर्थात् जीवन के कारणभूत (देवाः) सूर्य की किरणें तथा वायु आदि दिव्य पदार्थ समुद्र में से उठकर (धन्वन्) आकाश में (यद्) जिस (उदकम्) स्वच्छ जल को (असिञ्चन्) चारों ओर सींचते हैं, (देव-प्रसूतेन) इन दिव्य पदार्थों द्वारा उत्पन्न किये गये (तेन) उस शुद्ध जल द्वारा हे दिव्य पदार्थों ! (इदं विषम्) इस विष को (दूषयत) दूर करो । अर्थात् वर्षा के शुद्ध जल द्वारा, शरीर में उत्पन्न या शरीर में सर्प आदि द्वारा प्रविष्ट विष को, दूर किया जा सकता है ।

असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा ।
दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चकर्थारसं विषम् ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (असुराणाम्) बलशाली प्राणवान् पुरुषों के लिये (दुहिता) बल, रस का दोहन करने वाली है, (सा) वह तू (देवानाम्) देव, विद्वान् पुरुषों की (स्वसा) उत्तम रूप से गुण प्रकाश करने वाली है । तू (दिवः) द्युलोक के प्रकाश और (पृथिव्याः) पृथिवी से (सं-भूता) उत्पन्न हुई है (सा) वह तू (विषम्) विषको (अरसं चकर्थ) निर्बल करती है ।

ग्रीफ़िथ के मत से यह सिलाची नाम ओषधि है । सायण के मत से यह वल्मीक की मिट्टी है । (अथर्व—५ । ५ । १) में–'सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा ।" इसी ओषधि के इस सूक्त में स्परणी, अरुन्धती, निष्कृति, कानीना, कन्यला आदि नाम दिये हैं । उस प्रसंग में कोशिक ने लाख को दूध में पकाकर शस्त्र-व्रण आदि की चिकित्सार्थ पान करने की विधि लिखी है ।



[१०१] पुष्ट प्रजनन अंग होने का उपदेश ।

शेपप्रथनकामोऽथर्वाङ्गिरा ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ।

आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च ।
यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष तू (वृषायस्व) सब प्रकार से वीर्यसेचन में समर्थ हो (श्वसिहि) प्राण को ऊपर खैंच और (वर्धस्व) शरीर में खूब पुष्ट हो, (प्रथयस्व च) और अपने अंगों को भी बड़ा कर । इतना हृष्ट पुष्ट हो कि (यथा) जिससे (शेपः, अङ्गम्) कामांग भी (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो । (तेन) उस अंग से (योषितम्) अपनी स्त्री के

पास (इत) भी (जहि) जा, सेचनसमर्थ हो। ऊपर श्वास लेकर अंगों को पुष्ट करो, जब कामांगों की पर्याप्त वृद्धि हो चुके तब युवकों को गृहस्थ धर्म से पुत्रोत्पत्ति करनी चाहिये।

येन॑ कृ॒शं वा॒जय॑न्ति॒ येन॑ हि॒न्वन्त्या॑तु॒रम्।
तेना॒स्य ब्र॑ह्मणस्पते॒ धनु॑रि॒वा ता॑नया॒ पस॑: ॥ २ ॥

भा०—पुष्टांग होने के उपाय का उपदेश करते हैं—(येन) जिस उपाय से (कृशम्) कृश पुरुष को (वाजयन्ति) बलवान् करते हैं और (येन) जिस उपाय से (आतुरम्) रोगी निर्बल पुरुष को (हिन्वन्ति) समर्थ बनाते हैं हे (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्म = अन्न को पालन करने वाले पुरुष ! (अस्य) इस निर्वीर्य पुरुष के (पसः) कामांग को भी उसी पौष्टिक उपाय से (धनुः इव) धनुष के समान (आ तानय) पुष्ट कर। कृशों को और रोगियों को पुष्ट करने की ओषधियां ही निर्वीर्य पुरुष को वीर्यवान् बनाने वाली होती हैं।

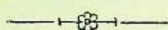
आहं त॑नोमि ते॒ पसो॒ अधि॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नि।
क्रम॒स्वर्श॑इव॒ रोहि॑त॒मन॑वग्लायता॒ सदा॑ ॥ ३ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व का० ४ । ४ । ७ । (अहं ते पसः) मैं सद्वैद्य तेरे कामाङ्ग को (तनोमि) दोषरहित करके सुधारता हूं। (धन्वनि अधि ज्याम् इव) जिस प्रकार शिकारी अपने धनुष पर डोरी चढ़ाता है, (अर्शः रोहितम् इव) और जिस प्रकार शिकारी प्रसन्नचित्त से मृग पर दौड़ता है उसी प्रकार (अनवग्लायता) सदा ग्लानिरहित चित्त से (क्रमस्व) अपनी पत्नी के पास जाओ। चित्त में ग्लानि होने से सम्भोग काल में सफलता नहीं होती।

जिस ईश्वर ने संसार को उत्पन्न किया और जिसने सृष्टि उत्पन्न करने वाले अंगों को भी रचा उसकी दृष्टि में कोई पदार्थ अश्लील नहीं।

२—(तृ० च०) अथर्व० ४ । ६ । ४ ॥

प्रजा-सर्जन का भी अपना विज्ञान है। उसका वेद में उपदेश होना आवश्यक है। ग्रीफ़िथ ने यह तत्व न समझ कर इस सूक्त को अश्लील जानकर इसका अनुवाद नहीं किया।



[१०२] दाम्पत्य प्रेम का उपदेश।

अभिसम्मनस्कामो जमदग्निर्ऋषिः। अश्विनौ देवते। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते।
एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्त्तताम्॥ १॥

भा०—स्त्री-पुरुषों में परस्पर प्रेम उत्पन्न करने का उपदेश करते हैं। हे (अश्विनौ) एक दूसरे के हृदय में व्याप्त स्त्री-पुरुषो! तुम दोनों एक दूसरे के प्रेमी होकर यह कहो कि (यथा) जिस प्रकार (अयं वाहः) यह अश्व, सवारी (सम् एति) घुड़सवार के साथ ही साथ जाता है, (सं वर्त्तते च) और उसके साथ ही रहता है (एव) इसी प्रकार हे प्रियतम! हे प्रियतमे! (माम् अभि ते मनः) मेरे प्रति तेरा चित्त सम् आ एतु) आवे, (सं वर्त्तताम् च) और सदा साथ ही रहे।

आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव।
रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः॥ २॥

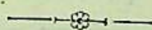
भा०—दोनों स्त्री पुरुष एक दूसरे से यही आशा करें और कहें कि हे प्रियतम! हे प्रियतमे (अहम्) मैं (ते मनः) तेरे चित्त को (आ-खिदामि) ऐसे खींचूँ जैसे (पृष्ट्याम् राजाश्व इव) पीठ पीछे बंधी गाड़ी को घोड़ा खींचता है। और यथा (रेष्मच्छिन्नम्) रेष्मा अर्थात् प्रचण्ड वायु से टूटा हुआ (तृणम्) घास उसी में लिपट कर उसके साथ ही चला जाता है, उसी प्रकार हे प्रियतमे! (ते मनः) तेरा चित्त (मयि) मुझमें (वेष्टताम्) लिपट जाय। मुझ में आसक्त होकर मेरे साथ ही लगा रहे।

आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च।
तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे॥ ३॥

भा०—स्त्री अपने पति के हाथों दिये हुए अञ्जन, मुलैठी या अन्य हर्षोत्पादक कूठ और अन्य सुगन्ध पदार्थों को स्वीकार करे। स्त्री उक्त पदार्थों को स्वीकार करती हुई कहती है—मैं (तुरः) शीघ्र ही प्राप्त होने वाले (भगस्य) सौभाग्यशील पुरुष के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (आञ्जनस्य) अंजन (मदुघस्य) तृप्तिकारक तथा हर्षोत्पादक पदार्थ, कूठ और (नलदस्य) खस आदि पदार्थों के बने (अनुरोधनम्) प्रेम = अभिलाषा और कामना के अनुकूल पदार्थ को (उद्भरे) स्वीकार करती हूँ।

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

[तत्र दश सूक्तानि त्रिंशचर्चः]



[१०३] राष्ट्र-रक्षा और शत्रु-दमन।

उच्छोचन ऋषिः। इन्द्राग्नी उत बहवो देवताः। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत्।
संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विना॥ १॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति (वः तुम्हारा (संदानम्) बन्धन (करत्) करे, (सविता संदानं करत्) सविता तुम्हारा बन्धन करे, (अर्यमा संदानम्) अर्यमा तुम्हारा बन्धन करे, (भगः अश्विनौ) भग और अश्वी दोनों तुम्हारा बन्धन करें।

बृहस्पति, सविता, मित्र, अर्यमा, भग, अश्वी ये सब राष्ट्र के अधिकारी लोग हैं। संग्राम छिड़ जाने पर सभी अधिकारी शत्रु के आदमियों पर विशेष बन्धन रोक टोक रक्खें, उन्हें पूरा पूरा वश में रक्खें।

सं पर॒मान्त्सम॑व॒मानथो॒ सं द्या॑म मध्य॒मान् ।
इन्द्र॒स्तान् पर्य॑हा॒र्दाम्ना॒ तान॑ग्ने॒ सं द्या॒ त्वम् ॥ २ ॥

भा०—मैं राजा अपने शत्रुओं में से (परमान्) ऊंची श्रेणी के लोगों को (सं द्यामि) बन्धन में रखूं, (अवमान् सं द्यामि) नीची श्रेणी के लोगों को भी बन्धन में रखूँ, और (मध्यमान् सं द्यामि) मध्यम श्रेणी के लोगों को भी बन्धन में रखूं। (इन्द्रः) राजा (तान्) उन सबको (परि अहाः) दूर से ही निवारण करे और हे (अग्ने) अग्ने, सेनापते ! (त्वम्) तू (तान्) उनको (दाम्ना) रस्सी या पाश से (सं द्य) अच्छी प्रकार बांधे रख; वश किये रख, आगे मत बढ़ने दे।

अ॒मी ये यु॒धमा॒यन्ति॑ के॒तून् कृ॒त्वानी॑क॒शः ।
इन्द्र॒स्तान् पर्य॑हा॒र्दाम्ना॒ तान॑ग्ने॒ सं द्या॒ त्वम् ॥ ३ ॥

भा०—(अमी) वे दूर देश में स्थित शत्रु लोग (ये) जो (अनीकशः) अपनी सेना के प्रत्येक दस्ते या टुकड़ी पर (केतून् कृत्वा) अपने भिन्न भिन्न झण्डे लगा लगा कर (युधम् आयन्ति) संग्राम करने के लिये आवें (तान्) उनको (इन्द्रः परि अहाः) राजा या शक्तिशाली पुरुष दूर से ही विनाश करे। हे (अग्ने) अग्ने ! सेनापते ! (त्वम्) तू उनको भली प्रकार (दाम्ना) रस्सी के बने पाश से या रस्सी के समान बटी हुई तिगुनी सेना से (सं द्य) बांध ले, जकड़ ले।



[१०४] शत्रुओं का पराजय और बन्धन।

प्रशोचन ऋषिः । इन्द्राग्नी उत बहवो देवताः । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

आ॒दाने॑न सं॒दाने॑ना॒मित्रा॒ना द्या॑मसि ।
अ॒पा॒ना ये चै॑षां प्रा॒णा असु॑ना॒सून्त्सम॑च्छिदन् ॥ १ ॥

भा०—हम वीर लोग (आ-दानेन) शत्रु को पकड़ लेने के उपाय और (सं-दानेन) बाँध लेने के उपाय से (अमित्रान्) शत्रु लोगों को (आ द्यामसि) अपने वश कर लेते हैं। और वीर भट (ये च) जो भी (एषाम्) इनके (अपानाः) अपान और (प्राणाः) प्राण हैं उन सब (असून्) प्राणवृत्तियों को (असुना) मुख्य जीवनशक्ति के द्वारा (समच्छिदन्) काट डालें। अथवा (ये च एषां प्राणाः) जो इन शत्रुओं के प्राणरूप मुख्य नेता लोग और (अपानाः) अपानरूप निम्न पदाधिकारी हैं उन सबको (आ द्यामसि) हम वश करलें और जिस प्रकार (असुना) मुख्य प्राण से प्राणित (असून्) शेष प्राण इन्द्रियगण को काट कर विनाश कर दिया जाता है उसी प्रकार इन मुख्य लोगों को भी (सम् अच्छिदन्) काट गिराया जाय। अर्थात् मुख्य मुख्य नेता लोगों को पकड़ कर क़ैद में डाल दिया जाय और शेषों को काट डाला जाय।

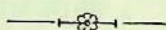
इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् ।
अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥ २ ॥

भा०—(तपसा) ताप द्वारा (इन्द्रेण सं शितम्) और इन्द्र = विद्युत् द्वारा अत्यन्त तीक्ष्ण (इदम्) यह ऐसा (आदानम्) बन्धनपाश मैं शिल्पी (अकरम्) बनाऊँ कि जिससे (अत्र) यहां इस युद्धभूमि में (ये नः अमित्राः) जो हमारे शत्रु हैं, हे (अग्ने) सेनापति ! (तान्) उनको (त्वम् आ द्य) तू उस पाश से बांध ले।

ऐनान् द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ ।
इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः ॥ ३ ॥

भा०— (इन्द्राग्नी) राजा और सेनापति (एनान्) उक्त शत्रुओं को (आ द्यताम्) बांध लें। (सोमः राजा च) सोम और राजा दोनों

ही (मेदिनौ) इस कार्य के लिये बलवान् हैं। और (इन्द्रः) इन्द्र (मरुत्वान्) मरुत् = वीरभटों के साथ (नः) हमारे (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिये (आदानम्) बन्धनपाश (कृणोतु) तैयार करे।



[१०५] 'कासा' चिति शक्ति की एकाग्रता का उपदेश।

उन्मोचन ऋषिः। कासा देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यम् ॥१॥

भा०—'कासा' नाम चितिशक्ति को एकाग्र करने के क्रियात्मक उपाय बतलाते हैं—(यथा) जिस प्रकार (मनः) संकल्प विकल्प करने वाला मन (आशुमत्) अति वेगवान् होकर (मनस्केतैः) मन द्वारा चिन्तन करने योग्य विषयों के साथ (परा पतति) दूर चला जाता है। (एव) उसी प्रकार हे (कासे) प्रकाशमान चितिशक्ते ! (त्वम्) तू भी (मनसः) मन के (प्र-वाय्यम्) चिन्तनीय विषयों के (अनु प्र-पत) साथ ही साथ जा ।

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सु-संशितः बाणः) तीक्ष्ण बाण, (आशुमत्) वेगवान् होकर (परा पतति) दूर जा गिरता है, हे (कासे) चित्तिशक्ते ! (त्वम्) तू भी (एव) उसी प्रकार (पृथिव्याः संवतम्) पृथिवी देह के उत्तम प्रदेश की ओर (अनु प्र पत) गति कर, धारणा द्वारा विशेष देश में स्थिर हो।

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (सूर्यस्य रश्मयः) सूर्य की किरणें, (आशुमत्) अति वेगवान् होकर (परा पतन्ति) दूर तक फैल जाती हैं उसी प्रकार हे (कासे) प्रकाशमान चितिशक्ते ! तू (समुद्रस्य) समुद्ररूप परम आत्मा के (वि-क्षरम् अनु प्रपत) विशेष प्रवाह के अनुकूल होकर गति कर ।

'कासे' इस सम्बोधन से कौशिक ने इस सूक्त को कासरोग-निवृत्तिपरक माना है । सायण भी उसके पीछे चला है, परन्तु कौशिक ने इस सूक्त को सूर्योपस्थान के लिये भी लिखा है । यह वास्तव में आत्म-ध्यान या ब्रह्मोपासना का मन्त्र है । इसका देवता 'पुरुष' है । कासा = चकास्ति इति कासा, प्रकाशमयी ज्योतिष्मती चेतना चितिशक्तिर्वा । उस चितिशक्ति की तीन साधनाओं का उपदेश किया है । १. मन की गति के अनुकूल उसको यथाभिमत विषय पर लगावें । २. पृथिवी या मूल भाग में किसी अधिष्ठान में स्थिर करें । ३. फिर परम आत्मा के विशाल गुणों में लगावें ।



[१०६] गृहों की रक्षा और शोभा ।

प्रमोचन ऋषिः । दूर्वा शाला देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

आय॑ने ते परा॒य॑णे॒ दूर्वा॑ रोहतु पु॒ष्पिणीः॑ ।
उत्सो॑ वा॒ तत्र॒ जाय॑तां ह्र॒दो वा॑ पु॒ण्डरी॑कवान् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १४२ । ८ ॥

भा०—गृहों की रक्षा और सुन्दरता के लिये उत्तम उपायों का उपदेश करते हैं । हे शाले ! (ते) तेरे (आ-अयने) आने के स्थान में और (परा-अयने) पीछे के या दूर के स्थानों में भी

[१०६] (तृ० च०) 'ह्रदा वा पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे' इति ऋ० ॥

(पुष्पिणीः) फूलों वाली (दूर्वाः) दूब और नाना वनस्पतियां (रोहन्तु) खूब उगें। और (तत्र) वहाँ (उत्सः वा) कूंआ भी (जायताम्) हो। (वा) और (पुण्डरीकवान्) कमलों वाला (ह्रदः) तालाब भी हो। रहने के घर के समीप और दूर तक भी घास से हराभरा मैदान, फुलवाड़ी, कूंआ और पुखरिया होनी चाहिये। ऐसे घरों में अग्नि आदि का भी भय नहीं रहता।

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥ २॥

(प्र० द्वि०) ऋ० १०। १४२। ७ प्र० द्वि०। यजु० १७। ७ प्र० द्वि०॥

भा०—गृहों के बनाने के लिये उचित स्थान के निर्णय करने का उपदेश करते हैं। (इदं अपां निअयनम्) यह, उधर जलों के नीचे आने का स्थान हो और (समुद्रस्य नि-वेशनम्) इधर समुद्र, जल-भण्डार का स्थान हो। (ह्रदस्य मध्ये) तालाब के बीच में (नः) हमारे (गृहाः) घर हों। हे अग्ने ! विद्वन्। तू अपने (मुखा) मुखों को (पराचीना) दूर तक फैले हुए विशाल बना, अथवा हे शिल्पिन्! द्वारों को बड़ा बना।

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि।
शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम् ॥ ३॥

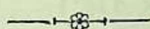
ऋ० १०। १४२ खिले॥ प्र० द्वि० यजु० १७। ५ द्वि०॥

भा०—हे शाले ! गृह ! (त्वा) तुझे (हिमस्य) हिम, शीतल-जल के (जरायुणा) वेष्टन या आवरण पदार्थ से (परि व्ययामः) चारों ओर से घेर लें जिससे तू (नः) हमारे लिये (शीतह्रदा भुवः) शीतल तालाबों से युक्त हो। इस प्रकार (अग्निः) गृह में स्थित

२—(द्वि०) 'अग्ने परि' इति यजु०। (च) '-ददातु भेषजं' इति ऋ०

अग्नि भी हमारे पास (भेषजम्) हमारे रोगों और दुःखों के निवारण करने का साधन होकर हमारे रोगों को दूर (कृणोतु) करे ।

गृह को शीतल तालाब आदि से घेर लेना चाहिये जिससे बाहर के जंगलों की आग घर को न सतावे । अग्नि भी उसमें जल के कारण आनेवाले रोगों को दूर करे ।



[१०७] विश्वविजयिनी राजशक्ति का वर्णन ।

शंतातिर्ऋषिः । विश्वजिद् देवता । अनुष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि ।
त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥१॥

भा०—हे (विश्व-जित्) सब पर विजय करने वाले राजन् या परमेश्वर ! (मा) मुझे (त्रायमाणायै) त्रायमाणे = रक्षा करनेवाली अपनी शक्ति के अधीन (परि-देहि) रख । हे (त्रायमाणे) रक्षा करनेवाली शक्ति ! (नः) हमारे (चतुष्पात्) चौपाये और (द्विपात् च) दो पाये, मनुष्य, पक्षी आदि (यत् च नः) और जो भी हमारा (स्वम्) धन है उसकी (रक्ष) रक्षा कर ।

त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि । विश्वजिद् द्विपाच्च० ॥२॥

भा०—हे (त्रायमाणे) राजा की रक्षाकारणी शक्ति ! तू (मा) मुझे, मुझ प्रजा को (विश्वजिते परिदेहि) विश्वजित् राजा के अधीन रख और इस नाते हे (विश्वजित्) सर्वविजयी राजन् ! तू (नः) हमारे (द्विपात् च) दोपाये, भृत्य आदि और (चतुष्पात्) चौपाये पशु (यत् च नः स्वम्) और जो हमारा धन है उस (सर्वं रक्ष) सब की रक्षा कर ।

विश्वजित् कल्याण्यै मा परि देहि । कल्याणि द्विपाच्च० ॥ ३ ॥

भा०—हे (विश्वजित्) सर्वविजयी राजन् ! (मा) मुझे (कल्याण्यै परि देहि) देश की कल्याणकारिणी परिषद् के अधीन रख। हे (कल्याणि) कल्याणकारिणि परिषद् ! (द्विपात् चतुष्पात् च) दोपाये और चौपाये (यत् च नः सर्वम् स्वम्) और जो भी हमारा सब धन है उसकी (रक्ष) रक्षा कर।

कल्या॑णि सर्व॒विदे॑ मा॒ परि॑ देहि।
सर्व॑विद् द्वि॒पाच्च॒ सर्वं॑ नो॒ रक्ष॒ चतु॑ष्पा॒द् यच्च॑ नः॒ स्वम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (कल्याणि) देश के हित, कल्याण, सुख की सामग्री को उपस्थित करने वाली परिषद् ! तू (मा) मुझको (सर्वविदे परिदेहि) सब वस्तुओं को जानने वाले के अधीन कर। हे (सर्वविद्) सर्वज्ञ परिषद् ! तु (नः) हमारे (द्विपात् चतुष्पात् च यत् च नः स्वम् सर्वं रक्ष) दोपायों चौपायों और भी जो हमारा धन है उस सबकी रक्षा कर। राज्य के चार विभाग होने आवश्यक हैं (१) विश्वजित्, देशों के विजय करने वाला विभाग, (२) त्रायमाणा, विजित देशों की रक्षा करने वाला विभाग, (३) कल्याणी, नगरों और देशों का प्रजा के सुख आराम, जीवन सुधार का प्रबन्ध करने वाला विभाग (४) सर्ववित् राष्ट्र, परराष्ट्र आदि सबके विषय में ज्ञान प्राप्त करने वाला और तदनुसार अपने अन्य विभागों को उन उनके विषयक बातों की जानकारी रखने वाला। विजय करने वाला विभाग जिस देश को विजय करे उसे रक्षाकारी विभाग के हाथ देदे। और वह रक्षाकारी विभाग भी विजेता विभाग की आज्ञा से ही उसकी रक्षा करे और वह कल्याणी परिषद् को सौंपदे, कल्याणी परिषद् कल्याण करने के लिये सर्ववित् परिषद् के अधीन राष्ट्र को वहां के सब पदार्थों का ज्ञान करके राष्ट्र में व्यापार और कारीगरी शुरू करावे।

———

[१०८] मेधा का वर्णन।

शौनक ऋषिः। मेधा देवता, ४ अग्निर्देवता। १, ४, ५ अनुष्टुप्, २ उरोबृहती, ३ पथ्या बृहती। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गहि।
त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया॥ १॥

भा०—हे (मेधे) आत्मा को धारण करने वाली चितिशक्ते! ज्ञानधारण-समर्थे! (त्वम्) तू (नः) हमें (गोभिः) ज्ञानेन्द्रियों और (अश्वेभिः) कर्मेन्द्रियों सहित (आ गहि) प्राप्त हो। (त्वम्) तू (सूर्यस्य) सबके प्रेरक परमात्मा रूप सूर्य की (रश्मिभिः) ज्ञानमय किरणों सहित हमें प्राप्त हो। (त्वम्) तू ही (नः) हमारे (यज्ञिया असि) यज्ञ, आत्मा की शक्ति है। अथवा तू ही जीवन यज्ञ की सम्पादन करने वाली है।

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥ २॥

भा०—(अहम्) मैं मेधा चाहने वाला ब्रह्मचारी, (प्रथमाम्) श्रेष्ठ, सबसे प्रथम, उत्तम गुणवाली, (ब्रह्मण्वतीम्) वेदज्ञान से युक्त, (ब्रह्म-जूताम्) ब्रह्मज्ञानियों से सेवित, (ऋषि-स्तुताम्) ऋषियों द्वारा प्रशंसा की गई, (ब्रह्म-चारिभिः) ब्रह्मचारियों द्वारा (प्र-पीताम्) खूब उत्तम रीति से पान की गई, (मेधाम्) धारणावती चितिशक्ति का (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (हुवे) ध्यान करता हूं और उसको अपने पास बुलाता हूं।

यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्यावेशयामसि॥ ३॥

भा०—(याम्) जिस (मेधाम्) मेधा बुद्धि का (ऋभवः) ऋभु अर्थात् सत्यज्ञान और वेद से प्रकाशित होने वाले विद्वान् और शिल्पी लोग (विदुः) लाभ करते हैं, और (यां मेधाम्) जिस मेधा बुद्धि का (असुराः विदुः) प्राणविद्या के जानने वाले, प्राणायाम के अभ्यासी लाभ करते हैं, और (यां भद्रां मेधाम्) जिस कल्याण-कारिणी, सुखप्रद मेधा बुद्धि को (ऋषयः) मन्त्रार्थ के साक्षात् करने वाले ऋषिगण (विदुः) प्राप्त करते हैं, (ताम्) उसको हम (मयि) अपने आत्मा में (आ वेशयामसि) धारण करें।

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ ४ ॥

(तृ० च०) यजु० ३२ । १४ तृ० च० ॥ ऋ० १० । १५१ खि० ॥

भा०—(याम्) जिस (मेधाम्) मेधा को (भूतकृतः) उत्पन्न समस्त पदार्थों का उपयोग करने वाले अथवा पञ्चभूतों की साधना करने वाले, उन पर वशीकार साधना करनेवाले (मेधाविनः) मेधावी, विद्वान् मतिमान् पुरुष (विदुः) प्राप्त करते हैं, हे (अग्ने) आचार्यरूप अग्ने! परमेश्वर! (तया) उस (मेधया) मेधा से (अद्य) आज, अब (माम् मेधाविनं कृणु) मुझ ब्रह्मचारी को भी मेधावी बनाओ।

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥ ५ ॥

भा०—(सायम्) सायंकाल के समय (मेधाम्) बुद्धि-शक्ति को, (वचसा) वैदिक-वचनों के अनुसार (आवेशयामहे) अपने में हम स्थापित करते हैं, (प्रातः) प्रातःकाल के समय (मेधाम्)

४-(प्र० द्वि०) 'यां मेधां देवगणाः पितरश्च उपासते' (च०) 'कुरु' इति यजु०।

बुद्धिशक्ति को अपने में हम स्थापित करते हैं, (मध्यन्दिनं परि) मध्याह्न काल में (मेधाम्) बुद्धि-शक्ति को अपने में हम स्थापित करते हैं, (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) किरणों के समय (मेधाम्) बुद्धि-शक्ति को अपने में हम स्थापित करते हैं। अर्थात् जागते हुए किसी समय में भी हम बुद्धि-शक्ति से रहित न हों।



[१०९] पिप्पली ओषधि का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्ता पिप्पली, भेषजम् देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यु३तातिविद्धभेषजी।
तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥ १ ॥

भा०—(पिप्पली) पिप्पली नामक ओषधि (क्षिप्त-भेषजी) क्षिप्त रोग की उत्तम ओषधि है, (उत) और (अति-विद्ध भेषजी) अतिविद्ध अर्थात् गहरी पीडा की भी उत्तम ओषधि है, (ताम्) उसको (देवाः) विद्वान् लोग (जीवितवै) जीवन को जीवित रखने के लिये ही (अलम्) पर्याप्त (अकल्पयन्) सामर्थ्यवाला बना लेते हैं। जांघ में तीव्र वेदना के चलने के रोग को 'अतिविद्ध' कहते हैं। वेदना से हाथ पैर, पटकने के रोग को 'क्षिप्त' कहते हैं।

सायण के मत से पिप्पली आदि सोंठ, मिरच, पीपली, उस 'व्योष' में पठित ओषधि का ग्रहण उचित है। ग्रीफ़िथ के मत में पिप्पली शब्द से पीपल की गुलरी लेना उचित है।

राजनिघण्टु में "अश्वत्थी, लघुपत्री स्यात् पत्रिका ह्रस्वपत्रिका, पिप्पलिका वनस्था च क्षुद्रा चाश्वत्थसंनिभा" इस प्रकार अश्वत्थी पिप्पलिका का उल्लेख किया है जिसके गुण मधुर, कषाय, रक्तपित्तनाशक, विष, दाहनाशक और गर्भिणी के लिये हितकारी है। इसके अतिरिक्त

पिप्पली, तृड्, ज्वर, उदररोग, जन्तु, आमरोग, वातरोग श्वास, कास, श्लेष्मा, क्षय इनकी भी नाशक है । वेद में प्रदर्शित गुण, कटुगण की पिप्पली के, प्रतीत होते हैं। इसका मूल पिप्पलीमूल है, वह भी वात-नाशक और श्लेष्मा और कृमि का नाशक है। इसके दो भेद हैं श्रेयसी, और गजपिप्पली वह भी श्लेष्मा और वायु का नाश करती है, माता का दूध बढ़ाती है। इसका एक भेद 'सैहली' है वह कफ, श्वास, पीड़ा को नाश करती है, पेट को साफ़ करती है। सामान्यतः पिप्पली सर्वरोग नाशक रसायन कहाती है।

पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ २ ॥

यजु० १२ । ९१ । तृ० क्ष० ॥ (तृ० च०) १० । ९७ । १७ । तृ० च० ॥

भा०—(पिप्पल्यः) पिप्पली के पूर्वोक्त सब प्रकार के भेदवाली ओषधियां जो पिप्पली नाम से कहाती हैं (आयतीः) आती हुई (सम् आ वदन्त) परस्पर मानों ऐसा कहती हैं कि (जननाद् अधि) जन्म से लेकर हम (यम्) जिस (जीवम्) जीव या प्राणधारी शरीर को (अश्नवामहै) व्याप लेती हैं (सः) वह (पूरुषः) पुरुष (न रिष्याति) कभी वात आदि रोग से पीड़ित नहीं होता।

असुरास्त्वा न्यखनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः ।
वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥ ३ ॥

भा०—हे पिप्पलि! (वाती-कृतस्य) तीव्र वात द्वारा पैदा हुए रोग की (भेषजीम्) ओषधि और (क्षिप्तस्य) क्षिप्त–'अलाउठा' नामक रोग की (भेषजीम्) उत्तम औषध (त्वा असुराः नि-अखनन्) तुझको असुर = प्राण विद्या के जानने वाले वैद्य लोग निरन्तर खोद लेते हैं और (देवाः) विद्वान् लोग (पुनः) बार बार (उद्–अवपन्) उखाड़ लेते हैं।

[११०] सन्तान की रक्षा और सुशिक्षा ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । १ पंक्तिः, २-३ त्रिष्टुभौ । तृचं सूक्तम् ॥

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि ।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥ १ ॥

ऋ० ८ । ११ । १० ॥

भा०—(प्रत्नः) अति पुरातन, पुराण पुरुष (हि कम्) ही निश्चय से (अध्वरेषु) हिंसारहित यज्ञों में, देवपूजा के अवसरों में, (ईड्यः) स्तुति करने योग्य है । हे परमात्मन् ! और तू (सनात्) चिरकाल से (च) ही (होता) सब का दाता है, (च) और (नव्यः च) सदा नवीन, अजर, अमर अथवा सदा स्तुति करने योग्य होकर (सत्सि) हमारे हृदयों में विराजता है । हे अग्ने ! परमेश्वर ! आप (स्वाम्) अपने (तन्वम्) विशाल ब्रह्माण्ड को (पिप्राय) पूर्ण कर रहे हो, उसमें व्यापक हो, आप (अस्मभ्यं च) हमारे लिये (सौभगम्) उत्तम समृद्धि (आ यजस्व) प्रदान करें ।

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् ।
अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥२॥

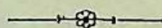
भा०—जिस स्त्री के प्रथम बालक उत्पन्न होकर मर जाय उसकी अन्य सन्तति की रक्षा करने का उपदेश करते हैं । (ज्येष्ठघ्न्यां) ज्येष्ठ = प्रथम बालक को खो चुकनेवाली मृतवत्सा स्त्री में यह बालक (जातः) उत्पन्न हुआ है, अथवा (विचृतोः) विशेष रूप से परस्पर मिले हुए दोनों बालकों में से या (यमस्य) युगल रूप से उत्पन्न हुए (एनम्) इस बालक को (मूल-बर्हणात्) नाभि में लगी नाड़ी के काटने के समय से ही (परि पाहि) रक्षा करो । (विश्वा दुरितानि) सब प्रकार के दुरित, दुष्ट उपचार, जो मां बाप या धाई की ओर से किये गये हों,

उनको बालक से (अति नेषत्) दूर कर दो। जिससे वह (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ बरस की लम्बी आयु जीवे।

सायण ने 'ज्येष्ठघ्नी' शब्द से ज्येष्ठा नक्षत्र 'विचृत्' से मूल नक्षत्र का ग्रहण किया है, और मूल नक्षत्र या ज्येष्ठानक्षत्र में उत्पन्न बालक की रक्षा करने परक अर्थ किया है। सो असंगत है। वेद में फलित आदि असत्य बातों का होना सम्भव नहीं है।

व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः।
स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम् ॥३॥

भा०—(व्याघ्रे अह्नि) जिस दिन वीर लोग व्याघ्र के समान अपना पराक्रम दिखाते हैं उस दिन संग्राम में (वीरः अजनिष्ट) जो पुत्र उत्पन्न हो वह वीर होता है और (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ (सु-वीरः) उत्तम बालक वही है जो (नक्षत्र-जाः) अस्खलित वीर्यवान्, ब्रह्मचारी गृहस्थ से उत्पन्न होता है। (सः) वह पुत्र बड़ा (सु-वीरः) बलवान् हो जाता है। (सः) वह (वर्धमानः) बड़ा होकर (पितरम्) अपने पालक पिता को (मा वधीत्) कभी न मारे और (मातरम्) मान्य माता (जनित्रीम्) जिसने उसको पैदा किया है उसको भी (मा प्रमिनीत्) कष्ट न दे। प्रायः मदोद्धत बलवान् पुत्र सम्पत्ति और बल के गर्व में आकर मा बाप को भी कष्ट देते हैं। इसलिए पुत्रों को मां बाप की रक्षा का उपदेश वेद करता है।



[१११] बद्ध जीव की मुक्ति और उन्माद की चिकित्सा।

अथर्वा ऋषिः। अग्निर्देवता। १ त्रिष्टुप्, २–४ अनुष्टुभौ। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति ॥ १ ॥

भा०—बद्ध जीव की मुक्ति के साथ साथ पागलपन रोगनिवृत्ति का भी उपाय बतलाते हैं—हे (अग्ने) अग्ने ! परमात्मन् या विद्वन् ! आचार्य ! (यः) जो (बद्धः) बन्धन में बंधा हुआ यह आत्मा (सुयतः) अपनी कर्म वासनाओं में खूब फँसा हुआ होने के कारण (लालपीति) बहुत बकता-झकता है उस (इमम्) इस (मे) मेरे (पुरुषम्) पुरुष, आत्मा को (मुमुग्धि) बन्धन से मुक्त कर । (अतः) इसी प्रयोजन से हे (अग्ने) परमात्मन् ! विद्वन् ! यह जीव (यदा) जिस समय (अनुन्मदितः) उन्माद = पागलपन, अविवेक से रहित (असति) हो जाय तब (ते) तेरा (भागधेयम्) भजन (अधिकृणवत्) करे । कर्मबन्धन में फँसा जीव बौराये हुए पागल के समान भटकता और बकता है ईश्वर करे वह जीव मुक्त हो और जब कभी उसको अपने चित्त में शान्ति प्राप्त हो वह ईश्वर का अधिक भजन किया करे ।

अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम् ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽससि ॥ २ ॥

भा०—हे आत्मन् ! हे जीव ! (यदि) यदि (ते) तेरा (मनः) मन अर्थात् संकल्पविकल्प और मनन करने वाला अन्तःकरण (उद्युतम्) उचाट हो जाय, किसी स्थान पर भी न लगे, तब मैं (विद्वान्) ज्ञानवान् आचार्य (ते) तेरी (भेषजम्) ऐसी उत्तम चिकित्सा (कृणोमि) करूं जिससे तू (अनुन्मदितः) उन्मादरहित (अससि) हो जाय । तब उस तेरे मन को (अग्निः नि शमयतु) अग्नि, ज्ञानी पुरुष शान्त करे ।

देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यदानुन्मदितोऽसति ॥ ३ ॥

भा०—(देव-एनसात्) देव—विद्वान् पुरुषों या दिव्य पदार्थों के प्रति किये पाप या अनाचार के कारण (उन्मदितम्) हुआ उन्माद हो

या (रक्षसः परि उन्मत्तम्) मानस क्रिया को रोकने वाले या ज्ञान-विघातक कारण से उत्पन्न उन्माद हो, उसकी मैं (विद्वान्) विद्वान् पुरुष (भेषजं कृणोमि) ऐसी चिकित्सा करूं (यदा अनुन्मदितः असति) जिससे पुरुष उन्मादरहित हो जाय।

पुन॑स्त्वा दुरप्स॒रस॒: पुन॒रिन्द्र॒: पुन॒र्भग॑: ।
पुन॑स्त्वा दुर्विश्वे॑ दे॒वा यथा॑नु॑न्मदि॒तो सास॑ ॥ ४ ॥

भा०—(अप्सरसः) जल में विचरने वाली विद्युत् शक्तियां या जलधाराएँ (त्वाम्) तुझे (पुनः) बार बार (दुः) चेतना प्रदान करें। (इन्द्रः) सूर्य या वायु (पुनः) चेतना प्रदान करे। (भगः पुनः) पुष्टिकारक अन्न तुझे पुनः चेतना प्रदान करे। (विश्वे देवाः पुनः त्वा) सब देव, इन्द्रियगण या विद्वान् लोग तुझे चेतना दें (यथा) जिससे तू (अनुन्मदितः असति) उन्मादरहित हो जाय।

[११२] सन्तान की उत्तम शिक्षा और विजय।

अथर्वा ऋषिः। अग्निर्देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

मा ज्ये॒ष्ठं व॑धीद॒यम॑ग्न ए॒षां मू॑ल॒बर्ह॑णात् परि॑ पाह्येनम् ।
स ग्राह्याः॒ पाशा॒न् वि चृ॑त प्रजा॒नन् तुभ्यं॑ दे॒वा अनु॑ जानन्तु॒ विश्वे॑ ॥ १ ॥

भा०—(अयम्) यह पुरुष (ज्येष्ठं मा वधीत्) अपने बड़े भाई को न मारे। हे (अग्ने) अग्ने ! परमात्मन् ! अथवा हे राष्ट्रपते ! (एषाम्) इनके (मूल-बर्हणात्) मूल-विनाश के बुरे कार्य से या मूल नाड़ी के कटने के समय से (एनम्) इस पुरुष की (परि पाहि) रक्षा कर, (सः) वह तू हे अग्ने ! (प्रजानन्) भली प्रकार जानता हुआ (ग्राह्याः) पकड़ने वाली क़ैद के (पाशान्) पाशों को (वि चृत) खोल दे। तब (देवाः) अन्य विद्वान् पुरुष भी (विश्वे) सब (तुभ्यम्) तुझे इस कार्य की (अनु जानन्तु) अनुमति दें।

कोई छोटा भाई होकर स्वार्थ या लोभ और कामवश अपने बड़े को न मारे, राजा उस पुरुष को अपना वंश नाश न करने दे और ऐसे अपराधी को तभी बन्धन या कारागार से मुक्त करे जब कि और विद्वान् लोग उसको छोड़ देने की अनुमति दें, अन्यथा उस अपराधी को कैद में ही रक्खे।

उन्मुञ्च पाशाँस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन्।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ॥२॥

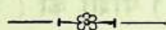
भा०—हे अग्ने! राजन्! प्रभो! (त्वम्) तू (एषाम्) इन—माता पिता और भाई के (पाशान्) पाशों को (उन्मुञ्च) खोल दे (येभिः) जिन (त्रिभिः) तीन पाशों से (एषाम्) बड़े भाई के अधिकारों पर आघात करने वालों में (त्रयः) मा बाप और छोटा भाई तीनों (उत्सिताः) बँधे हुए (आसन्) हों। (सः) वह अग्नि, राजा (प्रजानन्) उत्तम रूप से सब व्यवस्था को जानता हुआ (ग्राह्याः) कैद के (पाशान्) पाशों को (वि चृत) खोल दे और (पितापुत्रौ) बाप बेटे और (मातरम्) माता को और इस निमित्त फँसे (सर्वान्) सब को (मुञ्च) छोड़ दे।

यदि बड़े भाई के अधिकारों पर आघात हो राजा, इस दोष में सबको पकड़े और जांच पड़ताल करके जो निर्दोष हों उनको बन्धन से मुक्त करे, अन्यथा नहीं।

येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥३॥

भा०—(येभिः) जिन (पाशैः) बन्धनों से (परि-वित्तः) अपने ज्येष्ठ भाई का अधिकार हड़पने वाला पुरुष (वि-बद्धः) बांधा जाय और (अङ्गे अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में (आर्पितः) जकड़ा और (उत्सितः च)

बँधा रहे (ते) वे पाश (वि मुच्यन्ताम्) खोल दिये जायँ (हि) यदि (विमुच:) वे खोल देने योग्य ही (सन्ति) हों। तब हे (पूषन्) राजन् ! (भ्रूणघ्नि) भ्रूणघाती पुरुष पर (दुरितानि) इन अपराधों को (मृक्ष्व) जानो। 'भ्रूण' का अर्थ कोषकार 'गर्भ' करते हैं परन्तु बोधायन ने लिखा है कि—"कल्पप्रवचनाध्यायी भ्रूणः।" कल्पप्रवचनसहित साङ्ग वेद का विद्वान् 'भ्रूण' कहाता है। उसको मारने वाला 'भ्रूणहा' कहाता है। अर्थात् उक्त दोष से अन्य सभी तब मुक्त हो सकते हैं यदि उनके कार्य के नीचे किसी और पापी हत्यारे (outlaw) का हाथ हो तब केवल उस मुख्य को पकड़ कर ही दण्ड दिया जाय।



[११३] पाप अपराध का विवेचन और दण्ड।

अथर्वा ऋषिः। पूषा देवता। १,२ त्रिष्टुभौ, ३ पंक्तिः। तृचं सूक्तम्॥

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥१॥

भा०—पूर्व ज्येष्ठ भाई की हत्या के पाप की विवेचना करते हैं—(देवा:) विद्वान् व्यवहाराधिकारी शासक लोग (एतद् एनः) उस ज्येष्ठ भ्राता की हत्या के अपराध को (त्रिते) प्रथम उक्त तीनों व्यक्तियों —छोटा भाई, पिता और माता इन तीनों पर ही (अमृजत) लगाते हैं। (त्रितः) ये तीनों (एतत्) इस अपराध को (मनुष्येषु) अन्य मनुष्यों पर (ममृजे) लगाने का यत्न करते हैं। तो हे अपराधी ! (यदि) अगर (त्वा) तुझ पर (ग्राहिः आनशे) इस अपराध के कारण कैद आजाय तो (ताम्) उस कैद को (ते देवा:) विद्वान् ब्राह्मण ब्रह्म—सत्य व्यवस्था के द्वारा ही (नाशयन्तु) दूर करें। अर्थात् वे ही

[११३] १–(तृ०) 'ततो मायादि किंचिमानशे' इति तै० ब्रा०।

यथार्थ अपराधी का पता लगाकर अपराधी को पकड़ें और निरपराधी लोगों को मुक्त करें।

मरीचीर्धूमान् प्र विशानु पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान्।
नदीनां फेनाँ अनु तान् वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व॥२॥

भा०—(पाप्मन्) हे पाप मन वाले! या पापी! (मरीचीः) सूर्य की किरणों में तपने के लिये (प्रविश) तू स्वयं प्रवेश कर, (धूमान्) अथवा धुँए में सांस घुटने के लिए प्रवेश कर, (उदारान् गच्छ) या उदारचित्त वाले तथा पवित्रात्माओं के पास उपदेश के निमित्त अथवा उद्यतास्त्रों के समीप आत्मदण्ड के निमित्त (नीहारान्) अथवा हार आदि भोग्य पदार्थों से सदा के लिये वञ्चित रह, (नदीनां फेनाम् अनु) नदियों की फेनों की नाईं (तान् अनु) उन उपायों के अनुसार (वि नश्य) तू नष्ट होजा, क्योंकि हे (पूषन्)! सूर्य के समान राजन्! तू (दुरितानि) बुरे कर्मों को (भ्रूण-घ्नि) भ्रूण = वेदाज्ञा के भंग करने वाले पापी पुरुष में (मृक्ष्व) भांप लेता है।

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु॥ ३॥

भा०—(द्वादशधा) बारह प्रकार से (निहितम्) पाप स्थित रहता है, (त्रितस्य) इस पाप से तर गये का (अपमृष्टम्) वह पाप नष्ट हो जाता है, (मनुष्य-एनसानि) इस प्रकार मनुष्य के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं, (ततः) तब भी हे जीव! (यदि) अगर (त्वा) तुझे (ग्राहिः) बन्धनमय अविद्या (आनशे) लग जाय (ते) तेरे (ताम्) उस बन्धन को (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद के द्वारा (देवाः) विद्वान् पुरुष (नाशयन्तु) दूर करें। पांच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, और मन और बुद्धि ये १२ स्थान पाप के हो सकते हैं।

॥ इत्येकादशोऽनुवाकः ॥

[तत्रैकादश सूक्तानि ऋचश्च सप्तत्रिंशत्।]



[११४] पापत्याग और मुक्ति का उपाय ।

ब्रह्मा ऋषिः। विश्वे देवा देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम् ।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ १ ॥
यजु० २२ । १४ ॥

भा०—पापत्याग करने का प्रकार बतलाते हैं—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (वयम्) हम (देवासः) देव, स्वतः विद्वान्, इन्द्रिय-क्रीडा के व्यसनी होकर भी (यद्) जो (देव-हेडनम्) देव, विद्वानों के अनादर और क्रोधजनक कार्य (चकृम) करें तो (हे आदित्याः)। सूर्य के समान तेजस्वी या पापात्माओं को पकड़ने वाले पुरुषो ! (तस्मात्) उस पाप से (यूयम्) आप लोग (नः) हमें (ऋतस्य) सत्यमय ईश्वर के (ऋतेन) सत्यज्ञान, वेद-व्यवस्था न्याय के अनुसार (मुञ्चत) मुक्त करो ।

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः ।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥

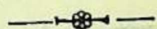
भा०—हे (आदित्याः) विद्वान्, ज्ञानी पुरुषो ! (यजत्राः) दानशील, यज्ञशील, संगतिकारी सभासद् लोगो ! आप लोग (नः) हमें (ऋतस्य ऋतेन) सत्यमय परब्रह्म के सत्यज्ञान द्वारा (इह) इस लोक में (मुञ्चत) मुक्त करो, पापों के बन्धन से मुक्त होने का उपदेश करो। हे (यज्ञ-वाहसः) यज्ञमय महानात्मा परब्रह्म को अपने अपने हृदय में धारण करने वाले विद्वानो ! हम लोग (यद्) जब (यज्ञम् शिक्षन्तः) उस ब्रह्म की शिक्षा प्राप्त करते हुए अथवा उस महान् आत्मा को प्राप्त करने में यत्न करते हुए भी (न उपशेकिम)उसको प्राप्त न कर सकें तो आप (ऋतस्य ऋतेन नः मुञ्चत) उस सत्यमय ब्रह्म के सत्यज्ञान का उपदेश करके हमें मुक्ति का मार्ग बतलावें ।

मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः ।
अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥ ३ ॥

भा०—(यजमानाः) ब्रह्म की उपासना करते हुए हम लोग (मेदस्वता) मेद = मेध = आत्मा और शरीर को धारण करनेवाले अन्न से युक्त (स्रुचा) बलप्रदाता प्राण द्वारा (आज्यानि) अपने तेजोमय इन्द्रिय रूप प्राणों को (जुह्वतः) आत्मा में लीन करते हुए (अकामाः) निष्काम, कामनारहित होकर और (शिक्षन्तः) ब्रह्म को प्राप्त करने का यत्न करके भी हम (न उपशेकिम) बन्धन से मुक्त न हो सकें तो हे (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! (वः) आप लोग हमें ब्रह्म के सत्य ज्ञान के उपदेश द्वारा, कर्म-बन्धन से मुक्त करो ।

सायण ने (मेदस्वता स्रुचा यजमानाः) इसका अर्थ करते हुए पशु-बलिमय यज्ञपरक अर्थ किया है । सो असंगत है ।

शतपथ में—मेदो वै मेधः ॥ श० ३ । ८ । ४ । ६ ॥ मेधाय अन्नाय इत्येतत् ॥ श० ७ । ५ । २ । ३३ ॥ ऐतरेय में—मेधो देवैरनुगतो व्रीहिरभवत् ॥ ऐ० । ८ ॥—ताविमौ व्रीहियवौ मेधः श० १ । २ । ३ । ३ । ६, ७ ॥ व्रीहि, यव आदि धान्य और पुरोडाश नाम मेधः = 'मेदः' है, अन्न से उत्पन्न प्राण की साधना से भी यत्न करनेवाले अभ्यासी लोग जब कर्मबन्धन से मुक्त न हों तो पहुंचे हुए ज्ञानी पुरुष उनको ब्रह्म का उपदेश करें । ब्रह्मज्ञान के उपदेश के लिये ब्रह्मचर्य और योग की अष्टांग-साधना आवश्यक है ।



[११५] पाप-मोचन और मोक्ष ।

ब्रह्मा ऋषिः । विश्वे देवा देवताः । अनुष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् ।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

भा०—(वयम्) हम (यद्) जब जब (विद्वांसः) ज्ञानवान् होकर या (अविद्वांसः) विना जाने हुए (एनांसि) अपराध या पाप कर्म (चकृम) करें, हे (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (स जोषसः) एकमत सप्रेम होकर (तस्मात्) उस पाप से (नः) हमें (मुञ्चत) मुक्त कराओ, छुड़ाओ ।

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम् ।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥ २ ॥

(प्र० द्वि०) यजु० २० । १६ प्र० द्वि० ॥

भा०—(यदि) मैं (एनस्यः) पापकारी होकर (जाग्रद्) जागते हुए (यदि) या (स्वपन्) सोते हुए (एनः) पाप (अकरम्) करूं तो जिस प्रकार (द्रुपदात् इव) द्रुपद अर्थात् खूंटे से बंधे हुए पशु को छुड़ाकर मुक्त कर दिया जाता है उसी प्रकार मेरे साथ लगे (भूतम्) भूतकाल के और (भव्यं च) भविष्यत् काल के पाप को (तस्मात्) उक्त प्रकार से मुझे (मुञ्चताम्) छुड़ाओ । अथवा (द्रुपदाद् इव भव्यं भूतं च मुञ्चताम्) खूंटे के समान मुझसे भूत अर्थात् इह लोक और भव्य अर्थात् अमुक लोक दोनों के कर्म-बन्धन को छुड़ाओ ।

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥ ३ ॥

यजु० २० । २० ॥

भा०—(द्रुपदात् मुमुचानः इव) जिस प्रकार पशु खूंटे से मुक्त हो जाता है और (स्विन्नः) पसीने से भीगा पुरुष (स्नात्वा) नहाकर (मलात् इव) जिस प्रकार मल से रहित हो जाता है और जिस प्रकार (पवित्रेण) पवित्र = कुशा के बने, अथवा पवित्र अर्थात्

३–(द्वि०) 'स्नातो' (च०) 'शुम्भन्तु' इति यजु० ।

कम्बल या छानने के कपड़े से (पूतम्) छान लिया गया (आज्यम्) घृत या जल शुद्ध पवित्र हो जाता है उसी प्रकार (विश्वे) समस्त विद्वान् पुरुष या (विश्वे देवाः) समस्त दिव्य पदार्थ जल, भूमि, चन्द्र, वायु आदि (मा) मुझे (एनसः) पाप से (शुम्भन्तु) शुद्ध करें।



[११६] पाप से मुक्त होने का उपदेश।

जारिकायन ऋषिः। विवस्वान् देवता। १, २ त्रिष्टुप्। ३ जगत्यौ, तृचं सूक्तम् ॥

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥१॥

भा०—(कार्षीवणाः) कृषि करने वाले (अन्नविदः न) अन्न विद्या के ज्ञानी पुरुषों के समान (विद्यया) ज्ञान या कृषिविद्या के अनुसार (अग्रे) पूर्व ही (निखनन्तः) भूमि को खोदते हुए (यत्) जिस (यामम्) राजनियम को स्थिर (चक्रुः) करते हैं (तत्) उसके अनुसार ही मैं अन्नपति, भूमिपति (वैवस्वते राजनि) विवस्वान् = विशेष धन या राष्ट्र के प्रति राजा के पास (जुहोमि) कररूप में दूं। (अथ) और (यज्ञियम्) यज्ञ के योग्य, यज्ञ = राष्ट्र का हितकारी (मधुमत्) बल वीर्य तथा रससम्पन्न (नः) हमारा (अन्नम् अस्तु) अन्न हो।

सायण—यामं—क्रूर कर्म। ग्रीफिथ–यामं धनं, बीजमयं धान्यम्। यमः = राजा, तत्सम्बन्धिकरदानादिसमयो यामं कर्म। यामं कर्म (श० ६। ३। २। ३] याम = नियम, व्यवस्था।

अर्थात् किसानों के खेती करते समय जो राजा का नियत कर है सबसे प्रथम उसको भूपति लोग चुकाया करें। उसके अनन्तर शेष अन्न स्वयं ग्रहण करें।

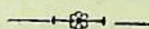
वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति ।
मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे ॥ २ ॥

भा०—(वैवस्वतः) राष्ट्र का स्वामी (भागधेयं कृणवत्) सब के हिस्सों का विभाग करता है । और (मधु-भागः) अन्न का भाग ग्रहण करने वाला राजा ही सबको (मधुना सं सृजाति) अन्न से सम्पन्न करता है । राजा को हम राजा का भाग इसलिये दें कि उसको उसका भाग न देने से दो अनर्थ उत्पन्न होते हैं—[१] (यत्) प्रथम तो (मातुः) माता पृथिवी या प्रजा का (इषितम्) अभिलषित यथार्थ अन्न (नः) हमारे पास (एनः) पापरूप में या अपराधरूप में (आ अगन्) आ जाता है, [२] (वा) और दूसरा यह (यद्) कि (पिता) पालन करने वाला राजा (अपराद्धः) कसूर करने पर (जि· हीडे) क्रोध करता है । इसलिये जिसका जो भाग हो वह उसको अवश्य दे देना चाहिए । उसको उसका हिस्सा न देने से जो (एनः) पाप होता है, उसका स्वरूप अगले मन्त्रों में स्पष्ट हो जाता है ।

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन् ॥
यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः॥३

भा०—(यदि) यदि (इदं एनः) यह पाप, दोष (मातुः) माता के (यदि वा) अथवा (पितुः) पिता के या (नः) हमारे (भ्रातुः) भाई के (चेतसः) चित्त से या (पुत्रात्) पुत्र की तरफ से (परि आ-आगन्) हम पर आवें तो (यावन्तः) जितने भी (पि· तरः) पालक पिता लोग-पिता, माता, गुरु, आचार्य, राजा आदि आद· रणीय पुरुष और जो भी (अस्मान्) हमारे (सचन्ते) संगी हैं (तेषां सर्वेषाम्) उन सब का (मन्युः) क्रोध या चित्त (शिवः अस्तु) हमारे लिये शान्त होकर हमें कल्याणकारी हो ।

जिसको भाग नहीं प्राप्त होता वही हम पर अपने भाग को हड़प जाने का दोष लगावेगा और हम पर क्रोध करेगा, वही वेद में 'एनः' कहा गया है। ऐसा 'एनस्' दोष इनके चित्त से हम पर आ लगता है। अर्थात् उनका चित्त हम पर दोष आरोपण करता है। तब हिस्सा न पाकर जब कलह हो तो हमारे बड़े वृद्ध पुरुष ही उसको शांत करें और हमारा फैसला करा दिया करें।



[११७] ऋणरहित होने का उपदेश।

अनृणकामः कौशिक ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुभः। तृचं सूक्तम् ॥

अ॒प॒मि॒त्य॒मप्र॑तीत्तं॒ यदस्मि॑ य॒मस्य॒ येन॑ ब॒लिना॒ चरा॑मि।
इ॒दं तद॑ग्ने अनृ॒णो भ॑वामि॒ त्वं पाशा॑न् वि॒चृतं॑ वेत्थ॒ सर्वा॑न् ॥ १ ॥

भा०—ऋण-परिशोध का उपदेश करते हैं—(यद्) जिस (अप-मित्यम्) अपमान योग्य या प्रदान करने योग्य (अप्रतीतं) न चुकाये हुए धन को (अस्मि) लेता हूँ और (यमस्य) नियन्ता राजा के राज्य में (येन) जिस (बलिना) बलि, कर से (चरामि) मैं स्वयं अपना भोजन प्राप्त करूं (इदं तत्) उसको मैं यह हे (अग्ने) राजन्! तेरे समक्ष ही चुका दूं और इस प्रकार उससे मैं (अनृणः) ऋणरहित (भवामि) हो जाऊं। हे अग्ने! राजन्! (त्वम्) तू ही (सर्वान् पाशान्) सब बन्धनों को (विचृतम्) नाना प्रकार से बांधना और खोलना भी (वेत्थ) जानता है।

राजा की साक्षी में जिसका ऋण देना हो दो और राजा का कर भी चुकाओ, नहीं तो वह न चुकानेवाले क़र्ज़दार को नाना प्रकार के दण्ड देगा।

इ॒हैव सन्तः॒ प्रति॑ दद्म एनज्जी॒वा जी॒वेभ्यो॒ नि ह॑राम एनत्।
अ॒प॒मि॒त्य॑ धा॒न्यं१॒॑ यज्ज॒घसा॒हमि॒दं तद॑ग्ने अनृ॒णो भ॑वामि ॥ २ ॥

भा०—हम लोग (इह एव) इस लोक में ही (सन्तः) वर्त्तमान रहते रहते (एनत्) उस ऋण को (प्रति दद्मः) चुका दिया करें। और (जीवा:) हम जीते जी (जीवेभ्यः) जीते हुए पुरुषों के (एनत्) इस ऋण को (नि हराम:) सर्वथा साफ़ कर दिया करें। (यत् धान्यम्) जो धान्य आदि ऋण लेकर भी (अहं जघस) मैं खाऊं, उसको भी (अप मित्य) वापिस देकर हे (अग्ने) न्यायाधीश ! (इदं तत्) यह इस प्रकार मैं (अनृणः) ऋणरहित (भवामि) होऊं।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियम ॥ ३ ॥

भा०—लौकिक और पार्थिव दोनों ऋणों की विवेचना करते हैं—हम लोग (अस्मिन्) इस (लोके) लोक में और (परस्मिन्) परलोक में और (तृतीय लोके) तृतीय लोक में भी (अनृणा:) ऋणरहित (स्याम) हो जाएं। (ये देव-यानाः) जो देवों, विद्वानों के जीवनयापन के योग्य देवयान लोक हैं और जो (पितृयाणाः च लोकाः) पितृयाण लोक हैं (सर्वान्) उन समस्त (पथः) मार्गों में हम (अनृणाः) ऋणरहित होकर ही (आ क्षियेम) रहा करें। इस लोक के दो प्रकार के ऋण हैं एक तो जो अधमर्ण होकर उत्तमर्णों से सुवर्ण, रजत, धान्य, वस्त्रादि लिया जाता है, दूसरा पितृऋण, देवऋण और ऋषिऋण हैं। जैसे तैत्तिरीय संहिता में लिखा है "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः ॥ तै० सं० ६। ३। १०।५] ऋणं ह वै जायते, योऽस्ति स जायमान एव देवेभ्यः ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः। स यदेव यजते तेन देवेभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्यः एतत्करोति यदेनान् यजते यदेभ्यो जुहोति। अथ यदेवानुब्रवीत तेन ऋषिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति ऋषीणाम्नि-

धिगोपा इति ह्यनूचानमाहुः। अथ यदेव प्रजामिच्छेत तेन पितृभ्य ऋण॰ मिच्छते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेषां सन्तताऽव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति। अथ यदेव वासयते तेन मनुष्येभ्यः ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेनान् वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य एतानि सर्वाणि करोति स कृतकर्मा, तस्य सर्वमाप्तं सर्वं जितम्।" शत० का० १।७।२। १-५॥ ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन ऋणों से ऋणवान् हो जाता है, ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास करके ऋषियों का, यज्ञों से देवों का और प्रजा से पितृ लोगों का ऋणशोध होता है। (तै० सं०) जो भी उत्पन्न होता है उस पर देव, ऋषि, पितर और मनुष्य चारों के ऋण हो जाते हैं। यज्ञों से देवों का ऋण उतरता है, अनुप्रवचन और अध्ययन कार्य से ऋषियों का ऋण उतरता है, विद्यावान् पुरुष ऋषियों का 'निधिगोपा' अर्थात् ख़ज़ानची कहाता है। प्रजाओं से पितरों का ऋण उतरता है इससे प्रजातन्तु टूटता नहीं। मनुष्यों के घरों में अतिथिरूप से रहने और भोजन करने से मनुष्यों का ऋण होता है। घर पर अतिथियों को वास देने और भोजन वस्त्र देने से मनुष्यों का ऋण चुकता है। जो इन सब कार्यों को करता है वह 'कृतकर्मा' है उस को सब प्राप्त होता है वह सब पर विजय प्राप्त करता है।



[११८] ऋण के आदान और शोध की व्यवस्था।

अनृणकामः कौशिक ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः॥ १॥

भा०—कुमार्ग में या जूआ आदि व्यसनों में ऋण लेने और देने की व्यवस्था करते हैं—(अक्षाणाम्) अक्ष = जुए के पासों को (गत्नुम्) क्रीड़ा को अथवा उनके द्वारा प्राप्त होने वाले अर्थलाभों को (उपलिप्स-

माना:) प्राप्त करने का लोभ करते हुए (हस्ताभ्याम्) हाथों से (यत्) जब (किल्बिषाणि) पाप (चक्रम) करें (तत्) तब (अद्य) तत्काल ही (उग्रं पश्ये) उग्र, उद्यतदण्ड होकर देखने वाली और (उग्रजितौ) उग्रता से सब को वश करने वाली (अप्सरसौ) दोनों राजा और प्रजा की संस्थायें (नः) हमारे (ऋणम्) ऋण, अर्थदण्ड को (अनु = दत्ताम्) हम से दिलावें। अर्थात् धन के लोभ से जब जब हम जूआ आदि कार्यों में हाथ डालें तब तब प्रजा की व्यवस्थापक संस्थायें हमें पकड़ लें और दण्डपूर्वक हमारा ऋण हमसे चुकवावें। प्रजा पर निगरानी करने वाली दो संस्थाएं एक उग्रंपश्या दूसरी उग्रजित्, एक C. I. D. 'क्रिमिनल इनवैस्टिगेटिंग डिपार्टमेंट' पापियों को खोज खोज कर पता लगाने वाली, दूसरी 'उग्रजित्' पोलिस, अपराधियों को खोज खोज कर दण्ड देने वाली। ये दोनों संस्थाएं प्रजा में (अप्सरसौ) गुप्त रूप से विचरें, अपराधियों का पता लगावें और उनको दण्ड दें। यहां सायण, ग्रीफिथ और क्षेमकरण तीनों भाष्यकारों के भाष्य अस्पष्ट हैं। इसी विषय का स्पष्टीकरण अगले मन्त्र में देखो।

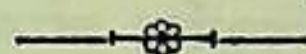
उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत् ॥ २ ॥

भा०—हे (उग्रं-पश्ये) उग्र होकर प्रजा के अपराधियों को देखने वाली संस्थे ! और हे (राष्ट्र-भृत) राष्ट्र को अपराधी पुरुषों से बचाकर उसका पालन करने वाली संस्थे ! हे पूर्वोक्त दोनों संस्थाओ ! (यद्) जो (अक्ष-वृत्तम्) जुआख़ोरी में होने वाला पाप और जो जो (किल्बिषाणि) अन्य पाप हैं उन सबको (एतत्) इस प्रकार से (अनु दत्तम्) उनके अनुकूल हमें दण्ड दें और हमें जुआखोरी आदि व्यसनों से क़र्ज़दार होने से बचावें, जिससे (ऋणात्) ऋणवान् पुरुष से (ऋणम्) अपने ऋण को (न) नहीं (एर्त्समानः = आ ईर्त्समानः) प्राप्त करे

तो उत्तमर्ण हम पर (अधि-रज्जुः) रस्सी या हथकड़ी लगाता हुआ (यमस्य लोके) नियन्ता के दरबार में (नः) हमें (आयत्) ले आवे ।

यस्मा॑ ऋ॒णं यस्य॑ ज॒ायामु॒पैमि॒ यं याच॑मानो अ॒भ्यैमि॑ देवाः ।
ते वाचं॑ वादिषु॒र्मोत्त॑रां मद्देव॑पत्नी अप्स॑रसा॒वधी॑तम् ॥ ३ ॥

भा०—(यस्मै) जिसके (ऋणम्) ऋण को मैं धारूँ और (यस्य) जिस पुरुष की (जायाम्) स्त्री का (उप-एमि) अनधिकार से उपभोग करूँ। और या (यम्) जिसके पास (याचमानः) धन की या ऋण की याचना करता हुआ (अभि-एमि) पहुंच जाऊँ (हे देवाः) हे देवगण ! विद्वान् राजपुरुषो ! (ते) वे लोग (मत्) मुझ से (उत्तराम्) उत्कृष्ट, अधिक या दूसरी (वाचम्) वाणी को (मा वादिषुः) न बोलें । हे (देवपत्नी अप्सरसौ) विद्वानों का पालन करने और रक्षा करने वाली प्रजा की संस्थाओ ! यह बात (अधीतम्) सदा स्मरण रखो । अर्थात् मुद्दई और मुद्दालय दोनों की एक बात होनी चाहिए । अपराधी उस दोष को स्वीकार करे जो दोष उसके ऊपर आरोपक लगाता है । यदि मुद्दे मुद्दायला दोनों की बातों फ़र्क हो तो विद्वत्-संस्थाएं, पंचायतें या ज्यूरियें इस पर विचार करें । वेदमन्त्र में यही बात लिखी है कि अपराधी का जितना दोष हो आरोपक उससे अधिक दोष धर्माधिकारियों के सामने उस पर न लगावें ।



[११९] ऋण और दोष का स्वीकार करना ।

अनृणकामः कौशिक ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यदर्दी॑व्यन्नृ॒णम॒हं कृ॒णोम्यदा॑स्यन्नग्न उ॒त सं॑गृ॒णामि॑ ।
वैश्वान॒रो नो॑ अधि॒पा वसि॑ष्ठ उदिन्न॑याति सुकृ॒तस्य॑ लो॒कम् ॥१॥

भा०—(अहम्) मैं (यद्) जो (ऋणम्) ऋण (अदीव्यन्) जूआ खेले बिना या बिना व्यसन-क्रीड़ा किये अपने आप करलूं (उत) और (अदास्यन्) उसको न चुका कर भी (सं-गृणामि) देने की प्रतिज्ञा करलूं तो हे (अग्ने) राजन् ! तू (वैश्वानरः) सब पुरुषों का हितकारी (वसिष्ठः) सब में वास करनेवाला सब के भीतर समान रूप से आदर प्राप्त, (अधि-पाः) सबका स्वामी, राजा होकर (नः) हमें (सु-कृतस्य) पुण्य के लोक में (इत्) ही (उत् नयाति) ऊपर उठा ले । अर्थात् यदि कोई ऋण के कारण कैद पड़ा हो और वह ऋण जुआखोरी आदि बुरे काम से न हुआ तो उसको ऋण दे देने की सत्य प्रतिज्ञा कराके पुनः निरपराध के समान मुक्त कर दिया जाय ।

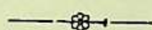
वैश्वानराय प्रति वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु ।
स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम॥२॥

भा०—मैं ऋणी या दोषी पुरुष (वैश्वानराय) समस्त पुरुषों के हितकारी, जज, मजिस्ट्रेट या धर्माध्यक्ष के समक्ष (यद् ऋणम्) जो मेरे ऊपर ऋण है उसको (प्रति-वेदयामि) स्पष्टरूप से स्वीकार करता हूँ । और (देवतासु) देव, विद्वान् पंचों के बीच (यः संगरः) जो मेरी प्रतिज्ञा है उसको भी निवेदन करता हूं । (सः) वह धर्माध्यक्ष ही (एतान् सर्वान् पाशान्) इन सब दण्डव्यवस्थाओं को (वि चृतम्) स्पष्टरूप से (वेद) जानता है (अथ) और हम सब प्रजागण (पक्वेन सह) परिपक्व, सुविचारित परिणाम के साथ (सं भवेम) सहमत हों ।

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावाम्याशाम् ।
अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैनो अप तत् सुवामि ॥३॥

भा०—(पविता) सत्य और असत्य दोनों का विवेक करनेवाला (वैश्वानरः) सर्वहितकारी धर्माध्यक्ष अपने सत्य विवेक से (मा)

मुझे (पुनातु) पवित्र करे (यत्) जब कि मैं (संगरम्) किसी प्रतिज्ञा, (आशाम्) या किसी इच्छा को (अभि धावामि) करूं, अर्थात् असत्य प्रतिज्ञाओं या असत्य इच्छा के करते समय मुझे धर्माध्यक्ष का सदा भय रहे । (याचमानः) मांगता हुआ (अनाजानन्) विना जाने अर्थात् अज्ञानमय, (मनसा) संकल्प-विकल्प द्वारा (तत्र) उस मांगने के सम्बन्ध में (यत्) जो (एनः) पाप या अपराध कर बैठता हूं (तत्) मेरे उस अपराध को भी (अप सुवामि) धर्माध्यक्ष द्वारा दूर करूं ।



[१२०] पापों का त्याग कर उत्तम लोक को प्राप्त होना ।

कौशिक ऋषिः । मन्त्रोक्ता देवता । १ जगती, २ पंक्तिः, २ त्रिष्टुप् ।

तृचं सूक्तम् ॥

यदुन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम ।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥१

भा०—(यद्) यदि हम (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षगत प्राणियों को, (पृथिवीम्) पृथिवी, पृथिवीगत प्राणियों को (द्याम्) द्युलोक, द्युलोक के विद्वान् प्राणियों को, और (यत् मातरम्) जो माता (वा पितरम्) या पिता, अपने परिपालक को (जिहिंसिम) मारें, पीड़ा दें, तो (गार्हपत्यः अग्निः) गार्हपत्य अग्नि, गृहों का स्वामी नेता या भूलोक का स्वामी राजा या परमेश्वर (नः) हमें (तस्मात्) उस बुरे कार्य से (इत्) अवश्य (उत् नयाति) उन्नत करे और (सुकृतस्य लोकम्) सुकृत, उत्तम पुण्यलोक में प्राप्त करावे ।

पृथिवी, आकाश और उससे भी ऊँचे द्यौः में विचरने वाले या प्राणियों का नाश करने वा पृथिवी, अन्तरिक्ष, वायु और सूर्य जैसे उपकारक पदार्थ का नाश करना अर्थात् इसका यथोचित उपयोग न

लेकर इन्हें अन्यथासिद्धसा जानना, और माता पिता को दुःख देना यह जंगलीपन का जीवन है। घर बसा कर उसमें अग्निस्थापन करना ज्ञानाग्नि के स्थापन एवं अपने राजा के स्थापन का प्रतिनिधि है, अर्थात् मनुष्य बर्बरता के जीवन से उठ कर गृहपति, सरकार या राजशासन का स्थापन करे और उन्नत जीवन व्यतीत करे।

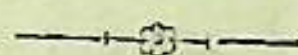
भूमि॑र्मा॒तादि॑ति॒र्नो ज॒नित्रं॒ भ्राता॒न्तरि॑क्षम॒भिश॑स्त्या नः ।
द्यौर्नः॑ पि॒ता पि॒त्र्या॒च्छं भ॑वाति जा॒मिमृ॒त्वा माव॑ पत्सि
लो॒कात् ॥ २ ॥

भा०—पूर्व मन्त्र में कही परिभाषाओं को और भी स्पष्ट करते हैं—(भूमिः) भूमि, सबका उत्पत्तिस्थान (अदितिः) अखण्डित या अदीन होकर न हमारी (माता) माता के समान ही (जनित्रम्) हमें उत्पन्न करने वाली है। और (अन्तरिक्षम्) उसमें विचरने वाला वायु (भ्राता) हमारे भाई के समान हमें भरण-पोषण करने वाला है। और (द्यौः) यह आकाश या सूर्य (नः पिता) हमारे वीर्यसेक्ता पिता के समान ऊपर से जलवर्षक और प्रकाशप्रद या जीवनप्रद है। ये (नः) हमें (अभिशस्त्या) अपवाद से अथवा अभिशस्ति = चारों तरफ से आनेवाली पीड़ाजनक विपत्तियों से दूर करें और उनमें से प्रत्येक (शं भवाति) कल्याण और सुखकारी हो, और मैं (जामिम्) अपनी भगिनी का (ऋत्वा) संग करके (पित्र्यात्) परम पिता के (लोकात्) लोक से (मा अव पत्सि) न गिरूं। अथवा—(जामिम्) अपनी भगिनी का (ऋत्वा) संग करके (पित्र्यात् लोकात्) पिता के घर से, पितृकुल से (मा अव पत्सि) न गिर जाऊँ। अर्थात् मा बाप, भाई हमारा कल्याण करें और हम दोष या भगिनी आदि से निषिद्ध संग करके उनके अपवाद के पात्र न हों, प्रत्युत पुण्याचरण से अपने उत्तम कृत्य में प्रतिष्ठित बने रहें।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ ३ ॥

अथर्व० (प्र० द्वि०) ३।२८।५॥

भा०—(यत्र) जहां (सुहार्दः) उत्तम हृदयवाले (सुकृतः) पुण्याचारी पुरुष (स्वायाः तन्वः) अपने शरीर के (रोगं विहाय) रोगों से मुक्त होकर (अंगैः) अंगों से (अश्लोणाः) अविकृत (अह्रुताः) कुटिलता से रहित, सरलस्वभाव होकर (मदन्ति) आनन्द से जीवन व्यतीत करते हैं, हम भी (तत्र) वहां उन लोगों के बीच (स्वर्गे) उसी सुखमय देश में (पितरौ) अपने मां बाप और (पुत्रान् च) पुत्रों को आनन्द प्रसन्नरूप में विचरते हुए (पश्येम) देखें ।



[१२१] त्रिविध बन्धन से मुक्ति ।

कौशिक ऋषिः । मन्त्रोक्तदेवत्यम् । १,२ त्रिष्टुभौ, ३ ४ अनुष्टुभौ ।
चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

विषाणा पाशान् वि ष्याध्यस्मद् य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
दुःष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर ! (ये उत्तमाः) जो उत्तम, सात्विक, और (अधमाः) जो अधम, नीच, तामस (वारुणाः) वरुण परमात्मा के बनाये हुए पाश हैं उन (पाशान्) पाशों को (अस्मत्) हमसे (विषाणा[1] = वि-साना) मुक्त करता हुआ (अधि वि स्य) उन का अन्त कर दे । और (अस्मद्) हम से (दुःस्वप्न्यम्) दुष्ट कामविकारों से उत्पन्न होने वाले बुरे स्वप्नों और (दुरितम्) बुरी चेष्टाओं को (नि स्व =

१—सुपां आत्वम् ।

नि सुव) दूर कर । (अथ) और उसके बाद हम (सु-कृतस्य) उत्तम पुण्य के (लोकम्) लोक = जन्म या अवस्था को (गच्छेम) प्राप्त हों ।

यद् दारु॑णि ब॒ध्यसे॒ यच्च॒ रज्ज्वा॒ं यद् भूम्या॑ं ब॒ध्यसे॒ यच्च॑ वा॒चा ।
अ॒यं तस्मा॒द् गार्ह॑पत्यो नो अ॒ग्निरुदिन्न॑याति सुकृ॒तस्य॑ लोकम्
॥ २ ॥ (तृ० च०) अथर्व० ६।१२०।१॥

भा०—हे जीव ! (यत् च) जो तू (दारुणि) काष्ठ में (यत् च रज्ज्वाम्) और जो तू रस्सी में और (यद् भूम्याम्) जो तू भूमि में (बध्यसे) बांधा जाता है और (यत् च वाचा) जो तू वाणी से बांधा जाता है (तस्मात्) उस बंधन से (नः गार्हपत्यः) हमारे गृहों का स्वामी (अग्निः) परमेश्वर राजा (अयम्) यह साक्षात् (इत्) ही (सुकृतस्य) पुण्य, शुभ कर्म से प्राप्त होने वाले (लोकम्) प्रकाशमय लोक को (उत् नयाति) लेजाता है । दारु = काष्ठ = शरीर, रज्जू = रस्सी, गुणमयी प्रकृति; भूमि = योनि, मनुष्यादिजन्म, वाक्, वाणी, वेदाभ्यास, शिक्षा, उपनयनादि द्वारा वेदादिकृत धर्माधर्म की व्यवस्था, इन सब बन्धनों से जीव को उन्नत लोकों में प्राप्त कराता है । इसी प्रकार राजा के सब दण्ड अपराधी की उन्नति के लिये होने चाहियें ।

उद॑गाता॒ं भग॑वती वि॒चृतौ॒ नाम॒ तार॑के ।
प्रेहामृत॑स्य यच्छता॒ं प्रैतु॑ बद्धक॒मोच॑नम् ॥ ३ ॥
(प्र० द्वि०) अथर्व० २ । ८ । १ प्र० द्वि० ।

भा०—(भगवती) ऐश्वर्य, बल से सम्पन्न (विचृतौ) विशेष रूप से परस्पर सम्बद्ध प्राण और अपान नामक (तारके) जीव को शरीर से तराने वाले (उद् अगाताम्) जब ऊर्ध्व गति करते हैं तब वे दोनों (अमृतस्य) अमृत, आत्मा का अमृत स्वरूप (प्र यच्छताम्)

प्रदान करें तब (बद्धक-मोचनम्) वह आत्मा बद्ध अवस्था से मुक्त अवस्था को (प्रैतु) प्राप्त करे।

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम्।
योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वाँ अनु क्षिय ॥ ४ ॥

भा०—हे जीव! इस बन्धनमय लोक = शरीर को (वि जिहीष्व) विशेष ज्ञानपूर्वक निःसंग हो, परित्याग कर। अथवा (वि जिहीष्व) नाना शरीरों में गति कर, (लोकं कृणु) और अपने प्राप्त होने योग्य उत्तम लोक को स्वयं अपने कर्मबल से सम्पादन कर, (बद्धकम्) अपने आप बँधे हुए अपने को तू (बन्धात्) बन्धन से (मुञ्चासि) छुड़ा। और (योन्याः) योनि से (प्रच्युतः) पूर्ण रूप से बाहर आये हुए (गर्भ इव) बालक के समान (सर्वान्) सब (पथः) मार्गों में, लोकों में (अनु) अपनी इच्छा अनुकूल (क्षिय) निवास कर, उनमें विचर। मुक्तात्मा यथासंकल्प लोकों में विचरते हैं।



[१२२] देवयान, पितृयाण और मोक्षप्राप्ति।

भृगुर्ऋषिः। विश्वकर्मा देवता। १-३ त्रिष्टुभः; ४, ५ जगत्यौ।

पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य।
अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम ॥ १ ॥

भा०—हे (विश्वकर्मन्) परमात्मन्! समस्त विश्व = जगत् के बनाने वाले जगदीश्वर! तू (ऋतस्य) ऋत = सत्यज्ञान अथवा इस गतिमान् जगत् के भी (प्रथमजाः) प्रथम-पूर्व ही तू उसके मूलकारण रूप से विद्यमान रहता है। (विद्वान्) इस प्रकार जानता हुआ मैं

मुमुक्षु (एतं भागम्) इस शरीर भाग को भी (परि ददामि) तेरे ही प्रति अर्पण करता हूँ। (अस्माभिः) हम लोगों द्वारा (जरसः परस्तात्) जरा, बुढ़ापे के बाद, (दत्तम्) तेरे प्रति अर्पण किये इस (अच्छिन्नम्) विच्छेदरहित, अमर, अविनाशी (तन्तुम्) व्यापक, यज्ञरूप, प्राणमय आत्मा की (अनु) निरन्तर खोज में (सं तरेम) भली प्रकार लग कर उसको प्राप्त हों, इस भवसागर को तर जाएँ। अथवा (जरसः परस्तात् दत्तं अच्छिन्नं तन्तुं अनु संतरेम) संसार में दिये, कभी न टूटने वाले सन्तानरूप प्राकृतिक तन्तु = सिलसिले द्वारा हम वार्धक्य के बाद संतरण करें, भवसागर से तरें।

तृतं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दृत्तं पित्र्यमायनेन।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव॥२॥

भा०—(येषाम्) जिन्होंने (आयनेन) शरीर में पुनः आगमन द्वारा अथवा (आयनेन) सन्तान की प्राप्ति द्वारा (पित्र्यम्) पितृऋण को (दत्तम्) दे दिया, या चुका दिया है, (एके) वे लोग (ततं तन्तुम् अनु) इस अविच्छिन्न तन्तु, प्रजासन्तति को उत्पन्न करके ही (तरन्ति) इस संसार के कर्तव्य मार्ग को पार कर जाते हैं। और (एके) दूसरे लोग (अबन्धु) बन्धु अर्थात् सन्तानरहित होकर भी (ददतः) अपने प्रदान करने वाले महाजन को (दातुं शिक्षान्) ऋण देने में समर्थ व्यक्तियों के समान ही (प्रयच्छन्तः) अपनी विद्या-धन आदि का प्रदान करते हुए, (चेत्) यदि (ददतः दातुम्) सबके प्रदाता महादानी ईश्वर के ही निमित्त सब कुछ अर्पण करने में समर्थ हो जायँ तो उनके लिये (सः एव स्वर्गः) वही परम त्यागमय निःसंगता ही परम सुखप्रद दशा है।

२-(प्र०) अनुसंचरन्ति (द्वि०) 'आयन्वत' (तृ०) 'प्रयच्छात' (च०) 'शक्नुवांसः स्वर्गं एषाम्' इति तै० आ०।

अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम्॥३

भा०—पितृयाण मार्ग का उपदेश करते हैं—हे (दम्पती) स्त्री-पुरुषो ! आप दोनों (एतं लोकम् अनु आरभेथाम्) इस लोक के अनुकूल अपना गृहस्थधर्म पालन करो और (श्रत्-दधानाः) इस लोक के लिये कर्म द्वारा प्राप्त फल को भी श्रत् = सत्य रूप से श्रमपूर्वक धारण-पोषण करते हुए (अनु सं रभेथाम्) तदनुसार उत्तम रीति से सब कार्य सम्पादन करो। और (यत्) जो भी (वाम्) तुम दोनों का (पक्वम्) सुपक्व, उत्तम परिणाम, फल पुत्ररूप आदि (अग्नौ) अग्नि-रूप गृहस्थाश्रम में (परिविष्टम्) प्राप्त हो (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षा करने के लिये (सं श्रयेथाम्) परस्पर एक दूसरे का आश्रय लो।

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम॥४॥

भा०—देवयान मार्ग का उपदेश करते हैं—मैं (तपसा) तपस्या द्वारा (मनसा) मनःशक्ति द्वारा (यन्तम्) प्राप्त होनेवाले (बृहन्तम्) उस महान् (यज्ञम्) पूजनीय, प्राप्य परम वैद्य, वेदनीय ईश्वर को, (सयोनिः) एकमात्र उसका अनन्य आश्रय लेकर, (अनु आरोहामि) प्राप्त होऊं। हे अग्ने ! प्रकाशस्वरूप प्रभो ! (जरसः परस्तात्) इस जरा, बुढ़ापे के गुजरने के बाद हम लोग (उपहूताः) मानो ईश्वर से बुलाये हुए होकर (तृतीये नाके) तृतीय, परम, तीर्णतम, लोक में (सधमादम्) सब मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ परम आनन्द का अनुभव करते हुए (मदेम) परम सुख का लाभ करें।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् साद-
यामि। यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु
तन्मे ॥ ५ ॥ अथर्व० ११ । १ । २७ ॥ १० । ९ । २७ ॥

भा०—(इमाः) इन (यज्ञियाः) यज्ञ अर्थात् गृहस्थ यज्ञ का संपादन करने वाली (शुद्धाः पूताः) शुद्ध पवित्र (योषितः स्त्रियों) को (ब्रह्मणाम्) वेदज्ञानी विद्वानों के (हस्तेषु) हाथों में (प्रपृथक्) पृथक् पृथक् (सादयामि) प्रदान करता हूं। (अहम्) मैं कन्या का पिता (यत्कामः) जिस मनोरथ से (इदम्) उस प्रकार (वः) स्त्री-पुरुषों के जोड़े बने हुए तुम दम्पतियों को (अभि षिञ्चामि) जल से अभिषिक्त करता हूं। (सः इन्द्रः) वह परमात्मा (मरुत्वान्) समस्त शक्तियों का स्वामी (मे) मेरे (तत्) उस प्रयोजन को (ददातु) प्रदान करे, पूर्ण करे।

कन्या के पिता का प्रयोजन योग्य विद्वान् के साथ कन्यादान करने का यही होता है कि कन्या यशस्विनी होकर उत्तम प्रजा उत्पन्न करे और सुख से रहे।



[१२३] मुक्ति की साधना।

भृगुर्ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। १, २ त्रिष्टुभौ, ३ द्विपदा साम्नी अनुष्टुप्, ४ एकावसाना द्विपदा प्राजापत्या भुरिगनुष्टुप्, ५ अनुष्टुप्। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

५–(च०) 'सद्ददा दिदंमे इति अथर्व० ११ । १ । २६ ॥ (प्र०) अपो देवीर्घृतमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणा (च०) तन्मे सर्वं सम्पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम्' इति अथर्व० १० । ९ । २७ ॥

[११३]१–(द्वि०) 'सधस्थ' 'ते' (द्वि०) 'आवहात् शेवधिं' (तृ०) 'यज्ञपतिर्वो अत्र' इति यजु० ।

एतं सधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः ।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमन् ॥१॥

यजु० १८ । ५९ ॥

भा०—ईश्वर उपदेश करता है कि हे (सधस्था) सदा साथ रहने वाले (वः) तुम लोगों को (एतम्) यह (शेवधिम्) ख़ज़ाना मैं (परि ददामि) सौंपता हूं (यम्) जिसे कि (जातवेदाः) वेदोत्पादक प्रभु (आवहात्) तुम तक पहुंचाया करता है । हे विद्वान् पुरुषो ! (यजमानः) यज्ञ करने वाला जो पुरुष (स्वस्ति) कुशल क्षेम सहित (अनु आगन्ता) इस ज्ञानमय खज़ाने का अनुसरण करता है (तम्) उसको (परमे व्योमन्) परम उत्कृष्ट, विशेष सुरक्षित, मुक्तिधाम में प्राप्त हुआ (जानीत) जानो ।

जानीत स्मैनं परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद लोकमत्र ।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै ॥ २ ॥

यजु० १८ । ६० ॥

भा०—हे (सधस्थाः देवाः) सदा साथ रहने वाले विद्वान् पुरुषो ! (एनम्) इस यज्ञकर्ता पुरुष को भी (परमे व्योमन्) परम उत्कृष्ट रक्षास्थान में प्राप्त हुआ (जानीत) जानो । (अत्र) इसी स्थान पर (लोकम्) इसका लोक = स्थान या भोग्य भोग जानो । (यजमानः) दान देने वाला और देवार्चन, ईश्वर-भजन करने वाला पुरुष ही यहां (स्वस्ति) कुशलपूर्वक (अनु आगन्ता) पहुँच सकता है । आप लोग (अस्मै) इस के लिये (इष्टापूर्तम्) इष्ट = यज्ञ आदि तथा ईश्वरपूजा आदि का आपूर्त = कूपतडागादि उपकारजनक कार्यों का (आविःकृणुत स्म) उपदेश करो । उन कार्यों को करके यह उच्चगति प्राप्त करे ।

२–(प्र०) 'एतं जानाथ' (द्वि०) 'विदः रूपमस्य' (तृ०) यदागच्छात् पथिभिर्देवयानैः' (च०) 'इष्टापूर्ते कृणुताथ' इति यजु० ।

देवाः पितरः पितरो देवाः । यो अस्मि सो अस्मि ॥ ३ ॥

भा०—(देवाः) देव विद्वान् पुरुष ही (पितरः) मेरे पालनकर्त्ता हैं और (पितरः) पालकगण ही (देवाः) सब गूढ़ रहस्यों के प्रकाशक देव हैं । और मैं आप लोगों का शिष्य (यः अस्मि) जो वास्तव में हूँ (सः अस्मि) वही आत्मा हूँ । मुझे यथार्थ रूप से उपदेश करो ।

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् ॥ ४ ॥

भा०—(सः) वही मैं आत्मचैतन्य ज्ञानी (पचामि) कर्मफलों का परिपाक करता हूँ, (सः) वही मैं (ददामि) दान करता हूँ । (सः यजे) वही मैं ईश्वर की आराधना करता हूं । सः) वही मैं (दत्तात्) अपने दानभाव, त्याग-भाव या आहुतिरूप उत्तम कर्म से (मा यूषम्) पृथक् न होऊं ।

नाके राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रति तिष्ठतु ।
विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन् ! हे परमेश्वर ! (नाके) हमारे दुःखों के नाश करने में (प्रति तिष्ठ) तू प्रतिष्ठा को प्राप्त हो, (तत्र) दुःखों के नाश करने के निमित्त यह हमारा किया सब कार्य (प्रति तिष्ठतु) प्रतिष्ठा को प्राप्त हो । हे राजन् ! परमात्मन् ! देव ! ईश्वर ! (नः) हमारे (पूर्तस्य) आत्मा को पूर्ण बनाने की साधना को (विद्धि) तू जान और (सः) वह तू हमारे प्रति (समनाः भव) शुभ संकल्पवान् हो ।



[१२४] शौच-सावन ।

निर्ऋत्यपसरणकामोऽथर्वाऋषिः । मन्त्रोक्ता उत दिव्या आपो देवताः । त्रिष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥ १॥

भा०—ईश्वर की शक्ति और कृपा से जीव को बड़ा सुख प्राप्त होता है, मुक्त जीव कहता है कि (बृहतः दिवः) विशाल प्रकाशमान द्युलोक से और (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से जिस प्रकार जल का छोटा छोटा बिन्दु बरसता है और उससे जीवों को बल, जीवन, ज्ञान और सुख प्राप्त होता है उसी प्रकार (दिवः) प्रकाशमान (बृहतः) महान्, सब से बड़े (अन्तरिक्षात्) अन्तर्यामी परमेश्वर से (अपाम्) समस्त ज्ञान और कर्म शक्ति का (स्तोकः) स्वल्प लवलेश, अंश (रसेन) आनन्द-सहित (माम् अभिपप्तन्) मुझ पर बरसता है। और उसी के बल से (अहम्) मैं मुक्त जीव (इन्द्रियेण) इन्द्र = आत्मा के बल से (पयसा) ज्ञानरूप रस से, हे अग्ने ! और हे परमात्मन् ! (छन्दोभिः) वेद-मन्त्रों से और (यज्ञैः) नाना प्रकार के शुभ कर्मों से और (सुकृताम्) पुण्य कार्यों के फल से (सम्) युक्त हो जाता हूँ।

यदि वृक्षादभ्यपप्तत् फलं तद् यद्यन्तरिक्षात् स उ वायुरेव।
यत्रास्पृक्षत् तन्वो३ यच्च वाससु आपो नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः॥२॥

भा०—(यदि) यदि (वृक्षात्) वृक्ष से (फलं अभि-अपप्तत्) फल गिरे और (यदि अन्तरिक्षात) यदि अन्तरिक्ष से जल गिरे तो (सः उ वायुरेव) वह भी वायु ही है, वह भी प्राणशक्ति का बढ़ाने वाला जीवनरूप है। (तन्वः) शरीर के (यत्र) जिस भाग पर (अस्पृक्षत) यदि मैल स्पर्श करे और (यत् वाससः) कपड़े के जिस भाग पर वह स्पर्श करे उस स्थान पर से ही (आपः) जल (निर्ऋतिम्) घृणाजनक मैल को (पराचैः) दूर (नुदन्तु) हटादें।

अर्थात् वर्षा का जल, वृक्ष का फल दोनों पवित्र पदार्थ हैं। फल से शरीर और जल से वस्त्र स्वच्छ रहते हैं। इसी प्रकार हमारे कर्मवृक्ष से

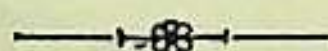
फल प्राप्त होता है, अन्तर्यामी परमात्मा से जीवन प्राप्त होता है। वे आत्मा और शरीर दोनों के मलों को दूर करें।

अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव।
सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत् तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः॥३

भा०—(अभ्यञ्जनम्) शरीर में तैल आदि का मलना, आंखों में अंजन करना, (सुरभि) सुगन्धित पदार्थ, (हिरण्यम्) सुवर्ण और (वर्चः) शरीर में ब्रह्मचर्य के तेज का होना (सा) वह सब (समृद्धिः) समृद्धि ही है। और (तद् उ) वह भी (पूत्रिमम् एव) पवित्र ही है। ये (सर्वा) सब ही (पवित्रा) पवित्र पदार्थ (वितता) इस ससार में नाना प्रकार से फैले हुए हैं। (अधि अस्मत्) हम पर (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी या मलिनता या घृणाजनक गन्दगी (मा तारीत्) न आवे। और (अरातिः मा उ) न मानसिक अनुदारता हम पर आवे।

॥ इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

[तत्र एकादश सूक्तानि अष्टात्रिंशदृचः ।]



[१२५] युद्ध का उपकरण रथ और देह।

अथर्वा ऋषिः। वनस्पतिर्देवता। १, ३ त्रिष्टुभौ, २ जगती। तृचं सूक्तम्॥

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः संनद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥ १॥

ऋ० ६। ४६। २६॥

भा०—युद्ध के उपकरण रथ का वर्णन करते हैं। हे (वनस्पते) वनस्पति, काष्ठ के बने रथ ! तू (वीड्वङ्गः) दृढ़ अंगों वाला (हि) ही (भूयाः) रह। तू (अस्मत्सखा) हमारा मित्र (सुवीरः) उत्तम

बलशाली वीरों से युक्त होकर युद्ध में (प्र तरणः) पार पहुँचाने वाला है । तू (गोभिः) गो-चर्म की बनी रस्सियों से (संनद्धः) खूब अच्छी प्रकार जकड़ा हुआ (असि) है तू (वीडयस्व) पर्याप्त रूप से हमें भी दृढ़कर और (ते आस्थाता) तुझ पर चढ़ने वाला (जेत्वानि जयतु) विजय प्राप्त करे ।

आत्मा, देह और ईश्वर भी रथ कहाता है । जैसे—तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते, रसतमं ह वै तद् रथन्तरम् ॥ श० । ९ । २ । ३६ ॥ वैश्वानरो वै देवतया रथः । तै० २ । २ । ५४ ॥ गो० पू० २ । २१ ॥

अध्यात्म पक्ष में—(हे (वनस्पते) वन संभजनीय, सेवनीय, पदार्थों के स्वामिन् देह ! तू (वीड्वङ्गो हि भूयाः) दृढ़ांग हो (अस्मत्-सखा) हमारा मित्रवत् उपकारी बन, (सुवीरः) शुभ वीर्यवान् होकर (प्रतरणः) इस संसारसागर को पार कर सकने का साधन बन । तू इस संसार में (गोभिः) इन्द्रियों से (संनद्धः) संबद्ध है, तू (वीडयस्व) समस्त पराक्रम कर, (ते आस्थाता) तेरा अधिष्ठाता, इन्द्र, आत्मा जेत्वानि जयतु) जीतने योग्य पदार्थों पर वश करे ।

दिवस्पृ॑थि॒व्याः पर्योज॒ उद्भृ॑तं॒ वन॒स्पति॑भ्यः॒ पर्याभृ॑तं॒ सहः॑ ।
अपामोज्मानं॒ परि॒ गोभि॒राभृ॑ता॒मिन्द्र॑स्य॒ वज्रं॑ ह॒विषा॒ रथं॑ यज ॥२

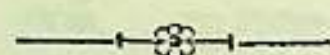
ऋ० ६ । ४७ । २७ ॥

भा०—(दिवः) द्युलोक से मेघ की वर्षा रूप में और (पृथिव्याः) पृथिवी से अन्नरूप में (ओजः) तेज, बल को (परि उद्भृतम्) सब ओर से प्राप्त कर संगृहीत किया है और (वनस्पतिभ्यः) सब वनस्पतियों के (सहः) सहन या आघातकारी को दबा लेने की शक्ति का भी (पर्याभृतम्) संग्रह किया है और उससे यह शरीर रचा गया है, अतः (अपाम्) सब रसों के बलस्वरूप (गोभिः) इन्द्रिय शक्तियों से (परि आवृतम्) सम्पन्न (इन्द्रस्य) आत्मा के (वज्रम्) सब पापों के वर्जन-

कारी इस (रथम्) देह को (हविषा) अन्न से (यज) सम्पन्न करो। युद्धस्थ के पक्ष में गौण है।

इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥३॥

भा०—(देव) हे व्यवहार के साधन ! (रथ) हे रमणीय शरीर ! (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्र, आत्मा का तू बल है, (महताम् अनीकम्) सब प्राणों का तू प्राण है, आधार है। (मित्रस्य गर्भः) मरण से रक्षा करने वाले 'मित्र' प्राण को तू अपने भीतर ग्रहण करने वाला है, (वरुणस्य) सब से श्रेष्ठ वरुण परमात्मा का (नाभिः) तू बन्धु है, तू (इमाम्) इस (नः) हमारी (हव्यदातिम्) अन्नरूप भेंट को (जुषाणः) सेवन करता हुआ (हव्या) समस्त हव्य, आदान करने योग्य क्रिया सामर्थ्यों को (प्रतिगृभाय) स्वीकार कर।



[१२६] युद्धोपकरण दुन्दुभि, राजा और परमात्मा।

अथर्वा ऋषिः। वानस्पत्यो दुन्दुभिर्देवता। १, २ भुरिक् त्रिष्टुभौ, ३ पुरोबृहती गर्भा विराट् त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम् ॥

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते वन्वतां विष्ठितं जगत्।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अप सेध शत्रून् ॥ १ ॥

भा०—हे दुन्दुभे ! तू (पृथिवीम् उप श्वासय) पृथिवी को जीवन, प्राण धारण करा, (उत द्याम्) और द्युलोक को भी प्राण धारण करा। (पुरुत्रा) नाना, बहुत से रूपों में (विष्ठितम्) विद्यमान (जगत्) संसार (ते) तेरा (वन्वताम्) आश्रय ले। तू (इन्द्रेण सजूः) इन्द्र, आत्मा के साथ सप्रेम होकर और (देवैः) देव, विद्वान् पुरुषों के

साथ (सजूः) सहमत होकर (दूराद् दवीयः) दूर से दूर भी विद्यमान शत्रु को (अपसेध) परे कर। जिस प्रकार नक्कारा या दुन्दुभि उच्च घोष से सब को सुनाई देता और राजा और भटों सहित दुःसाध्य शत्रु को भी पराजित करता है इसी प्रकार दुन्दुभिरूप परमेश्वर जो अपने नाद से पृथिवी और आकाश को गुँजा रहा है, हमारे आत्मा और विद्वानों पर अनुग्रह कर हमारे दूरस्थ, अज्ञात शत्रु काम-क्रोध आदि को भी परे करे।

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभि ष्टन दुरिता बाधमानः ।
अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥२॥

भा०—हे दुन्दुभे ! नक्कारे ! (बलम् आक्रन्दय) शत्रु की सेना को रुला। (नः) हमारे में (ओजः) बल को (आ धाः) आधान कर, और (दुरितानि) दुष्ट चरित्रों को, पापों को (बाधमानः) बाधित करता हुआ (अभि स्तन) सर्वत्र अपना नाद कर, और (दुच्छुनाम्) दुःख देने वाली शत्रु-सेना को (इतः) यहां से (अप सेध) दूर भगादे तू (इन्द्रस्य) इन्द्र, राजा की (मुष्टिः असि) आगे बढ़ कर हृदय दहला देने वाली मुष्टि मुक्के या वज्र के समान है। (वीडयस्व) तू दृढ़ रह।

अध्यात्म में—दुच्छुना = दुष्प्रवृत्ति, इन्द्रस्य = आत्मा की, मुष्टिः = सर्व दुःख और अज्ञान को हरने वाली शक्ति है; तू आत्मा को वीर बना।

प्रामूं जयाभी३मे जयन्तु केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीतु ।
समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥३॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! (अमूम्) उस दूर देख पड़ने वाली शत्रुसेना को (प्रजय) उत्तम रीति से विजय कर (इमे अभि जयन्तु) और ये हमारे वीर भट विजय प्राप्त करें। यह (दुन्दुभिः) नक्कारा (केतुमत्) झण्डे वाला (वावदीतु) खूब शब्द करे। (नः नरः)

हमारे वीर नेता सैनिक (अश्व-पर्णाः) घोड़े सहित दौड़ते हुए (संपतन्तु) एक साथ आक्रमण करें। और हे इन्द्र ! राजन् ! (अस्माकम् रथिनः) हमारे रथी, सवार लोग (जयन्तु) विजय करें।

अध्यात्म में—हे पुरुष ! (अमूम्) उस दुर्वासना को (प्रजय) खूब जीत। (इमे अभि जयन्तु) ये तेरे इन्द्रियगण सब व्यसनों पर विजय प्राप्त करें। (केतुमत् दुन्दुभिर्वावदीतु) ज्ञानवान् गुरु तुझे उपदेश करे (नः नरः, संपतन्तु) हमारे नेता इन्द्रियगण अश्व = प्राण से वेगवान् होकर पदार्थों तक पहुँचें और वे ही (रथिनः) देहरूप रथ में चढ़ कर या प्राणरूप या रसरूप रथ में विराज कर विजयी हों। केनोपनिषद् की ब्रह्मविजय की कथा का यहां अवश्य परामर्श कर लेना उचित है।



[१२७] कफ आदि रोगों की चिकित्सा।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। वनस्पतिरुत यक्ष्मनाशनं देवता। १, २ अनुष्टुभौ; ३ षट्पदा जगती तृचं सूक्तम् ॥

वि॒द्र॒धस्य॑ ब॒लास॑स्य॒ लोहि॑तस्य वनस्पते।
वि॒स॒ल्प॑कस्योषधे॒ मोच्छि॑षः पिशि॒तं च॒न ॥ १ ॥

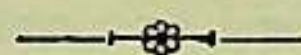
भा०—हे (वनस्पते) हे ओषधे ! (बलासस्य) कफ से उत्पन्न रोग के (विद्रधस्य) गिलटी आदि रोग के, और (लोहितस्य) रुधिर-विकार से उत्पन्न लाल चकत्तेवाले रोग के (विसल्पकस्य) तथा त्वचा पर फैलने वाले विसर्प नाम कुष्ठ रोग के (पिशितम्) विकृत मांस को (मा चन उच्छिषः) बिलकुल बचा न रहने दे। नहीं तो वह फिर विकार उत्पन्न करके दुःख का कारण होगा।

यौ ते॑ बलास॒ तिष्ठ॑तः॒ कक्षे॑ मु॒ष्काव॑पश्रि॒तौ।
वेदा॒हं तस्य॑ भेष॒जं ची॒पुद्रु॑रभि॒चक्ष॑णम् ॥ २ ॥

भा०—हे (बलास) कफ से उत्पन्न गिल्टी के रोग ! (ते) तेरे से उत्पन्न (यौ मुष्कौ) जो दो गिल्टियां (कक्षे) कांछ या बगल में (अप-श्रितौ) बुरी तरह से उठ आती हैं (तस्य भेषजम्) उसके ठीक करने को ओषधि को (अहम्) मैं (वेद) जानता हूँ। उसका (अभिचक्षणम्) नाम (चीपुद्रुः) चीपुद्रु या 'चीपु' वृक्ष है। 'चीपुद्रु' या चीपु वृक्ष अज्ञात है। कदाचित् शिफा या जटामांसी यह पदार्थ है।

यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः।
वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम्।
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि ॥ ३ ॥

भा०—(यः विसल्पकः) जो विसर्पक रोग (अङ्ग्यः) सारे शरीर में फैल गया हो, (यः कर्ण्यः) या जो केवल कान के भीतर या ऊपर हो या (यः अक्ष्योः) जो आंखों के बीच में आंखों पर हो ऐसे (विसल्पकम्) विसर्पक या (विद्रधम्) गिल्टी के फूल जाने के रोग को और (हृदयामयम्) हृदय की पीड़ा या रोग को (विवृहामः) विशेष रूप से समूल नाश करें। (तम् अज्ञातं यक्ष्मम्) और उस विना जाने, अलक्षित यक्ष्म = रोगकीटों से उत्पन्न रोग को भी (अधराञ्चम्) नीचे दबा कर (परा सुवामसि) दूर करदें।



[१२८] राजा का राज्यारोहण।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः। नक्षत्राणि, राजा, चन्द्रः, सोमः, शकधूमश्च देवताः। १–४ अनुष्टुभः। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत।
भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥ १ ॥

भा०—(नक्षत्राणि) नक्षत्र जिस प्रकार (राजानम्) चन्द्र को अपने में मुख्य बना लेते हैं उसी प्रकार (नक्षत्राणि) नक्षत्र, निर्वीर्य निर्बल प्रजाएं (शकधूमम्) अपनी शक्ति से सब को कंपाने वाले पुरुष को (राजानम्) राजा (अकुर्वत) बना लेते, हैं, और (अस्मै) उसको (भद्राहम्) ऐसा कल्याणकारी वह शुभ दिवस (प्रायच्छन्) प्रदान करते हैं जिसमें कि (इदम्) यह (राष्ट्रम्) राष्ट्र उसका ही (असात्) हो जाय (इति) ऐसा घोषित करते हैं। अथवा-(इदम् राष्ट्रम् अस्मै प्रायच्छन् इति भद्राहम् असात्) वे इस राष्ट्र को उसको सौंप देते हैं इस कारण वह दिन प्रजा के लिये मंगलकारी हो जाता है। अर्थात् प्रजा अपने में शक्तिशाली को राजा बनावे और शुभ दिन में उसका राज्याभिषेक करे। अथवा उसके राज्यारोहण के दिवस को पुण्य माने।

भद्राहं नो मध्यन्दिने भद्राहं सायमस्तु नः।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः॥ २॥

भा०—(नः) हमारा (मध्यन्दिने) मध्याह्नकाल में (भद्राहं अस्तु) सुखकर दिन हो। (नः सायं भद्राहम् अस्तु) हमारा दिन सायंकाल के अवसर में भी सुखकारी हो, (नः अह्नां प्रातः भद्राहम्) हमारे दिनों के प्रातःकाल का भाग कल्याणकारी हो, (नः रात्री भद्राहम् अस्तु) रात्रिकाल में भी शुभ कल्याणकारी दिन हो।

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्।
भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि॥ ३॥

भा०—हे (शकधूम) अपनी शक्ति से सब शत्रुओं को कंपाने हारे राजन्! (त्वम्) तू (अहोरात्राभ्याम्) दिन, रात (नक्षत्रेभ्यः) समस्त नक्षत्रों और (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा द्वारा (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (भद्राहम् कृधि) कल्याण और सुखकारी

दिन को नियत कर । अर्थात् शुभ अवसर दे जिसमें दिन, रात सूर्य और चांद भी चमकें, नक्षत्र भी खिलें और प्रजाएं आनन्दित हों ।

यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा ।
तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

भा०—हे (शकधूम) शक्तिशाली राजन् ! (नक्षत्रराज) नक्षत्रों में चन्द्रमा के समान प्रकाशमान ! निर्बलों के राजन् ! (यः) जो तू (नः) हम प्रजाओं के लिये (सायम्) सायंकाल, (नक्तम्) रात, (अथो दिवा) और दिन सब कालों को (भद्राहम् अकरः) पुण्य, कल्याणकारी बना देता है (तस्मै ते) उस तुझ राजा को (सदा नमः) हम प्रजाएं सदा आदर करें ।



[१२९] राजा का ऐश्वर्यमय रूप ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । भगो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

भगेन मा शांशपेन साकमिन्द्रेण मेदिना ।
कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः ॥ १ ॥

भा०—(मेदिना इन्द्रेण साकम्) सबके स्नेही इन्द्र = राजा के साथ मिलकर (शांशपेन भगेन) शांशपा नामक वृक्ष के समान अति शीघ्र वृद्धिशाली और शांतिदायक ऐश्वर्य से (मा भगिनं कृणोमि) मैं अपने आपको ऐश्वर्यवान् करूं । (अरातयः) मेरे शत्रु और दुःखकारी, अमनोहर दरिद्रताएँ (अपद्रान्तु) दूर हों ।

येन वृक्षाँ अभ्यभवो भगेन वर्चसा सह ।
तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः ॥ २ ॥

भा०—शंशपा वृक्ष (येन) जिस सामर्थ्य से बढ़कर (वृक्षान् अभि अभवः) और वृक्षों से शक्ति, कठोरता दृढ़ता, बल और, ऊँचाई में

बढ़ जाता है और उनको दबा लेता है उसी प्रकार हे राजन् ! जिस ऐश्वर्य और तेज से तू परिपुष्ट होकर सब पुरुषों को अपने अधीन कर लेता है उस (भगेन वर्चसा सह) ऐश्वर्य और तेज से (मा भगिनम्) कृणु) मुझे भी ऐश्वर्यवान् कर और (अप द्रान्तु अरातयः) मेरे शत्रु मुझ से दूर हों ।

यो अन्धो यः पुनःसरो भगो वृक्षेष्वाहितः ।
तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (भगः) ऐश्वर्य, बल, वीर्य, यश (अन्धः) जीवन को नित्य धारण करने वाला और (यः पुनः सरः) जो बार बार प्रत्येक ऋतु में और बार बार काट लेने पर भी हरा कर देने वाला वीर्य ! (वृक्षेषु) वृक्षों में (आहितः) ईश्वरीय शक्ति से रखा गया है हे ईश्वर (तेन) उस ऐश्वर्य और वीर्य से (मा भगिनं कृणु) मुझको भी ऐश्वर्यवान् बना और (अरातयः) शत्रुगण और विपत्तियां (अप द्रान्तु) दूर भाग जावें ।

[१३०] स्त्री पुरुषों का परस्पर प्रेम और स्मरण ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । स्मरो देवता । १ विराट् पुरस्ताद् बृहती, २–४ अनुष्टुभः ।

चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

भा०—(रथजिताम्) रमण साधनों वा वेगों पर वश करने वाले पुरुषों और (राथजितेयीनाम्) रमण साधनों वा वेगों पर वश करने वाली (अप्सरसाम्) स्त्रियों को (अयं स्मरः) यह स्मर = परस्पर एक

३–(द्वि०) 'आहत' इति निरु० ।

दूसरे को स्मरण कराने वाला सहज प्रेम उत्पन्न होता है । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! आप लोग मेरी अभिलषित स्त्री के हृदय में (स्मरम् प्रहिणुत) उसी प्रेमवश स्मरण करने के भाव को उत्पन्न करो जिससे वह मेरी प्रियतमा वियोगकाल में (माम् अनु शोचतु) मुझे ही याद करके दुःख अनुभव करे । वियुक्त होकर भी स्त्री पुरुष परस्पर प्रेम-सम्बद्ध होकर एक दूसरे के गुणों का स्मरण करें और त्याग न किया करें । विद्वान् लोग उनको एक दूसरे के प्रति पतिव्रता पत्नीव्रत रहने का उपदेश किया करें । और यह परस्पर दृढ़ प्रेम उन स्त्री पुरुषों में ही उत्पन्न होता है जो एक दूसरे के वियोग में भी अपने रमणसाधन इन्द्रियों और कामवेगों पर वश करते हैं, अन्यथा वे काम में बह कर व्यभिचारी हो जाते और प्रेम को स्थिर नहीं रख सकते ।

अ॒सौ मे॑ स्मरता॒दिति॑ प्रि॒यो मे॑ स्मरता॒दिति॑ । दे॒वा० ॥ २ ॥

भा०—(असौ) वह प्रियतमा स्त्री (मे) अपने मुझ प्रियतम पति का (स्मरतात्) स्मरण करे (इति) इस प्रकार पति निरन्तर अपनी स्त्री के विषय में चिन्तन करे और (मे प्रियः) मेरा प्रियतम पति (मे स्मरतात्) मेरा स्मरण करे (इति) इस प्रकार पत्नी निरन्तर अपने पति के विषय में चिन्तन करे । हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (स्मरं प्र हिणुत) स्त्री पुरुषों में इस प्रकार के परस्पर स्मरण कराने वाले प्रेम-भाव को जागृत करो । जिससे (असौ) वह दूरदेशस्थ प्रेमी (माम्) मुझ प्रेमपात्र को (अनु शोचतु) वियोग में भी स्मरण करे और मेरे दुःख से दुःखी हो ।

यथा॒ मम॒ स्मरा॑द॒सौ नामु॒ष्या॒हं क॒दा च॒न ।
दे॒वाः प्र हि॑णुत स्म॒रम॒सौ माम॒नु॑ शोचतु ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (असौ) वह दूरदेशस्थ प्रियतम प्रेमपात्र व्यक्ति (मम स्मरात्) मुझे स्मरण करता है, क्या (अमुष्य)

उसका मैं (कदाचन न) कभी स्मरण नहीं करता ? करता ही हूँ। तब (देवाः स्मरं प्रहिणुत) हे विद्वान् पुरुषो ! परस्पर याद दिलाने वाले प्रेम के भावों को जागृत करो, जिससे (असौ माम् अनुशोचतु) वह दूरस्थ देश का व्यक्ति मेरे प्रेम में दुःखी हो और याद करे।

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥ ४ ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान् पुरुषो ! उस प्रेमी व्यक्ति अर्थात् पति और पत्नी को मेरे प्रेमाभिलाष में (उन्मादयत) प्रसन्न रखो, वह मेरे सिवाय किसी और की याद न रक्खे, मेरी स्मृति में ही मस्त रहे। हे (अन्तरिक्ष) अन्तर्यामी आत्मन् ! तू ही उस प्रेमपात्र को (उन्मादय प्रेम में प्रसन्न रख हे (अग्ने) परमात्मन् ! (त्वम् उन्मादय) तू प्रेम में उसे प्रसन्न रख जिससे (असौ माम् अनुशोचतु) वह मेरे प्रेम वियोग की चिन्ता में रहे और मुझे स्मरण करे।

वेद में पति-पत्नी को चिरस्थायी प्रेम में निरत रख कर एक दूसरे की अभिलाषा करने का उपदेश किया है, न कि विषय-लोलुपता में अन्धे होकर दीवाना होने को कहा है। वह स्थायी प्रेम, परस्परानुचिन्तन और परस्पर प्रेम में रहना भी (रथजित्, राथजितेयी) कामवेगों को रोकने वाले जितेन्द्रिय स्त्री पुरुषों में ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त अध्यात्मपक्ष में, रथजित् = आत्मसाधक, जितेन्द्रिय, योगी, और 'राथजितेयी' अप्सराएँ = उनकी ध्यानवृत्तियां हैं। वे अपने प्रियतम उपास्य-देव का स्मरण करते हैं और उसी को अपने प्रेम और लगन के लिये द्रवित करना चाहते हैं। उसी का स्मरण करते हैं, उसी के ध्यान में दीवाने होजाते हैं। जैसे कबीर ने लिखा है—

"प्रीत लगी तुम नाम की पल बिसरै नाहीं।
नजर करो अब मिहर की मोंहि मिलो गोसाईं ॥

विरह सतावै मोंहि को जिव तड़पै मेरा।
तुम देखन की चाव है प्रभु मिलो सबेरा॥
नैना तरसे दरस को पल पलक न लागे।
दर्द बंद दीदार का निसिबासर जागै॥
जो अबके प्रीतम मिलैं करूं निमिष न न्यारा।
अब कबीर गुरु पाइयाँ मिला प्राण पियारा॥
[कबीर शब्दावली भा० २, श० ६]

[१३१] प्रेमियों का परस्पर स्मरण और चिन्तन।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः। स्मरो देवता। अनुष्टुभः। तृचं सूक्तम्॥

नि शीर्षतो नि पत्तत आध्यो३नि तिरामि ते।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ १॥

भा०—मैं तेरा प्रेमी व्यक्ति अर्थात् पति या पत्नी (नि शीर्षतः) शिर से लेकर (नि पत्ततः) पैरों तक (ते) तेरे शरीर में (आध्यः) प्रेम से उत्पन्न होने वाली मानसी व्यथाओं के (नि तिरामि) उत्पन्न करने का कारण बनूं। हे (देवाः प्रहिणुत स्मरम् माम् अनुशोचतु) पुरुषो! प्रियतम दूरस्थ व्यक्ति में प्रेमपूर्वक स्मरण करने के भाव को जागृत करो, जिससे वह मुझे स्मरण करके मेरे लिये वियोगदुःख अनुभव करे।

अनुमतेन्विदं मन्यस्वाकूते समिदं नमः।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ २॥

भा०—हे (अनुमते) परस्पर प्रेमपूर्वक पतिपत्नीभाव से रहने के लिये एक दूसरे के प्रति प्राप्त अनुमते! एक दूसरे को स्वीकार करने वाले भाव! (अनु इदं मन्यस्व) तू ही इस प्रकार परस्पर स्मरण

करने और एक दूसरे के वियोग में दुःखी होने के लिये अनुमति देता है। और हे (आकूते) मानस संकल्प ! हार्दिक भाव ! तू भी (इदम्) इसी प्रकार के (नमः) परस्पर के आदर प्रेम के झुकाव को (सम् अनुमन्यस्व) स्वीकार करता है। (देवाः प्रहिणुत स्मरम्, असौ माम् अनुशोचतु) हे विद्वान् पुरुषो ! मेरे प्रियतम व्यक्ति में प्रेमपूर्वक स्मरण करने के भाव को जागृत करो, जिससे वह मुझे स्मरण करके मेरे लिये वियोगदुःख को अनुभव करे।

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥ ३ ॥

भा०—स्थिर दाम्पत्य प्रेम का फल बताते हैं। पत्नी कहती है- हे प्रियतम ! (यद् धावसि त्रियोजनम्) यदि तू तीन योजन या १२ कोश या (पञ्च योजनम्) पाँच योजन या २० कोश या (आश्विनम्) घोड़े जैसी शीघ्रगामी सवारी से जाने योग्य दूरी पर भी (धावसि) चला जाय तो भी (ततः) उस दूर देश से (त्वं पुनः आ अयसि) फिर लौट आ, क्योंकि तू ही (नः) हमारे पुत्राणाम्) पुत्रों का (पिता असः) पिता, पालक और उत्पादक है।



[१३२] प्रेम के दृढ़ करने का उपदेश।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः। स्मरो देवता। १ त्रिपदानुष्टुप्; ३ भुरिग् अनुष्टुप्; २, ४, ५ त्रिपदा महाबृहत्यः; । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ १ ॥

भा०—(देवाः) देवगण, विद्वान् लोग या ईश्वर की दिव्य शक्तियाँ (आध्या सह) मानसी व्यथा, हृदयवेदना के साथ साथ (अप्सु

अन्तः) स्त्रियों या प्रजाओं के हृदय के बीच (यं स्मरम्) परस्पर एक दूसरे के प्रेम स्मरण करने और चाहने के जिस भाव को (असिञ्चन्) डाल देते हैं, हे प्रियतमे ! (तम्) उस (ते) तेरे प्रेम, परस्पराभिलाषा के भाव को (वरुणस्य धर्मणा) वरुण = राजा या श्रेष्ठ परमात्मा के धर्म धारण, व्यवस्था या राजनियम द्वारा भी (तपामि) पकाता हूँ, परिपक्व करता हूँ। अर्थात् पारस्परिक दाम्पत्य प्रेम को दृढ़ करने के लिये राजनियम भी ऐसा होना चाहिये कि स्त्री पुरुष एक दूसरे का आजीवन त्याग न करें।

यं विश्वे॑ दे॒वाः स्म॒रमसि॑ञ्चन्न॒प्स्व॑१॒न्तः० । ० ॥ २ ॥

भा०—(विश्वे देवाः) समस्त देवगण (यं स्मरम् अप्सु अन्तः असिञ्चन्) जिस परस्पर स्मरणरूप परस्पराभिलाषा या कामना को मानस व्यथा के सहित समस्त प्रजाओं के चित्त में डालते हैं उसी भाव को वरुण = राजा का व्यवस्था से भी मैं तेरे हृदय में परिपक्व करता हूँ।

यमि॑न्द्रा॒णी स्म॒रमसि॑ञ्चद॒प्स्व॑१॒न्तः० । ० ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्राणी०) ईश्वरी शक्ति जिस परस्पर प्रेमाकर्षण को मानस व्यथा के सहित प्रजाओं के हृदय में डालती है उसी को राजव्यवस्था से मैं परिपक्व करता हूँ।

यमि॑न्द्रा॒ग्नी स्म॒रमसि॑ञ्चताम॒प्स्व॑१॒न्तः० । ० ॥ ४ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी यम् स्मरम् इत्यादि) इन्द्र = परमेश्वर और अग्नि आचार्य जिस परस्पराभिलाषा को मानस पीड़ा के सहित प्रजाओं के हृदयों में उत्पन्न करते हैं और उसको दृढ़ करते हैं उसको मैं वरुण अर्थात् राजा के कानून से और भी दृढ़ करूँ।

यं मि॒त्रावरु॑णौ स्म॒रमसि॑ञ्चताम॒प्स्व॑१॒न्तः शोशु॑चानं स॒हाध्या।
तं ते॑ तपामि॒ वरु॑णस्य॒ धर्म॑णा ॥ ५ ॥

भा०—(यं मित्रावरुणौ आध्या शोशुचानम्) मानसी पीड़ा के साथ उत्पन्न होने वाली जिस पारस्परिक अभिलाषा को (मित्रावरुणौ) मित्र = प्राण और वरुण = अपान, दोनों एक होकर (अप्सु अन्तः असिञ्चताम्) प्रजाओं के हृदय में सींचते हैं (तम्) उसी परस्पर प्रेम को (वरुणस्य धर्मणा) राजा या प्रभु की व्यवस्था से भी (तं तपामि) तुझमें मैं परिपक्व करता हूँ ।

इस सूक्त ने वेद में विवाहबन्धन को और परस्पर के प्रेमाभिलाष को दृढ़ करने के ६ उपाय दर्शाये हैं। (१) विद्वानों का उपदेश, (२) सब इष्ट सम्बन्धियों की प्रेरणा, (३) ईश्वरीय शक्ति (४) ईश्वर और आचार्य के समक्ष वार्त्तालाप और उनकी अनुमति (५) प्राण और अपान शक्ति का एक होना, (६) सबके साथ साथ राजनियम की सद् व्यवस्था ।



[१३३] मेखलाबन्धन का विधान।

अगस्त्य ऋषिः । मेखला देवता । भुरिक् त्रिष्टुप्; २, ५ अनुष्टुभौ; ३, त्रिष्टुप् । ४. जगती । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज ।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो वि मुञ्चात् ॥ १ ॥

भा०—(यः देवः) जो देव, विद्वान् ब्राह्मण, ज्ञानदाता या ज्ञानप्रकाशक आचार्य (इमाम्) इस (मेखलाम्) मेखला को (आबबन्ध) ब्रह्मचारी के शरीर पर बाँधता है, और जो (नः) हम ब्रह्मचारियों को (संननाह) ब्रह्मचर्य पालन के लिये संनद्ध करता है और (यः उ नः) जो हमें (युयोज) व्रत पालन में लगता है, और (यस्य देवस्य)

जिस ज्ञानदाता गुरु के (प्रशिषा) आज्ञापालन या शासन में (चरामः) हम रहते हैं (सः) वही हमारे (पारम्) व्रत को पूर्ण पालन कराके उसकी समाप्ति भी (इच्छात्) चाहता हैं । (सः उ) और वही (नः) हमें (विमुञ्चात्) सब विघ्न बाधाओं से मुक्त करे ।

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् ।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥ २ ॥

भा०—हे (मेखले आहुता असि) तू चारों ओर पहनी जाती है और (अभि-हुता असि) सब ओर से ग्रहण की जाती है और (ऋषीणाम्) मन्त्रद्रष्टा और वेदज्ञानी पुरुषों का (आयुधम् असि) आयुध, पापों के नाश करने के साधन, कामादि शत्रुओं का नाश का हथियार है । अतः (व्रतस्य) ब्रह्मचर्य आदि के व्रत के (पूर्वा) पूर्व में ही ब्रह्मचारी के शरीर को (प्राश्नती) व्यापती हुई तू (वीरघ्नी भव) वीर पुरुषगामिनी हो ।

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय ।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि (अहम्) मैं (मृत्योः) आदित्य के समान प्रकाशवान् ज्ञानी पुरुष का अज्ञान के बन्धन से मुक्त करने वाले आचार्य का (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी हूँ इसलिये (भूतात्) इस पञ्चभूत के बने देह से (यमाय) उस ब्रह्म सर्वनियन्ता परमेश्वर की प्राप्ति के लिए (पुरुषम्) देहपुरी के वासी आत्मा को (निर्याचन् अस्मि) मुक्त करने के यत्न में हूँ । हे आचार्य ! ऐसे (तम्) उस (एनम्) इस आत्मा को (अहम्) मैं शिष्य (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेदोपदेश से, (तपसा) तप से, (श्रमेण) श्रम से और (अनया मेखलया,) इस मेखला से (सिनामि) बांधता हूँ । स एष आदित्यो मृत्युः । श० १० । ५ । १ ।

४ । अग्निर्मृत्युः ॥ कौ० १३ । ३ ॥ योऽग्निर्मृत्युः सः ॥ जै० ३० । १ । २५ । ८ ॥

अथवा—(अहम्) मैं आचार्य ब्रह्मचारी स्वयं ब्रह्मचारी होकर (पुरुषं यमाय भूतात् मृत्योः निर्याचन् अस्मि) इस पुरुष को यमनियम पालन करने के निमित्त, भूत अर्थात् निश्चित मृत्यु से छुड़ा देता हूँ। इसी निमित्त, (ब्रह्मणा तपसा श्रमेण अनया मेखलया च अहं सिनामि) वेद, व्रत, तप, श्रम और इस मेखला से पुरुष को बाँधता हूँ। और दीक्षित करता हूँ। इस प्रकरण को देखो। गोपथ पू० २ । १ ॥ तथा जै० उ० १ । २५ । ८ ॥ तदनुसार प्रकाशस्वरूप परब्रह्म-समुद्र उसके तीन रूप हैं शुक्ल, कृष्ण और पुरुष। शुक्लरूप = वाणी और अग्नि। कृष्णरूप = आपः मन या अन्न और यजुः। पुरुष रूप = प्राण, साम, ब्रह्म, अमृत।

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव।
सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥४॥

भा०—मेखला का स्वरूप बतलाते हैं—यह मेखला (श्रद्धायाः दुहिता) श्रत् अर्थात् सत्य की धारण करने वाली बुद्धि की दुहिता—पुत्री अथवा उसको दोहने वाली है, (तपसः अधिजाता) तपरूप ब्रह्म वेद सत्यज्ञान से उत्पन्न हुई है। और (भूत-कृताम्) समस्त सत्य पदार्थों का उपदेश करने वाले (ऋषीणाम्) ऋषि मन्त्रद्रष्टाओं की स्वसा भगिनी, की तरह उपकार करने वाली (बभूव) है। हे (मेखले) मेखले (सा) वह तू (नः) हमें (मतिम्) बुद्धि, ज्ञान, (आ धेहि) प्रदान कर, (अथ नः मेधाम्) और हमें मेधाशक्ति, (तपः) तप और (इन्द्रियं च) इन्द्रियों में बल भी प्रदान कर।

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे।
सा त्वं परि ष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥ ५ ॥

भा०—हे मेखले! (याम् त्वा) जिस तुझको (पूर्वे) ज्ञान में पूर्ण (ऋषयः) मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण (परि बेधिरे) शरीर के चारों ओर बांधते हैं (सा) वह (त्वम्) तू (माम्) मुझे (दीर्घायुत्वाय) दीर्घायु प्राप्त कराने के लिए (परि ष्वजस्व) लिपट, मेरे शरीर के साथ आलिंगन कर।



[१३४] वज्र द्वारा शत्रु का नाश।

शुक्र ऋषिः। मन्त्रोक्ता देवता वज्रः। १ त्रिष्टुप्, २ भुरिक् त्रिपदा गायत्री, ३ अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम्।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः॥ १॥

भा०—पापनाशक दण्ड का वर्णन करते हैं—(अयं वज्रः) यह वज्र पापों का वर्जन करनेवाला दण्ड, (ऋतस्य तर्पयताम्) सत्य व्यवस्था को पूर्ण करे, और (अस्य) इस अत्याचारी दुष्ट राजा के (राष्ट्रम्) राष्ट्र का (अप हन्तु) नाश करे, और (जीवितम्) जीवन का भी (अव हन्तु) विनाश करे। (शचीपतिः) समस्त शक्तियों का स्वामी सूर्य जिस प्रकार (वृत्रस्य इव) मेघ के आवरण को छिन्न भिन्न कर देता है उसी प्रकार यह दण्ड दुष्ट पुरुषों के (ग्रीवाः शृणातु) गर्दनों को काट डाले और (उष्णिहाः प्रमृणातु) धमनियों को भी काट डाले।

अधरोधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत्।
वज्रेणावहतः शयाम्॥ २॥

भा०—(उत्तरेभ्यः) उत्कृष्ट मनुष्यों से (अधरः अधरः) नीचे ही नीचे रह कर (पृथिव्या गूढः) पृथिवी में या भूगर्भ में छुप कर रहने वाला शत्रु (मा उत्सृपत्) कभी ऊपर न आवे। बल्कि (वज्रेण अवहतः) वज्र से ताड़ित होकर (शयाम्) सदा के लिये लेट जाय।

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि ।
जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय ॥ ३ ॥

भा०—हे दण्डधर ! (यः जिनाति) जो हानि पहुंचाता है (तम् अनु इच्छ) उसे ढूंढ, (तम् इत् जहि) और उसी का विनाश कर। हे (वज्र) पापवारक दण्डधर ! (जिनतः) हानि पहुंचाने वाले पुरुष को (सीमन्तम्) उसके सिर को (अन्वञ्चम्) नीचा कर (अनुपातय) गिरा दे ।



[१३५] वज्र द्वारा शत्रुनाश ।

शुक्र ऋषिः । मन्त्रोक्ता वज्रो देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे ।
स्कन्धानमुष्य शातयन् वृत्रस्येव शचीपतिः ॥ १ ॥

भा०—मैं (यद् अश्नामि) जो खाऊं उससे (बलं कुर्वे) अपना बल सम्पादन करूं। और तब (शचीपतिः) शक्ति का स्वामी सूर्य जिस प्रकार (वृत्रस्य इव) वृत्र, मेघ को छिन्न भिन्न कर देता है या आत्मा अज्ञान का नाश करता है उसी प्रकार मैं (अमुष्य) उस अमुक शत्रु के (स्कन्धान्) कन्धों या स्कन्ध अर्थात् सेना-दलों को (शातयन्) विनाश करता हुआ (इत्थं वज्रम् आददे) इस प्रकार से वज्र = तलवार या दण्ड को या पापों से मनुष्यों को बचाने वाले शासन-दण्ड को (आ ददे) उठाऊं ।

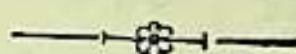
यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिवः ।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम् ॥ २ ॥

भा०—(यत् पिबामि) जो पीऊं (सं पिबामि) अच्छी प्रकार पीऊं। और ऐसा (संपिबः) पीऊं (समुद्र इव) जैसे समुद्र समस्त

नदियों का जल पी जाता है । (वयम्) हम भी (अमुष्य प्राणान्) शत्रु के प्राणों को, जीवन के साधनों को (संपाय) खूब पीकर (अमुं संपिबाम:) उसको पी ही जावें, पचा ही जावें, अर्थात् शत्रु को मारना ही शत्रु को पी जाना है ।

यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः ।
प्राणानमुष्यं संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम् ॥ ३ ॥

भा०(यद् गिरामि संगिरामि) जो कुछ मैं निगलूं उसको अच्छी प्रकार निगलूं । (संगिरः समुद्रः इव) ऐसी निगलूं जैसे समुद्र सब नदियों के जल को निगल जाता है । (अमुष्य प्राणान् संगीर्य) शत्रु के प्राणों या जीवन के साधनों को (संगीर्य) स्वयं निगल कर अर्थात् हड़प कर ही (वयम्) हम (अमुम्) उसको (सं गिरामः) हड़प सकते हैं ।



[१३६] केशवर्धनी नितत्नी ओषधि ।

केशवर्धनकामो वीतहव्योऽथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता १, ३ अनुष्टुभौ; २ एकावसाना द्विपदा साम्नी बृहती । तृचं सूक्तम् ॥

दे॒वी दे॒व्यामधि॑ जा॒ता पृ॑थि॒व्याम॑स्योषधे ।
तां त्वा॑ नितत्नि॒ केशे॑भ्यो॒ दृंह॑णाय खनामसि ॥ १ ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधि ! तू (देवी) दिव्य गुणवाली है । और (देव्याम्) दिव्य गुण वाली (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अधि-जाता) उत्पन्न होती (असि) है । हे (नितत्नि) नीचे नीचे फैलने वाली औषधि ! (तां त्वा) उस तुझ को (केशेभ्यः दृंहणाय) केशों के दृढ़ करने और बढ़ाने के लिये (खनामसि) हम खोदते हैं ।

दृंह॑ प्र॒त्नान् ज॒नया॒जा॑तान् जा॒तानु॒ वर्षी॑यसस्कृधि ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधि ! (प्रत्नान्) पुराने केशों को (दृंह) दृढ़ कर और (अजातान्) जिस स्थान पर केश उत्पन्न होने चाहियें परन्तु नहीं होवें उस स्थान पर केशों को भी (जनय) उत्पन्न कर । और (जातान्) उत्पन्न हुए केशों को (वर्षीयसः कृधि) बढ़ा लम्बा या चिरस्थायी कर ।

यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते ।
इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा ॥ ३ ॥

भा०—हे केशरोगिन् ! (यः ते केशः) जो तेरा केश (अवपद्यते) झड़ता है, (य च समूलः वृश्चते) और जो केश मूलसहित टूट जाता है, (तम्) उन सब केशों को (विश्वभेषज्या वीरुधा) केश के सब रोगों को दूर करने वाली लता के रस से (अभि-षिञ्चामि) भिगोता हूँ । इससे सब केश के रोग छूट जायँगे ।

कौशिक एवं सायण ने केशों के रोग की निवृत्ति के लिये काकमाची जीवन्ती और भृंगराज का प्रयोग लिखा है । राजनिघन्टु के अनुसार 'देवी' ओषधि से मूर्वा, स्पृक्का, सहदेवी, देवद्रोणी, केसर और आदित्य-भक्ता, ये छः ओषधि ली जाती हैं । काकमाची से काकादनी ओषधि लेनी चाहिए क्योंकि वही राजनिघण्टु के अनुसार 'केश्या' है ।

---

[१३७] केशवर्धन का उपाय ।

केशवर्धनकामो वीतहव्योऽथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् ।
तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः ॥ १ ॥

भा०—(जमदग्निः) आयुर्वेद की ज्ञानाग्नि से प्रदीप्त वैद्य (याम्) जिस (केशवर्धनीम्) केशों को बढ़ाने वाली ओषधि को (दुहित्रे)

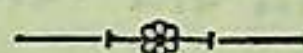
कन्याओं की जाति के निमित्त (अखनत्) खोदता और तैयार करता है, (ताम्) उसको, (वीतहव्यः) आयुर्वेद का ज्ञाता अन्य विद्वान् पुरुष भी (असितस्य) बन्धनरहित प्रभु के (गृहेभ्यः) बनाये नाना स्थानों से (आ भरत्) प्राप्त करता है ।

अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः ।
केशा नडाइव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ २ ॥

भा०—जो केश प्रथम (अभीशुना) अंगुली से (मेयाः आसन्) मापे जा सकते हैं वे ओषधि-सेवन के बाद बढ़कर (व्यामेन अनुमेयाः) फैले हाथों से मापे जा सकते हैं । वे (ते शीर्ष्णः) तेरे शिर के (असिताः) काले काले (केशाः) केश (नडाः इव) नरकुलों के समान (परिवर्धन्ताम्) खूब बढ़ें ।

दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! केशों के (मूलं दृंह) मूल को दृढ़ कर । अग्र भाग को (वि यच्छ) विशेष प्रकार से यमन कर, बांध या मज़बूत कर, और (मध्यं यमय) बीच के भाग को भी दृढ़ कर, जिससे केश न आगे से टूटें, न बीच से टूटकर झड़ें और न जड़ से उखड़ें । प्रत्युत (नडाः इव) तालाब के किनारे उगे नरकुलों के समान, हे रोगी ! (ते शीर्ष्णः) तेरे शिर के (असिताः केशाः) काले बाल (परिवर्धन्ताम्) खूब बढ़ें ।



[१३८] व्यभिचारी को नपुंसक करने के उपाय ।

क्लीवकर्तुकामोऽथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १, २, ४, ५ अनुष्टुभः, ३ पथ्यापंक्तिः । पंचर्चं सूक्तम् ॥

त्व वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे ।
इमं मे अद्य पूरुषं क्लीवमोपशिनं कृधि ॥ १ ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधे ! (त्वम्) तू (वीरुधाम्) सब लताओं में से (श्रेष्ठतमा) सब से अधिक श्रेष्ठ, गुणकारी (अभि-श्रुता) प्रसिद्ध है (अद्य) शीघ्र ही (इमम्) इस (मे) मुझे सताने वाले (पुरुषम्) व्यभिचारी पुरुष को (क्लीवम्) नपुंसक कर और हे न्यायाधीश ! इसे (ओपशिनम्) स्त्री के योग्य पोशाक से युक्त (कृधि) कर अर्थात् व्यभिचारी पुरुष को स्त्री की पोशाक पहना कर भी लज्जित करना चाहिये । और व्यभिचारी यदि इस पर भी व्यभिचार न छोड़े तो उसे नपुंसक बना देना चाहिये ।

क्लीवं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू इस व्यभिचारी पुरुष को (क्लीवं कृधि) नपुंसक बना दे । (अथो) और हे न्यायाधीश या राजन् ! तू इसे दण्ड के रूप में (ओपशिनम्) स्त्री के लिबास में, उसके आभरणादि धारण करने वाला करदे । (अथो कुरीरिणं कृधि) और उसको कुरीर नामक शिर के आभूषण धारण करने वाला बनादे । (अथ) और (अस्य) इस कामी के (उभे) दोनों (आण्ड्यौ) अण्डकोशों को (इन्द्रः) इन्द्र, राजा (ग्रावभ्याम्) पत्थरों से (भिनत्तु) तोड़ दे ।

क्लीव क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम् ।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि ॥ ३ ॥

भा०—हे (क्लीब) नपुंसक नर ! (त्वा) तुझको (क्लीबम् अकरम्) नपुंसक ही कर देता हूँ । और हे (वध्रे) बधिया, तुझे (वध्रिम् अकरम्) मैं बधिया करता हूँ । और हे (अरस) नीरस

जीवन वाले ! तुझे मैं (अरसम् अकरम्) वीर्यरहित ही करता हूं। बल्कि साथ ही (अस्य शीर्षणि) ऐसे व्यभिचारी मनुष्य के सिर पर (कुरीरं कुम्बं च) कुरीर और कुम्ब नामक आभूषण भी (अधि-नि दध्मसि) धर देते हैं। जो उत्पाती कामोपद्रवी हों उनको राजा नपुंसक करने का दण्ड देकर उन्हें सुधारे।

ये ते॒ ना॒ड्यौ॑ दे॒वकृ॑ते॒ ययो॒स्तिष्ठ॑ति॒ वृष्ण्य॑म् ।
ते ते॑ भिनद्मि॒ शम्य॑या॒मुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥ ४ ॥

भा०—(ये नाड्यौ) जो दोनों नाड़ियां (देवकृते) विधाता, ईश्वर ने बनाई हैं, (ययोः) जिन दो नाड़ियों में (वृष्ण्यम्) वीर्य (तिष्ठति) रहता है, हे नरपशो ! (ते) तेरी (ते) उन दोनों को (अधि-मुष्कयोः) जो कि अण्डकोशों के ऊपर हैं (शम्यया) लकड़ी के दण्डे से (भिनद्मि) तोड़ डालूं।

यथा॑ न॒डं क॒शिपु॑ने॒ स्त्रियो॑ भि॒न्दन्त्यश्म॑ना ।
ए॒वा भि॑नद्मि ते॒ शेपो॒मुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥ ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (स्त्रियः) स्त्रियाँ (कशिपुने) चटाई बनाने के लिये (अश्मना) पत्थर से (नडम्) नरकुल के नड़े को (भिन्दन्ति) कूट कर नर्म कर लेती हैं (एवम्) उसी प्रकार (अमुष्य ते) अमुक पशु रूप (ते) तेरे (मुष्कयोः अधि) अण्डकोषों के ऊपर के (शेपः) प्रजनन इन्द्रिय को (भिनद्मि) कुचल डालूं। व्यभिचारी तथा अतिकामी मनुष्य राष्ट्र की वर्तमान तथा आगामी सन्तति पर बुरा प्रभाव न डाल सकें। इसलिये वेद ने ऐसे पुरुषों के लिये उपचार इन मन्त्रों में दर्शाये हैं।



[१३९] सौभाग्यकरण और परस्परवरण ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १ त्र्यवसाना षट्पदा विराड् जगती,
२–५ अनुष्टुभः । पंचर्चं सूक्तम् ॥

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम ।
शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः ।
तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते ॥ १ ॥

भा०—ओषधे ! तू (न्यस्तिका) सब गुणों को दूर करने वाली है, तू (मम) मेरा (सुभगं-करणी) सौभाग्य उत्पन्न करनेवाली होकर (रुरोहिथ) उत्पन्न होती है । (तव प्रतानाः) तेरे फैलाव (शतम्) सौ और (त्रयस्त्रिंशत् नितानाः) नीचे मूल की तरफ़ की शाखाएँ ३३ हैं । (तया) उस (सहस्रपर्ण्या) हज़ारों पत्तों वाली ओषधि से (ते हृदयं शोषयामि) हे स्त्रि ! प्रियतमे ! तेरे हृदय को सुखाता हूँ, वियोग से दुःख अनुभव करने वाला बनाता हूं ।

यह जीवनरूप लता है जिसके ३३ देव अर्थात् मानस दिव्यभाव वितान और शतवर्ष शत प्रतान हैं और सहस्रों कर्म, संकल्प विकल्प आदि सहस्र पर्ण हैं । जो दम्पती इस पर विचार करें तो वे इन सब जीवन के वर्षों और हृदय के भावों और दुनियां के सुख दुःखों के लिये अपना साथी चुनें और प्रेम से रह कर जीवन को सुखमय बनावें ।

शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम् ।
अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ २ ॥

भा०—हे प्रियतमे ! वियोगावस्था में (ते हृदयम्) तेरा हृदय (मयि) मेरे में मग्न होकर, मेरे प्रेम में (शुष्यतु) सूखे, कृश हो जाय, (अथो) और (आस्यं शुष्यतु) मुख भी सूख जाय, मुख पर

दुर्वलता के चिह्न प्रकट हों, (अथो) और (मां कामेन) मेरे प्रति अपनी प्रबल अभिलाषा से तू (नि शुष्य) सर्वथा कृश होकर (शुष्क-आस्या) निर्बल, कृशमुखी होकर (चर) रह । इतने पर भी हे प्रिय-तमे ! तू अन्य किसी को हृदय से मत चाह ।

संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद ।
अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (संवननी) स्त्री पुरुषों के परस्पर वरण कराने वाली (सम्-उष्पला) स्त्री पुरुष दोनों के सहवास की रक्षा वाली है । (बभ्रु) पोषण करने वाली ! हे (कल्याणि) सुखदायिनी ! (अमूम्) उस प्राणप्रिया स्त्री को (संनुद) मेरे प्रति प्रेरित कर और (मां च) मुझको उसके प्रति (सं नुद) प्रेरित कर जिससे एक दूसरे के प्रति प्रेमभाव से आकृष्ट रहें और हमारे (हृदयम्) दोनों के हृदय को (समानं कृधि) समान, एक दूसरे के प्रति एक जैसा कर ।

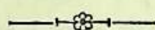
यथोदकमपपुषोपशुष्यत्यास्यम् ।
एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ ४ ॥

भा०—(यथा उदकम् अपपुषः) जिस प्रकार जल को न पीनेवाले पुरुष का (आस्यम् अप-शुष्यति) मुंह सूख जाता है (एवा) उसी प्रकार (मां कामेन) मेरे प्रति प्रबल अभिलाषा की प्यास से (वि-शुष्य) तू भी प्यासी होकर (शुष्कआस्या चर) सूखे मुंह, प्यार की प्यासी होकर रह अर्थात् मुझे ही अपने हृदय में बसाये रख ।

यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः ।
एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति ॥ ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (नकुलः) नेवला (वि-च्छिद्य) सांप से अपना विच्छेद कर अर्थात् लड़ते समय सांप से अलग हो हो कर (पुनः

फिर फिर (अहिम्) सांप का (संदधाति) अपने साथ मेल करता है (एवा) इसी प्रकार (वीर्य-वति) हे वीर्यवाली पत्नी ! अर्थात् अपनी शान्ति की रक्षा करने वाली जितेन्द्रिय पत्नी ! (कामस्य) काम में से (विच्छिन्नम्) विच्छिन्न हुए पति के लिये (संधेहि) ऋतु काल में पुनःपुन सम्बन्ध कर। अर्थात् पति-पत्नी को चाहिये कि वे तब तक परस्पर संगम से मुक्त रहें जब तक कि स्त्री का पुनः ऋतुदर्शन न हो गृहस्थ जीवन में भी काम का तांता बीच बीच में तोड़ देना चाहिये, और ऋतु-दर्शन काल में ही पुनः संगम होना चाहिये, अन्यथा नहीं।



[१४०] दांतों को उत्तम रखने, मांस न खाने और सात्विक भोजन करने का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। ब्रह्मणस्पतिर्देवता, मन्त्रोक्तौ दन्तौ च देवते। १ उरो बृहती २ उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्, ३ आस्तारपांक्तिः। तृचं सूक्तम्॥

यौ व्याघ्रावव॑रूढौ जिघ॑त्सतः पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च।
तौ दन्तौ॑ ब्रह्मणस्पते शि॒वौ कृ॑णु जातवेदः॥ १॥

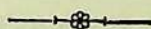
भा०—(यौ) जो (व्याघ्रौ) व्याघ्र नामक अर्थात् चीरने फाड़ने वाले दो दांत (पितरं मातरं च) नर और मादा पशु-पक्षियों को (जिघत्सतः) खाने की इच्छा करते हैं (तौ दन्तौ) उन दोनों दांतों को, (ब्रह्मणस्पते) हे वेद के विद्वान् उपदेशक ! तू (शिवौ कृणु) शिव बना, अर्थात् वे नर मादा के मांसभक्षण को त्यागदें।

व्रीहिम॑त्तं यव॑मत्तमथो॒ माष॒मथो॒ तिल॑म्।
ए॒ष वां॑ भा॒गो निहि॑तो रत्न॒धेया॑य दन्तौ॒ मा हिं॑सिष्टं पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च॥ २॥

भा०—हे चीर फाड़ करने वाले दोनों दांतो ! (व्रीहिम् अत्तम्) जौ खाओ, (अथो माषम्) और माष, उड़द की दाल और (तिलम्) तिल खाओ । हे दांतो ! (वाम्) तुम्हारा (एषः भागः) यह भाग, खाने योग्य पदार्थ (रत्नधेयाय) उत्तम फल प्राप्त करने के लिये (नि-हितः) नियत किया है । हे (दन्तौ) दांतो ! (पितरं मातरं च) पिता और माता को अर्थात् नर मादा पशु पक्षियों को (मा हिंसिष्टम्) विनाश मत करो ।

उप॑हूतौ स॒युजौ॑ स्यो॒नौ दन्तौ॑ सुम॒ङ्गलौ॑ ।
अ॒न्यत्र॑ वां घो॒रं त॒न्व१॒ः परै॑तु दन्तौ॒ मा हिं॑सिष्टं पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च॥३

भा०—(स-युजौ) साथ जुड़े हुए (स्योनौ) सुखकर (दन्तौ) हे दो दाँतो ! (सुमङ्गलौ) शुभ, मंगलजनक (उप-हूतौ) कहाते हैं । (वाम्) तुम दोनों की (घोरम्) घोर कर्म की अर्थात् मांस खाने की तीक्ष्ण प्रवृत्ति (तन्वः) नर-मादा के शरीर भक्षण से (अन्यत्र परैतु) दूर हो जाय । हे (दन्तौ) दांतो ! (पितरम्) नर और (मातरम्) मादा दोनों की (मा हिंसिष्टम्) हिंसा मत करो ।



[१४१] माता पिता का सन्तान के प्रति कर्तव्य । नामकरण और कर्णवेध का उपदेश ।

विश्वामित्र ऋषिः । आश्विनौ देवते । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

वा॒युरे॑नाः स॒माक॑र॒त् त्वष्टा॒ पोषा॑य ध्रियताम् ।
इन्द्र॑ आभ्यो॒ अधि॑ ब्रवद् रु॒द्रो भू॒म्ने चि॑कित्सतु ॥ १ ॥

भा०—(वायुः) वायु (एनाः) इन प्रजाओं को (सम् आ-अकरत्) जीवित करे (त्वष्टा) त्वष्टा = अन्न इनकी (पोषाय) पुष्टि के लिये (ध्रिय-

ताम्) रक्षा करे, (इन्द्रः) इन्द्र, आचार्य (आभ्यः) इन प्रजाओं के लिये (अधि ब्रवत्) विशेष हितकारी नियमों का उपदेश करे, और (रुद्रः) रुद्र, चिकित्सक (भूम्ने) बड़ी संख्या में बढ़ाने के लिये (चिकित्सतु) विशेष ज्ञानपूर्वक इनके रोगों को निवृत्त करे ।

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि ।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥ २ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (लोहितेन) लाल तपा कर शीतल हुई (स्वधितिना) शलाका द्वारा (कर्णयोः) दोनों कानों में (मिथुनम्) छिद्र (कृधि) कर । हे (अश्विना) माता पिता (लक्ष्म अकर्त्ताम्) ऐसा चिह्न या नाम रक्खो जो (प्रजया) सन्तति के साथ साथ (तद् बहु अस्तु) वह बहुत गुणकारी हो । इस मन्त्र में कर्णवेध और नामकरण का उपदेश किया गया है ।

यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत ।
एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (देवाः) विद्वान् ज्ञानी पुरुष और (यथा असुराः) जिस प्रकार बलवान् पुरुष और (उत मनुष्याः) जिस प्रकार मननशील पुरुष (चक्रुः) करते हैं, हे (अश्विनौ) माता पिताओ ! (सहस्रपोषाय) तुम भी सहस्रों प्रकार की पुष्टि के लिये सन्तति का (लक्ष्म) चिह्न उत्तम नाम (कृणुतम्) करो ।

---

[१४२] सन्तान के प्रति उपदेश ।

विश्वामित्र ऋषिः । वायुर्देवता । अनुष्टुभः । तृचं सूक्तम् ॥

उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव ।
मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत् ॥ १ ॥

भा०—(यव) हे जौ आदि अन्न के समान बढ़ने वाली सन्तान ! तू (उच्छ्रयस्व) ऊपर उठ, ऊंची हो, (बहुः भव) गृहस्थ-जीवन में पुत्रों और पुत्रियों के रूप में तू बहु रूप बन, (स्वेन महसा) परन्तु अपने तेज प्राप्ति और कान्ति के साथ सदा सम्बन्धित (विश्वा पात्राणि) सब प्रकार के रक्षा के साधनों से युक्त हो कर तू (मृणीहि) अपनी बाधाओं की हत्या कर (दिव्या अशनिः) दिव्य-बिजुली अर्थात् दैवी कोप (त्वा) तेरा (मा वधीत्) न वध करे ।

आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि ।
तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः ॥ २ ॥

भा०—(आ शृण्वन्तम्) माता पिता तथा आचार्य आदि की आज्ञाओं को सुनने वाले, (यवम्) जौ आदि ओषधियों की न्याई बढ़ने तथा फलने फूलने वाले (देवम्) तुझ क्रीडाशील तथा दिव्य गुणों वाली सन्तान को (अच्छा आवदामसि) हम उत्तम प्रकार से उपदेश देते हैं, (तद्) तो तू (द्यौरिव) द्युलोक की भांति (उच्छ्रयस्व) ऊंचे उठ, और (समुद्रः इव) समुद्र की न्याई (अक्षितः एधि) अक्षय बन ।

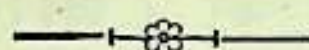
अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः ।
पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥ ३ ॥

भा०—(ते) तेरे (उपसदः) आश्रित जन या तेरे समीप बैठने वाले तेरे सम्बन्धी या स्वार्थ (अक्षिताः सन्तु) कभी क्षीण न हों (ते) तेरी (राशयः) संतान आदि (अक्षिताः) क्षीण न हों । (पृणन्तः) आश्रित जन या समाज की पालना करने वाले सज्जन (अक्षिताः सन्तु) कभी क्षीण न हों (अत्तारः) अन्न के भक्षण करने

वाले (अक्षिताः सन्तु) नष्ट न हों अर्थात् तुम्हारे घरों में अतिथि आदि सदा आते रहें ।

॥ इति त्रयोदशोऽनुवाकः ॥

[तत्राष्टादश सूक्तानि ऋचश्च चतुष्षष्टिः]



षष्ठं काण्डं समाप्तम् ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते अथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये षष्ठं काण्डं समाप्तम् ।

* ओ३म् *

अथर्ववेदसंहिता

सप्तमं काण्डम्

[१] ब्रह्मज्ञानी पुरुष ।

ब्रह्मवर्चसकामोऽथर्वा ऋषिः । आत्मा देवता । १ त्रिष्टुप्, २ विराड्जगती । द्व्यृचं सूक्तम् ।

धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि ।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः ॥ १ ॥

(प्र०) ऋ० १०।७१।१॥च० ४।१।१६।५।४०।६॥

भा०—(ये वा) जो विद्वान् लोग (धीती) ध्यान, धारणा या अध्ययन द्वारा (वाचः) इस वाणी के (अग्रम्) अग्र = उत्पत्ति, कारण निदान इससे भी पूर्व विद्यमान उस के मूल स्वरूप आत्माको (अनयन्) प्राप्त करते हैं (ये वा) और जो (मनसा) अपनी मननशक्ति से (ऋतानि) सत्य ज्ञानों को प्राप्त करके (अवदन्) उपदेश करते हैं वे (तृतीयेन) परम, तीर्णतम (ब्रह्मणा) ब्रह्म = वेदज्ञान, सामगायन या ईश्वर के तीर्णतमरूप द्वारा (वावृधानाः) शक्ति और ज्ञान की वृद्धि करते हुए (तुरीयेण) चतुर्थ, वेद या ब्रह्म के तुरीय अति सूक्ष्म, आनन्दमय स्वरूप द्वारा । धेनोः) उस समस्त विश्व को रसपान कराने वाले आनन्दमय ब्रह्म का (नाम) स्वरूप (आ मन्वत) जान लेते हैं ।

उपनिषद् में जैसे—' आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च' आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। तभी तुरीय पद की प्राप्ति होती है। आत्मा की चार दशाएँ हैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय, इसका व्याख्यान माण्डूक्य उपनिषद् में देखिये।

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत् स भुवत् पुनर्मघः।
स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्वः स इदं विश्वमभवत् स आभवत्॥२

भा०—(सः) यह आत्मा (पुत्रः) उस परमेश्वर का पुत्र होकर उस परम आत्मा को अपना (पितरम्) पालक (मातरम्) और माता के समान बीज धारक (वेद) जानता है। (सः) वह (सूनुः) इस देह में उत्पन्न (भुवत्) होता है और (सः) वही (पुनः मघः) बार बार अपने कर्मफल एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न (भुवत्) हो जाता है। और (सः) वह परमात्मा (द्याम्) द्यौः और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, मध्य आकाश और (स्वः) सुखमय, प्रकाशमय मोक्षपद को भी (और्णोत्) अपने वश किए हुए है (सः) वह (इदं विश्वम् इस) समस्त विश्व को (अभवत) उत्पन्न करता है और (सः) वही (आभवत्) सब सामर्थ्य रूप से सर्वत्र व्यापक है। इसका विवरण देखो (श्वेताश्वतर उप० अ० ५। ६।)



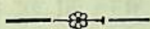
[२] ब्रह्मज्ञानी पुरुष।

ब्रह्मवर्चस्कामोऽथर्वा ऋषिः। आत्मा देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्॥

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥ १॥

भा० —(यः) जो विद्वान् (इमम्) इस (य ज्ञम्) यज्ञ = आत्मा को (मनसा) अपने मानस विचार द्वारा (अथर्वाणम्) अथर्वा = कूटस्थ, नित्य, (पितरम्) सब इन्द्रियों और प्राण सामर्थ्यों का पालक, (देवबन्धुम्) देव अर्थात् परमेश्वर का बन्धु अथवा देव अर्थात् इन्द्रियों का मूलकारण, (मातुः-गर्भम्) माता के पेट में गर्भ रूप से प्रकट होने वाला, और (पितुः) उत्पादक बीजप्रद पिता के जीवन का अंश, (असुम्) प्राणस्वरूप, (युवानम्) सदा नव, अजर अमर या देह इन्द्रिय और उसके सामर्थ्यों को मिलाने वाला या गर्भ में जो डिम्ब से स्वयं मिथुनित होने वाला इस रूपसे (चिकेत) पूर्णतया जान लेता है ऐसा विद्वान् (नः) हमें भी (प्र वोचः) उस आत्मा का उपदेश करे (तम्) उसको (इह इह) इस इस देह में अर्थात् प्रत्येक देह में अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को (ब्रवः) बतलावे ।

इए शरीर के आत्मा के साथ साथ ब्रह्माण्डव्यापी महान् आत्मा का वर्णन भी समझना चाहिए । इस की व्याख्या अथर्ववेदीय शिर-उपनिषत् में देखनी चाहिये ।



[३] अध्यात्म ज्ञान का उपदेश

अथर्वा ऋषिः । आत्मा देवता । त्रिष्टुप् । एकर्च सूक्तम् ।

अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः ।
स प्रत्युदैद् धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत ॥ १ ॥

भा०—(सः) वह आत्मा, (वि-स्था) नाना प्रकार से व्यापक (अया) इस प्रकृति के सहयोग से ही निश्चय से, (कर्वराणि) नाना प्रकार के जगत् के सर्जन आदि कार्यों को (जनयन्) उत्पन्न करता रहता है । (सः) वही (घृणिः) प्रकाशमान (वराय) वरण करने

वाले जीव के लिये (उरुः गातुः) महान् बड़ाभारी, अति श्रेष्ठ गन्तव्य, परम मार्ग है, इसलिए (सः) वह जीव इस समस्त (मध्वः) संसार के (अग्रम्) सर्वश्रेष्ठ (धरुणम्) धारक परमेश्वर के (प्रति उद् ऐत्) प्रति गमन करता है, जो (स्वया) अपनी (तन्वा) सूक्ष्म शक्ति से उसके (तन्वम्) स्वरूप को (ऐरयत) प्रेरित करता है, अपने प्रति आकर्षित करता है।

'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।' यजुः०॥



[४] आत्मज्ञान का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । वायुर्देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

एकया च दशभिश्चा सुहूते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च ।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च ॥१॥

भा०—हे (वायो !) देह के प्रेरक, सर्वधारक वायो ! आत्मन् ! हे (सु-हुते) उत्तम रूप से अपने को देह में अर्पण करने वाले अथवा अपने को योग द्वारा इष्ट देव में समर्पण करने वाले आत्मन् ! तू (एकया) एक चिति शक्ति से और (दशभिः) दश प्राणों से इस देह को (वह) धारण कर, और इसी प्रकार (द्वाभ्याम्) दो प्राण और अपान और (विंशत्या च) उनकी बीस अर्थात् १० सूक्ष्म अर्थात् आभ्यन्तर और १० स्थूल अर्थात् बाह्य शक्तियों से (इष्टये) अपनी इष्टि, इच्छापूर्ति के लिए इस देह को धारण करता है और इसी प्रकार (त्रिंशता) तीस और (तिसृभिः) तीन = ३३ (वि-युग्भिः) विशेषरूप से जुड़ी दिव्य शक्तियों से इस देह को धारण करता है। तू उन सब बन्धन-कारणी प्रवृत्तियों को (इह) इस लोक में (वि मुञ्च) त्याग दे शिथिल कर दे और मुक्त हो ।

पंचम सूक्त के भी आत्मदेवताक होने से मध्य में पठित चतुर्थ भी यह आत्मदेवताक है 'वायु' तो केवल उस प्राणात्मा का बोधक लिङ्ग-मात्र है ।

महान् आत्मा के पक्ष में दश दिशाएं, एक महान् प्रकृति, दो अर्थात् महान् और अहंकार, २० वैकारिक तत्व अर्थात् पांच स्थूल भूत, पांच सूक्ष्म भूत, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, ३३ देव अर्थात् ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र और प्रजापति इनका विशेष प्रकार से योग होकर संसार का महान् यज्ञ चल रहा है । प्रलय काल में वही सूत्रात्मा वायु, परमेश्वर उनको नियुक्त करता है ।



[५] आत्मज्ञान का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । आत्मा देवता । १, २, ५ त्रिष्टुप् । ३ पंक्तिः । ४ अनुष्टुप्
पञ्चर्चं सूक्तम् ।

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन् ।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥१॥

भा०—(देवाः) देवगण, विद्वान् पुरुष (यज्ञेन) यज्ञ अर्थात् समाधिरूप आत्मयज्ञ से (यज्ञम्) सबके पूजनीय परम आत्मा की

५—१ ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः साध्याः देवताः ॥ तत्रैव पुरुषसूक्तपाठे नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता ॥ यजुषि नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता ॥ पुरुषसूक्तस्य नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । मोक्षे विनियोगः । अस्य भाष्यं शौनको नाम ऋषिरकरोत् । प्रथमविच्छेदः क्रियाकारकसम्बन्धः समासः प्रमेयार्थ-व्याख्येति सर्वमेतज्जनकाय मोक्षार्थं कथयामासेति उव्वटः । नारायणपुरुषदृष्टा जगद्-बीजपुरुषदेवत्या षोडश ऋचः इति महीधरः ॥ नारायण ऋषिः, राजेश्वरो देवता इति अजमेरमुद्रितायां यजुःसंहितायाम् ॥

(अयजन्त) उपासना करते हैं (तानि) वे ही (प्रथमानि) सब से उत्कृष्ट (धर्माणि) मोक्षप्राप्ति और अभ्युदय के साधन (आसन्) हैं। (ते) वे इन योगसमाधि की साधना करने हारे योगिजन (महिमानः) महत्व गुण को प्राप्त करके (नाकम्) दुःखरहित मोक्षाख्य परम पुरुषार्थ को (सचन्त) प्राप्त होते हैं। (यत्र) जिसमें कि (पूर्वे) पूर्व मुक्त हुए (साध्याः) साधनासिद्ध (देवाः) ज्योतिर्मय, मुक्त पुरुष (सन्ति) विराजते हैं। 'नाक' अर्थात् स्वर्ग का लक्षण—

दुःखेन यन्न संभिन्नं नच ग्रस्तमनन्तरम् ॥
अभिलाषोपनीतं यत् सुखं स्वर्गपदास्पदम् ।

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः ।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु ॥ २ ॥

भा०—(यज्ञः) वह सब का परम पूजनीय सर्व सुखप्रद परमेश्वर 'यज्ञ' ही (बभूव) सदा काल से रहा है। (सः आ बभूव) वह सर्वत्र व्यापक और समर्थ है। इसलिये (सः प्र जज्ञे) वह समस्त सृष्टि को उत्पन्न करता है। (सः उ) वह ही (पुनः) बार बार (वावृधे) प्रलय कर इसका विनाश करता है (सः) वह (देवानाम्) प्रकृति, महत् और अहंकार, पंचभूतादि वैकारिक दिव्य पदार्थों का (अधिपतिः) अध्यक्ष, स्वामी, उनका मालिक और पालक (बभूव) है, (सः) वह (अस्मासु) हम में (द्रविणम्) ज्ञान और आत्मसामर्थ्य को (आ दधातु) धारण करावे।

यद् देवा देवान् हविषायजन्तामर्त्यान् मनसा मर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ॥ ३ ॥

भा०—(देवाः) देव, ब्रह्म के जिज्ञासु और ज्ञानी पुरुष (यत्) जिस परम पुरुष में निमग्न होकर (मनसा) मनन शक्ति द्वारा (अम-

र्यान्) सदा रहने वाले (देवान्) दिव्य गुणों को (हविषा) मानस संकल्प या आत्मसामर्थ्य से (अयजन्त) बलवान् करते या अपने में संगत करते या उनको वश में करते हैं (तत्र) उस (परमे) परम, उत्कृष्ट (व्योमन्) विशेष रक्षास्थान, अभय, शरणरूप या आकाशवत् महान् और निःसंग परमब्रह्म में हम (मदेम) आनन्द प्राप्त करें और (सूर्यस्य) सबके प्रेरक और प्रकाशक उस महान् सूर्य के (उदितौ) उदय होने पर (तत्) उस परम प्रकाश का (पश्येम) हम सदा दर्शन करें। साधक की यह वह दशा है जिसमें वह कहता है—"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।" इत्यादि। ईश उप०॥

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥ ४ ॥

यजु० ३१। १४। प्र० द्वि० ऋ० १०। ९०। ६ प्र० द्वि०॥

भा०—(यद्) क्योंकि (देवाः) आत्मज्ञान से प्रकाशमान पुरुष (पुरुषेण) इस देह-पुरी में निवास करने वाले आत्मा की (हविषा) हवि देकर अर्थात् परमात्मा के प्रति इसे समर्पित कर (यज्ञम्) उस परम पूजनीय परमेश्वर की उपासना (अतन्वत) करते हैं और (यत्) क्योंकि (विहव्येन) विशेष स्तुति, प्रार्थनोपासना द्वारा या बाह्य चरु आदि से रहित केवल समाधि या ज्ञानाभ्यास द्वारा (ईजिरे) उसकी संगति करते हैं, (तस्मात्) इसलिए ही यह अध्यात्म यज्ञ (नु) निश्चय से (ओजीयः अस्ति) सबसे अधिक ओजस्वी बलशाली होता है।

मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ ५ ॥

भा०—(मुग्धाः) परमात्मा से मुग्ध हुए (देवाः) दिव्य पुरुष (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञमय परम पुरुष की, (शुना) गतिशील प्राण द्वारा (गोः अङ्गैः) और गौ, वाणी या योगादि उपायों या वेदमन्त्रों द्वारा (पुरुधा) नाना प्रकारों से (अयजन्त) उपासना करते हैं, (यः) जो दिव्य पुरुष (इमं यज्ञम्) इस परम पूजनीय प्रभु को (मनसा) अपने मनन साधन, आभ्यन्तर साधन द्वारा (चिकेत) जान लेता है वह (नः) हमें (प्रवोचः) उस उत्कृष्ट परम पुरुष का उपदेश करे और वही विद्वान् (तम्) उस परम पुरुष के विषय में (इह-इह) प्रत्येक मनुष्य में (ब्रवः) उसका उपदेश करे। सायण और सायण के पीछे चलने वालों के मत में—'देवताओं ने मूढ होकर कुत्ते और गाय के टुकड़ों से यज्ञ किया' इत्यादि अर्थ किया है सो असंगत है। क्योंकि इस प्रकरण में यज्ञ की उपासना के लिये मनको मुख्य साधन बताया है। जब देवता 'आत्मा' है तो इसकी साधना में कुत्ते और गाय के मांस आदि का लेना मूर्खता है।



[६ (७)] आत्मज्ञान का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। आदितिर्देवता। १ त्रिष्टुप्; २ भुरिक् त्रिष्टुप्; ३, ४ विराड्-जगत्यौ। चतुरृचं सूक्तम्।

अदि॑तिर्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्षमदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥१
ऋ० १। ८९। १०॥ यजु० २५। २३॥

(६) यजुर्वेदे १ प्रजापतिर्ऋषिः, २ वामदेवः। ऋग्वेदे गोतमोराहूगण ऋषिः। अजमेरमुद्रितसंहितायां सूक्तमिदं चतुरृचं पठ्यते पञ्चपटलिकानुसारम्।

भा०—(द्यौः) द्युलोक (अदितिः) अदिति, अदीन, अखंडित, अविनाशी प्रकृति का बना है। (अन्तरिक्षम्) यह अन्तरिक्ष भी (अदितिः) उसी अविनाशी प्रकृति का बना है। (माता) सब पदार्थों को बनाने वाली उनकी माता यह पृथिवी भी (अदितिः) प्रकृति ही है। (सः पिता) इस संसार का पालन करने वाला सूर्य भी (अदितिः) प्राकृतिक है, (सः पुत्रः) वह पुत्र अर्थात् पृथिवी सूय से उत्पन्न मेघ आदि भी प्रकृति के बने हैं। (विश्वे देवाः अदितिः) समस्त दिव्य शक्तियों से युक्त पदार्थ सूर्य, चन्द्र आदि अथवा पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश आदि भूत या महत्तत्व आदि विकार सब (अदितिः) प्रकृति ही हैं, (पंचजनाः अदितिः) पंचजन = ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद अथवा देव, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरस्, सर्प और पितर ये सब जीव भी प्रकृति गुणों के भेद से उत्पन्न होते हैं, (जातम्) जो पदार्थ उत्पन्न होने वाला है वह सब (अदितिः) प्रकृति ही है, (जनित्वम्) अर्थात् उत्पत्ति का आधार ही (अदितिः) प्रकृति है। अथवा अविनाशशील परमात्मशक्ति को 'अदिति' कहा गया है। यह द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, पंचभूत, पञ्चजन, संसार इत्यादि सब पदार्थ उसी ब्रह्म की शक्ति का विलास हैं।

महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ॥ २ ॥
यजु० २१ । ५ ॥

भा—ब्रह्म की ज्ञानमयी, वेदमयी नौका या भवतारिणी शक्ति का वर्णन करते हैं। (सु-व्रतानाम्) उत्तम पुण्यकर्मों की (महीम्) पूजनीय, (मातरम्) उत्पन्न करने वाली, (ऋतस्य पत्नीम्) महत्, यज्ञ, सत्य और ज्ञान का पालन करने वाली, (तुवि-क्षत्राम्) बहुत

२—'हुवेम' इति यजु०।

प्रकार से क्षति से बचाने वाली, बहुत धन और बल से युक्त, (सु-प्रणीतिम्) उत्तम रूप से व्यवस्था करने और शुभ मार्ग में ले जाने वाली, (सु शर्माणम्) शुभ सुख देनेहारी, (उरूचीम्) विशाल ब्रह्म में व्यापक, (अजरन्तीम्) नित्य, अविनश्वर, (अदितिम्) अदीन, सदा नवीन, अखण्डित, सत्यमयी वेदवाणी अदिति को हम अपनी (अवसे) रक्षा के निमित्त (हवामहे) स्मरण करते हैं उसका मनन, निदिध्यासन करते हैं।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ ३॥

ऋ० १० । ६३ । १० ॥ यजु० २१ । ६ ॥

भा०—उसी का वर्णन और भी करते हैं। (सुत्रामाणम्) उत्तम रीति से सब का पालन करनेवाली, (पृथिवीम्) विशाल (द्याम्) प्रकाशस्वरूप (अनेहसम्) किसी प्रकार का आघात न पहुँचाने वाली (सुशर्माणम्) सब जीवों को सुख-शान्ति, शरण देनेवाली, (सुप्रणीतिम्) उत्तम रूप से विधान की गई या शुभ मार्ग में ले जाने वाली, (दैवीम्) देव ईश्वर की बनाई हुई (सु-अरित्राम्) उत्तम पुण्यकर्म रूप पतवारों वाली (अस्रवन्तीम्) दोषादि छिद्रों से रहित, कभी न डूबने वाली, (नावम्) संसार को पार उतारने में समर्थ, वेदमयी या यज्ञमयी ज्ञान-नौका में हम (अनागसः) निष्पाप (स्वस्तये) अपने ही उत्तम कल्याण साधने के लिए (आरुहेम) सदा चढ़ें। अर्थात् अपने जीवनों को सफल करने के लिये वेद का आश्रय लें। उसकी व्यवस्था में चलें।

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।

३—ऋग्वेदे गयप्लात ऋषिः। (तृ०) 'अनागसम्' इति ऋ०।

यस्या उपस्थ उर्व१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात् ॥४॥

यजु० ६ । ५ ॥

भा०—(वाजस्य) अन्न के (प्रसवे) उत्पन्न करने के कार्य में (महीम्) विशाल, (अदितिम्) अखण्डित, समस्थलवाली (महीम्) पृथवी को (वचसा) वेदोपदेश के अनुसार (नाम) ही (करामहे) तैयार करते हैं। (यस्याः) जिसकी (उपस्थे) गोद में (उरू) यह विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, जल, या मेघ है। (सा) वह (नः) हमें (त्रि-वरूथम्) तीन मंजिला (शर्म) गृह (नियच्छात्) बनाने के लिए अनुकूल हो। अध्यात्म में—वाज = ज्ञानबल के उत्पन्न करने में हम उस परम महती, अखण्ड ब्रह्मशक्ति की वाणी द्वारा स्तुति करते हैं जिसके आश्रय पर यह विशाल अन्तरिक्ष खड़ा है। वह हमें (त्रि-वरूथम्) तीनों तापों से बचाने वाला मोक्षसुख प्रदान करे।



[७ (८)] आत्मज्ञान का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। अदितिर्देवता। आर्षी जगती। एकर्चं सूक्तम् ॥

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम्।
तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥१

भा०—मैं परमात्मा (दितेः) दिति के (पुत्राणाम्) पुत्रों के-स्थान को (अदितेः) अखण्डित, अविनाशी चितिशक्ति के पुत्र (बृहताम्) बड़े और (अनर्मणाम्) अव्यथित (देवानाम्) देवों अर्थात् प्राण-रूप इन्द्रिय सामर्थ्यों के अव (अकारिषम्) नीचे, अधीन करता हूँ।

४—'यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत्' इति उत्तरार्धं यजु० ॥

क्योंकि (तेषाम्) उनका (धाम) तेज (समुद्रियम्) समुद्र अर्थात् आत्मा से उत्पन्न होने वाला होने के कारण (गभिषक्) अति गम्भीर है । (एनान्) इनके सदृश (नमसा) नमन करने वाले अन्न सामर्थ्य से युक्त (परः कश्चन न) दूसरा कोई पदार्थ नहीं है । कश्यप की दो स्त्रियां दिति और अदिति । दिति के पुत्र दैत्य और अदिति के पुत्र आदित्य, सुर असुर, देव दानवादि के कथानक आलंकारिक हैं । कश्यप अर्थात् सर्वद्रष्टा ईश्वर दो शक्तियों का स्वामी है दिति का और अदिति का, जड़ प्रकृति का, और चिति शक्ति का । जड़-प्रकृति में अचेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं और चिति शक्ति जीव है । दिति = प्रकृति के पुत्र जड़ पदार्थ = देहों को परमात्मा ने अदिति = चिति अर्थात् चेतनामय जीवों के अधीन किया ।



[८ (९)] उत्तम मार्गदर्शक ।

उपरिबभ्रव ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

भ॒द्राद॒धि श्रेयः॒ प्रेहि॒ बृह॒स्पतिः॑ पुर ए॒ता ते॑ अस्तु ।
अथे॒मम॒स्या वर॒ आ पृ॑थि॒व्या आ॒रेश॑त्रुं कृणुहि॒ सर्व॑वीरम् ॥१॥

भा०—हे पुरुष ! तू (भद्रात्) शारीरिक और इहलोक के सुख से भी (अधि) ऊपर विद्यमान (श्रेयः) परम कल्याण, श्रेष्ठतम पद को (प्र इहि) प्राप्त हो । (बृहस्पतिः) समस्त महान् लोकों का स्वामी वेदवाणी का विद्वान् पथदर्शक (ते) तेरे (पुरःएता अस्तु) सामने, आगे आगे चलने वाला हो । वह तुझे सदा उत्तम उत्तम मार्ग दर्शावे । (अथ) और (इमम्) इस जीव को (अस्याः) इस (पृथिव्याः) पृथिवी के (वरे) उत्तम, वरण करने योग्य, श्रेष्ठ शांतियुक्त, परम उच्च स्थान पर (सर्व-वीरम्) सब स्थानों में और प्रजाओं में वीर' सामर्थ्यवान् और (आरे-शत्रुम्) शत्रुओं से रहित, निर्भय (कृणुहि) कर ।

[९ (१०)] उत्तम मार्गदर्शक, पति और पालक से प्रार्थना ।

उपरिबभ्रव ऋषिः । पूषा देवता । १, २ त्रिष्टुभौ, ३ त्रिपदा आर्षी गायत्री, ४ अनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥१॥

ऋ० १० । १७ ॥ ६ ॥

भा०—(पूषा) समस्त संसार का पोषक परमात्मा (पथाम्) समस्त मार्गों या लोकों के (प्रपथे) उत्कृष्ट, उन्नतर मार्ग में और (दिवः प्रपथे) द्यौ = सूर्य के मार्ग में और (पृथिव्याः प्रपथे) पृथिवी के मार्ग में (अजनिष्ट) विद्यमान है (प्रियतमे) अत्यन्त प्रियतम (सधस्थे) एक ही स्थान अर्थात् आकाश में विद्यमान है द्यौ और पृथिवी दोनों के (अभि) सन्मुख उन दोनों को (प्रजानन्) जानता हुआ (आ च चरति परा च) उनके पास और दूर सर्वत्र व्यापक है ।

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥२॥

ऋ० १० । १७ । ५ ॥

भा०—(पूषा) सबका परिपोषण करने वाला परमात्मा (इमाः सर्वाः आशाः) इन सब दिशाओं को (अनु वेद) बराबर जानता है । अतः (सः) वह (अस्मान्) हमें (अभयतमेन) सबसे अधिक भय-रहित, कल्याणकारी मार्ग से (नेषत्) लेजाय । वह परमात्मा (स्व-स्तिदाः) सब प्रकार कल्याणमय पदार्थों का देने वाला (आघृणिः) सब प्रकार से प्रकाशमान (सर्ववीरः) सब स्थानों में और सब से

९—ऋग्वेदे देवश्रवा यामायन ऋषिः

अधिक वीर, वीर्यवान्, सामर्थ्यवान्, (प्रजानन्) सब बातों का जानने हारा, (अप्रयुच्छन्) कभी न प्रमाद करता हुआ (पुरः एतु) हमारे आगे आगे मार्गदर्शक हो ।

मार्गदर्शक विद्वान् को भी इसी प्रकार का होना चाहिए । वह सब दिशाओं के देश जाने, अपने स्वामी का कल्याण करे, हृदय में वीर, ज्ञानी और प्रमादरहित हो ।

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन ।
स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । ५४ । ६ ॥ यजु० ३४ । ४१ ॥

भा०—हे पूषन् ! सब के परिपोषक प्रभो ! (वयम्) हम (तव व्रते) तेरे उपासनाकार्य में (कदा चन) कभी (न) न (रिष्येम) विनष्ट हों हम (इह) यहां (ते) तेरे सदा (स्तोतारः) सत्य गुणों का वर्णन करते (स्मसि) रहें ।

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम् ।
पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥ ४ ॥

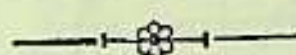
ऋ० ६ । ५४ । १० ।

भा०—(पूषा) परिपोषक परमात्मा (परस्तात्) दूर दूर तक (दक्षिणम्) कार्यकुशल या दायें हाथ के समान बलवान् (हस्तम्) अपना हाथ अर्थात् सहारा (परिदधातु) हमें दे । जिससे हम सब ऐश्वर्य प्राप्त करें और (नः) हमारा (नष्टम्) विनष्ट पदार्थ (नः) हमें (पुनः) फिर (आजतु) प्राप्त हो । हम (नष्टेन) विनष्ट पदार्थ

२—(प्र०) 'पुरस्तात्' इति ऋ० ।

से पुनः (सं गमेमहि) संगति लाभ करें ।

पूषादेवताक मन्त्रों का अर्थ हमने परमात्म-परक किया है । परन्तु पूषा विशां विट्पतिः ॥ तै० २ । ५ । ७४ ॥ पूषा वै पथीनामधिपतिः । श० । ३।४।१।१४॥ पूषा भगं भगपतिः । श० ११ । ४ । ३ । १५ ॥ पथ्या पूष्णः पत्नी गो० उ० २ । ९ ॥ योषा वै सरस्वती वृषा पूषा ॥ श० २ । ५ । १ । ११ ॥ पूषा भागदुघः अशनं पाणिभ्यामुपनिधाता । श० । ११ । १ । २ । १७ इत्यादि प्रमाणों से राजा, राष्ट्र के सब मार्गों पर चुंगी संग्रह करनेवाला, राष्ट्र का अधिकारी, खज़ानची, अन्नपति, गृहपति और राष्ट्र के कर का संग्रह करनेवाला अध्यक्ष ये भी 'पूषा' कहाते हैं ।



[१० (११)] सरस्वती की उपासना ।

शौनक ऋषिः । सरस्वती देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

यस्ते॒ स्तनः॑ शश॒युर्यो म॑यो॒भूर्यः सु॑म्न॒युः सु॒हवो॒ यः सु॒दत्रः॑ ।
येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वे कः ॥१॥

ऋ० १ । ६४ । ४९ ॥ यजु० ३ । ५ ॥

भा०—हे (सरस्वति) वेदमातः गुरो ! (यः) जो (ते) तेरा (स्तनः) मातृस्तनवत् मधुर शब्दमय उपदेश (शशयुः) अत्यन्त शान्तिदायक, अथवा अतिगूढ रहस्यमय है, (यः मयोभूः) जो सुखका उत्पत्ति स्थान है, (यः सुम्नयुः) जो मन को प्रसन्न करने वाला है, (यः सुहवः) जो उत्तम रीति से स्मरण करने योग्य और (सुदत्रः) उत्तम ज्ञानदाता है, (येन) जिससे तू (विश्वा वार्याणि) समस्त वरण करने योग्य उत्तम ज्ञानों को माता के समान (पुष्यति) पुष्ट करती है । हे सरस्वति ! वेदमातः ! (तम्)

१०—ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः ॥

उस स्तन अर्थात् शब्दमय उपदेश को (इह) इस लोक में या इस गुरुगृह में (धातवे) हमें ज्ञान-रस पान करने के लिये (कः) हमारे प्रति उपदेश कर।

[११ (१२)] सरस्वती की उपासना।

शौनक ऋषिः । सरस्वती[1] देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

यस्ते॑ पृथु स्त॑नयि॒त्नुर्य ऋ॒ष्वो दैवः॑ के॒तुर्विश्व॑मा॒भूष॑तीदम् ।
मा नो॑ वधीर्वि॒द्युता॑ देव स॒स्यं मोत व॑धी र॒श्मिभिः॒ सूर्य॑स्य ॥१॥

भा०—हे सरस्वति ! (यः) जो (ते) तेरा (पृथुः) अति विस्तृत (स्तनयित्नुः) गर्जनशील और जो (ऋष्वः) हिंसा-जनक आघातकारी (दैवः) प्रकाशमान (केतुः) ध्वजा के समान विद्युत् और सूर्य (इदम्) इस समस्त (विश्वम्) संसार को (आभूषति) सुशोभित करता है, हे देव ! तू उस (विद्युता) विशेष दीप्तियुक्त विद्युत्-वज्र से (नः) हमें (मा वधीः) मत मार। (उत) और उससे (सस्यं मा वधीः) हमारे खेत के धान को भी मत मार और इसी प्रकार (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की तीव्र किरणों से भी हमें न मार और हमारे धान्यों, खेतियों को न मार। पुरुषों को 'सन्स्ट्रोक' न हो और खेती सूख न जाय।

यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य अग्नेः सारस्वतं रूपम् ॥ ऐ० ३। ४ ॥ सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपम् ॥ कौ० १२। २१। मेघका गर्जन और विद्युद्विलास यह भी अग्नि का 'सारस्वत रूप' है सरस्वती वज्र का द्वितीय रूप है। राष्ट्रपक्ष में राजा, राजदण्ड, राजव्यवस्था क़ानून आदि सरस्वती-वज्र के प्रतिनिधि हैं।

१—पर्जन्य इति सायणः

[१२ (१३)] सभा समिति बनाने का उपदेश ।

शौनक ऋषिः । सभा देवता । १ सभा, समितिश्च, २ सभा, ३ इन्द्रः, ४ मन्त्रोक्तं मनो देवता । १ भुरिक् त्रिष्टुप्, २—४ अनुष्टुप्छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥१॥

भा०—(सभा च) सभा जिसमें सब समान हैसियत या पद के होकर विराजें और (समितिः च) जिसमें समस्त प्रजाएं एकत्र हों अर्थात् एक पदाधिकारियों की सभा दूसरी प्रजाओं के प्रतिनिधियों की समिति ये दोनों (प्रजापतेः दुहितरौ) प्रजा के स्वामी राजा की दुहिता कन्या के समान हितकारिणी होकर भी अपना हित स्वयं निर्णय करती और अपना लाभ सम्पत्ति, भोग, यश आदि प्रजापति राजा को ही देती हैं। वे दोनों (सं-विदाने) परस्पर ऐकमत्य करके (मा) मुझ राजा का (अवताम्) पालन करें। और सभासद् विद्वान् पुरुषो ! मैं (येन) आपलोगों में से जिस किसी से (सम् गच्छे) मिलकर वार्तालाप करूं या सलाह लूं (सः) वही (मा) मुझको (उप शिक्षात्) मेरे समीप आकर मुझे अपने विभाग का ज्ञान प्राप्त कराए, मुझे सिखावे अथवा मुझे मेरे राज्यकार्य करने में समर्थ करे, मुझे सहायता दे । हे (पितरः) विद्वान् पुरुषो ! राष्ट्र के पालन करने वालो ! आपलोग ही वास्तव में राष्ट्र के पिता हो, आप (संगतेषु) जब एकत्र हों तो आपलोगों के बीच में (चारु वदानि) मैं उत्तम प्रकार से अपना अभिप्राय प्रकट करूं। आप मित्रभाव से मेरे संग रहें, कुटिल भाव से बर्ताव न करें । राजसभा और प्रजा के प्रतिनिधि सभा दोनों के सदस्य राजा को राजकार्य को में सहायता करें । उसे राज्य

संचालन में समर्थ करें। उसे मार्ग दिखलावें और राजा अपने सब अभिप्राय स्पष्ट रूप से प्रथम समिति अधिकारी सभा (State Council) और प्रजा प्रतिनिधि सभा (Legislative) के समक्ष रक्खे और ये सब उसपर विचार करलें कि राजा के मन्तव्य किस अंश तक प्रजा के लाभकारी और क्रियात्मक हो सकते हैं। उनसे क्या हानि लाभ सम्भव है इत्यादि।

मनु प्रोक्त व्यवरा परिषत् आदि का मूल यही सभा है। इस स्थल पर मनु की उस व्यवस्था को देख लेना चाहिये। सभाओं और समितियों का वर्णन प्राचीन काल के साहित्य में बहुत है। प्रजाओं के विवाद-निर्णयार्थ भी सभा, समिति का रचना आवश्यक है।

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥

भा०—(हे सभे) सभास्थ पुरुषो! आपलोगों की यह सभा है इसके (नाम) नमाने के बल अर्थात् दूसरों पर बल डालकर अपनी बात स्वीकार करालेने के बल को हम (विद्म) जानें। हे सभे सभास्थ पुरुषो! यह सभा (नरिष्टा नाम वा असि) नरिष्टा या अहिंसिता, कभी भी न दबने वाली है, उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। इस लिये इस सभा के बीच में (ये के च) जो कोई भी (सभासदः) सभासद्, विद्वान् पुरुष विराजमान हैं (ते) वे सब (मे) मुख्य सभापति या प्रधान या राजा या राज-प्रति-निधि के साथ (स-वाचसः) समान वचन, होकर, एक वाणी होकर (सन्तु) रहें। जिससे एक मन होकर बलपूर्वक अपना कार्य करें सभा एकमत होकर सभापति को अपना वक्तव्य कहे और वह निश्चय बलपूर्वक कार्य में लाया जाय।

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥

भा०—(एषाम्) इन (सम्-आसीनानाम्) एकत्र होकर सभा में विराजमान विद्वान् पुरुषों, पदाधिकारियों, एवं प्रजा के प्रतिनिधियों के (वि-ज्ञानम्) विशेष ज्ञान और (वर्चः) बल को (अहम्) मैं उनकी सम्मति लेकर (आ ददे) स्वयं प्राप्त करता हूँ। हे (इन्द्र) परमेश्वर्यवान् राजन् प्रभो ! (अस्याः सर्वस्या) इस समस्त (संसदः) सभा के (भगिनम्) ऐश्वर्य का स्वामी (माम्) मुझे (कृणु) बना।

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा ।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

भा०—सभापति या वक्ता, सभासदों के प्रति कहे कि हे सभासद् महानुभावो ! (वः) आपलोगों का (यद्) जो (मनः) मन (परागतम्) कहीं अन्यत्र गया है या (यद्) जो मन (इह वा-इह वा) अमुक अमुक विषय में (बद्धम्) लगा है, (वः) आपके (तद्) उस चित्त को मैं (आ वर्तयामसि) पुनः पुनः लौटा लेता हूँ, अपनी तरफ खैंचता हूँ, आपका वह (मनः) मन (मयि रमताम्) मेरे ऊपर, मेरी कही बात में लगे, आप मेरे वचनों पर विचार कीजिये।



[१३ (१४)] शत्रु के दमन की साधना।

द्विषो वर्चोहर्तुकामोऽथर्वा ऋषिः । सूर्यो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । द्व्यृचं सूक्तम् ।

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥

भा०—शत्रु व्यक्ति चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, वह उनको अपने सामर्थ्य से दबाने के लिये अपनी आत्मा की शक्ति इन विचारों से

बढ़ावे (यथा) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (उद्यन्) उदय होता हुआ (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों, तारों के (तेजांसि) प्रकाशों को (आ ददे) अपने में मिला कर लुप्त कर लेता है। (एवा) उसी प्रकार (द्विषताम्) द्वेष करने वाली (स्त्रीणाम्) स्त्रियों, (पुंसाम् च) और द्वेषी पुरुषों के (वर्चः) तेज को मैं (आ ददे) दबा लूं, अपने में मिलालूं। अपने से अधिक उनको न चमकने देकर स्वयं अधिक उज्ज्वल कीर्तिवाला होऊँ।

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ।

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥

भा०—(स-पत्नानाम्) शत्रुओं में से (यावन्तः) जितने आप लोग (माम्) मुझ को (आयन्तम्) अपने प्रति आते हुए (प्रति-पश्यथ) अपने से प्रतिकूल देख रहे हैं, (सुप्तानाम्) सोते हुए पुरुषों के तेज को (उत्-यन् सूर्यः इव) जिस प्रकार उदय होता हुआ सूर्य हर लेता है उसी प्रकार (द्विषताम्) द्वेष करने वाले आप लोगों के (वर्चः) तेज, वीर्य, बल, यश, प्रताप को (आ ददे) मैं हर लूं। सूर्योदय के बाद तक सोने वाले आलसी पुरुषों का वीर्य, बल, तेज क्षीण हो जाता है इसलिये तेजस्वी होने के लिये सूर्योदय के पूर्व ही उठना चाहिये।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र त्रयोदश सूक्तानि ऋचश्चाष्टाविंशतिः]



[१४ (१५)] ईश्वर की उपासना।

अथर्वा ऋषिः। सविता। १, २ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्, ४ जगती छन्दः।
चतुर्ऋचं सूक्तम्।

(१४)—"मतिं कविम् इति यजुः० ।"

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम् ।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥ १ ॥

यज० ४ । ५ । प्र० द्वि० ॥

भा०—मैं (ओण्योः) रक्षा करने वाले माता पिताओं और संसार के रक्षक सूर्य और पृथिवी दोनों के (सवितारम्) प्रेरक और उत्पादक, (कविक्रतुम्) क्रान्तदर्शी ज्ञानवाले अथवा क्रान्तदर्शी मेधावी लोगों के ज्ञान से पहले सर्वातिशायी ज्ञान से सम्पन्न, तथा (सत्य-सवम्) सत्य अर्थात् सत् प्रकृति से उत्पन्न समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाले, (रत्नधाम्) रमण करने योग्य समस्त ज्ञान का एवं रमणीय जीवन में आनन्दजनक पदार्थों और सूर्य आदि लोकों को धारण पोषण करने वाले, (प्रियम्) सब को प्रसन्न करने वाले, प्यारे (मतिम्) सब को मानने या मनन करने योग्य (त्यं देवम्) उस प्रकाशमय अथवा परम देव की (अभि अर्चामि) सदा उपासना करूं, उसे प्राप्त करूं ।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि ।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ॥ २ ॥

यजुः ४ । २५ तृ० च०

भा०—(यस्य) जिस परमदेव की (मतिः) अपरिमित आत्म-शक्तिमयी (भाः) कान्ति (सवीमनि) उसके चलाये इस जगत् में (ऊर्ध्वा) सब से ऊंची, सब पर अधिष्ठात्री होकर (अदिद्युतत्) प्रकाशमान है वह (हिरण्य-पाणिः) सब को प्रकाश देने वाला, या प्रकाशमान पिण्डों सूर्य आदि लोकों को भी अपने हाथ में रखने वाला, (सुक्रतुः) सब से उत्तम ज्ञानवान्, शिल्पी (कृपात्) अपने सामर्थ्य से ही (स्वः) इस सूर्य स्वरूप नक्षत्र संसार को (अमिमीत) बनाता है ।

१—सर्वैर्मन्तव्यम् इति सायणः । मननयोग्यमिति महीधरः ।

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै ।
अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः ॥३॥

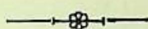
उत्तरार्धः ऋ० ३ । ५६ । प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (देव) परमात्मन् ! प्रकाशस्वरूप देव ! तू (प्रथमाय) सब से प्रथम, सर्वश्रेष्ठ (पित्रे) पिता अर्थात् सब प्राणों के पालक जीवात्मा के लिये ही (सावीः) ये सब पदार्थ उत्पन्न करता है। और (अस्मै) इस जीव के लिये तू ही (वर्ष्माणम्) वर्ण, देह या भोग-सामर्थ्य और (अस्मै) इस जीव के लिये ही तू (वरिमाणम्) सब पदार्थों से अधिक श्रेष्ठता भी प्रदान करता है। (अथ) इसी प्रकार तू (अस्मभ्यम्) हम जीवों के लिये (सवितः) हे सर्वोत्पादक प्रभो! (वार्याणि) सब अभिलाषा करने योग्य उत्तम पदार्थ धन और (भूरि) बहुत से (पश्वः) पशुसमूह वा इन्द्रियगण (दिवः दिवः) दिनों दिन (आ सुव) प्रदान कर ।

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि ।
पिबात् सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि॥४॥

भा०—(देवः) प्रकाशमान (सविता) सबका प्रेरक और उत्पादक और सर्वैश्वर्यवान् (वरेण्यः) और सब को वरण करने योग्य, सबका प्रिय प्रभु (दमूनाः) सबको उनके अभिलषित पदार्थों को प्रदान करता है। वह ही (पितृभ्यः) देह, इन्द्रिय, मन और अपनी प्रजा, गृह आदि के पालन करने वाले जीवों को (रत्नम्) उनके रमण करने योग्य कर्म-फल (दक्षम्) ज्ञान और (आयूंषि) दीर्घ जीवन (दधात्) प्रदान करता है। (अस्य) इस साक्षात् प्रभु की (धर्मणि) धारण व्यवस्था में रहकर यह जीव (सोमं पिबात्) सोमस्वरूप परमानन्द रस का पान करता है और वह आनन्द रस (एनम्) इस जीव को (ममदत्) मस्त कर देता है, अपने में मग्न और मत्त कर लेता है, और वह जीव

(परि-उमा) सर्वत्र गतिमान्. सर्वाप्तकाम हो कर (इट् चित्) उस परम पूज्य, इष्ट, उपास्य प्रभु को (क्रमते) प्राप्त करता, उसमें लीन हो जाता है ।



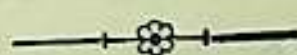
[१५ (१६)] ईश्वर की उपासना

भृगुर्ऋषिः । सविता देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

तां स॑वि॒तुः स॒त्यस॑वां सुचि॒त्रामाहं वृ॑णे सुम॒तिं वि॒श्ववा॑राम् ।
याम॑स्य॒ कण्वो॒ अदु॑ह॒त् प्रपी॑नां स॒हस्र॑धारां महि॒षो भगा॑य ॥१॥

यजु० १७ । ७४ ॥

भा०—हे (सवितः) सब के उत्पादक प्रेरक प्रभो ! (अहम्) मैं (सत्यसवाम्) सत्य पदार्थों और ज्ञानों को उत्पन्न करने वाली (सु चित्राम्) अति अद्भुत या अति पूजनीय, (विश्व-वाराम्) समस्त संसार की रक्षा करने वाली (ताम्) उस परम (सु-मतिम्) उत्तम रीति से मनन करने योग्य, दिव्य शक्ति की (आ वृणे) साक्षात् स्तुति करता हूँ (अस्य) इसकी (याम्) जिस दिव्य शक्ति को (सहस्रधाराम्) जो कि सहस्रों लोकों या समस्त विश्व को धारण करने वाली है (प्रपीनाम्) और जो अति पुष्ट गौ के समान आनन्द-रस का पान कराने वाली है (भगाय) अपने ऐश्वर्यशील आत्मसम्पत् को प्राप्त करने के लिए (महिषः) महा (कण्वः) ज्ञानी पुरुष (अदुहत्) प्राप्त करता है ।



[१६ (१७)] सौभाग्य की प्रार्थना ।

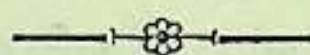
भृगुर्ऋषिः । सविता देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

[१६] (तृ०) 'सन्तराम्' इति यजु० ।

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय।
संशितं चित् सन्तरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः॥१

यजु० २७। ८॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहती, वेदवाणी और बृहत् = विशाल लोकों के स्वामिन्! (सवितः) सर्वोत्पादक परमेश्वर एवं आचार्य (एवम्) इस व्रती ब्रह्मचारी पुरुष की आत्मा को (वर्धय) बढ़ा, शक्तिशाली बना और (एनम्) इस आत्मा को (महते) बड़े (सौभगाय) सौभाग्य, आत्मसम्पत्ति और विद्यासम्पत् प्राप्त करने के लिए (ज्योतय) ज्ञान से प्रकाशित कर। और (संशितम्) अच्छी प्रकार तपस्या से सम्पन्न इस ब्रह्मचारी तपस्वी पुरुष को (सं-तरं चित्) खूब ही अच्छी प्रकार (सं शिशाधि) शासन कर, शिक्षा दे। जिससे (विश्वे) समस्त (देवाः) ज्ञानी, विद्वान् पुरुष (एनम्) इस विद्वान् ब्रह्मचारी को देख कर (अनु मदन्तु) इसकी सफलता पर प्रसन्न हों। राजा अपने राष्ट्र में विद्वानों को इस प्रकार का आदेश करे। पिता, आचार्य से पुत्र के लिये प्रार्थना करे। आचार्य अपने शिष्य और यजमान के लिये ईश्वर से इसी प्रकार की प्रार्थना करे। इस प्रकार यह मन्त्र उभय-पक्ष में लगता है।



[१७ (१८)] ईश्वर से ऐश्वर्य की प्रार्थना।

भृगुर्ऋषिः। धाता सविता देवता। १ त्रिपदा आर्षी गायत्री, २ अनुष्टुप्, ३, ४ त्रिष्टुभौ। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः।
स नः पूर्णेन यच्छतु॥ १॥

भा०—(धाता) सब का धारण और पोषण करनेवाला, (जगतः पतिः) समस्त जगत् का पालक, (ईशानः) सब का स्वामी, ईश्वर

(नः) हमें (रयिम्) ऐश्वर्य, यश और बल (दधातु) प्रदान करे। और (सः) वह (नः) हमें (पूर्णेन) हमारी पूर्ण शक्ति और साधना के अनुसार (यच्छतु) बल और धन प्रदान करे। ईश्वर जितना हम प्राप्त कर सकें, रख सकें, उतना हमें दे।

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥

भा०—(धाता) सब का धारणकर्त्ता, पालक, पोषक प्रभु (दाशुषे) अपने को समर्पण करने वाले अथवा सब को दान करनेवाले जीव के लिये (प्राचीम्) अति उत्तम रीति से प्राप्त होनेवाली (अक्षिताम्) अक्षय (जीवातुम्) जीवनशक्ति को (दधातु) दे। (वयम्) हम (विश्व-राधसः) समस्त धनों के स्वामी (देवस्य) प्रकाशस्वरूप, प्रभु, देव की (सुमतिम्) उत्तम मनन करने योग्य शक्ति का (धीमहि) ध्यान करते हैं।

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः॥३॥

भा०—(धाता) पोषक, पालक प्रभु (प्रजा-कामाय दाशुषे) प्रजा की अभिलाषा करने वाले दानी गृहपति को (दुरोणे) उसके घर में (विश्वा वार्या) समस्त प्राप्त करने योग्य आवश्यक धन धान्य आदि पदार्थों का (दधातु) प्रदान करे। (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् गण, (स-जोषाः) और प्रेम से युक्त स्नेही, (अदितिः) अखण्ड शक्तिशाली माता ये सब (देवाः) दिव्यगुणोंवाली व्यक्तियां (तस्मै) उसके लिये (अमृतम्) अमृत, आत्म-शक्ति, जीवन-शक्ति का (सं व्ययन्तु) दान करें।

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः ।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥४

यजु० ८ । १७ ॥

भा०—(धाता) वह प्रभु सब का स्रष्टा, धारक और पालक, (रातिः) सब श्रेय कल्याणकारी पदार्थों ज्ञान और बल का देने वाला (सविता) और सब का प्रेरक, सब का आज्ञापक है। वही (प्रजा-पतिः) प्रजा का पालक (निधि-पतिः) ज्ञान की निधि, भण्डार और धन के भण्डारों का स्वामी और (अग्नि:) प्रकाशस्वरूप है। उसी के भिन्न भिन्न गुणों और कर्त्तव्यों का पालन करने वाले अधिकारीवर्ग भी राष्ट्र में धाता, राति = दानाध्यक्ष, सविता, प्रजापति निधिपति और अग्नि आदि पदाधिकारी नियत हों, वे अपने को राजा का स्वरूप जानकर (नः) हमारे (इदम्) इस प्रजाधन की ईश्वर के समान (जुषन्ताम्) प्रेम से रक्षा करें। (विष्णु:) व्यापक परमेश्वर के समान राज्य का कर्त्ता धर्ता (त्वष्टा) राजा, (प्रजया) अपनी प्रजा के साथ (सं-रराणः) आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ, (यजमानाय) ईश्वर के उपासक, दाता और शुभ कर्म के कर्त्ता उत्तम पुरुष को (द्रविणं दधातु) सब प्रकार द्रव्य रखने की शक्ति दे। जो उसके द्रव्य की रक्षा करे, उसको द्रव्य सौंपे।

इन मन्त्रों के आधार पर राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि स्मृतिकारों ने कहा है। जिस प्रकार ईश्वर के निमित्त त्याग करने और उसकी पूजा करने वाला यजमान है इसी प्रकार राजा के निमित्त कर देने वाला

४—(द्वि०) 'निधिपावेदेवाऽग्निः'। इति यजुः। 'वरुणो मित्रो अग्निः' (तृ०) 'विष्णुस्त्वष्टा' इति मै० सं० (तृ०) 'रराणाः' (च०) 'दधात' इति यजुः।

उसको अपना राजा मानकर आदर दिखाने वाला प्रजा का प्रत्येक पुरुष यजमान है। राजा उसके धन की रक्षा करे।

[१८ (१९)] अन्न की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः। पृथिवी पर्जन्यश्च देवते। १ चतुष्पाद् भुरिगुष्णिक्, २ त्रिष्टुप्।

द्व्यृचं सूक्तम् ॥

प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्धी३दं दिव्यं नभः।
उद्नो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ॥ १ ॥

भा०—हे (पृथिवी) पृथिवी मातः ! तू (प्र नभस्व) खूब अच्छी रीति से हल आदि साधनों से खण्डित की जावे। हे (धातः) ईश्वर ! (ईशानः) तू सामर्थ्यवान् विद्युत् रूप होकर (इदम्) इस (दिव्यम्) दिव्य गुणवाले (नभः) मेघ को (भिन्धि) खण्डित कर और (दिव्यस्य) दिव्य (उद्गः) जल के भरे (दृतिम्) बड़े भारी कुप्पे अर्थात् मेघ को (वि स्य) खोल दे।

न घ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः।
आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम् २

भा०—(घ्रन्) घाम या ग्रीष्मकाल का प्रचण्ड सूर्य (न तताप) भूमि को जब अधिक न तपा रहा हो और जब (हिमः) हिम, पाला अति शीत भी (न जघान) पीड़ित न करे तब (पृथिवी) यह पृथिवी क्षेत्रभूमि (जीरदानुः) जीवनप्रद, अन्न का प्रदान करने योग्य होकर (प्र नभताम्) अच्छे रूप से तैयार की जाय और तभी (आपः) जलधाराएं (चित्) भी (अस्मै) इस भूमिपति या क्षेत्रपाल के लिए (घृतम्) घी या आयु और बलप्रद अन्न जल ही मानो (क्षरन्ति) बहाते हैं। ठीक भी है क्योंकि (यत्र) जहां (सोमः) सोम, जल वर्षाने

वाला मेघ बरसाता है (तत्र) वहां (सदम् इत्) सदा ही (भद्रम्) सुख, कल्याण और सुभिक्ष रहा करता है।

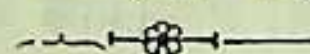


[१९ (२०)] प्रजापति से पुष्टि की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। जगती छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

प्र॒जाप॑तिर्जनयति प्र॒जा इ॒मा धा॒ता द॑धातु सुमन॒स्यमा॑नः।
सं जा॒ना॒नाः संम॑नस॒ः सयो॑नयो॒ मयि॑ पु॒ष्टं पु॒ष्ट॒पति॑र्दधातु॥१॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजाओं का पालक परमेश्वर (इमाः प्रजाः) इन प्रजाओं को (जनयति) प्रथम उत्पन्न करता है। और फिर (सुमनस्यमानः) उन सबके प्रति उत्तम कल्याणमय चित्त होकर वही प्रजापति उनका (धाता) धारण और पोषण करने वाला होकर (इमाः) इन प्रजाओं को (दधातु) पुष्ट करता है वे प्रजाएं (स-योनयः) जो कि एक ही मूल स्थान अर्थात् परमात्मा से उत्पन्न हुई हैं वे (सं-जानानाः) सम्यक् ज्ञान से सम्पन्न और (सं मनसः) एक ही चित्त वाली हों। (पुष्ट-पतिः) पोषण क्रिया का स्वामी परमेश्वर (मयि) मुझ में अर्थात् प्रत्येक प्रजाजन में (पुष्टम्) पुष्टि (दधातु) दे।



[२०] 'अनुमति' नाम सभा का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। अनुमतिर्देवता। १, २ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्, ४ भुरिक् त्रिष्टुप्, ५ जगती, ६ अतिशाक्वरगर्भा जगती। षडर्चं सूक्तम्॥

अन्व॒द्य नोऽनु॑मतिर्य॒ज्ञं दे॒वेषु॑ मन्यताम्।
अ॒ग्निश्च॑ हव्य॒वाह॑नो॒ भव॑तां दा॒शुषे॒ मम॑॥ १॥

यजु० ३४। ९॥

भा०—(अद्य) अब, वर्त्तमान काल में, सदा (नः) हमारी (अनुमतिः) एक दूसरे के अनुकूल हितसाधना की मति या सभा (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में (यज्ञम्) परस्पर संगति और सत्कर्म अनुष्ठान आदि कार्य की (अनु मन्यताम्) सदा आज्ञा दे । इस प्रकार परस्पर के हित का चिन्तन करने वाली संस्था और (हव्य-वाहनः) ग्रहण करने योग्य विचारों को हम तक पहुंचाने वाला (अग्निः च) अग्नि = हमारा अग्रणी, ज्ञानवान् नेता ये दोनों (मम) मेरे (दाशुषे) दानशील समाजव्यवस्था के अनुकूल अपना भाग देने वाले पुरुष के लिये (भवताम्) उपयोगी, हितकर पदार्थ प्राप्त कराने वाले होवें।

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥

यजु० ३४ । ९ ॥

भा०—हे (अनु-मते) अनुज्ञा करनेहारी सभे ! (त्वम्) तू (इदम्) इस सब कार्यव्यवस्था को (अनु मंससे) समाज की व्यवस्था और हित के अनुकूल विचार करती है। (नः) हमारे लिये (शं च कृधि) कल्याण और सुखदायी कार्यों को करती है। हे (देवि) विद्वानों से बनी सभे ! (आ-हुतं) हमारे दिये (हव्यम्) धन और अन्न आदि पदार्थ को (जुषस्व) तू प्रेमपूर्वक स्वीकार कर और (नः) हमें (प्रजाम्) उत्तम सत् प्रजा को (ररास्व) प्रदान कर। इयं वा अनुमतिः, स यत्कर्म शक्नोति कर्त्तुं यच्चिकीर्षति इयं हास्मै तदनुमन्यते । श० ५ । २ । ३ । ४ ॥ इयं वा अनुमतिः । इयमेवास्मै राज्यमनुमन्यते। तै० १ । ६ । १ । ४–५ ॥

२—(प्र०) 'त्वमन्यासै' इति यजु० । (तृ०) 'क्रत्वे दक्षाय नः कृधि' इति यजु० ।

जो आदमी जिस प्रकार का काम करने में समर्थ हो या जो कोई जिस काम को करना चाहता है उसे यह प्रतिनिधिसभा या लोक-सभा उसकी अनुमति [अनुज्ञा = मन्जूरी] देती है । 'अनुमति' नामक लोकसभा ही इस राजा को राज्य का अधिकार प्रदान करती है। अनुमती राकेति देवपत्न्यौ इति नैरुक्ताः । अनुमतिरमनुननात् । निरु० दैवत० ५ । ३ । ८ ॥ देवों, विद्वानों का पालन करनेवाली सभा अनुमति 'और' 'राका' कहाती है । इसी निरुक्ति से, स्त्री भी 'अनुमति' और 'राका' कही जाती है । पुरुष अपने सब घर के कार्य अपनी स्त्री की अनुमति से करे । उसके पक्ष में—हे अनुमते स्त्रि ! तू हमें इस सब गृह कार्य में अनुमति दे और हमें सुख शान्ति प्रदान कर । हम पुरुषों के प्रदान किये धन 'अन्न' वस्त्र आदि को स्वीकार कर और हे देवि ! उत्तम प्रजा को उत्पन्न कर । वेद की दृष्टि में देह, गृह, समाज, और राज्य और समस्त जगत् इन पाँचों की रचना, और इनके कार्य और प्रबन्ध समान रूप से होने उचित हैं । उन सबकी रचना के सिद्धांतों का वर्णन भी समान शब्दों में वेद ने किया है ।

अनु॑ मन्यताम॒नुमन्य॑मानः प्र॒जाव॑न्तं र॒यिमक्षी॑यमाणम् ।
तस्य॑ व॒यं हेड॑सि॒ मापि॑ भूम सुमृडी॒के अ॑स्य सुम॒तौ स्या॑म ॥३॥

भा०—जो (अनु-मन्यमानः) सबको अनुमति देनेवाला पुरुष अधिकारी है यह हमें (अक्षीयमाणम्) कभी न नष्ट होने वाले, (प्रजा-वन्तम्) प्रजा से युक्त (रयिम्) धन, बल को प्राप्त करने के लिये (अनु = मन्यताम्) सदा अनुमति दिया करे, इस से विपरीत नहीं । (तस्य) उस पुरुष के (हेडसि) क्रोध के पात्र (वयम्) हम प्रजाजन (मा अपि भूम) कभी न हों । (अस्य) उस के (सुमृडीके) सुखकर कार्य और (सुमतौ) उत्तम मति के अनुकूल (स्याम) रहें । पूर्व मन्त्रों में 'अनुमति देवि' अर्थात् अनुज्ञापक सभा और स्त्री का

वर्णन है, इस मन्त्र में अनुज्ञापक-अधिष्ठाता सभापति और गृहस्थ के पति, पुरुष का वर्णन है। यजुर्वेद (३८।८, ९) में इसी पुमान् विद्वान् सभापति का वर्णन किया गया है (देखो महर्षि दयानन्द कृत यजुर्भाष्य)।

यत् ते नाम सुहवं सुप्रणीतेऽनुमते अनुमतं सुदानु।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥४

भा०—उत्तम पत्नी से उत्तम सन्तान प्राप्त करने का उपदेश। हे (सु- -नीते) उत्तम रीति से गृहस्थकार्य में प्रवृत्त (अनु-मते) पति के अनुकूल चित्तवाली स्त्रि! (यत्) क्योंकि (ते) तेरा (नाम) नाम और रूप (अनु-मतम्) अनुकूल रूप से अभिमत, (सु-दानु) उत्तम भाव प्रदान करनेवाला और (सु-हवम्) शुभ रूप से पुकारने योग्य है अथवा शुभ भाव उत्पन्न करने वाला है इसलिये हे (विश्ववारे) समस्त गुणों से सम्पन्न शुभांगि! (तेन) उस अपने शुभ रूप द्वारा (नः) हमारे (यज्ञम्) शुभ, गृहस्थ यज्ञ को (पिपृहि) पूर्ण कर और (नः) हमें, हे (सु-भगे) सौभाग्यवति! (सु-वीरम्) उत्तम, वीर पुत्र सहित (रयिम्) यश और बल (धेहि) प्रदान कर।

स्त्रियों के शुभ नाम रखने चाहियें, वे गृहस्थ के सब कार्य पूरा करें और उत्तम सन्तान उत्पन्न करें। राष्ट्रपक्ष में—अनुमति सभा उत्तम रीति से बनाई जाए, उसके उद्देश्य उत्तम और नाम उत्तम हो। यज्ञ—जिसमें सब एकत्र होकर सभा के सब कार्यों को पूर्ण करें और वीर विद्वान् यश को बढ़ावें।

एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम्।
भद्रा ह्यस्याः प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देवगोपा ॥ ५ ॥

भा०—पुनः पत्नी का ही वर्णन करते हैं। (इमम् यज्ञम्) इस गृहस्थरूप यज्ञ को जिसमें पति और पत्नी प्रेम से संगत होते हैं,

(अनु-मतिः) अनुकूल चित्त वाली स्त्री, (सु क्षेत्रतायै) अपने उत्तम क्षेत्र ो सफल करन के लिये और (सु-वीरतायै) उत्तम पुत्र को उत्पन्न करने के लिये (आ जगाम) प्राप्त हो। तभी (सु-जातम्) यह यज्ञ उत्तम रीति से सुसम्पन्न होता है। (अस्याः) इस स्त्री का वह गृहस्थ के सम्पादन करने का (प्र-मतिः) श्रेष्ठ विचार (हि) निश्चय से (भद्रा बभूव) बड़ा कल्याणकारी होता है। (सा) वह स्त्री अवश्य (इमम्) इस (यज्ञम्) गृहस्थ रूप श्रेष्ठ यज्ञ की (देवगोपा) विद्वानों और राजाधिकारियों वा पतिद्वारा सुरक्षित रहकर (अवतु) रक्षा करे। राष्ट्र-पक्ष में सभा राजा और राष्ट्र के अधिकारी कार्यकर्त्ताओं के लिए क्षेत्र तय्यार करे और उत्तम वीर कार्यकर्त्ता तैयार करे, उत्तम कल्याणकारी विचार और कार्य करने की स्कीम तय्यार करे और यज्ञ = राष्ट्र की रक्षा करे।

अनु॑मतिः॒ सर्व॑मि॒दं ब॑भूव॒ यत् तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यदु॑ च॒ विश्व॒मेज॑ति।
तस्या॑स्ते देवि सुम॒तौ स्या॒मानु॑मते॒ अनु॒ हि मं॑स॑से नः ॥ ६ ॥

भा०—इस ईश्वरीय विराट् अनुमति का स्वरूप दर्शाते हैं—(यत्) जो (तिष्ठति) स्थिर रूप से विद्यमान है। (चरति) जो चल रहा है, गति कर रहा है, (यद् उ च विश्वम् एजति) और जो सब बुद्धिपूर्वक चेष्टा कर रहा है (सर्वम् इदम्) यह सब (अनु-मतिः बभूव) अनुमति ही है उसी की आज्ञा से चलता और खड़ा है। हे (देवि) दिव्य प्रकाश और गतिदायक शक्ति! (तस्याः ते) उस तेरी (सु-मतौ) शुभ कल्याणकारी उत्तम मति में हम (स्याम) रहें। हे (अनुमते) सबकी आज्ञापक (नः) हमें भी तू ही (अनु मंससे) सब कार्य करने की आज्ञा देती है।

[२१] प्रभु की उपासना।

ब्रह्मा ऋषिः । आत्मा देवता । शक्वरीविराड्गर्भा जगती । एकर्चं सूक्तम् ॥

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम् ।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु॥१

भा०—हे लोगो ! (विश्वे) आप सब लोग (दिवः) समस्त प्रकाश और इस महान् द्युलोक के (पतिम्) परिपालक उस प्रभु के पास (वचसा) वाणी द्वारा (सम्-एत) एकत्र होकर शरण में आओ वह (एकः) एक है, (जनानाम्) समस्त जीवों और प्राणियों में (अतिथिः) व्यापक और तुम्हारा अतिथि के समान पूजनीय है । (सः) वह सबसे (पूर्व्यः) पूर्व विद्यमान, सबका पितामह, उत्पादक, पुराण, आदि कारण, (नूतनम्) अपने से उत्पन्न कार्यरूप जगत् को (आ विवासत्) प्रकट करता और उसको व्याप्त करता है, (तम्) उस (एकम्) एकमात्र आदिकारण को ही (पुरु) नानाप्रकार के (वर्त्तनिः) मार्ग या लोक (अनु वावृते) पहुंचते हैं ।

[२२ (२३)] ज्ञानदाता ईश्वर।

ब्रह्मा ऋषिः । मन्त्रोक्ता ब्रध्नो देवता । १ द्विपदैकावसाना द्विपदा विराड् गायत्री, २ त्रिपाद् अनुष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥ १ ॥

साम० १ । ४५८ ॥

---

[२१] १–'समेत विश्वा ओजसा' (द्वि०) 'य एक इद् भूराति–(तृ०) नूतनम जीगिषम्' (च०) 'वर्त्तनिर–' । पुरु इति पदं नास्ति साम० ।

[२२] १–(प्र०) 'आन्वीदृशः' (च०) 'विधर्म' इति साम० ।

२–मन्युमन्ताश्चितागो:' इति साम० ।

भा०—(सहस्रम्) सहस्र = बलवान् सर्वशक्तिमान् (मतिः) मनन योग्य मति विचार = ज्ञानस्वरूप (अयम्) यह परमेश्वर (विधर्मणि ज्योतिः) विशेष धर्म वाले आत्मा में ज्योति रूप से प्रकाशमान होकर (नः) हमें (कवीनाम्) क्रान्तदर्शी ऋषियों को (दृशे आ) साक्षात् होता है, उनको ज्ञान प्रदान करता है।

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन् ।
अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥ २ ॥

भा०—सूर्य जिस प्रकार अपनी प्रातःकालीन स्वच्छ, उत्तम कांतियुक्त दिन को प्रकाशित करने वाली उषाओं को प्रतिदिन प्रेरित करता है उसी प्रकार आत्मा भी अपनी दीप्तियुक्त, निष्पाप, ज्ञानमय, दीप्तियुक्त ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं को प्रेरित करता है। जिस प्रकार (ब्रध्नः) सूर्य (अरेपसः) मल, दोष से रहित (स-चेतसः) ज्ञानोत्पादन करने वाली मनोहर (स्व-सरे मन्युमत्-तमाः) दिन के समय अति प्रकाशमय (समीचीः) उत्तम सुहावनी (उषसः) उषाओं को (गोः चिते) जंगम पृथ्वी के पदार्थ दर्शाने के लिये (सम्-ऐरयन्) उत्तम रीति से प्रकट करता है उसी प्रकार (ब्रध्नः) प्राण, इन्द्रिय और मन को एकत्र बांधने वाला ध्यानबद्ध योगी (गो, चितेः) सर्वप्रेरक, परम प्रभु के दर्शन के लिये (स्व-सरे) अपने में व्यापक प्रभु में (मन्युमत् तमाः) अति मननशील (अरेपसः) पाप, मल, विक्षेप से रहित (सचेतसः) ज्ञान और चित्त शक्ति से सम्पन्न (समीचीः) उत्तम रीति से आत्मा को प्राप्त होने वाली (उषसः) पाप या तामस आवरण को जला देने वाली विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं को (सम् ऐरयन्) उत्तम रीति से प्रेरित करता है।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि नव, ऋचश्च द्वाविंशतिः]

[२३ (२४)] बुरे विचार और बुरे आचार का त्याग

यम ऋषिः । दुःस्वप्ननाशनो देवता । अनुष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ।

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ १ ॥

अथर्व० ४ । १७ । ५ ॥

भा०—(दौः-स्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों (दौः-जीवित्यम्) दुःख से जीवन के बीतने, जीवन में बुरे भाव, बुरे भाव, बुरे आचार और हीनता के होने और (रक्षः) धर्मकार्यों में विघ्नों के होने तथा (अभ्वम्) जीवनकाल में सामर्थ्य के न रहने और (अराय्यः) समृद्धि, सम्पत्ति और उत्तम गुणों रहित दुष्टवृत्तियों, (दुः नाम्नी) बुरे व निन्दित नाम वाली और (दुः-वाचः) दुष्ट वाणी बोलने वाली, सब हीन मानस वृत्तियों को हम (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) दूर करें। इसकी व्याख्या (४।१७।५) में भी कर आये हैं।

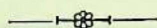
[२४ (२५)] सर्वप्रद प्रभु ।

ब्रह्मा ऋषिः । सविता देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

यन्न इन्द्रो अखनद् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत् स्वर्काः ।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् ॥१॥

भा०—(यत्) जो फल (नः) हमें (इन्द्रः) राजा (अग्निः) ज्ञानवान् राजा का भी अग्रणी, पुरोहित, आचार्य, (विश्वे देवाः) राष्ट्र के समस्त शक्तिधारी, विद्वान् अधिकारी, (मरुतः) मरुद्गण, वेगवान् सुभट, वीर पुरुष और (सु-अर्काः) उत्तम ज्ञानी, प्रकाशवान्, शक्तिमान् वैज्ञानिक लोग (अखनत्) खोदकर गुप्त गुप्त स्थान ला ला कर हमें देते हैं (यत्) उस वस्तु को वास्तव में हमें (सत्य-धर्मा) सत्य का धारण

करने वाला (प्रजा-पतिः) सब प्रजा का परिपालक स्वामी, (सविता) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक (अनुमतिः) सब का अनुज्ञापक प्रभु ही (नि यच्छात्) दिया करता है ।



[२५ (२६)] विष्णु और वरुणरूप परमेश्वर का सबसे पूर्व स्मरण

मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्वरुणश्च देवते । १, २ त्रिष्टुभौ द्व्यृचं सूक्तम ॥

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा ।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥ १ ॥

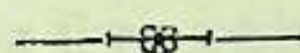
यज० ८ । ५९ ॥

भा०—(ययोः) जिन दोनों के (ओजसा) बल से (रजांसि) लोक (स्कभिता) थमे हुए हैं और (यौ) जो दोनों (शविष्ठा) अति बलवान् और (वीर्यैः) नाना बलों से (वीर-तमा) सब में अधिक वीर, वीर्यवान्, सब के प्रेरक हैं, और (यौ) जो दोनों (सहोभिः) दूसरों को दमन करने वाले बलों से (अप्रतीतौ = अप्रतिहतौ) इतने बढ़े हुए हैं कि उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता इसलिये वे ही (पत्येते) संसार में ऐश्वर्यवान् प्रतीत हो रहे हैं, उन दोनों अर्थात् (विष्णुम्) विष्णु और (वरुणम्) वरुण को (पूर्वहूतिः अगन्) हमारी सब से प्रथम पुकार वा स्मरण पहुंचे । अर्थात् सब से प्रथम हम उन दोनों शक्तियों का स्मरण करें ।

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः ।
पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥ २ ॥

भा०—उक्त दोनों शक्तियों को और हम अधिक स्पष्ट करते हैं । इस विशाल संसार में (यस्य-प्रदिशि) जिसके शासन में (इदम्) यह समस्त विश्व (वि-रोचते) नाना प्रकार से शोभा पा रहा है, (प्र अनति

च) और उत्तम रूप से प्राण धारण करता है, जीवित रहता है, और (शचीभिः च वि चष्टे) नाना शक्तियों से प्रेरित होकर नाना प्रकार के पदार्थों को देखता, पाता अनुभव करता है, और जिस (देवस्य) सर्व-प्रकाशक सर्वशक्ति के प्रदाता प्रभु परमात्मा के (धर्मणा) धारक बल और (सहोभिः) दमनकारी बलों से (पुरा) पूर्व कल्पों में भी यह जगत् उसके शासन में रहा, प्राण लेता रहा, और नाना शक्तियों से नाना फल प्राप्त करता रहा वह शक्ति विष्णु और वरुण है, ये दोनों नाम उसी के हैं। उस (विष्णुं वरुणम्) व्यापक और कष्टनिवारक प्रभु को (पूर्वहूतिः) सबसे प्रथम हमारा स्मरण, नाम ग्रहण (अगन्) प्राप्त हो।



[२६] व्यापक प्रभु की स्तुति।

मेधातिथिर्ऋषिः। विष्णुर्देवता। १ त्रिष्टुप्, २ त्रिपदा विराड् गायत्री, ३ त्र्यवसाना षट्पदा विराट् शक्वरी, ४–७ गायत्र्यः, ८ त्रिष्टुप्। अष्टर्चं सूक्तम्॥

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥ १॥

यजु० ५। १८॥ ऋ० १। १५४। १॥

भा०—(विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (वीर्याणि) बल, शक्ति-पूर्वक किये विशाल कार्यों को (नु कम्) शीघ्र ही, यथाशक्ति (प्र वोचम्) उत्तम रूपसे विस्तार से कहूँ, (यः) जो प्रभु (पार्थिवानि) विस्तृत (रजांसि) तीन लोकों को (वि-ममे) नाना प्रकार से बनाता है, और (यः) जो (उत्तरम्) ऊपर के लोक अर्थात् द्युलोक को

[२६] १–यजुषि ऋग्वेदे च औतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। (प्र०) 'वीर्याणि प्रवोचं' इति ऋ०।

(सधस्थम्) जिसमें कि नक्षत्र और तारागण साथ-साथ ठहरे हुए हैं (अस्कभायत्) थामे हुए है, वह (त्रेधा) तीनों लोकों में (विचक्रमाणः) व्यापक है। वही परमात्मा (उरु-गायः) सब बड़े बड़े महात्माओं से गाया जाता है या वही वेद द्वारा बहुत से पदार्थों का ज्ञानोपदेश करता है।

प्र तद् विष्णुं स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
परावत आ जगम्यात् परस्याः ॥ २ ॥

यजु० ५। २० प्र० द्वि० ॥ ऋ० १। १५४। २। प्र० द्वि० ॥

भा०—(तत्) उस अलौकिक अपनी महिमा का और (वीर्याणि) अपनी नाना शक्तियों का (विष्णुः) वह व्यापक परमेश्वर (स्तवते) वेद द्वारा स्वयं स्तुति करता है। वही (भीमः मृगः न) सिंह के समान भय देनेवाला है। (कु-चरः) सर्वव्यापक और (गिरिष्ठाः) सब वेदवाणियों में विराजमान है। वह (परस्याः परावतः) दूर से दूर देश में विद्यमान हो कर भी हमारे हृदयों में (आ जगम्यात्) अति समीप ही विराजता है।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥

(प्र० — च०) यजुः ५। १६। ऋ० १। १५४। १ ॥

भा०—(यस्य) जिस परमेश्वर के (उरुषु) विशाल (त्रिषु) तीनों (विक्रमणेषु) विक्रमों में या नाना प्रकार के क्रमों, सर्गों वाले तीनों प्रकार के जगतों में, ईश्वर की पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन

२–(प्र०) 'वीर्येण' इति ऋ०।

तीनों प्रकार की रचनाओं में (विश्वा) समस्त (भुवना) वस्तुएं (अधि-क्षियन्ति) निवास करती हैं उस विशाल जगत् में हे (विष्णो) व्यापक परमेश्वर ! आप (उरु) उनका आच्छादन करते हुए (वि क्रमस्व) नाना प्रकार से व्यापक हो रहे हो, आप (नः) हम जीवों के (क्षयाय) निवास के लिये ही (उरु) इन विशाल लोकों की (कृधि) रचना करते हो । हे (घृत-योने) क्षरणशील इस संसार के उत्पत्तिस्थान ! आश्रय ! और आदिकारण !, अथवा घृत = तेजोमय सूर्यादि लोकों के आश्रय !, आप (घृतम्) इस समस्त तेजोराशि अथवा इस क्षरणशील विश्व संसार को (पिब) पान करते हो, प्रलय-काल में इसे ग्रस लेते हो (यज्ञ-पतिम्) आप यज्ञ = जीवनमय यज्ञ या देह में क्रतुमय इस जीव को (प्र-प्र तिर) पार करो ।

इ॒दं विष्णु॒र्वि च॑क्रमे त्रे॒धा नि द॑धे प॒दा । समू॑ढमस्य पांसु॒रे॥४

ऋ० १ । २२ । ७ ॥ यज० ५ । १५ ॥ साम० उ० २ । ५ ॥

भा०—(विष्णुः) व्यापक परमेश्वर ने (इदम्) यह समस्त जगत् (वि चक्रमे) नाना प्रकार से बनाया है और उसमें स्वयं व्याप्त हुआ है और उसने (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदा) पदों, ज्ञानसाधनों या विशेष शक्तियों को (नि दधे) संसार में स्थापित किया है (अस्य) इस परमेश्वर का निज स्वरूप (सम-ऊढम्) छिपा पड़ा है जिस प्रकार कि (पांसुरे) मट्टी में कोई वस्तु छिपी पड़ी रहती है ।

त्रीणि॑ प॒दा वि च॑क्रमे॒ विष्णु॑र्गो॒पा अदा॑भ्यः ।
इ॒तो धर्मा॑णि धा॒रय॑न् ॥ ५ ॥

ऋ० १ । २२ । १८ यजु० १३ । ४३ ॥

भा०—(गोपाः) समस्त गतिशील, लोकों और इन्द्रियों का

४–(द्वि०) 'पदम्' इति ऋ० । ५–(तृ०) 'अतः' इति ऋ० ।

पालक, (अदाभ्यः) अविनाशी, नित्य, (विष्णुः) व्यापक, परमात्मा, (इतः) गति द्वारा ही (धर्माणि) समस्त लोकों का (धारयन्) धारण करता हुआ (त्रीणि) तीन (पदा) शक्तियों को (वि चक्रमे) सर्वत्र प्रेरित करता है ।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥ ऋ० १ । २२ । १९ ॥

भा०—(विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्मा के (कर्माणि) आश्चर्यजनक कामों को (पश्यत) देखो, (यतः) जिनसे जीवात्मा (व्रतानि) सब ज्ञानों और कर्त्तव्य कर्मों को (पस्पशे) प्राप्त करता है । वह प्रभु ही (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (युज्यः) सदा साथ देने वाला (सखा) परम मित्र है ।

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥ ऋ० १ । २२ । २० यजु० । ६ । ५॥

भा०—(विष्णोः) सर्वव्यापक ईश्वर के (परमम् पदम्) सबसे उत्कृष्ट, परम मोक्ष पद को (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सदा साक्षात् करते हैं, वह परम ज्ञानमय मोक्षपद (दिवि) द्युलोक में (चक्षुः इव) सब पदार्थों के दर्शक सूर्य के समान, अथवा (दिवि) प्रकाश में (चक्षुः इव) आंख के समान (आ-ततम्) खुला है ।

दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात् ।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात ॥८॥
यजु० ५ । १० ॥

८–(प्र०) 'दिवो वा विष्णा' (द्वि०) 'महोवा' इति यजु० । 'उभा हि हस्ता वसुना पृणस्व' इति यजु० ।

भा०—हे (विष्णो) व्यापक परमेश्वर ! आप (दिवः) द्युलोक से (उत वा) और (पृथिव्याः) पृथिवी लोक से और (महः) बड़े (उरोः) विशाल (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष लोक से प्राप्त होने योग्य (बहुभिः) बहुत से (वसव्यैः) धनों द्वारा (हस्तौ) अपने ज्ञान और कर्म के दोनों हस्तों को (पृणस्व) भर ले और (दक्षिणात्) दायें (उत) और (सव्यात्) बायें, दोनों हाथों से, (आ प्र यच्छ) हमें प्रदान करे।

[२७] बुद्धिरूप कामधेनु का वर्णन।

मेधातिथिर्ऋषिः। इडा देवता। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्॥

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः।
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ॥ १॥

भा०—(इडा) श्रद्धा बुद्धि, सत्य धारण करने वाली बुद्धि रूप कामधेनु (एव) ही (अस्मान्) हमें (व्रतेन) ज्ञान और कर्म से (अनु वस्ताम्) आच्छादित करे, सुशोभित करे, (यस्याः) जिसके (पदे) पद अर्थात् प्राप्ति और ज्ञान में (देवयन्तः) अपने को देव, उत्तम गुण सम्पन्न बनाने की चेष्टा करने वाले, अथवा देव, ईश्वर और विद्वानों की उपासना करनेवाले लोग, अपने को (पुनते) पवित्र कर लेते हैं। वह (घृत-पदी) तेजोमय स्वरूप वाली, ज्ञानमयी, पद पद पर घृत के समान पुष्टिकारक, बुद्धिवर्धक पदार्थ को उत्पन्न करनेवाली कामधेनु के समान (शक्वरी) सब प्रकार से शक्तिमती, (सोम-पृष्ठा) सोम—आत्मा, और ब्रह्म को अपने पीठ पर धारण करनेवाली, आत्मा और ब्रह्मज्ञान की पोषक होकर (वैश्वदेवी) समस्त विद्वानों को हितकारक और आत्मा के सब इन्द्रियगण के लिये सुखकारी होकर (यज्ञम्) यज्ञ, शुभकर्म या परमात्मा में (अस्थित) स्थित है।



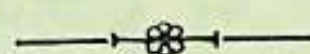
(२८) कुशल की प्रार्थना ।

मेधातिथिर्ऋषिः । वेदादयो देवताः । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति ।
हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम् ॥१॥

भा०—(वेदः) वेद, पुरुष और दर्भमुष्टि (स्वस्तिः) हमें शुभ कल्याणकारी हो, (द्रुघणः) जिस पर बढ़ई लकड़ी रख कर काटता है वह लकड़ी का मुड भी (स्वस्ति) शुभकारी हो । (परशुः) घास काटने की दात्री ये पदार्थ भी (नः) हमें (स्वस्ति) शुभ और सुखकारी हों । (हविः--कृतः) अन्न, हवि को तैयार करने वाले (यज्ञ-कामाः) यज्ञ के अभिलाषी (यज्ञियाः) यज्ञ करने में कुशल (देवासः) विद्वान् लोग आकर (इमं यज्ञं जुषन्ताम्) इस यज्ञ का प्रेमपूर्वक सेवन करें ।

अध्यात्म में—वेद = पुरुष । द्रुघण = प्राण, परशु = ज्ञानवज्र, वेदि चितिशक्ति । यज्ञिय = इन्द्रियें । यज्ञ = आत्मा ।



[२९] अग्नि और विष्णु की स्तुति

मेधातिथिर्ऋषिः । अग्नाविष्णू देवते । १, २ त्रिष्टुभौ । द्व्यृचं सूक्तम् ।

अग्नाविष्णू महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम ।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥१॥

भा०—हे (अग्नाविष्णू) अग्ने ! और विष्णो ! (वाम्) तुम दोनों का (तद्) वह अपूर्व (महि) बड़ा (महित्वम्) यश है कि आप दोनों (गुह्यस्य) गुहा में स्थित, सुगूढ़ (घृतस्य) प्रस्रवण करने वाले, तेजोमय, सार पदार्थ के (नाम) स्वरूप को (पाथः) पान

(२९)—(तृ० च०) 'दमे दमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत ।' इति य० ८ । २४ ।

करते हो, अपने भीतर उसको धारण करते हो। आप दोनों (दमे-दमे) घर घर में (सप्त) सात (रत्ना) रमण करने योग्य शक्तियों को (द-धानौ) धारण करते हो। (वाम्) तुम दोनों की (जिह्वा) जीभ (प्रति घृतम्) प्रत्येक घृत का (आ चरण्यात्) आस्वादन करती है।

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥२॥

भा०—हे (अग्नाविष्णु) अग्ने और विष्णो ! (वाम्) आप दोनों का (महि) बड़ा (प्रियम्) मनोहर (धाम) तेज और धारण सामर्थ्य है। और आप दोनों (घृतस्य) ज्योतिर्मय आत्मा के (गुह्या) गुह्य, गूढ़ रहस्यमय तत्वों ज्ञानमय और कर्ममय रहस्यों को (जुषाणौ) सेवन करते हुए (वीथः) उनको प्राप्त करते हो। (दमे-दमे) प्रत्येक घर या देह में (सु स्तुत्या) उत्तम स्तुति, ज्ञानशक्ति से (वावृधानौ) वृद्धि को प्राप्त होते रहते हो। (वाम्) आप दोनों की (जिह्वा) जिह्वा, आदान शक्ति (प्रति घृतम्) प्रत्येक घृत, तेजोमय उल्लास को (उत् चरण्यात्) प्राप्त करे। राष्ट्र में अग्नि-विष्णु = राजा, मन्त्री, राजा सेना पति। गृहस्थ में अग्नि-विष्णु = यजमान और पुरोहित। आधिदैविक में अग्नि-विष्णु = अग्नि और सूर्य। घृत = जल।



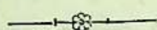
[३०] ज्ञानाञ्जन।

भृग्वंगिरा ऋषिः। द्यावापृथिव्यौ मित्रो ब्रह्मणस्पतिः सविता च देवताः। बृहती छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम् ।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥ १ ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यु और पृथिवी अर्थात् माता और पिता (मे) मेरी आंखों में (सु-आक्तम्) उत्तम रीति से अञ्जन करें, मुझे

सब बातें खोलकर स्पष्ट रूप से बतलावें। (मित्रः) स्नेह करने वाला (अयम्) यह मेरा मित्र भी (मे सु-आक्तम्) मेरी आंखों में ज्ञान का उत्तम अञ्जन लगावे। वह भी मेरे आगे सब बातें स्पष्ट रक्खें। (ब्रह्मणः पतिः) ब्रह्म अर्थात् वेद का परिपालक आचार्य भी (मे सु-आक्तम्) मेरी आंखों में ज्ञान का अञ्जन करे, मुझे सब ज्ञान स्पष्ट रीति से उपदेश करे। (सविता) सबका उत्पादक प्रेरक परमात्मा भी (मे सु-आक्तम्) मेरे हृदय के नेत्रों में अञ्जन लगाकर उनको दीर्घदर्शी करे।



[३१] अपनी उन्नति और राष्ट्रद्वेषी का क्षय।

भृग्वंगिरा ऋषिः। आयुर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रो॒तिभि॑र्बहु॒लाभि॑र्नो अ॒द्य या॑वच्छ्रे॒ष्ठाभि॑र्मघवञ्छूर जिन्व।
यो नो॒ द्वेष्ट्यध॑रः॒ सस्प॑दीष्ट॒ यमु॑ द्वि॒ष्मस्तमु॑ प्रा॒णो ज॑हातु ॥१॥

ऋ० ३। ५३। २१॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! हे (शूर) बलवन्! शक्तिमन्! (यावत्-श्रेष्ठाभिः) अति अधिक श्रेष्ठ (बहुलाभिः) नाना प्रकार की ऊतिभिः) रक्षा करने की विधियों से (नः) हमें (अद्य) आज, सदा ही (जिन्व) जीवित रख, हमारे जीवन की रक्षा कर। और (नः) हमारे राष्ट्र या समाज से (यः) जो व्यक्ति या शत्रु अथवा राष्ट्र (द्वेष्टि) द्वेष करे (सः) वह (अधरः) नीचे ही नीचे (पदीष्ट) चलता चला जावे अर्थात् उसे दण्ड दे। और (यम् उ) जिसको (द्विष्मः) हम सब अप्रिय जानें (तम् उ) उसको (प्राणः जहातु) प्राण छोड़ दे, वह जीवित न रहे अर्थात् उसे तू प्राणदण्ड भी दे।

[३१] १-(द्वि०) 'याच्छ्रेष्ठाभिर्म' इति ऋ०।

[३२] दीर्घ आयु की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। आयुर्देवता। अनुष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

उप॑ प्रि॒यं पनि॑प्नतं॒ युवा॑नमाहुती॒वृध॑म्।
अग॑न्म॒ बिभ्र॑तो॒ नमो॑ दी॒र्घमायुः॑ कृणोतु मे ॥ १ ॥

ऋ० ६। ६७। २६ ॥

भा०—(प्रियम्) अपने को प्रिय लगने वाली, (पनिप्नतम्) सदा क्रियाशील, नित्य प्रयोग में आने वाली (युवानम्) सदा तरुण अर्थात् प्रबल (आहुती-वृधम्) आहुति पड़ने पर बढ़ने वाली अग्नि अर्थात् जाठराग्नि में हम लोग (नमः बिभ्रतः) अन्न को डाला करें, इस प्रकार सदा (उप अगन्म) इस अग्नि के समीप हम रहें अर्थात् इससे हमारा वियोग कभी न हो। इससे वह प्रबल जाठर अग्नि (मे) मेरी (दीर्घम् आयुः) दीर्घ आयु (कृणोतु) करे। मन्दाग्नि में अन्न का भोजन करना आयुनाशक है। प्रबल जाठर अग्नि के होते हुए भूख लगने पर अन्न खाने से आयुष्य बढ़ता है।



[३३] दीर्घायु की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। मरुतः पूषा अग्निश्च मन्त्रोक्ता देवताः। पथ्या पंक्तिश्छन्दः।
एकर्चं सूक्तम् ॥

सं मा॑ सिञ्चन्तु म॒रुतः॒ सं पू॒षा सं बृह॒स्पतिः॑
सं मा॒यम॒ग्निः सि॑ञ्चतु प्र॒जया॑ च॒ धने॑न च दी॒र्घमायुः॑ कृणोतु मे॥१॥

भा०—(मरुतः) प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान आदि शरीर व्यापी मरुद्गण और शुद्ध वायुएं, (पूषा) पुष्टिकारक मन और सूर्य (बृहस्पतिः) बृहती अर्थात् वाणी का पति आत्मा या परमात्मा और (अयम्) यह (अग्निः) जाठर अग्नि (माम्) मुझे (प्र-जया) प्रजा

[३२] १–दीर्घमायुः कृणोतु मे, इति पञ्चमः पादो ऋग्वेदे नास्ति।

से और (धनेन च) धन से (सं सिञ्चन्तु, सं, सं, सं सिञ्चतु) अच्छी प्रकार सींचें, मुझे प्रदान करें और (मे) मेरी (आयुः) आयु को भी (दीर्घम्) लम्बा (कृणोतु) करें, बढ़ावें।



[३४] शत्रु-पराजय की प्रार्थना।

अथर्वा परमेष्ठी च ऋषिः। जातवेदो देवता। जगती छन्दः। एकर्चं सूक्तम्।

अग्ने जातान् प्र णुदा मे सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व। अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोऽनागसस्ते वयमदितये स्याम॥१॥

पूर्वार्धः, यजु० १५। १॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! विद्वन्! राजन्! प्रभो! तू (मे) मेरे (जातान्) उत्पन्न हुए (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्र णुद) दूर कर। और हे (जात-वेदः) समस्त उत्पन्न हूए पदार्थों को जानने हारे विद्वन्! (अजातान्) तू उन को भी जो अभी शत्रु बने नहीं हुए प्रत्युत उनके शत्रु बन जाने के लक्षण दीख रहे हों उन को भी (प्रति नुदस्व) दूर कर। और (ये) जो (पृतन्यवः) सेना लेकर मुझ पर चढ़ाई करने के उद्योग में हैं, उनको (अधःपदम्) मेरे चरण के नीचे, वा मेरे से नीचे स्थान पर, मेरे से कम योग्यता और कम मान प्रतिष्ठा वाला (कृणुष्व) कर। (ते अदितये) तुझ अखण्डनीय शासन करने वाले राजा के लिये (वयम्) हम प्रजागण सदा (अनागसः) निरपराध (स्याम) रहैं।

[३४] १–"प्रणुद नः सपत्नात्", 'नुद जातवेद' इति यजु०। उत्तरार्धस्तु यजुषि 'अधि नो ब्रूहि सुमना अहेडंस्तव स्याम शर्मंस्त्रिवरूथ उद्भौ।' इति यजु०।

(३५) शत्रु-परजय की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः । जातवेदा देवता । १, ३ त्रिष्टुभौ; २ अनुष्टुप् ।
तृचं सूक्तम् ॥

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥ १ ॥
पूर्वार्धः यजु० १५ । २ ॥

भा०—हे अग्निस्वरूप (जात-वेदः) अपने उत्पन्न शत्रु और मित्र सब को भली प्रकार से जानने वाले राजन् ! तू (अन्यान्) अपने राष्ट्र के प्रजाजनों से भिन्न (स-पत्नान्) तेरे समान तेरे राष्ट्र पर अपना आधिपत्य जमाने का दावा करने वाले शत्रुगण को (सहसा) बलपूर्वक (सहस्व) अच्छी प्रकार दबा और (अजातान्) अप्रकट शत्रुओं को (प्र नुदस्व) दूर कर दे। (सौभगाय) और उत्तम धन धान्य समृद्धि के लिये (राष्ट्रम्) इस राष्ट्र का (पिपृहि) पालन कर और सब को सन्तुष्ट कर । जिससे (एनम्) इस राजा को (देवाः) समस्त विद्वान् लोग, शिल्पी गण, विद्या, शिल्प, धन धान्य से सम्पन्न शक्तिमान् लोग (विश्वे) और सब प्रजाएं भी (अनु मदन्तु) इसके उत्तम शासन से प्रसन्न होकर इसे आशीर्वाद दें ।

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥ २ ॥

भा०—(इमाः) ये (याः) जो (ते) तेरी (शतम्) सैकड़ों (उत) और (सहस्रम्) हज़ारों (धमनीः) धमनी, स्थूल नाड़ियां हैं (तासाम्) उन (सर्वासाम्) सबके (बिलम्) मुख, छिद्र को (अहम्) मैं (अश्मना) पत्थर से, पत्थर के समान कठोर प्रतिबन्ध से (अपि-

[३५]—'सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान्' इति यजु० ।

अधाम्) बन्द करता हूँ। शरीर की नाड़ियों और धमनियों के समान राजा के शक्ति प्राप्त करने और प्रजा को चूसने के सैकड़ों छोटे बड़े साधन हैं उनको कठोर प्रतिबन्ध से रोकना चाहिये ।

परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः ।
अस्वं त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥ ३ ॥

भा०—(ते) तेरे (योनेः) पद, स्थान या आश्रम के (परम्) उत्कृष्ट, सबसे उन्नत पदको मैं प्रजा का मुख्य प्रतिनिधि (अवरम्) कुछ नीचा (कृणोमि) करता हूँ और फिर भी (त्वा) तुझे (प्रजा) प्रजा (उत) और (सूनुः) तेरा पुत्र अथवा तेरा प्रेरक मन्त्री आदि भी (मा त्वा अभि भूत्) तेरा तिरस्कार न करे। (त्वा) तुझको मैं (अ-स्वम्) स्व = धनसे रहित और (अ-प्रजसम्) प्रजा पुत्र आदिसे रहित (कृणोमि) करता हूँ। (ते) तेरे (अपिधानम्) चारों तरफ का आव- रण (अश्मानम्) पत्थर का (कृणोमि) बनाता हूं ।

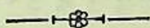
राजा की सर्वोत्कृष्ट पदवी पुरोहित से नीचे रहे। प्रजा मन्त्री और राजाकुमार आदि राजा का अपमान न करें। राजा का अपना कोई धन या जायदाद नहीं। प्रजा और राष्ट्र ही उसकी सार्वजनिक जायदाद है। उसका पुत्र कोई उसका निजी पुत्र नहीं, प्रत्युत वह भी उसकी सामान्य प्रजा के समान है। वह राजा का पुत्र होने से राज्य का स्वामी नहीं हो सकता। राजा का पुत्र राजा नहीं, यह एक पत्थर के समान दृढ़ या अभेद्य है अर्थात् यह नियम खूब कठोर होना चाहिये। २; ३ इन दोनों मन्त्रों को सायण ने प्रद्वेषिणी स्त्री के गर्भ-निरोध-परक लगाया है। ग्रीफ़िथ ने इन दोनों मन्त्रों को अश्लील जानकर अर्थ नहीं किया। परन्तु अथर्व-सर्वानुक्रमणी के अनुसार इन दोनों का देवता पूर्वमन्त्रानुसार 'जातवेदाः' (राजा) है।

(३६) पति पत्नी की परस्पर प्रेम वृद्धि की साधना ।

अथर्वा ऋषिः । अक्षि देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अ॒क्ष्यौ॑ नौ॒ मधु॑संकाशे॒ अनी॑कं नौ स॒मञ्ज॑नम् ।
अ॒न्तः कृ॑णुष्व॒ मां हृ॒दि मन॒ इन्नौ॑ स॒हास॑ति ॥१॥

भा०—वर वधू पति पत्नी परस्पर प्रेम व्यवहार बढ़ाने के लिए उक्त विचार सदा अपने चित्त में करें। हम पति और पत्नी हैं (नौ) हमारी (अक्ष्यौ) आंखें (मधु-संकाशे) मधुर मधु के समान प्रेममय अमृत से सिची हों। (नौ) हमारा (सम् अञ्जनम्) एक दूसरे के प्रति नि:संकोच व्यवहार और चित्त के भावों का स्पष्ट रूप में प्रकाश करना और परस्पर मिलना भी और (अनीकम्) सुखपूर्ण जीवन हो। हे प्रियतम ! और प्रियेतमे ! (माम्) मुझको तू (अन्तः हृदि) भीतर हृदय में (कृणुष्व) रख ले और (नौ) हम दोनों का (मनः इत्) मन भी (सह असति) सदा साथ रहे।

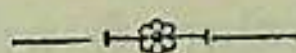


(३७) पति पत्नी के परस्पर प्रेम वृद्धि की साधना ।

अथर्वा ऋषिः । पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अ॒भि त्वा॒ मनु॑जातेन॒ दधा॑मि॒ मम॒ वास॑सा ।
यथासो॒ मम॒ केव॑लो नान्यासां॑ की॒र्तया॑श्च॒न ॥ १ ॥

भा०—हे प्रियतम ! हे मेरी प्रियतम स्त्री ! (मम) अपने (मनु-जातेन) मनु = मनन, दृढ़ संकल्प से बने, (वाससा) आच्छादन करने वाले बल से (त्वा) मुझको (अभिदधामि) बाधता हूँ और बांधती हूँ। (यथा) जिससे तू (केवलः) केवल, एकमात्र पत्नी और पति (असः) हो। मेरे अतिरिक्त दूसरी पत्नियों और स्त्रियों के विषय में (न चन कीर्त्तयाः) कभी बात भी न किया कर।



[३८] स्वयंवर-विधान ।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १, २, ४, ५ अनुष्टुप्;
३ चतुष्पादुष्णिक् । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

इदं खनामि भेषजं मांपश्यमभिरोरुदम् ।
परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥ १ ॥

भा०—मैं स्त्री (इदम्) इस (भेषजम्) औषध अर्थात् बुद्धिमानों द्वारा उपदिष्ट ओषधि को (खनामि) खोदती हूँ, विवेक विचार पूर्वक स्वीकार करती हूँ, यह औषध ऐसी है (मा-पश्यम्) कि पति मुझे ही देखे, यह इसे (अभि-रोरुदम्) अत्यन्त दूर जाने से रोके और यदि वह कार्यवश प्रवासी भी हो तो (परायतः) दूर के देश से भी (निवर्तनम्) उसे लौटा ले, (आयत) और आते हुए पति को (प्रति नन्दनम्) प्रसन्न कर दे ।

येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि ।
तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेऽसानि सुप्रिया ॥ २ ॥

भा०—(आसुरी) आसुरी अर्थात बुद्धिमानों द्वारा उपदिष्ट विवेक बुद्धि (येन) जिस प्रकार (देवेभ्यः) इन्द्रियों के (परि) उपर (इन्द्रम्) इन्द्र, आत्मा को (नि चक्रे) बलशाली करती है । (तेन) उसी प्रकार (अहम्) मैं स्वयंवरा कन्या स्वयं (त्वाम्) तुझको (नि कुर्वे) सर्वथा अपने पर अधिकारी बनाती हूँ । (यथा) जिससे (ते) तेरी मैं (सुप्रिया) बहुत प्यारी (असानि) हो जाऊं ।

प्रतीची सोमंमसि प्रतीच्युत सूर्यम् ।
प्रतीची विश्वान् देवान् तां त्वाच्छा वंदामसि ॥ ३ ॥

भा०—पुरुष कन्या के प्रति कहता है । (सोमं प्रतीची असि) तू सौम्यगुण युक्त पुरुष के प्रति पत्नीभाव से आई है, (सूर्यम् प्रतीची) तू

सूर्य = विद्वान्, या उत्तम सन्तानोत्पन्न करने में समर्थ पुरुष के प्रति आई है। (और विश्वान् देवान् प्रतीची) तू समस्त देवों विद्वानों के समक्ष आई है। (ताम्) ऐसी उत्तम चरित्रवती (त्वाम्) तुझको हम (अच्छ-वदामः) उत्तम कहते हैं।

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ ४ ॥

भा०—स्वयंवरा कन्या पुरुष के प्रति कहती है। (अहम्) मैं (सभायाम्) विद्वानों की सभा में (वदामि) जब भाषण करूँ तब (न-इत् त्वम्) तू भाषण मत कर। (अह) और बाद मेरे बोल चुकने पर (त्वम् वद) तू भी अपनी अभिलाषा और योग्यता प्रकट कर। इस प्रकार दोनों का परस्पर अभिप्राय प्रगट हो जाने के उपरान्त यदि तुम्हा-री अभिलाषा गृहस्थ में मेरे संग रहने की दृढ़ हो तो (त्वम्) तू (मम इत्) मेरा ही होकर (असः) रह, (अन्यासाम्) उसके बाद और स्त्रियों के विषय में (न चन कीर्तयः) नाम भी मत लेना।

यदि वासि तिरोजनं यदि वा नद्यस्तिरः ।
इयं ह मह्यं त्वामोषधिर्बद्ध्वेव न्यानयत् ॥ ५ ॥

भा०—हे मेरे अभिलाषी पुरुष ! (यदि वा) चाहे तू (तिरःजनम्) जनों से भी परे, अरण्यों में (यदि वा) और चाहे (नद्यः) नदी के भी (तिरः) पार हो। (इयम्) यह (ओषधिः) ओषधि जिसको मैं स्वयं-वरा कन्या धारण करती हूँ, (त्वाम्) तुझको (मह्यम्) मेरे लिए मुझे प्राप्त होने के लिये (बद्ध्वा इव) मानों बांधकर इस जन सभा में (नि आनयत्) अवश्य लायेगी।

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र षोडश सूक्तानि, ऋचश्चैकत्रिंशत्]

———

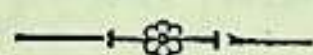
[३९] रससागर व ईश्वर का स्मरण।

प्रस्कण्व ऋषिः। मन्त्रोक्तः सुपर्णो देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम्

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति ॥१॥

ऋ० १। १६४। ५२॥

भा०—(दिव्यम्) द्युलोक में या दिव् = मोक्ष में विद्यमान, (सुपर्णम्) शोभन रूप से पतनशील, पालन और ज्ञान से युक्त, (पयसम्) ज्ञानमय आत्मबल से युक्त, (बृहताम्) महान् (अपाम्-गर्भम्) कर्मों और विज्ञानों को ग्रहण करने वाले, (ओषधीनाम्) ओषधी वनस्पतियों के प्रति (वृषभम्) जल-वृष्टि कर उनको बढ़ाने वाले मेघ या सूर्य के समान ज्ञान-जलों और आनन्द वृष्टि के करनेवाले (अभीपतः) और अपने शरण में आनेवाले जीवों को (वृष्ट्या) आनन्द और अमृत की वर्षा से (तर्पयन्तम्) तृप्त करते हुए उस परम पुरुष, परमेश्वर को हम स्मरण करें, जो (नः) हमारे (गोष्ठे) गौ = इन्द्रियों के निवासस्थान देह में (रयिस्थाम्) रयि = बल, प्राण को स्थापित करता है।



[४०] रससागर ईश्वर का स्मरण।

प्रस्कण्व ऋषिः। सरस्वान् देवता। १ भुरिक् त्रिष्टुप्, २ त्रिष्टुप्।
द्वयृचं सूक्तम्।

यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्य व्रत उपतिष्ठन्त आपः।
यस्य व्रते पुष्टपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे ॥१॥

[३९]—'ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः। सरस्वान् सूर्यो वा देवता। (प्र०) 'वायसं' (द्वि०) 'दर्शतमोषधीनां।' (तृ०) 'तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि' इति ऋ०

भा०—(यस्य) जिसके (व्रतम्) किये कर्म का (सर्वे पशवः) समस्त = पशु बद्ध जीव (यन्ति) अनुगमन करते हैं, अनुकरण करते हैं। (यस्य) जिसके (व्रते) ज्ञान में (आपः) आपः = आप्तकाम, जीवन्मुक्त, कृतार्थ पुरुष (उप-तिष्ठन्ते) उपस्थित हैं, विद्यमान हैं, और (यस्य व्रते) जिसके अपने किये कर्म में (पुष्ट-पतिः) उन नाना प्रकार के पुष्टिकारक पदार्थों का स्वामी, पूषा परमेश्वर स्वयं (नि विष्टे) विराजमान है। (तम्) उस (सरस्वन्तम्) महान्, समुद्र के समान समस्त ज्ञान और कर्मों के विशाल स्वामी, प्रभु को हम (अवसे) अपनी रक्षा के लिए (हवामहे) स्मरण करते हैं।

आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम्।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥२॥

भा० (इह) इस संसार में और इस मानव-देह में (वसानाः) रहते हुए हम (प्रत्यञ्चः) प्रत्येक पदार्थ में व्यापक (दाशुषे दाश्वंसम्) अपने को उसके अधीन समर्पण करने वाले साधक को बल, ज्ञान प्रदान करते हुए, (सरस्वन्तम्) शक्ति, क्रिया और ज्ञान के सागर (पुष्ट-पतिम्) सब पुष्टियों के स्वामी, सबके पोषक, (रयि-स्थाम्) रयि-बल और प्राणों में अधिष्ठाता रूप से स्थित (रायः-पोषम्) धनों और प्राणों के पोषक, (श्रवस्युम्) देहधारियों को अन्न प्रदान करने हारे (रयीणां सदनम्) तथा समस्त ऐश्वर्यों और बलों के आश्रयस्थान में परम आत्मा को हम सदा (आ हुवेम) स्मरण करें और उसको पुकारें।

[४१] मुक्ति की प्रार्थना।

प्रस्कण्व ऋषिः। श्येनो देवता। १ जगती, २ त्रिष्टुप्। द्व्यृचं सूक्तम्॥

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः।
तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् ॥१॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य मरुस्थलों में भी जलों की वर्षा करता है और इन्द्र = मेघ के रूप में सर्वत्र कल्याणस्वरूप होकर प्राप्त होता है उसी प्रकार (श्येनः) ज्ञानवान् या सर्व-व्यापक प्रभु (नृचक्षाः) सब मनुष्यों का द्रष्टा (अवसान-दर्शः) अवसान अर्थात् प्रलयकाल में भी सब पदार्थों और कर्म, कर्मफलों का द्रष्टा, (धन्वानि) भोगभूमियों को (अति) अतिक्रमण करके (अपः) ज्ञान जलों को (ततर्द) वर्षता है और (विश्वानि) समस्त (अवरा) नीचे के (रजांसि) लोकों को (तरन्) पार करता हुआ अर्थात् इन तीनों लोकों की जहां स्थिति नहीं वहां पर रहता हुआ (इन्द्रेण सख्या) अपने मित्र जीव के द्वारा (शिवः) यह कल्याण और सुखमय, आनन्दमय, तुरीयपद, मोक्षरूप परमात्मा (आ जगम्यात्) प्राप्त होता है, साक्षात् होता है।

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः ।
स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् २

भा०—(श्येनः) सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, (नृचक्षाः) सब जीवों का द्रष्टा, (दिव्यः) मोक्षधाम का स्वामी, प्रकाशस्वरूप, (सु-पर्णः) सुख-पूर्वक उत्तम रीति से सबका पालक, (सहस्र-पात्) सहस्रों चरणों वाला अर्थात् सर्वगति, (शत-योनिः) अपरिमित, सैंकड़ों पदार्थों का कारण और आश्रय, (वयो-धाः) समस्त अन्न, कर्मफल का धारण करने वाला, (सः) वह परमात्मा (यत्) जो (परा-भृतम्) धन, ज्ञान और सुख पर अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त इन्द्रिय मन, शरीर आदि करणों द्वारा प्राप्त होसके उस (वसु) जीवनोपयोगी ज्ञान और धन को (नः) हमें (नि यच्छात्) पूर्ण रीति से प्रदान करे। और वही सब सुख (अस्माकम्) हमारे (पितृषु) पालकों या प्राणों में भी (स्वधावत्) अन्न या ग्राह्य विषय होकर स्वतः (अस्तु) प्राप्त हो।

—⁂—

[४२] पापमोचन की प्रार्थना।

प्रस्कण्व ऋषिः। सोमरुद्रौ देवते। १, २ त्रिष्टुभौ। द्व्यृचं सूक्तम् ॥

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥१॥

ऋ० ६। ७४। २ प्र० द्वि० तृ० १। २४। ९ तृ० च० ॥

भा०—हे (सोमारुद्रा) सोम और रुद्र, जल और अग्नि (या) जो (अमीवा) रोगकारी पदार्थ (नः) हमारे (गयम्) प्राण में, घर में या शरीर में (आविवेश) प्रविष्ट हो गया है उस (विषुचीम्) नाना प्रकार से शरीर में, घर में या देश में फैलनेवाले रोग का (विवृहतम्) नाना प्रकार के उपायों से नाश करो। और आप दोनों (निः-ऋतिम्) सब प्रकार के कष्टों और दुःखों को (पराचैः) दूर ही (बाधेयाम्) रोको, दूर ही उसका विनाश करो। और (अस्मत्) हमसे (कृतम् चित्) किये हुए (एनः) पापा या रोग को (प्रमुमुक्तम्) छुड़ाओ।

सोम शब्द से—राजा, वायु, चन्द्र, क्षत्रिय, अन्न, प्राण, वीर्य अमृत, आत्मा, ब्राह्मण आदि का ग्रहण होता है। रुद्र शब्द से अग्नि, घोर, प्रतिहर्त्ता, प्राण आदि लिये जाते हैं। यहां रोगनिवारण और पापनाशन का प्रकरण है। रोगनाशन में सोम और रुद्र दो प्रकार के चिकित्सक हैं। एक सोम = जलीय शान्त गुण औषधियों से चिकित्सा करने वाले, दूसरे रुद्र = तीक्ष्ण ओषधियों द्वारा चिकित्सा करने वाले। पापनाशन में आधिभौतिक में उपदेशक और दण्डकर्त्ता। आधिदैविक में जल और अग्नि। अध्यात्म में प्राण और अपान, या प्राण और उदान लेने चाहियें।

---

[४२] 'ऋग्वेदे भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः' १—(तृ०) 'आरे बाधेथां निर्ऋतिं' (च०) 'मुमुग्ध्यस्मत्' इति ऋ०।

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥२॥
ऋ० ६ । ७४ । ३ ॥

भा०—हे पूर्वोक्त (सोमारुद्रा) सोम और रुद्र (युवम्) आप दोनों (अस्मत्) हमारे (तनूषु) शरीरों में (विश्वा भेषजानि) सब प्रकार की ओषधियों का (धत्तम्) प्रयोग करो। और (यत्) जो कुछ (नः) हमारे (तनूषु) शरीरों में (कृतम् एनः) हमारा ही किया पाप, रोग या कुपथ्य (असत्) है उसको (अव स्यतम्) नष्ट करो और (अस्मत्) हम से उसे (अव मुञ्चतम्) छुड़ाओ।

[४३] चार प्रकार की वाणी

प्रस्कण्व ऋषिः । वाग् देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः ।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥१॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे प्रति (एकाः) एक प्रकार की वाणियां (शिवाः) शिव, कल्याणकारिणी, सुखप्रद हैं, और (एकाः) एक प्रकार की, दूसरी (ते) तेरी (अशिवाः) अशिव, अमंगलकारी-निन्दामय वाणियां हैं। तू उन सब को (सुमनस्यमानः) अपने चित्त को शुभ, सुन्दर, अविकृतभाव से रखते हुए ही (बिभर्षि) धारण कर, सुन। अर्थात् स्तुति और निन्दा दोनों को प्रसन्नचित्त होकर सुना कर, स्तुतियों से प्रसन्न मत हो और निन्दा के वाक्यों से उद्विग्न मत हो। क्योंकि (अस्मिन्) इस पुरुष के (अन्तः) भीतर (तिस्रः वाचः) तीन प्रकार की वाणियां (निहिताः) रक्खी हैं (१) परा जो आत्मा में बीज रूप से विद्यमान रहती हैं (२) पश्यन्ती जो वक्ता के प्रयोग के पूर्व मन में संकल्प रूप से आती हैं। (३) मध्यमा, जो इच्छापूर्वक मानस संकल्पों

में रह कर ही शरीर के हर्ष, विषाद आदि मुख विकारों को प्रकट करती है, (तासाम्) उनमें से ही (एका) एक और, चौथी वैखरी (घोषम् अनु) शब्द के स्वरूप में आकर (वि पपात) नाना रूप से बाहर आती है। प्रयोक्ता के भीतर ही निन्दात्मक वाणी के भी तीन रूप रहते हैं और केवल एक चतुर्थ भाग ही बाहर आता है। इससे वही अधिक उसके पाप से युक्त है, न कि श्रोता।

[४४] इन्द्र और विष्णु।

प्रस्कण्व ऋषिः । इन्द्रो विष्णुश्च देवते । भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः ।

एकर्चं सूक्तम् ॥

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः ।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥१॥

ऋ० ६ । ६९ । ८ ॥

भा०—(उभा) दोनों इन्द्र और विष्णु (जिग्यथुः) विजय करते हैं, (न परा जयेथे) कभी शत्रुओं से हारते नहीं हैं। (एनयोः) इन दोनों में से (कतरः चन) कोई अकेला भी (न परा जिग्ये) नहीं हारता। (इन्द्रः) इन्द्र (च) और हे (विष्णो) विष्णु ! तुम दोनों (यत्) जब भी अपने विरोधी असुरों के साथ (अप स्पृधेथाम्) होड़ करते हो, युद्ध करते हो (तत्) तब तब (सहस्रम्) समस्त संसार को (त्रेधा) तीन प्रकार से (वि ऐरयेथाम्) व्याप्त करते और वश कर लेते हो। विजय कर लेते और उन में वीर सामर्थ्यवान् होकर शासन करते हो।

[४४] १–'ऋग्वेदेऽस्याः भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः।' (द्वि०) 'कतरश्चनैनोः' इति ऋ० ।

[४५] ईर्ष्या के दूर करने का उपाय।

प्रस्कण्व ऋषिः । ईर्ष्यापनयनम् भेषजं देवता । १, २ अनुष्टुभौ ।

द्व्यृचं सूक्तम् ॥

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम् ।
दूरात् त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥ १ ॥

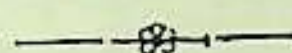
भा०—ईर्ष्या, दाह या दूसरे की उन्नति को देखकर जलने के बुरे स्वभाव को दूर करने के उपाय का उपदेश करते हैं। हे ईर्ष्या दूर करने के उपाय रूप ओषधे ! तू (ईर्ष्यायाः नाम) ईर्ष्या को झुकाने या दबाने का उत्तम साधन है, इसी से उसका (भेषजम्) इलाज या ईर्ष्या नाम के मानस रोग की उत्तम चिकित्सा है। (त्वा) तुझको मानो (दूरात्) दूर से (उद्-भृतम्) उखाड़ कर लाया गया (मन्ये) मानता हूं। तुझको (विश्व-जनीनात्) समस्त जनों के हितकारी, (सिन्धुतः) नदी या समुद्र के समान विशाल उपकारी, सबके प्रति उदार मनुष्य से (परि आभृतम्) प्राप्त किया जाता है।

जब हृदय में ईर्षा के भाव उदय हों उन को दबाने के लिये या दूर करने के लिये उन लोकोपकारी महापुरुषों का ध्यान करना चाहिये जो अपनी सर्वस्व सम्पत्ति को नदी के समान परोपकार में बहा देते हैं। और अपने आप उसका भोग नहीं करते। दूसरे के बढ़ते यश और कीर्ति से न जल कर स्वयं यशस्वी और सच्चे परोपकारी बनें। केवल ईर्ष्या में जलने से कोई बड़ा नहीं हो सकता।

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक् ।
एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥ २ ॥

[४५]—पञ्चपटलिकायां द्व्यृचं सूक्तम् ।

भा०—(उद्ना) जलसे (अग्निम्-इव) जिस प्रकार जलती आग को शान्त कर दिया जाता है उसी प्रकार (अग्नेः इव दहतः) जलती आग के समान या (दावस्य दहतः) जंगल को जलाती भड़कती आग के समान (दहतः) जलते, कुढ़ते हुए या भयानक रूप में भड़कते हुए (एतस्य) इस ईर्षालु द्रोह वाले चित्त की (ईर्ष्याम्) ईर्षा को प्रेम से या दूसरों के सच्चरित्र गुणों से (शमय) शान्त कर।



[४६] सभा, पृथिवी और स्त्री का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। विश्पत्नी देवता। १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम्॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥ १॥

ऋ० २। ३२। ६॥ यजु० ३४। १०॥

भा०—हे देवि! विश्पत्नि! दिव्य गुणों वाली प्रजाओं का पालन करने वाली! हे (सिनीवालि) अन्न का प्रदान करने वाली! अथवा प्रेमबद्धे! हे स्त्रि! हे (पृथुस्तुके) बहुत से पुत्रों वाली या बहुतों से प्रशंसित या विशाल मध्यभाग वाली! या उत्तम कामनावति! या पृथु = द्युलोक के प्रति सदा खुली रहने वाली! तू (देवानाम्) देव = वायु, सूर्य, जल, मेघ आदि दिव्य पदार्थों के साथ (स्वसा) स्वयं स्वभावतः नैसर्गिक रूप में संगत है। तू (आ-हुतम्) आहुति किये हुए (हव्यम्) अन्न को, या वीर्य को जो बीज रूप से तेरे में बोते हैं

[४६] १—ऋग्वेदे गृत्समद ऋषिः। स्तुकः केशभारः स्तुतिः, कामो वा इति महीधरः पृथुसंयमितकेशभारा इति उव्वटः, २. दिदिड्ढि-उपचयार्थस्य दिहेर्दिशतेर्वा लोटि शपः श्लुः।

उसे (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर और (नः) हमें (प्रजाम्) प्रजा को उत्कृष्ट रूपसे उत्पन्न हो जाने पर (दिदिड्ढि) प्रदान कर। महर्षि दयानन्द ने मन्त्र को स्त्री के वर्णन में लगाया है।

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥ २ ॥

ऋ० २ । ३२ । ७ ॥

भा० —पूर्व मन्त्र में कही विश्पत्नी-सार्वजनिक सभा, पृथिवी और स्त्री तीनों का श्लेष से वर्णन करते हैं। (या) जो स्त्री (सुबाहुः) उत्तम बाहुओं वाली, (सु-अङ्गुरिः) उत्तम अंगुलियों वाली, (सुसूमा) उत्तम उत्पादक अंगों वाली, सुभगा पृथुजघना, (बहु-सूवरी) बहुत से, अधिक से अधिक दश पुत्रों को उत्पन्न करने में समर्थ है, (तस्यै) उस (सिनीवाल्यै) पत्नी के लिये (हविः जुहोतन) हविः = अन्न नित्य प्रदान करो। सार्वजनिक सभा के पक्ष में-(या सुबाहुः) जो उत्तम वीर भटों द्वारा सब विघ्नों को बांधने वाली, (सु-अङ्गुरिः) सब उत्तम राष्ट्रीय अंगों वाली, (सू-सूमा) राष्ट्र में जल तथा दूध का उत्तम प्रबन्ध करने वाली, (बहु-सूवरी) बहुत प्रकार की राष्ट्रीय प्रेरणाओं की आज्ञाएं देने वाली है (तस्यै विश्पत्न्यै) उस सार्वजनिक सभा के लिये सब लोग (हविः जुहोतन) अपना अपना भाग प्रदान करें। पृथिवी भी क्षत्रियों द्वारा 'सुबाहु' देशवासियों द्वारा, उत्तम देशों द्वारा 'सु-अङ्गुरि', नाना पुरुषों, अन्नों वनस्पतियों के उत्पादन से 'सु-षूमा' और 'बहू-सूवरी' है।

या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥३

भा०—हे (देवि) देवि ! पति की कामना करने वाली ! तू

अपने (पतिम्) पति को (राधसे) धन और यश प्राप्त करने के लिए (चोदयस्व) प्रेरित कर। उसी प्रकार हे (विष्णोः पत्नि) व्यापक सार्वभौम राजा या तेरे हृदय में व्यापक प्रियतम की (पत्नि) पालिके! राजसभे! (तुभ्यम्) तेरे निमित्त तुझे (हवींषि) पर्याप्त साधन और अधिकार (राता) प्रदान किये गये हैं। यह (विश्पत्नी) पूर्वोक्त प्रजातन्त्र शासन की वह प्रतिनिधि सभा है, (या) जो (देवी) विद्वानों की बनी हुई है, और (सहस्र-स्तुका) सहस्रों संघों को अपने भीतर मिलाये हुए (अभि-यन्ती) प्रकट होती हुई, (इन्द्रम्) राजा या पति के भी (प्रतीची) सन्मुख उसके समान शक्ति वाली (असि) है। ऐसी हे (पत्नि) गृहपालिके, राष्ट्रपालिके, जन-राजसभे! तू अपने (पति) पति, सभापति या राष्ट्रपति को (राधसे) पुत्र, यश और अर्थ-प्राप्ति के लिए न्यायमार्ग में (चोदयस्व) प्रेरित कर।

'नाविष्णुः पृथिवीपतिः' इस पुरानी किंवदन्ती का यही मन्त्र मूल है। राजा को वेद 'विष्णु' कहता है। वह 'विश्पत्नी' का पति है। इन्द्र राजा है और विष्णु राष्ट्रसभा का सभापति है। वह पूर्व अमावास्या का वर्णन हुआ। अमावास्या नाम स्त्री का है अमा = सह वसते पत्या इति अमावास्या। जो पति के साथ रहे। 'अमा' एक साथ जिसमें सब प्रजाएं 'वास्या' बैठ सकें। जनरल कान्फ्रेन्स, महासभा, साधारण सभा।



[४७] कुहू नामक अन्तरंगसभा का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। कुहुर्देवी देवता। १ जगती, २ त्रिष्टुप्।
द्व्यृचं सूक्तम्।

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन् यज्ञे सुहवा जोहवीमि।
सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्॥१

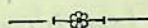
भा०—अब उत्तरा अमावास्या का वर्णन करते हैं, जो उस साधारण महासभा की अन्तरंग सभा है। मैं सभापति (सु-हवा) उत्तम रीति से आह्वान करने में समर्थ, उत्तम आज्ञापक, उत्तम मन्त्रणा देने में समर्थ, (अस्मिन् यज्ञे) इस राष्ट्रमय यज्ञ में (देवीम्) विद्वानों की बनी, (विद्मा-अपसम्) समस्त उचित कर्तव्यों को जानने वाली (सु-कृतम्) उत्तम कार्य सम्पादन करने वाली, (कुहूम्) कुहू नामक गुप्तसभा, अन्तरंग सभा को (जोहवीमि) आह्वान करता हूँ, बुलाता हूं। (सा) वह (नः) हमें, हम राष्ट्र के शासकों को (विश्व-वारम्) समस्त राष्ट्र के वरण करने योग्य, उनके अभिमत अथवा राष्ट्र की रक्षा करनेवाले (रयिम्) धन, यश, उत्तम कर्म का (नियच्छात्) उपदेश करे या उत्तम रयि = व्यवस्था पत्र को प्रदान करे, और (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय या वेद के अनुसार (शत-दायम्) सैकड़ों सुखों के देने वाले (वीरम्) सामर्थ्यवान् पुरुष को (ददातु) राष्ट्र के कार्य में प्रदान करे, नियुक्त करे।

राष्ट्रपति या मंत्री (सुहवा) जिसको अन्तरंग सभा बुलाने का अधिकार हो। वह (विद्मनापसम) अन्तरंग के सभासदों को पूर्व में विचारणीय विषय जना देवे और फिर बुलावे। उसमें सर्व हितकारी उत्तम निर्णयों या प्रस्तावों को स्वीकृत करावें और उनको कार्य रूप में लाने के लिए उत्तम शासक को नियत करे।

कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु ॥२॥

भा०—(देवानाम्) देवगण, विद्वानों के बीच में (अमृतस्य पत्नी) कभी न विनाश होने वाली, सत्य सिद्धान्त या नियम का पालन करने वाली (अस्य हविषः) इस हवि = मन्त्र या विचार को (जुषेत) सेवन करे, विचार करे। और (यज्ञम्) राष्ट्र के हित को या परस्पर के संग साहाय्य को (उशती) चाहती हुई (शृणोतु) सब सभासदों के मत को

भली प्रकार सुने। और (अद्य) अब (चिकितुषी) सब बात यथार्थ रूप से जानती हुई (नः) हमारे राष्ट्र के (रायस्पोषम्) धन की सम्पत्ति वृद्धि को (दधातु) करे। कुहू के वर्णन के साथ साथ गृहपत्नी के कर्त्तव्यों का भी वर्णन हो गया है। जैसे (१) मैं सुहवा पति (कुहू) जितेन्द्रिय विदुषी पत्नी को यज्ञ में बुलाता हूं। वह हमें सब प्रकार से हृष्ट पुष्ट पुत्र प्रदान करे। (२) वह अपने अमृत दीर्घायु पति की पत्नी पूजा के योग्य है। वह अपने पति की कामना करती हुई भी हमारे बीच में विदुषी होकर बड़ों की आज्ञा सुने और प्रजाओं को पुष्ट करे।



[४८] राका वाम राजसभा और स्त्री के कर्त्तव्यों का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। राका देवता। जगती छन्दः। द्वयृचं सूक्तम् ॥

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥ ऋ० २। ३२। ४ ॥

भा०—(अहम्) मैं पुरुष (राकाम्) पूर्ण चंद्रवाली पूर्णिमा के समान शोभा, षोडश कलायुक्त गुणवती स्त्री का (सु-हवा) उत्तम ज्ञान और (सुस्तुती) उत्तम गुण वर्णन युक्त वाणी से (हुवे) वर्णन करता हूँ। वह (सुभगा) शुभ, सौभाग्य सम्पन्न स्त्री (नः) हमारे उपदेशों का (शृणोतु) श्रवण करे। और (त्मना बोधतु) अपने भीतरी अन्तःकरण से उसको समझे, विचार करे कि वह (अच्छिद्यमानया) कभी न टूटने वाली (सूच्या) सूची से (अपः) सन्तति कर्म को (सीव्यतु) सीये। अर्थात् न टूटते हुए प्रजा जन्तु को बनाये रक्खे और (शत-दायम्) सैकड़ों दाय धन को प्राप्त करने वाले (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वीरम्) पुत्र

[४८] १-(प्र०) 'सुहवाम्' इति पैप्प० सं०, ऋ०।

को (ददातु) उत्पन्न करे । अर्थात् सर्वांग गुणसम्पन्ना महिलाएं वीर, उत्तम राजा होने योग्य यशस्वी पुत्रों को उत्पन्न करें ।

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा ॥२॥
ऋ० २ । ३२ । ५ ॥

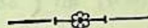
भा०—हे (राके) सुखप्रदे ! पूर्णप्रकाशयुक्त स्त्रि ! (याः) जो (ते) तेरी (सु-पेशसः) सुन्दर कान्तिवाली (सु-मतयः) उत्तम बुद्धियां उत्तम विचार हैं (याभिः) जिन्हों से (दाशुषे) अपने सर्वस्व अर्पण करने वाले प्रियतम पति को (वसूनि) नाना प्रकार के जीवन के सुख और नाना धन (ददासि) प्रदान करती है (ताभिः) उन उत्तम विचारों से (सु-मनाः) सदा प्रसन्नचित्त होकर (नः) हम, प्रजा-वासियों को हे (सु-भगे) सौभाग्यवति ! (रराणा) नाना प्रकार के आनन्द प्रदान करती हुई या नाना प्रकार से आनन्द प्रसन्न होकर (सहस्र-पोषम्) सब प्रकार के पुष्टि, धन, धान्य सम्पत्ति को (उप-आ-गहि) प्राप्त करा । उत्तम महिलाएं जिन उत्तम विचारों से अपने पतियों को सुखकारी होती हैं उन विचारों और सत्-कर्मों से अपने सम्बन्धी और पड़ोसियों को भी सुखकारी हों ।

विद्वत्पत्नी पक्ष में—राका भी उस राजसभा का नाम है जिसमें राजा स्वयं १६ या २० अमात्यों सहित राष्ट्र के कार्यों का विचार करता है । कार्यों की प्रारम्भिक अनुमति प्राप्त करने के लिये 'अनुमति' नामक सभा का वर्णन पूर्व आ चुका है । यह 'उत्तरा' उससे भी उत्कृष्ट राज-सभा है जिससे अंतिम निर्णय प्राप्त करके राजा अपने राष्ट्र में कार्य करे। इस पक्ष में मन्त्रों की योजना निम्नलिखित रूप में जाननी चाहिए ।

२-(च०) 'सहस्रपोषम्' इति ऋ० ।

(१) (राकाम् अहं सुहवा सुष्टुती हुवे) राजसभा को मैं स्वयं बुलाता हूँ (शृणोतु नः सुभगा) वह श्रीमती राजसभा मेरे निर्णय को सुने। (बोधतु त्मना) स्वयं विचारे। (अच्छिद्यमानया सूच्या सीव्यतु) न टुटी सूई से जैसे फटे वस्त्रों को सिया जाता है उसी प्रकार वह विचार के योग्य सब अंगों को क्रम से सूक्ष्म बुद्धि से विचारे, उनको सम्बन्धित करे और (शतदायम्) सैकड़ों लाभप्रद (उक्थ्यं वीरं ददातु) प्रशंसनीय वीर, कार्यकर्त्ता को नियुक्त करे।

(२) हे (राके याः ते सुपेशसः सुमतयः) राजसभे! जो तेरी उत्तम सम्मतियें हैं (याभिः दाशुषे वसूनि ददासि) जिसके द्वारा राजा को नाना धन प्रदान करती है (ताभिः नः सुमनाः सहस्रपोषं रराणा सुभगे उपा गहि) हे श्रीमति! उनसे ही सुचित्त होकर सहस्रगुणा द्रव्य देती हुई प्राप्त हो।



[४९] विद्वान् पुरुषों की स्त्रियों के कर्त्तव्य।

अथर्वा ऋषिः। देवपत्न्यो देवताः। १ आर्षी जगती। २ चतुष्पदा पंक्तिः। द्व्यृचं सूक्तम्॥

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु॥ १॥ ऋ० ५।४६।७॥

भा०—विद्वान् पुरुषों की विदुषी स्त्रियों को और ऊँचे कर्मों का उपदेश करते हैं—(देवानां पत्नीः) देव = विद्वान् या राज्यशासक अधिकारी लोगों की विदुषी स्त्रियें भी (उशतीः) सुप्रसन्न, इच्छापूर्वक (नः) हम प्रजा के लोगों की (अवन्तु) रक्षा करें। और विशेष कर

[४६] १–'यच्छत' इति ऋ०। अस्य सूक्तस्य प्रतिक्षत्र आत्रेय ऋषिः।

(वाज-सातये) संग्राम यज्ञ और ज्ञानप्राप्ति, शिक्षा के कार्य के लिए और (तुजये) बालकों की रक्षा और राष्ट्र में बल या जोश उत्पन्न करने के लिए ये (नः) हम में (अवन्तु) आदरपूर्वक आवें। और (याः) जो (पार्थिवासः) राज-घराने की उन्नत पदाधिकार पर स्थित रानियां हैं और (याः) जो (अपाम्) प्रजाओं के (व्रते) पालन या शासन के कार्य में या सदाचार शिक्षण में नियुक्त हैं (ताः) वे (देवीः) विदुषी स्त्रियां भी (सु-हवाः) उत्तम उपदेश करने में समर्थ होकर प्रजाओं में (शर्म) सुख शान्ति (यच्छन्तु) प्रदान करें।

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट्।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥२॥

भा०—(उत) और (देव-पत्नी) देव = विद्वान् पुरुषों की स्त्रियां भी (ग्नाः) छन्दोमय वेदवाणियों का (व्यन्तु) अभ्यास किया करें। और (इन्द्राणी) इन्द्र, महाराज की स्त्री, (अग्नायी) और सेनापति की स्त्री (अश्विनी) अश्वी, वेगवान् रथ, विद्युत् आदि के प्रणेता शिल्पी पुरुषों की और (राट्) राजा की स्त्री, रानी (रोदसी) रुद्र दुष्टों के रुलाने वाली राष्ट्र के दमनकारी विभाग के अध्यक्ष की स्त्री ये सब (वरुणानी) और वरुण राजनियम-विधानकारी न्यायाधीश की स्त्री, ये सब (आशृणोतु) कार्य व्यवहार और स्त्री संसार के कार्य व्यवहारों को सुना करें। और (जनीनाम्) प्रजा की स्त्रियों को (यः ऋतुः) जो काल नियत हो उस अवसर में ये (देव्यः) विदुषी स्त्रियां (व्यन्तु) प्राप्त हों और स्त्रियों की व्यवस्था किया करें।

स्त्रियों के साक्षी आदि स्त्रियां हों। स्त्रियों के सामाजिक, नैतिक और चिकित्सा आदि कार्य स्त्रियां ही करें और उत्सव आदि के अवसरों पर भी स्त्रियों की प्रबन्धक स्त्रियां हों, यह वेद की आज्ञा है।

२—तोकाय अपत्याय इति सायणः, बलायेति दयानन्दः।

(५०) आत्म-संयम ।

कितवबधनकामो अङ्गिरा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १, २, ५, ८, ९ अनुष्टुप्; ३, ७ त्रिष्टुप्; ४ जगती; ६ भुरिक् त्रिष्टुप् । नवर्चं सूक्तम् ।

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति ।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति ॥ १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अशनिः) मेघकी बिजुली (विश्वाहा) सब दिन, सदा ही (अप्रति) विना किसी अन्य को प्रतिनिधि बनाये स्वयं ही (हन्ति) विनाश करती है, (कितवान्) तथा चतुर जुआरी जिस प्रकार जुआरियों को स्वयं पासों से मारता है (एवा) इस प्रकार ही (अहम्) मैं इन्द्र, आत्मा (अद्य) आज इन (कितवान्) जिनके पास कुछ नहीं ऐसे निःस्व अचेतन जड़ विषयों को (अक्षैः) अपने अक्षों इन्द्रिय गण से (अप्रति) विना अन्य किसी को प्रतिनिधि किये, स्वयं अपने बल से (बध्यासम्) मारूं, या ज्ञान और कर्म का विषय बनाऊं। अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रियों से इन निश्चेतन जड़ पदार्थों को जो जीवन में बाधा उत्पन्न करें दबाकर अपने वश करलूं। अध्यात्म विषय को, 'कितव' या जुवारियों की क्रीड़ा के समान, 'अक्ष' आदि द्व्यर्थक पदों से श्लेष द्वारा वर्णन किया गया है ।

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम् ।
समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥ २ ॥

[५०]—अनुक्रमणिकाहस्तलिपिपुस्तकेषु प्रायः सर्वत्र 'कितवद्वन्धनकामः', 'बन्धनकाम' इति ब्लूमफील्डः, 'द्वन्द्वधन' इति रॉडरः, 'बध्यासम्' इति पदनिर्देशात् 'बाधन' इति व्हिट्निः, बध्यासम्' इति पाठ स्वीकारात् 'बध' इति सायणः । सार्वत्रिकपाठानुसारं 'बध्यासम्' इति सायणसम्मतः पाठः । 'कितवबधनकाम' इतिः पाठः शुद्धः ।

भा०—(तुराणाम्) अति शीघ्रता करने वाली चञ्चल, अविवेकी, (अतुराणाम्) मन्द, जो शीघ्रता न कर सकें अर्थात् तामस, (अवर्जुषीणाम्) तथा जो अपने दोषों को या प्रकृतिसिद्ध स्वभावों को परित्याग नहीं कर सकतीं ऐसी (विशाम्) प्रजाओं अर्थात् प्राणेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय रूप अध्यात्म प्रजाओं में से (विश्वतः) जो सब से अधिक (भगः) सम्पत्तिमान् ऐश्वर्यवान् है वह आत्मा (सम्-आ-एतु) मुझे प्राप्त हो। क्योंकि (कृतम्) समस्त मेरी क्रिया शक्ति अथवा पुरुषार्थ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, कर्म और कर्मफल सब (मम) मेरे (अन्तर्हस्तम्) अपने हाथ के भीतर हैं।

ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत् कृतं नः।
रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम् ॥३॥
ऋ० ५ । ६ । १० ॥

भा०—मैं (अग्निम्) प्रकाशस्वरूप, (स्व-वसुम्) स्व = अपने देह के या आत्मा के भी भीतर वसने वाले उस प्रभु की, (नमोभिः) नमस्कारों द्वारा (ईडे) स्तुति करता हूँ। वह (इह) इस संसार में (प्र-सक्तः) अपनी उत्तम शक्ति से सर्वत्र व्यापक रहकर (नः) हमारा (कृतम्) किया पुरुषार्थ हमें ही (वि चयत्) नाना प्रकार से प्रदान करता है। संग्राम में (वाजयद्भिः) बल पकड़ते हुए या वेग से जाते हुए (रथैः-इव) रथों से जिस प्रकार नाना देशों को जाता हूँ और उन को वश करता हूँ उसी प्रकार मैं आत्मा का साधक योगी (प्र-दक्षिणम्) स्वयं अति उत्कृष्ट बलशाली (स्तोमम्) समूह अर्थात् इन्द्रियगण को (ऋध्याम्) अपने वश करूँ। और उन की शक्ति को बढ़ाऊँ। विजय-

३—ऋग्वेदे श्यावाश्व आत्रेय ऋषिः। (द्वि०च०) 'इह प्रसत्तो' 'प्रदक्षिणिन् मरुताम्' इति ऋ०।

शील सेनापति के पक्ष में भी उपमा के बल से लगता है । मन्त्र तैत्तिरीयब्राह्मण, मैत्रायणी संहिता में भी आता है वहां कहीं भी इस मन्त्र का द्यूतक्रीड़ा से सम्बन्ध नहीं है । इसलिये जुए के पक्ष में सायणकृत अर्थ असंगत है ।

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे ।
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज ॥४॥
ऋ० १ । १०२ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र परमेश्वर ! (त्वया) तुझ (युजा) सहायक की सहायता से (वयम्) हम (वृतम्) आवरणकारी, घेरने वाले तामस आवरण का (जयेम) विजय करें । जिस प्रकार ऐश्वर्यवान् राजा की सहायता से उसके सैनिक अपने नगर को घेरनेवाले शत्रु पर विजय प्राप्त करते हैं उसी प्रकार ईश्वर की सहायता से हम साधकगण आत्मा को घेरने वाले तामस आवरण अथवा राजस इन्द्रियगण को अपने वश करें । हे प्रभो ! (भरे-भरे) प्रत्येक संग्राम में (अस्माकम्) हमारे (अंशम्) व्यापक आत्मा को (उत् अव) उन्नति की तरफ ले जाओ । हे इन्द्र ! (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (वरीयः) सबसे उत्कृष्ट और महान् मोक्षपद को भी (सुगम्) सुखसे प्राप्त करने योग्य (कृधि) कर । और (शत्रूणाम्[1]) हमारे बल और ज्ञान का नाश करने वाले काम, क्रोध आदि शत्रुओं के (वृष्ण्या) बलों को (प्ररुज) अच्छी प्रकार तोड़ डाल । इस मन्त्र का भी द्यूतक्रीड़ा से कोई सम्बन्ध नहीं । अतः सायण आदि का द्यूतपरक अर्थ असंगत है ।

४—(तृ०) 'वरिवः' इति ऋ० । ऋग्वेदे कुत्स आंगिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता ।

१—शातनं-नाशः

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् ।
अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

भा०—हे प्रतिपक्ष ! राजस और तामसभाव ! (सं-लिखितम्) खूब अच्छी प्रकार शिला पर खुदे हुए लेख के समान हृदय पटल पर अंकित अथवा भूमिमानचित्र के समान आलिखित (उत) और (संरुधम्) हरेक उन्नति के कार्य में मुझे आगे बढ़ने से रोकने वाले, विघ्नकारी बाधक को मैंने अपने आत्मा के बल से (अजैषम्) जीत लिया है। और (यथा) जिस प्रकार (अविम्) भेड़ को (वृकः) भेड़िया (मथद्) पकड़ कर झंझोट डालता है उस प्रकार (ते) तेरे (कृतम्) किए दुष्फल को (मथ्नामि) मैं भी मथ डालूं। अध्यात्मवेदी के लिए दो ही पदार्थ हैं। एक 'अस्मद्-विषय' आत्मा और दूसरा 'युष्मद्-विषय' संसार। यहां संसार के प्रवर्त्तक अविद्याकृत आवरण को मथ कर तम या वृत पर, जिसको पूर्व मन्त्र में 'वृत' कहा है, विजय का प्रत्यक्ष रूप दर्शाया है।

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः॥६॥

भा०—(उत) और 'इन्द्र' ईश्वर या राजा या ऐश्वर्यवान् जीव ही समस्त प्राणों में (अति-दीवा) अत्यन्त अधिक तेजस्वी क्रियावान्, व्यवहारवान्, आनन्दी, हर्षवान् होने के कारण (प्र-हाम् जयति) अपने मारने वाले को भी जीत लेता है। (काले) उचित समय पर (श्वघ्नी) चतुर द्यूतकार जिस प्रकार (कृतम्-इव) अपने जयप्रद 'कृत' नामक अक्ष को खोज लेता है उसी प्रकार वह आत्मा (काले) अपने उचित अवसर में अपने (कृतम्) किये कर्म अर्थात् इष्ट और आपूर्त अर्थात्

१–(प्र) 'अतिदिव्यो जयाति' इति क्व० ।

उपकार के कर्मों को (विचिनोति) अपनी सुख प्राप्ति के निमित्त चुनता और करता है। (यः) जो पुरुष (देवकामः) विद्वान् महात्मा, देवतुल्य पुरुषों के निमित्त अपने (धनम्) धनको (न रुणद्धि) रोके नहीं रखता प्रत्युत उत्तम सज्जन पुरुषों के उपकार तथा उनकी अभिलाषा के अनुकूल व्यय करता है, इन्द्र अर्थात् परमेश्वर (तम् इत्) उसको ही (स्वधाभिः) अपनी दानशक्तियों से (रायः) धन, सम्पत्तियां (सं सृजति) प्रदान करता है। ऋग्वेद में यह मन्त्र इन्द्र की स्तुति में है। सायण ने वहां उत्तम अर्थ करके भी इस स्थल पर इस मन्त्र को भारी जुआरिये पर लगा दिया है॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥ ७ ॥

ऋ० १०।४२।१०॥

भा०—हम (गोभिः) गौ आदि पशुओं का पालन करके (दुः ए-वाम्) दुःख प्राप्त कराने वाली (अमतिम्) दुर्गति या दरिद्रता से (तरेम) पार हों, अर्थात् गोपालन से हम अपनी दरिद्रता का नाश करें। हे (पुरुहूत) बहुत प्रजाओं से पूजित इन्द्र! राजन्! (यवेन) जौ आदि धान्यों से (विश्वे) हम सब (क्षुधम्) भूख से (तरेम) पार हों। अन्न से भूख को शान्त करें और (राजसु) राजाओं के बीच में (प्रथमाः) प्र उत्कृष्ट पद प्राप्त करके (वयम्) हम लोग (अरिष्टासः) परस्पर की हिंसा न करते हुए, स्वयं भी सदा सुरक्षित रहकर (वृजनीभिः[1]) बलवती शक्तियों द्वारा (धनानि) नाना प्रकार की धन-सम्पत्तियों को (जयेम) जीतें; प्राप्त करें।

७-(द्वि०) 'पुरुहूत विश्वाम्' (तृ०) 'वयं राजभिः' (च०) 'धनान्यस्माकेन वृजनेनाजयेम' इति ऋ०।

१. वृजनेन बलेन इति सायणः ऋग्वेदभाष्ये॥ बलकारिणीभिरिति अथर्वभाष्ये।

सायण ने इस मन्त्र में भी 'वृजनी' शब्द से बलकारिणी पासे की रमल की दण्डियां ली हैं। यदि वे ऋ० १०। ४२। १० में अपने ही किये इस मन्त्र का अर्थ देख लेते तो अथर्ववेद में यह अनर्थ न करते।

अध्यात्म पक्ष में—(गोभिः) वेदवाणियों द्वारा (अमतिम्) अविद्या से पार हों, हे पुरुहूत परमात्मन्! हम सब सात्विक होकर यव आदि अन्नों से भूख को दूर करें। राजमान विद्वानों में श्रेष्ठ होकर हम परस्पर हिंसा न करके, प्रेम से रक्षा करते हुए अपनी (वृजनीभिः) बाधाओं और विषय प्रलोभनों का वर्णन कर देने वाली त्याग-वृत्तियों और वैराग्य साधनाओं द्वारा (धनानि) धारणीय बलों को प्राप्त करें।

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ॥ ८ ॥

भा०—(मे) मेरे (दक्षिणे) दायें (हस्ते) हाथ में (कृतम्) मेरा अपना किया हुआ कर्म, पुरुषार्थ है और (मे सव्ये) मेरे बायें हाथ में (जयः) जय, विजय (आ-हितः) रक्खा है। मैं अपने परिश्रम से (गो-जित्) गोधन का विजेता (अश्व-जित्) अश्वों का विजेता (धनंजयः) धन का विजेता और (हिरण्यजित्) स्वर्ण का विजेता (भूयासम्) होऊं। अध्याम में कृत = साधना या तपस्या एक हाथ में है तो दूसरे हाथ में सब विषयों पर विजय है। तप के बल से गो = इन्द्रियों, अश्व = कर्मेन्द्रिय और मन धन = अष्ट सिद्धियों और (हिरण्य) आत्मा और नवनिधियों पर भी वश हो जाता है।

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥ ९ ॥

भा०—हे (अक्षाः) इन्द्रिय गण! जिस प्रकार धनी पुरुष (क्षीरिणीम्-इव) दूध वाली, दुधार (गाम्) गौ का दान देते हैं उसी

प्रकार तुम (फलवतीम्) उत्तम फलवाली (द्युवम्) क्रिया या ज्ञान-व्यवहार का (दत्त) दान करो। और (माम्) मुझ को (कृतस्य) अपने किये उत्तम कर्म की (धारया) परम्परा से (स्नाव्ना-इव) तांत से (धनुः) धनुष के समान (सं नह्यत) प्रबल रूप से, भली प्रकार बांध लो।

(५१) रक्षा की प्रार्थना।

अंगिरा ऋषिः। इन्द्राबृहस्पती देवते। त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम् ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥ १

भा०—(बृहस्पतिः) बृहस्पति, बड़ों का स्वामी (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से या पश्चिम दिशा से (उत) और (उत्-तरस्मात्) उत्तर दिशा या ऊपर से (अधरात्) नीचे से या दक्षिण दिशा से (अघायोः) पापी, हत्यारे पुरुष के हाथ से (पातु) बचावे। (इन्द्रः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा (पुरस्तात्) आगे से या पूर्व दिशा से और (मध्यतः) बीच में से बचावे। और (नः) हमारा सखा अर्थात् परमात्मा या इन्द्र (सखिभ्यः) हम मित्रों के लिये (वरीयः) श्रेष्ठ पदार्थ या उत्तम कार्य (कृणोतु) करे, अथवा (सखा सखिभ्यः नः वरीयः कृणोतु) हममें से प्रत्येय मित्र-भाव से अन्यों को मित्र जान कर उनके लिये अपनी शक्ति से उत्तम से उत्तम कार्य करे.या उन्हें आश्रय दे।

इन्द्र और बृहस्पति राष्ट्रपक्ष में राजा के वाचक हैं। अध्यात्म में प्राण और परमेश्वर के।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि त्रयोदश त्रिंशच्चऽर्चः]

---

[५१] १—वरीवः कृणोतु इति ऋ०।

[५२] परस्पर मिलकर रहने का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । सांमनस्यकारिणावश्विनौ देवते। १ ककुम्मती अनुष्टुप्, २ जगती। द्व्यृचं सूक्तम् ॥

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ॥ १ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्वियो ! स्त्रीपुरुषो ! (नः) हमारा (स्वेभिः) अपने बन्धुओं के साथ (सं-ज्ञानं) उत्तम संमति, एकमति, मेल-जोल रहे, और (अरणेभिः) जो लोग हमें प्रिय नहीं लगते उनके साथ भी (सं-ज्ञानम्) हमारा मेल जोल बना रहे, (इह) इस समाज में (अस्मासु) हमारे बीच में (युवम्) तुम दोनों गृहस्थ में नव प्रविष्ट स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी होकर आये हो, तुम भी हम में (सं-ज्ञानम्) परस्पर मेलजोल (नि यच्छतम्) बनाये रक्खो । नया सम्बन्ध होने से, नव-बन्धुओं के घर में आते ही बहुत से कलह उत्पन्न होते हैं अतः उन प्रविष्ट गृहस्थों को यह उपदेश है ।

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तादिन्द्रस्याहन्यागते ॥२॥

भा०—हम लोग (मनसा) चित्त से सदा (सं जानामहै) आपस में मिल कर, सहमति करके रहा करें, और (सं चिकित्वा) उत्तम रीति से आपस के सब मामलों को समझ बूझ कर (दैव्येन) विद्वानों के (मनसा) मननशील चित्त के अनुसार होकर आपस में (मा युष्महि) फूट फूट कर, जुदा न रहें और (बहुले) बड़े (विनिर्हते) युद्धों के निमित्त (घोषाः) हाहाकार के शब्द (मा उत् स्थुः) न उठा करें और (अहनि आ-गते) युद्ध के दिन के उपस्थित हो जाने पर भी (इन्द्रस्य) इन्द्र अर्थात् राजा का (इषुः) बाण (मा पप्तत्) युद्ध

के निमित्त न चले या (इन्द्रस्य इषुः) राजा के बाण या ऐश्वर्यवानों के बाण गरीबों पर न पड़ें। हम मिल कर रहें, समझ बूझ कर विचार कर आपस में न फूटें, महायुद्ध संसार में न हों, युद्ध-दिन के उपस्थित हो जाने पर भी राजाओं के शस्त्रास्त्र एक दूसरे पर न गिरें या ऐश्वर्यवान् पुरुषों के गरीबों पर आक्रमण न हों।

[५३] दीर्घायु की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। आयुष्यकारिणो बृहस्पतिरश्विनौ यमश्च देवताः। १, २ त्रिष्टुप्, ३ भुरिक् त्रिष्टुप्, ४ उष्णिग्गर्भा आर्षी पंक्तिः, ५-७ अनुष्टुप्। सप्तर्चं सूक्तम्॥

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः॥१॥
यजु० २७। ६॥

भा०—हे (बृहस्पते:[1]) इन्द्रियों के पालक ! हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! (यद्) जब तू जीव (अमुत्र-भूयात्[2]) परलोक या परकालमें होनेवाले (यमस्य) सर्वनियामक, यमस्वरूप प्रभु की दी (अभि-शस्तेः) मरण-वेदना से अपने को (अमुञ्चः) मुक्त कर लेता है तब (अश्विना) अश्वि-गण अर्थात् प्राण अपान, (देवानां भिषजा) देवगण अर्थात् इन्द्रियां या विद्वज्जनों के चिकित्सक होकर (शचीभिः) अपनी शक्तियों के द्वारा (अस्मत्) हम से (मृत्युम्) देह और आत्मा के छूट जाने की घटना को (प्रति औहताम्) दूर करें। अथवा (अश्विनौ) शल्यतन्त्र और औषधतन्त्र के ज्ञाता दोनों प्रकार के चिकित्सक लोगों के मृत्यु के भय को दूर करें।

[५३] १-(प्र०) 'अमुत्रभूयादध' इति यजु०।

१—रुग्बुद्धावपि छान्दसः सोलोपाभावः इति सायणः।

२—अमुत्र। भूयात्। इति पदच्छेदः इति उव्वटः।

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम्।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥२॥

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! (सं क्रामतम्) तुम दोनों समान रूप से बराबर चलते रहो। (शरीरम्) शरीर को (मा जहीतम्) कभी मत छोड़ो। हे बालक ! (ते) तेरे प्राण और अपान दोनों (इह) इस शरीर में (स-युजौ) सदा साथ सहयोगी होकर (स्ताम्) रहें। और हे बालक ! तू (वर्धमानः) निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (शरदः शतम्) सौ बरस (जीव) जीवित रह। (अधि-पाः) सब प्राणों का अधिपति (वसिष्ठः) शरीर में सब से मुख्य रूप में वास करता हुआ, श्रेष्ठ वसु (अग्निः) प्राणरूप मुख्य जीव = अग्नि (ते) तेरा सब से उत्तम (गोपाः) रक्षक है।

प्राणरूप अग्नि का वर्णन आथर्वण प्रश्नोपनिषत् में—'स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।' छान्दोग्य उपनिषत् में भी प्राण अग्निका वर्णन है। वसिष्ठ-प्राण का वर्णन बृहदारण्यक उप० (६। १। ७) में—"ते ह इमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः। तद् होचुः को नो वसिष्ठ इति। तद् होवाच। यस्मिन् वः उत्क्रान्ते इदं शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति।" जिसके उत्क्रमण होने पर यह शरीर शव हो जाता है वही वसिष्ठ-अग्नि मुख्य-प्राण जीव है। पूर्व मंत्र में पठित 'अश्विनौ' इस मन्त्र में 'प्राणापानौ' कहे गये हैं और पूर्व मन्त्र में पठित 'अग्नि' को इस मन्त्र में 'अधिपा वसिष्ठः' पद से कहा गया है।

आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम्।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥३॥

भा०—हे बालक ! (ते) तेरा (यत्) यदि (आयुः) जीवनकाल (पराचैः) दूर भी (अति-हितम्) कर दिया हो तो भी (प्राणः

अपानः) प्राण और अपान (तौ) दोनों (पुनः) फिर भी (आ इताम्) इस देह में आजावें। (अग्निः) मुख्य-प्राण-रूप जीवन की अग्नि ही (निर्ऋतेः) अति कष्टमय मृत्यु के (उप-स्थात्) समीप से (तत्) उस आयु को (पुनः) फिर (आहाः) ले आता है। (तत्) उस आयु को (ते) तेरे (आत्मनि) देह में (पुनः) फिर भी (आवेश-यामि) प्रवेश करा दूं।

यदि शरीर में से प्राण-अपान के रुक जाने से जीवन की आशा दूर भी होजाय तो भी प्राण और अपान, श्वास और उच्छ्वास दोनों की गति ठीक कर देने पर जीवन पुनः अपने को सम्भाल सकता है। देह में इस प्रकार योग्य प्राणाचार्य पुनः जीवन प्रवेश करा सकता है।

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोवहाय परा गात्।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥४॥

भा०—(इमम्) इस बालक के शरीर को (प्राणः) प्राण (मा हासीत्) न छोड़े, और (अपानः उ) अपान वायु भी इसको (अव-हाय) छोड़कर (परा) दूर (मा गात्) न जाय। मैं पिता और आचार्य अपने बालक को (सप्तर्षिभ्यः) सात ऋषि, ज्ञानद्रष्टा प्राणों के अधीन (परि ददामि) सौंपता हूँ। (ते) वे सातों प्राण (एनम्) इस जीव को (जरसे) बुढ़ापे के काल तक (स्वस्ति) सुखपूर्वक (वहन्तु) पहुंचा दें।

प्र विशतं प्राणपानावनड्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों (व्रजम्) पशुशाला वा रथ में (अनड्वाहौ-इव) दो बैलों के समान इस देह में (प्रविशतम्) प्रवेश करो। (अयम्) यह बालक (जरिम्णः) वार्धक काल का भी (निधि) पात्र, ख़ज़ाना हो, अर्थात् वह बुढ़ापा भी लम्ब

भोगे और (अरिष्टः) बिना किसी प्राणबाधा के कुशल पूर्वक (इह) इस लोक में (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो।

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥

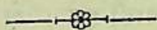
भा०—हे बालक ! (ते) तेरी (प्राणम्) प्राणशक्ति को (आ सुवामसि) तेरे समस्त शरीर में हम प्रेरित करते हैं। और (ते) तेरे (यक्ष्मम्) रोग को (परा सुवामि) दूर करते हैं। (अयम्) यह (अग्निः) मुख्य-प्राण ही (नः) हमारा (विश्वतः) सब प्रकार से (दधत्) भरण पोषण करता है और इसीलिये (वरेण्यः) सबसे श्रेष्ठ और सबके वरण करने योग्य है।

उद् वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ७ ॥

ऋ० १।५०।१० ॥ यजु० २७।१०॥ २०।२१॥

भा०—(वयम्) हम (तमसः) तमस, अन्धकार, अविद्या, अज्ञान, दुःख, इसके मूल पाप से (परि) दूर, ऊपर, (उत्) ऊंचे होवें और (उत्-तमम्) सबसे श्रेष्ठ (नाकम्) सुखमय परम पद को (उद्रोहन्तः) प्राप्त होते हुए (देव-त्रा) प्रकाशमान लोकों और ज्ञानवान् पुरुषों के भीतर (सूर्यम्) सूर्य के समान प्रकाशक, प्रेरक (उत्-तमम् ज्योतिः) सर्वोत्कृष्ट परम ज्योतिःस्वरूप (देवम्) उस परम देव प्रभु को (अगन्म) प्राप्त करें।

इस सूक्त में दीर्घ जीवन प्राप्त करने और उसमें परम प्रभु को प्राप्त कर मोक्ष पा लेने का उपदेश किया गया है।



७–'उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्। इति ऋ०। (च) 'स्वः पश्यन्त उत्तरम्' इति यजु०।

[५४] ज्ञान के भण्डार वेद।

१ ब्रह्मा,२ भृगुर्ऋषि। ऋक्सामनी देवते। अनुष्टुप्। द्व्यृचं सूक्तम् ॥

ऋचं साम॑ यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते॑ ।
एते सद॑सि राजतो यज्ञं देवेषु॑ यच्छतः ॥ १ ॥

भा०—हम विद्वान् लोग (ऋचम्) ऋग्वेद और (साम) सामवेद अर्थात् उसके मन्त्र-पाठ और गायन दोनों का (यजामहे) अपने शिष्यों को उपदेश करते हैं। (याभ्याम्) जिन दोनों के द्वारा (कर्माणि) समस्त यज्ञ कर्म, लौकिक और पारमार्थिक कर्म (कुर्वते) लोग किया करते हैं। (सदसि) इस संसार में (एते) ये ऋग्वेद और सामवेद दोनों ही (राजतः) प्रकाशमान हैं। और ये दोनों (देवेषु) विद्वानों के भीतर (यज्ञम्) यज्ञ का या प्रभु परमात्मा के स्वरूप का (यच्छतः) उपदेश करते हैं। उदरमेवाऽस्य यज्ञस्य सदः। श० ३। ५। ३। ५। प्रजापतेर्वा एतदुदरं यत्सदः। तां० ६। ४। ११ तस्मात् सदसि ऋक्सामभ्यां कुर्वन्ति। ऐन्द्रं हि सदः। श० ४। ६। ७। ३॥ तस्य पृथ्वी सदः। तै० २। १। ५। १। अर्थात् यज्ञका उदर भाग 'सदः' स्थान होता है। वह प्रजापति का उदर भाग है। वह इन्द्र विषयक है। उसमें ऋग्वेद और साम का पाठ होता है। वह पृथ्वी ही 'सदः' है। इसमें प्राणी विराजते हैं।

ऋचं साम॒ यदप्रा॑क्षं ह॒विरोजो॒ यजु॒र्बल॑म् ।
एष मा॒ तस्मा॒न्मा हिंसी॒द् वेदः॑ पृ॒ष्टः शची॑पते ॥ २ ॥

भा०—मैं (ऋचम्) ऋग्वेद से (यत्) जिस (हविः) ज्ञानमय साधन और (साम) साम से (ओजः) जिस आत्मिक बल और (यजुः) यजुर्वेद से जिस बाह्य क्रियामय शारीरिक बल को (अप्राक्षम्) प्राप्त करने या जानने की इच्छा करूं वह सब मेरी हिंसा नहीं करने वाला हो। हे (सची-पते) शक्तियों और वाणी के स्वामी आचार्य! (एषः)

यह (वेदः) सर्वोत्तम विज्ञानमय वेद अर्थात् अथर्ववेद (पृष्टः) इस प्रकार पूछा गया। (तस्मात्) इस कारण से (मा) मेरा (मा हिंसीत्) विनाश नहीं करता। ऋग्वेद से व्यवहार के साधनों का ज्ञान करे, साम से आत्मबल या ब्रह्मबल प्राप्त करे, यजुर्वेद से कर्मकाण्ड और क्षात्रबल का सम्पादन करे, तथा विज्ञानमय अथर्ववेद से विज्ञान को प्राप्त करे, इस प्रकार वेद या ईश्वरीय ज्ञान किसी के विनाश का कारण नहीं होता।

[५५] आनन्द की प्रार्थना।

भृगुर्ऋषिः। इन्द्रो देवता। विराट् परा उष्णिक्। एकर्चं सूक्तम् ॥

ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः।
तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो ॥ १ ॥ साम० प्र० २।८।८॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (ते) तेरे (ये) जो (पन्थानः) मार्ग या प्रेरक शक्तियाँ हैं (दिवः) जिन्होंने कि प्रकामान सूर्य तथा समग्र द्युलोक को भी (अव) अपने अधीन रक्खा हुआ है। (येभिः) जिन्हों से (विश्वम्) समस्त संसार को (ऐरयः) तू चला रहा है, (तेभिः) उन शक्तियों से हे (वसो) समस्त संसार को बसाने हारे प्रभो ! (नः) हमें (सुम्नया) सुखकारी दशा में (आ धेहि) रख।

अध्यात्म में—द्यौ = ब्रह्माण्डकपाल के नीचे जो प्राणमार्ग हैं जिन से (विश्वम्) समस्त देह प्रेरित, संचालित होता है। उन इन्द्रियों या प्राणों सहित हे वसो ! आत्मन् ! हमें (सुम्नया) सुम्ना = सुमना = सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा समाधि दशा में प्राप्त करा। विशेष देखो सामवेद भाष्य सं० [१७२]

[५५] १–'ये त मन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः। उत श्रोषन्तु नो भवः ॥ इति साम०। तत्र वामदेव ऋषिः। इन्द्रो देवता।

१. 'सुम्ने। आ' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः।

[५६] विषचिकित्सा ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः वृश्चिकादयो देवताः, २ वनस्पतिर्देवता, ४ ब्रह्मणस्पतिर्देवता । १-३, ५-८ अनुष्टुप् । ४ विराट् प्रस्तार पंक्तिः । एकर्चं सूक्तम् ॥

तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परि संभृतम् ।
तत् कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥ १ ॥

भा०—(इयम्) यह (वीरुत्) लता, ओषधि (तिरश्चि-राजेः) तिरछी धारियों वाले, (असितात्) काले नाग और (पृदाकोः) महा-नाग से (परि सम्-भृतम्) शरीर में प्रवेश कराये हुए (विषम्) विष को, और (कङ्क-पर्वणः) कौवे के समान पोरुओं वाले उड़ने सांप के (विषम्) विष को भी (अनीनशत्) विनाश करती है ।

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।
सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥

भा०—(इयम्) यह (वीरुत्) लता, ओषधि (मधु-जाता) मधु = पृथिवी से उत्पन्न है, (मधु-ला) मधु = आनन्द गुण को प्राप्त कराने वाली, (मधु-श्चुत्) मधुर रस को चुआने वाली (मधूः) मधु ही है, वह (वि-ह्रुतस्य) विशेष रूप से कुटिलगामी सर्पों के विषम विष की भी (भेषजी) उत्तम चिकित्सा है, (अथो) और (मशक-जम्भनी) मच्छर आदि विषैले कीटों का भी नाश करती है ।

सायण ने 'मधु' शब्द से मधुक ओषधि ली है—वह क्या है इसमें संदेह है । क्योंकि वह बहुतों का नाम है । परन्तु हमारी सम्मति में यह स्वतः 'मधु' = शहद है । मधु के गुण राजनिघण्टु में—

'छर्दिर्हिक्काविषश्वासकासशोषातिसारजित्'

मधु = वमन, हिचकी, विषवेग, सांस, दमा, खांसी और तपेदिक, अतिसार आदि का नाश करता है ।

'उष्णैर्विरुध्यते सर्वं विषान्वयतया लघु ।
उष्णार्त्तरूक्षैरुष्णैर्वा तन्निहन्ति तथा विषम् ।'

मधु उष्ण स्वभाव के पदार्थों से मिलकर हानि उत्पन्न करता है, वह स्वयं विष हो जाता है, इसलिए वह उस समय विष का भी नाश करता है ।

यतो॑ द॒ष्टं यतो॑ धी॒तं तत॑स्ते॒ निर्ह्व॑यामसि ।
अ॒र्भस्य॑ तृप्रदं॒शिनो॑ म॒शक॑स्यार॒सं वि॒षम् ॥ ३ ॥

भा०—हे विषार्त्त नाग से काटे हुए पुरुष ! तेरे शरीर में (यतः) जिस स्थान से (दष्टम्) नाग ने या विषैले जीव ने काटा है (यतः) और जिस स्थान से (धीतम्) रक्तपान किया है, (ततः) उसी स्थान से हम उसके विष को (निर्ह्वयामसि) बाहर कर दें । इस प्रकार (तृप्र-दंशिनः) भरपेट या अति शीघ्र काट लेने वाले (अर्भस्य) बालक सर्प का और (मशकस्य) मच्छरों का भी (विषम्) विष (अरसम्) निर्बल होजाता है ।

अ॒यं यो व॒क्रो विप॑रु॒र्व्य॑ङ्गो मुखा॑नि व॒क्रा वृ॑जि॒ना कृ॒णोषि॑ ।
तानि॒ त्वं ब्र॑ह्मणस्पत इ॒षीका॑मिव॒ सं न॑मः ॥ ४ ॥

भा०—विषों को वश करने की रीति लिखते हैं—हे (ब्रह्मणःपते) वेदविद्या के विद्वन् ! (यः) जो (अयम्) यह (वक्रः) टेढ़ा मेढ़ा (वि-परुः) सन्धिस्थानों में नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ (वि-अङ्गः) अङ्गों में विकार दिखाता हुआ, छटपटाता हुआ, काले नाग से काटा हुआ पुरुष (वृजिना) वर्जन करने योग्य या बलपूर्वक, असाध्य रूप से (मुखानि) मुखों को (वक्रा) टेढ़े मेढ़े (कृणोषि) करता है, (तानि) उनको (त्वम्) तू (इषीकाम् इव) सींक के समान (संनमः) झुका दे या सीधा कर दे ।

अथवा—यह मंत्र सर्प काटे पुरुष पर न लगकर सर्प पर भी लगता

है (अयं-यः) यह जो सर्प (वि-परुः) नाना पोरुओं वाला, (वि-अङ्गः) विचित्र शरीर का, (वृजिना) दुःखदायी प्रहार करने वाले, (मुखानि) मुखों को (वक्रा) टेढ़े करता है, फुंफकार फुंफकार कर मारता है। हे (ब्रह्मणस्पते) विद्वन्! (त्वम्) तू (तानि) उसके इन सब मुखों को (इषीकामिव सं नमः) सींक के समान झुका देता है। अर्थात् तेरे विचार और ओषधिबल से वह नाग अपने फन को धरती पर झुका लेता है। सायणादि भाष्यकारों ने उक्त मन्त्र की पूर्व रीति से व्याख्या की है। हमें दूसरी सहमत है।

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः।
विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥ ५ ॥

भा०—नाग-दमन का उपदेश करके अब उनके विष-संग्रह का उपदेश करते हैं। पूर्वोक्त रीति से (अरसस्य) मन्त्र अर्थात् विचार और औषध के बल से निर्बल हुए, और (नीचीनस्य) नीचे पड़े पड़े (उपसर्पतः) सरकते हुए (अस्य) इस (शर्कोटस्य) शर्कोट या कर्कोट नामक भयंकर महानाग के भी (विषम्) विष को मैं विषविद्या का वेत्ता पुरुष (आ-अदिषि) तोड़ डालता हूँ या ले लेता हूँ। उसको पकड़ कर उसके मुख से निकाल लेता हूँ, और फिर (एनम्) उस नाग को (अजीजभम्) मार डालूं या पकड़ कर अपने बन्धन में रखलूं।

न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः।
अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम् ॥ ६ ॥

भा०—हे वृश्चिक आदि कीट! (ते) तेरी (बाह्वोः) बाहुओं में (बलं न अस्ति) बल नहीं है, (न शीर्षे) न सिर में बल है, (उत) और (मध्यतः न) बीच भाग में भी बल नहीं है। (अथ) तो फिर (अमुया) इस (पापया) पापमय, दूसरे को कष्ट पहुंचाने वाली वृत्ति

से (किम्) क्या (पुच्छे) पूंछ में (अर्भकम्) छोटासा विषैला कांटा या थोड़ा सा विष (बिभर्षि) रक्खे हुए है ।

जिनकी पूंछ में विष है वे कीट सब उसी जाति के हैं जिनके बाहु, सिर और बीच के भाग में बल नहीं होता, प्रत्युत पापबुद्धि से प्रेरित होकर वे अपने पूंछ के थोड़े से विष से भी बहुतसा विनाश किया करते हैं। कदाचित् विष-पुच्छ सर्प भी होते हों जिनका कि यह वर्णन हो। अगले मन्त्र में 'शर्कोट' का पुनः वर्णन है ।

अ॒दन्ति॑ त्वा पि॒पीलि॑का॒ वि वृ॑श्चन्ति मयू॒र्यः॑ ।
सर्वे॑ भल ब्रवा॒थ शार्को॑टमर॒सं वि॒षम् ॥ ७ ॥

भा०—हे सर्प ! (त्वा) तुझे (पिपीलिका:) कीड़ियां (अदन्ति) खा जाती हैं। और (मयूर्यः) मोरनियां तथा मुर्गियां (वि वृश्चन्ति) तुझे नाना प्रकार से काट डालती हैं। हे पिपीलिकाओ, मुर्गियो और मोरनियो ! तुम जीवगण जो सर्प को खा जाती और काट फाट डालती हो (सर्वे) तुम सब (भल[1]) भली प्रकार (ब्रवाथ) बतला रही हो कि (शार्कोटम्) शर्कोट या कर्कोटक नाग का (विषम्) विष (अरसम्) निर्बल है। अर्थात् उसके विष का प्रबल प्रतिकार भी उपस्थित है।

य उ॒भाभ्यां॑ प्र॒हर॑सि॒ पुच्छे॑न चा॒स्ये॑न च ।
आ॒स्ये॒३॒ न ते॑ वि॒षं किमु॑ ते पुच्छ॒धाव॑सत् ॥ ८ ॥

भा०—(यः) जो तू (पुच्छेन च) पूंछ से भी और (आस्येन च) मुख से भी (प्रहरसि) प्रहार करता है, काटता है, (ते) तेरे (आस्ये) मुख में (विषं न) विष नहीं है (किम् उ) तो क्या वह (पुच्छ-धौ) पूंछड़ी में (असत्) है ।

(पुच्छधि:) 'पुच्छवत् आधीयते इति पुच्छधिः' पुच्छ के समान

१–'भल ब्रवाथ' इत्येकं पदं सह इति योगविभागात् तिङन्तेन समासः इति सायणः। 'भल ब्रवाथ' इति पदद्वयमिति पदपाठः ।

जिस अंग को धारण किया है वह 'पुच्छधिः' कहाता है। हिन्दी में 'पूंछड़ी' है ।

[५७] सरस्वती रूप ईश्वर से प्रार्थना ।

वामदेव ऋषिः । सरस्वती देवता । जागतं छन्दः । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो जनाँ अनु ।
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन ॥१॥

भा०—(जनान्) सर्वसाधारण लोगों के (अनु) हित के लिए उनके प्रति (मे वदतो) मेरे बोलते हुए (आशसा) उन द्वारा किए गए मेरे प्रति घात-प्रतिघात, पीड़ाकारी प्रयत्न, हिंसन आदि द्वारा मेरा (यत्) जो मन (वि-चुक्षुभे) विक्षोभ या व्याकुलता को प्राप्त हो, और (जनान् अनु चरतः) लोगों के हित के लिए उनके पास जा जा कर (याचमानस्य) भिक्षा करते हुए (यत् मे वि चुक्षुभे) जो मेरा मन विक्षोभ, व्याकुलता या बेचैनी को प्राप्त हो और (मे तन्वः) मेरे शरीर में और (आत्मनि) आत्मा तथा मनमें (यत् विरिष्टम्) जो विशेष रूप से क्षति आई हो, चोट पहुंची हो, (सरस्वती) विद्या देवी, (घृतेन) अपने ज्ञानमय और स्नेहमय घृत = मरहम से (तत्) उस घाव को (आ-पृणत्) पूरदे, भरदे, आरोग्य करदे। लोकहित के व्याख्यान देने और लोकहित के कामों में भिक्षा करने में शतशः लोकप्रवाद और दुरपवादों से जो मानस विक्षोभ, आघात, व्यथाएं और हृदय की चोटें उत्पन्न हों उनको आन्तरिक विज्ञानमयी हृदय-देवता सरस्वती भरदे। वह ज्ञानमयी देवी परमात्मा ही है ।

वाक् वै सरस्वती । श० ५।५।४।२५॥ योषा वै सरस्वती पूषा वृषा । श० ५।५।१।११॥ ऋक्सामे वै सारस्वतावुत्सौ । तै० १।४।४।९॥ सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपम् । कौ० १२।२॥ वाणी सरस्वती है। घर की स्त्री भी सरस्वती है। ज्ञानमय प्रभु की ऋग्वेद, सामवेद ये दोनों

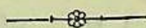
शरस्वती के दो स्रोत हैं। सरस्वती ज्ञानमय वज्र है, वह पुष्टिकर देवी है, आत्मा में बल उत्पन्न करती है।

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः ॥२॥
ऋ० १० । १३ । ५ ॥

भा०—(मरुत्वते शिशवे) सात मरुतों से युक्त, सात शिरोगत प्राणों से युक्त (शिशवे) इस शरीर में शयन करने वाले, अथवा अपने आत्मबल से शरीरपिण्ड में प्राणों के सातों मार्गों को बनाने वाले 'शिशु' नाम आत्मा के लिये या उसके निमित्त (सप्त) सातों प्राण (क्षरन्ति) गति करते हैं। ठीक ही है। क्योंकि (पित्रे) पिता के लिये (पुत्रासः) उसके लड़के (अपि) भी (ऋतानि) नाना कर्मों को (अवीवृतन्) किया करते हैं। इसी प्रकार वह शिशु आत्मा प्राणों का पालक और उत्पादक होने से पिता है, उस (पित्रे) पिता के लिये ये उससे उत्पन्न प्राण उसके पुत्र हैं और 'पुरुत्रायते इति पुत्रः' इस निरुक्त-वचन के अनुसार आत्मा की नाना प्रकार से रक्षा करने से भी ये पुत्र हैं, इस प्रकार ये (पुत्रासः) प्राण रूप पुत्रगण (ऋतानि) सत्य, यथार्थ ज्ञान प्राप्तिरूप व्यापारों को (अपि) भी (अवीवृतन्) किया करते हैं। और (अस्य) इस आत्मा के (इत्) ही (उभे) ये दोनों (राजतः) सदा प्रकाशमान, जीवित जागृत हैं। (अस्य) इसके ही निमित्त (उभे यतेते) दोनों प्रयत्न करते हैं। और (उभे) दोनों ही (अस्य) इसको ही (पुष्यतः) पुष्ट करते हैं, इसको सबल बनाये रखते हैं। अथवा—इस मन्त्र में ३ वार 'उभे' आया है अतः (अस्य इत् उभे) ये दोनों कान उसी के हैं (अस्य उभे राजतः) दोनों

(द्वि०)—'अप्यवीवतन्नृतम्' (तृ०) 'उभे इदस्योभयस्य', (च०) 'उभयस्य पुष्यतः' इति ऋ०।

आँखें उसी की चमकती हैं (उभे अस्य यतेते) दोनों नाके उसके लिए गति करती हैं (उभे अस्य पुष्यतः) रसना और मुख दोनों उसको पुष्ट करते हैं। सातों शीर्षण्य प्राणों का इस प्रकार वर्णन कर दिया है। पूर्व मन्त्र में इसी आत्मा-रूप-सरस्वती का वर्णन है। "पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूः।" कठवल्ली ३।१। 'अपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः'। तै० सं० १८। २२।१॥ "सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। ऋ० ८।६९। १२। 'मरुत्वत्, पद के सामर्थ्य से मरुत्वान् 'इन्द्र' है। "इन्द्रोऽस्मान् अरदद् वज्रबाहुः अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्। (ऋ० ३।३३।६) ये सब मन्त्रगण उसी इन्द्र आत्मा का वर्णन करते हैं जो उपनिषद् में प्रजापति रूप होकर अण्ड में ७ प्राणों से सात छिद्र करता हुआ वर्णन किया गया है। 'सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत्। तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत मुखाद् वाग्, वाचोऽग्निः। नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः, प्राणाद्वायुः। अक्षिणी निरभिद्येताम्, अक्षीभ्यां चक्षुषी, चक्षुष आदित्यः। कर्णौ निरभिद्येतामित्यादि समस्त प्रकरण में 'शिशु आत्मा' और 'अपांशिशु' का अध्यात्म वर्णन किया है। इसी के लिये बृहदारण्यक में लिखा है—'अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः (आत्मा) तमेताः सप्त अक्षितयः उपतिष्ठते।..........तदेष श्लोको भवति—"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः, सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥ इत्यादि (बृ० उ० २।२।१–४)



[५८] अध्यात्म सामरस-पान।

कौरुपथिर्ऋषिः। मन्त्रोक्ताविन्द्रवरुणौ देवते। १ जगती, २ त्रिष्टुप्। द्व्यृचं सूक्तम्॥

इन्द्रा॑वरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं॑ पिबतं मद्यं॑ धृतव्रतौ।

---

[५८] १–(द्वि०) 'धृतव्रता'। (तृ०) 'अध्वरं'। (च०) 'याति' इति ऋ०।

अस्य ऋग्द्वयस्य ऋग्वेदे भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः।

युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये ॥१॥
ऋ० ६ । ६८ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण आप दोनों (सुत-पौ) सोम अर्थात् ज्ञान का और आभ्यन्तर आनन्द का पान करने हारे हो । अतः (मद्यम्) हर्ष और तृप्तिजनक (सुतम्) इस उत्पादित (सोमम्) ज्ञान और आनन्द-रस को (धृत-व्रतौ) स्थिर, नियत, कर्मनिष्ठ और समस्त कर्मों को धारण करने में समर्थ होकर (पिबतम्) पान करो, (युवोः) तुम दोनों के भीतर (रथः) रमण करने वाला (अध्वरः) कभी न हिंसित, सदा जीवित, अमर, यज्ञमय आत्मा (देव-वीतये) देव = इन्द्रियगणों से प्राप्त ज्ञान का भोग करने के लिये और (पीतये) विचार धारण में प्रतिदिन आनन्द रस पान करने के लिये (प्रति स्व-सरम्) प्रति देहरूप घट में (उप यातु) प्राप्त हो, अथवा (प्रति स्व-सरम् उप यातु) देह के प्रत्येक स्वयं सरण करने योग्य इन्द्रियों में व्याप्त हो अथवा प्रतिदिन प्राप्त हो ।

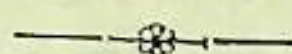
इन्द्रावरुणा मधुमत्तस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम् ।
इदं वामन्धः परिषिक्तमासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयेथाम् ॥ २ ॥
ऋ० ६ । ६८ । ११ ॥

भा०—(इन्द्रावरुणा) हे इन्द्र और वरुण ! प्राण और अपान ! तुम दोनों (मधुमत्-तमस्य) सबसे अधिक आनन्दमय (वृष्णः) वीर्यवान्, (सोमस्य) रसों के रस एवं सब प्राणों के प्रेरक, आत्मा के (वृषणौ) तर्पक हो । आप दोनों (वृषेथाम्) भीतर सब प्रकार के सुखों का वर्षण करो । (इदम्) यह (वाम्) तुम दोनों के लिये (अन्धः) जीवन धारण करने में समर्थ अन्न आदि भोग्य पदार्थ (परि-सिक्तम्)

२-(तृ०) 'परिषिक्तमस्मे आसद्या' इति ऋ० ।

सब ग्रह या पात्र रूप इन्द्रियों के मुखों में रक्खा है। आप दोनों (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) वृद्धिशील, उद्यमशील, श्रमयुक्त देहरूप यज्ञ में, कुशासन पर विराजमान ब्राह्मणों के समान (आ-सद्य) विराज कर (मादयेथाम्) आनन्दित, हर्षित एवं तृप्त होओ। यज्ञ में ग्रह-पात्रों में सोम भर कर इन्द्र वरुण का आह्वान करना, प्रतिनिधिवाद से, आत्मा की देहमय-वेदि और इन्द्रियरूप यज्ञपात्रों में ज्ञानकर्ममय सोमरस को भर कर आत्मगत प्राण-अपान को तृप्त करना ही है।

तं सोमं अघ्नन्। तस्य यशो व्यगृह्णत। ते ग्रहा अभवन्। तद् ग्रहाणां ग्रहत्वम्। तै० २।२।८।६॥ तद् यदेनं पात्रैर्व्यगृह्णत तस्माद् ग्रहा नाम। श० ४।१।३।५॥ ते देवाः (इन्द्रियमात्राः) सोममन्वविन्दन्। तमघ्नन्। तस्य यथाभिज्ञायं तनूर्व्यगृह्णत ते ग्रहा अभवन्। तद् ग्रहाणां ग्रहत्वम्। श० ४।६।५।१॥ अष्टौ ग्रहाः। श० १४।६।२।१॥ प्राणा वै ग्रहाः। श० ४।२।४।१३॥



[५९] निन्दा का प्रतिवाद।

बादरायणिर्ऋषिः। मन्त्रोक्तोऽरिनाशना देवता। अनुष्टुप् छन्दः।

एकर्चं सूक्तम्॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्।
वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु॥ १॥

भा०—(यः) जो (अशपतः) निन्दा न करते हुए भी (नः) हमें (शपात्) बुरा भला कहे। और (यः च) जो (शपतः) प्रतिवाद रूप में बुरा भला कहते हुए (नः) हमें (शपात्) और बुरा भला कहे वह (विद्युता हतः) बिजली की मार से मरे हुए (वृक्ष इव) वृक्ष के

समान (आ मूलात्) चोटी से जड़ तक (अनु शुष्यतु) सूख जाता है। व्यर्थ का निन्दक और प्रतिनिन्दक दोनों ही असत्य और मानस पाप से सूख जाते हैं।

॥ इति पन्चमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तान्यष्टौ ऋचश्च पन्चाविंशतिः ।]

[६०] गृह-स्वामि और गृह-बन्धुओं के कर्त्तव्य ।

ब्रह्मा ऋषिः । रम्या गृहाः वास्तोष्पतयश्च देवताः, १ परोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्, २–७ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

ऊर्जं बिभ्रद्वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥ १ ॥

यजु० ३ । ४१ ॥

भा०—मैं गृहपति जब (गृहान्) अपने घर, स्त्री, पुत्र आदि के पास (एमि) आऊँ तब (ऊर्जम्) पुष्टिकारक अन्न को (बिभ्रत्) लिये हुए आऊं। और आकर (वसु-वनिः) आवासयोग्य अन्न, वस्त्र, धन आदि को सब में बाटूं और (सु-मेधाः) उत्तम शुद्ध बुद्धि से युक्त होकर (अघोरेण) अघोर, सौम्य, प्रसन्न (मित्रियेण) स्नेहपूर्ण (चक्षुषा) दृष्टि से सबको देखूं और (सु-मनाः) शुभ प्रसन्नचित्त होकर सबको (वन्दमानः) नमस्कार करूं। हे गृह के वासियो ! और स्त्रियो ! भाइयो ! (रमध्वम्) आप लोग आनन्द-प्रसन्न रहो, (मत्) मुझसे (मा बिभीत) किसी प्रकार का भय मत करो।

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥ २ ॥

[६०] १–"गृहा मा बिभीत, मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि । ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः" इति यजु० ।

भा०—(इमे गृहाः) ये हमारे घर परिवार (मयः-भुवः) सुख आनन्द के उत्पादक, (ऊर्जस्वन्तः) धन धान्य आदि से पूर्ण, (पयस्वन्तः) घी दूध मक्खन से भरपूर, (वामेन) धन से (पूर्णाः) भरे पूरे (तिष्ठन्तः) रहकर (ते) वे (आयतः) बाहर से आते हुए (नः) हम लोगों को अभ्युत्थान द्वारा (जानन्तु) जानें, सत्कार करें।

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॑न् येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः।
गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्त्वाय॒तः ॥ ३॥

यजु० ३ । ४२ ॥

भा०—(प्र-वसन्) प्रवास में गया हुआ पुरुष (येषाम्) अपने जिन सम्बन्धियों का (अधि एति) नित्य स्मरण किया करता है, और (येषु) जिनके प्रति या जिन पर वह (बहुः) बहुत बार, बहुधा, (सौमनसः) उत्तम चित्तवाला, सुप्रसन्न एवं कृपालु या जिनके विषय में वह बहुत बार नाना प्रकार के शुभ संकल्प किया करता है, उन (गृहान्) घर परिवार के बन्धुओं को, हम सदा (उप ह्वयामहे) याद करें, बुलावें, जिससे (ते) वे (नः) हमें (आ-यतः) पुनः घर पर आते हुवों को (जानन्तु) जानें और हमें प्रेम से मिलें।

उप॑हूता भूरि॑धनाः सखा॑यः स्वा॒दुसं॑मुदः।
अ॒क्षु॒ध्या अ॑तृ॒ष्या स्त॒ गृहा॒ मास्मद् बि॑भीतन ॥ ४॥

भा०—(भूरि-धनाः) बहुत धनाढ्य, (स्वादु-संमुदः) स्वादु, सुखकारी, मिष्टान्न आदि पदार्थों में एकत्र होकर आनन्द लेने वाले, (सखायः) मित्रगण, (उप-हूताः) नाना अवसरों पर, बुलाये जाया करें। और हे (गृहाः) घर के सम्बन्धी लोगो ! आप लोग (अक्षुध्याः) भूख से पीड़ित न होकर सदा तृप्त रहो, और (अतृष्याः स्त) कभी प्यासे न रह कर सदा तृप्त, भर-पूर रहो, (अस्मत्) हम से (मा बिभीतन) भय मत करो।

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥ ५ ॥

यजु० ३ । ४३ ॥

भा०—(इह) इस घर में (गावः) गौएं (उप-हूताः) लाई जावें, (अज-अवयः) बकरियां और भेड़ें भी (उप हूताः) लाई जावें, (अथो) और (अन्नस्य) अन्न का (कीलालः) सारभूत अंश अर्थात् अन्नों में से भी उत्तम २ बलकारी सारवान् अन्न (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (उप-हूतः) लाया जावे ।

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥ ६ ॥

भा०—हे (गृहाः) हमारे गृह और परिवार के बन्धुजनो ! आप लोग सदा (सूनृता-वन्तः) सत्यभाषण किया करो, (सु-भगाः) सदा उत्तम भाग्यशाली, सम्पन्न और (इरा-वन्तः) धन धान्य से युक्त रहो। नित्य (हसा-मुदाः) हँसमुख, प्रसन्न रहो । सदा (अतृष्याः) तृष्णा रहित और (अक्षुध्याः) विना भूख के, सदा तृप्त (स्तः) रहो । और (अस्मद्) हमसे (मा बिभीतन) भय मत करो ।

इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।
ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥ ७ ॥

भा०—हे गृह के बन्धुजनो ! आप लोग (इह एव) इस गृह में ही (स्त) सुख से रहो । (मा अनु गात) जब हम विदेश जावँ तो हमारे पीछे २ मत जाओ, यहां ही (विश्वा) समस्त (रूपाणि) धन और गौ आदि पशुओं को (पुष्यत) पुष्ट करो । मैं विदेश से (भद्रेण सह) कल्यान और सुखकारी पदार्थों सहित (आ-एष्यामि) लौट आऊंगा और (मया) मेरे द्वारा ही आप लोग (भूयांसः) खूब सम्पन्न

(भवत) होकर रहो। गृह, परिवार, पुत्र, भाई, स्त्री, बन्धुओं के संग सदा ऐसा ही व्यवहार करते रहें जिससे सब को सुख हो, सम्पत्ति और परस्पर प्रेम बढ़े।



[६१] तपस्या का व्रत।

अथर्वा ऋषिः। अग्निर्देवता। अनुष्टुभौ। द्व्यृचं सूक्तम्॥

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः।
प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः॥ १॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! परमात्मन् और तत्प्रतिनिधे ब्रह्मन्! आचार्य! (यत्) जो (तपः) तप, (तपसा) ब्रह्मज्ञान द्वारा किया जाता है, उसी (तपः) तप को हम भी (उप-तप्यामहे) करना चाहते हैं। (श्रुतस्य) ब्रह्म, वेदज्ञान के (प्रियाः) प्यारे (भूयास्म) हों, और (आयुष्मन्तः) आयुष्मान्, दीर्घजीवी और (सु-मेधसः) उत्तम पवित्र धारणावती बुद्धि से युक्त हों।

अग्ने तपस्तप्यामह उपतप्यामहे तपः।
श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्यमन्तः सुमेधसः॥ २॥

भा०—हे (अग्ने) ब्रह्मन्! आचार्य! ज्ञानमय, ज्ञानप्रकाशक! हम (तपः) तप (तप्यामहे) करें, और (तपः) तपस्वरूप आत्मा और ब्रह्म की ही (उप तप्यामहे) उपासना या ज्ञान करें। हम (श्रुतानि) वेदवाक्यों का (शृण्वन्तः) श्रवण करते हुए (सु-मेधसः) उत्तम बुद्धि सम्पन्न और (आयुष्मन्तः) दीर्घायु होकर रहें।

'तप पर्यालोचने' इति धातुपाठः। वेद का पर्यालोचन, साक्षात्कार और अनुशीलन करना 'तप' है। ऋत, सत्य, तप, शम, दम, यज्ञ, मनुष्यसेवा, प्रजोत्पादन, प्रजारक्षण, प्रजावर्धन और स्वाध्याय तथा प्रवचन

करना यही तप है। राथीतर आचार्य सत्यपालन को तप कहते हैं। पौरुशिष्ट आचार्य 'तप' को ही तप कहते हैं। वास्तव में ऋत आदि सभी 'तप' हैं। ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपः, दानं तपो यज्ञस्तपो, भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः। (तैत्तरीय आरण्यक प्रपा० १०। अनु० ८) तैत्तिरीयारण्यक में ऋत आदि क्यों तप हैं इसकी विस्तृत व्याख्या देखने योग्य है। 'मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं तप उच्यते'। मन और इन्द्रियों का दमन ही तप है।

[६२]

कश्यपो मारीच ऋषिः। अग्निर्देवता। जगती छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्तीनजयत् पुरोहितः।
नाभा पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः॥१॥

यजु० १५। ५१॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर और आचार्य, राजा, (सत-पतिः) सज्जन पुरुषों और सद् ब्रह्मचारियों का पालक, (वृद्ध-वृष्णः) महाबलशाली, आयु में वृद्ध, और अर्थात् ज्ञान-वृद्ध-पुरुषों द्वारा बलवान्, (पुरः-हित) मुखिया सब के आगे प्रधान पद पर स्थापित होकर, (रथी इव) रथी जिस प्रकार (पत्तीन्) पैदल सैनिकों पर (अजयत्) विजय पा लेता है उसी प्रकार यह भी विषय वासना रूपी शत्रुओं तथा देश के शत्रुओं पर विजय पाये हुए है। (पृथिव्याम्) विस्तृत संसार की (नाभा) नाभि अर्थात् केन्द्र में (निहितः) स्थापित सूर्य जिस प्रकार (दविद्युतत्) निरन्तर सब को प्रकाशित कर रहा है इसी प्रकार परमेश्वर सब संसार को प्रकाशित करता है, आचार्य शिष्यगण को विद्या से प्रकाशित करता है और राजा

राष्ट्र में ज्ञान का प्रकाश करता है। (ये) जो (पृतन्यव:) कामादि दुश्मन और हमारे देश के दुश्मन पृतना = सेना लेकर हम पर चढ़ आवें, (अधः पदं कृणुताम्) उन्हें आप नीचा करें, कुचलें।



[६३] राजा का आमन्त्रण।

मरीचिः काश्यप ऋषिः। जातवेदा देवता। जगती छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात् सधस्थात्।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोति दुरितान्यग्निः॥ १॥

भा०—(पृतना जितम्) सेनाओं द्वारा संग्राम का विजय करने वाले, (सहमानम्) शत्रु को दबाने वाले, (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी परन्तप राजा की, उसके (परमात्) परम अर्थात् सबसे उत्कृष्ट होकर हमारे बीच में (सध-स्थात्) हमारे साथ रहने के कारण, (हवामहे) हम स्तुति करते हैं, उसको अपनी रक्षा और शिक्षा के लिये आदर से बुलाते हैं, क्योंकि (सः) वह (नः) हमें (विश्वा) समस्त (दुः-गानि) दुर्गम स्थानों से (अति पर्षद्) पार कर देता है। और वही (देवः) सर्व व्यवहारकुशल राजा, (अग्निः) अग्नि के समान समस्त पापों को भस्म करनेहारा, दुष्टों का तापकारी (दुः-इतानि) सब दुष्ट कर्मों का (अति क्षामद्) सर्वथा नाश करे।



[६३] १—ह्वैनरी-ह्विटनि आदयः 'क्षामद्' इत्यस्य स्थाने 'क्रामद्' इति वाञ्छन्ति। तदयुक्तम्। क्वापि तथानुपलम्भात्। 'क्षामद्' इति नाशकरणार्थस्य क्षायतेः क्षान्तस्य णिचि लेटि रूपम्।

[६४] पाप से छूटने का उपाय ।

यम ऋषिः । कृष्णः शकुनिर्निर्ऋतिर्वा मन्त्रोक्ता देवता । १ भुरिग् अनुष्टुप्, २ न्यंकुसारिणी बृहती छन्दः । द्वयृचं सूक्तम् ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥१॥

भा०—(इदम्) यह (यत्) जो (कृष्णः) काला या मनको अपनी तरफ आकर्षण करने वाला (शकुनिः) शक्तिमान् प्रबल पाप या पाप का भाव (अभि निः-पतन्) चारों ओर से बड़े वेग से हमारे आत्मा पर आवरण करता हुआ, मंडराता हुआ, झपटता हुआ (अपीपतत्) हमको गिराता है, हमारे ऊपर आक्रमण करके हमें पाप के मार्गों में ढकेलता है, (आपः) परमात्मा की व्यापक शक्तियां जो मुझे प्राप्त हैं वही (तस्मात्) उस (सर्वस्मात्) सब प्रकार के (दुः-इतात्) दुष्ट-कर्ममय (अंहसः) प्रबल पाप से (पान्तु) बचावें । काले काक के स्पर्श से उत्पन्न पाप से बचने के लिए जलों से प्रार्थना मान कर सायण और तदनुयायी पाश्चात्य पण्डितों ने व्याख्या की है वह असंगत है। उन्होंने यम ऋषि और निर्ऋति अर्थात् पाप देवता पर विचार नहीं किया।

इदं यत् कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन ।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

भा०—हे (निः-ऋते) आत्मा को नीचे ले जाने वाली निर्ऋते ! पापप्रवृत्ते ! जन्ममरणकारिणी मृत्युदेवते ! (इदं यत्) यह जो (कृष्णः) काला, तामस, मन को अपहरण करने वाला, (शकुनिः) अतिप्रबल विषयविक्षेप हमें, (ते) तेरे (मुखेन) स्वरूप से (अव-अमृक्षत्[1]) नीचे

---

१. मृश अवमर्शने (तुदादिः०) मृक्ष संघाते (भ्वादिः) इत्यनयोरेकतरस्य रूपम् ॥

गिरा देता है, या हमसे बन्धन रूप में संसक्त हो जाता है, (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से (गार्हपत्यः) गार्हपत्य, गृहपति आत्मा का हितकारी प्राणरूप अग्नि ही (माम्) मुझको (प्रमुञ्चतु) भली प्रकार मुक्त करे। प्राणायाम के बल से हम पाप से छूटने का उद्योग करें। पाप का संकल्प चित्त में आते ही यदि प्राणायाम करें तो प्रबल पापवासना निर्मूल हो जाती है और मृत्यु का भय भी दूर होता है। प्रथम मन्त्र में प्रभु की शक्तियों के स्मरण से और दूसरे मन्त्र में देह-रूप गृह के पति आत्मा की मुख्य शक्ति अर्थात् प्राणमय-अग्नि की साधना से पाप से मुक्त होने का उपदेश है।

प्रजापतिः गार्हपत्यः। ऐ० ८। २४॥ एष एव (आत्मा) गार्हपत्यो यमो राजा (श० २। ३। २। २)।

---

[६५] पापनिवारक 'अपामार्ग' का स्वरूप वर्णन।

दुरितापमृष्टिप्रार्थी शुक्र ऋषिः। अपामार्गवीरुद् देवता। अनुष्टुप् छन्दः। तृचं सूक्तम्॥

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः॥ १॥

भा०—हे (अपामार्ग) अपामार्ग लते! (त्वम्) तू जिस प्रकार (प्रतीचीनफलः) अपने फलों को अपने से छूने वाले के प्रति कष्टदायी होकर अपने फलों को उसको वस्त्रों से चिपटा देती है इसलिये 'प्रतीचीनफल' वाली होकर (रुरोहिथ) उगा करती है। इसलिये तेरे पास कोई नहीं जाता। इसी प्रकार हे (अपामार्ग) पाप क्लेशों को दूर से परे रखने वाले पुरुष! तू भी (प्रतीचीनफलः) अपने शत्रुओं के लिये विपरीत फल उत्पन्न करने वाले कामों को करता हुआ (रुरोहिथ) वृद्धि को प्राप्त हो। और (मत्) मुझ से (सर्वान्) समस्त (शपथान्) आक्रोश या

निन्दाजनक भावों को (इतः) अभी इसी काल से (वरीयः) सर्वथा (अधि यवय) परे कर। अथवा अपामार्ग शब्द से आत्मा का ही सम्बोधन किया गया है। हे (अपामार्ग) कर्मपरिशोधक आत्मन् ! तू (प्रतीचीन-फलः) प्रत्यक्, साक्षात होकर ही फलने हारा या स्वतः फलरूप होकर (रुरोहिथ) अधिक बलवान् पुष्ट होता है। तू मुझसे (शपथान्) सब पाप भावों को (इतः) यहां इस देह से (अधि यवय) दूर कर। देखो अथर्व० ४। १९। ७॥

यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया।
त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे ॥ २ ॥

भा०—हम (पापया) पापकारिणी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर (यद्) जो (दुष्कृतम्) दुष्ट काम और (यत् शमलं) जो मलिन, कलंक-जनक, घृणित कार्य (यद् वा) अथवा अन्य भी जो कुछ (चेरिम) करते हैं, हे (अपामार्ग) पापों को दूर करने हारे प्राण ! (तत्) उसको (त्वया) तेरे बल से, हे (विश्वतः-मुख) सर्वतोमुख ! अर्थात् सब शरीर में व्याप्त होने वाले ! (अप मृज्महे) हम दूर करते हैं।

श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) और जो (श्याव-दता) काले दांत वाले, मलिन मुख, दन्तधावन न करने वाले, व्यसन से मलिन पदार्थ अर्थात् मांस आदि को खाने वाले, (कु-नखिना) बुरे नखों वाले, (बण्डेन[1]) और लड़ाके या परस्पर फूट डालने वाले, चुगलखोर के साथ (आसिम)

[६५] १ वण्डेन नपुंसकेनेति सायणः। भग्नाङ्ग इति ह्विटनिः, बडि विभाजने इति धातोः पचाद्यच्। बण्डो विभाजकः।

बैठें तो हे (अपामार्ग) पापों को दूर करने हारे ! (त्वया) तेरे बल पर (तत् सर्वं) उस पर दुष्प्रभाव को (अप मृज्महे) हम दूर करें ।

—•—

[६६] ब्रह्मज्ञान के धारण का यत्न ।

ब्रह्मा ऋषिः । ब्राह्मणं ब्रह्म वा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु ।
यदस्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥ १ ॥

भा०—(यदि) जो (उद्यमानम्) अध्ययन के समय में गुरुमुख से बहता हुआ ब्रह्मज्ञान या वेदाध्ययन करते समय उसका तात्विक श्रवण (अन्तरिक्षे) मेघ के होने पर, (यदि वाते) प्रचण्ड वायु के चलने पर (यदि वृक्षेषु) और वृक्षों के भीतर पक्षी आदि के विघ्न करने पर (यदि वा उलपेषु) या तृण, घास, धान के खेत आदि के बीच में इधर उधर के दृश्यों या कीट पतङ्गों के विघ्नों से, और (यत् पशवः = पशुषु) पशुओं के बीच में उनकी चपलता के कारण (अस्रवन्) मेरे कान में आकर भी निकल गया है–विस्मृत हो गया है (तत्) वह (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञान (पुनः) फिर (अस्मान्) हमें (उपैतु) प्राप्त हो ।

हमने जिन विघ्नों का निर्देष किया है उनको ही देख कर आपस्तम्बमें वेदाध्ययन और अध्यापन का निम्नलिखित स्थानों और अवसरों पर निषेध किया है । "नाभ्रे, न च्छायायां, न पर्यावृत्ते आदित्ये, न हरितयवान् प्रेक्षमाणो, न ग्राम्यस्य पशोरन्ते, नारण्यस्य, नापामन्ते । (आप० १५ । २१ । ८)

[६७] शरीरस्थ अग्नियें ।

ब्रह्मा ऋषिः । आत्मा देवता । पुरः परोष्णिग् बृहती । एकर्चं सूक्तम् ॥

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ १ ॥

भा०—(मा) मुझे (इन्द्रियं) इन्द्रियों का सामर्थ्य, बल (पुनः) फिर प्राप्त हो। अथवा मुझे इन्द्र, परमेश्वर का बल अथवा चक्षु आदि इन्द्रियगण पुनः पुनः प्राप्त हों। (आत्मा) मन, जीव और देह (द्रविणम्) धन और (ब्राह्मणं च) ब्रह्मज्ञान भी पुनः पुनः प्राप्त हो। (धिष्ण्याः) आधान के स्थान में विहरण करने वाले (अग्नयः) अग्नियां, आहवनीय, गार्हपत्य और अन्वाहार्यपचन आदि (यथा स्थाम्) अपने अपने स्थानों पर (इह एव) इस लोक में, देह में, गृह में भी (पुनः) बार बार (कल्पन्ताम्) प्रज्वलित हों, समर्थ हों। शरीरस्थ अग्नियों का विवरण प्राणाग्निहोत्र उपनिषत् के अनुसार इस प्रकार है। (१) सूर्य-अग्नि 'एक ऋषि' होकर मूर्धास्थान पर विराजती है। (२) दर्शनाग्नि आहवनीयाग्नि होकर मुख में बैठती है। (३) शारीर अग्नि, जठर में हवि प्राप्त करती है, वही दक्षिणाग्नि होकर हृदय में बैठती है। (४) कोष्ठाग्नि गार्हपत्य होकर हृदय में रहती है। (५) उससे नीचे प्रायश्चित्ती अग्नियें प्रजननांग में रहती हैं। ये पांचों शरीर धारण करने से और शरीर में विद्यमान रहने से 'धिष्ण्य' कहाती हैं। अथवा 'धिषणा' बुद्धि द्वारा प्रेरित होने से 'धिष्ण्य' कहाती है।



[६८] स्त्री के कर्त्तव्य।

शंतातिर्ऋषिः। सरस्वती देवता। १ अनुष्टुप्, २ त्रिष्टुप्, ३ गायत्री। तृचं सूक्तम्॥

सर॑स्वति व्र॒तेषु॑ ते दि॒व्येषु॑ देवि॒ धाम॑सु।
जु॒षस्व॑ ह॒व्यमाहु॑तं प्र॒जां दे॑वि ररास्व नः॥ १॥

भा०—हे (सरस्वति) सरस्वती रस-अन्न आदि से गृह भर को पुष्ट करनेहारी स्त्रि! (ते) तेरे कार्यों में और (दिव्येषु) दिव्य, रमण करने योग्य या व्यवहार करने योग्य (धामसु) तेजों, सामर्थ्यों में

हमारा (आ-हुतम्) दिया हुआ (हव्यम्) स्वीकार करने योग्य पदार्थ ही (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर और (नः) हम गृहपतियों को हे (देवि) देवि ! (प्रजां) प्रजा का (रास्व) प्रदान कर। स्त्रियां पतियों के प्रदान किये समस्त पदार्थों को प्रेम से स्वीकार करें और गृह में उत्तम सन्तान उत्पन्न करें। विद्या को लक्ष्य करके—हे सरस्वती ! हम तेरे (व्रतेषु) नियमपूर्वक अध्ययन-अध्यापन, दिव्य सामर्थ्यों में अपना (आ-हुतं) मनोयोग प्रदान करते हैं उसे स्वीकार कर, हमें प्रज्ञा प्रदान कर। दो ही प्रकार के पुत्र हैं एक विद्यासम्बन्ध से और दूसरे योनिसम्बन्ध से। विद्या सम्बन्ध से भी गोत्र चलते हैं और योनिसम्बन्ध से भी।

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं यत्।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥२॥

भा०—हे (सरस्वति) सरस्वती देवि ! प्रियतमे ! (ते हव्यम्) तेरा भोज्य पदार्थ (इदम्) यह (घृतवत्) घृत आदि पुष्टिकारक, गर्भ-पोषक पदार्थों से युक्त हो। (इदम्) यही (पितॄणाम्) बालकों के उत्पादक पिता लोगों का भी (हविः) अन्न है। (यत्) जो (आस्यम् = आश्यम्) खाने योग्य है। (ते) तेरे (इमानि) ये (उदितानि) उच्चारण किये वाक्य वा जलयुक्त अन्न, (शं-तमानि) बहुत कल्याण-कारी और सुखकारी हों। और (वयम्) हम (तेभिः) उन तेरे मधुर वचनों और अन्नों से ही (मधुमन्तः) हृदय में आनन्द और हर्षयुक्त (स्याम) हों।

विद्यापक्ष में—हे विद्ये सरस्वति ! यह तेरा प्राप्त करने योग्य तेजो-मय रूप है जिसको पितृ = पालक गुरु आदि भी प्राप्त करते हैं (यत् आस्यम्) और जो शिष्यों के प्रति देने योग्य है। तेरे समस्त वचन कल्याणकारी हों और उनसे हम मधुमान् या ज्ञानी और आनन्दमय रहें।

शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति ।
मा ते युयोम संदृशः ॥ ३ ॥

भा०—हे (सरस्वति) स्त्रि या विद्ये ! तू (नः) हमारे लिए (शिवा) शुभ और (शं-तमा) अति कल्याण और सुखकारिणी (सु-मृडीका) अति आनन्द और हर्षजनक (भव) हो । (ते) तेरी (सं-दृशः) प्रेममय दृष्टि से (मा युयोम) कभी वंचित न हों । अर्थात् तू सदा हम पर अपनी प्रेम-दृष्टि रख, हमसे कभी मुख न फेर ।

[६९] कल्याण, सुख की प्रार्थना ।

शंतातिर्ऋषिः । सुखं देवता । पथ्यापंक्तिश्छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः ।
अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा
नो व्युच्छतु ॥ १ ॥ यजु० ३६ । १०, ११ ॥

भा०—(वातः) वायु (नः) हमारे लिए (शं) सुखकारी होकर (वातु) बहे । (सूर्यः) सूर्य (नः) हमारे लिए (शं) सुखकारी होकर (तपतु) तपे । (नः) हमारे (अहानि) दिन (शं) सुखकारी हों । (रात्री) रात्रि (शं) सुखकारी (प्रति धीयताम्) रहे (उषा) प्रातःकाल (नः) हमें (शम्) सुखकारी होकर (व्युच्छतु) प्रकट हो ।

[७०] दुष्ट पुरुषों का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । श्येन उत मन्त्रोक्ता देवता ॥ १ त्रिष्टुप्, २ अतिजगतीगर्भा जगती, ३–५ अनुष्टुभः (३ पुरःककुम्मती) ॥ पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

६९] १–"शंनो वातः पवतां ।" (च०) 'शं रात्रीः' इति यजु० ।

यत् किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा ।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य ॥१॥

पैप्पलाद० १९ का० ।

भा०—(असौ) वह पुरुष, (यत् मनसा) जो कुछ अपने मन से विचारता है । (यत् किंच) जो कुछ और (यत् च) जो भी (वाचा) अपनी वाणी से बोलता है, और जो कुछ (यजुषा) यजुर्वेद के अनुसार (हविषा) अन्नादि पदार्थों को (यज्ञैः) यज्ञ आदि कर्मों के द्वारा (जुहोति) त्याग करता है, (निः ऋतिः) पापप्रवृत्ति (मृत्युना) मौत के साथ (सं-विदाना) एक होकर (सत्यात् पुरा) उसके सत्य अर्थात् कर्म फल के सत् रूप में आने के पूर्व ही (अस्य) इस पुरुष के (आहुतिम्) त्याग आदि कर्मों का (हन्तु) विनाश करती है । आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमुदान्विताः । यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ गीता० १६ । १६,१२ । अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ गीता० १७ । २८ । गर्व, मद मान (निर्ऋति) से प्रेरित होकर नामयज्ञों से जो दम्भपूर्वक यज्ञ करता है ऐसे को और क्रूर अशुभ पापी पुरुषों को ईश्वर आसुरि योनियों में भेजता है । श्रद्धारहित होकर किये यज्ञ, दान, तप सब दोनों लोकों में असत्, निष्फल होते हैं ।

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम् ।
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् सं पादि यदसौ जुहोति ॥ २ ॥

भा०—आसुर भाव वाले पुरुषों के कार्यों के विनाश के कारणों का उपदेश करते हैं । (यातु-धानाः) पीड़ाकारी घटनाएं (निः-ऋतिः)

पाप की चाल, (आत् उ) और (रक्षः) बाधक विघ्न ही (अस्य सत्यम्) इसके सत्य, सत् इष्ट फल का (अनृतेन) इसके असत्य व्यवहार के कारण (घ्नन्तु) नाश कर देते हैं। और (इन्द्र-इषिताः) इन्द्र परमेश्वर से प्रेरित (देवाः) प्राकृतिक, दैवी उत्पात (अस्य) उक्त प्रकार के नीच पुरुष के (आज्यम्) सामर्थ्य, बल को (मथ्नन्तु) मथ डालते हैं, और फल यह होता है कि (यद्) जो कुछ भी (असौ जुहोति) वह त्याग करता है (तत्) वह (मा सं-पादि) कभी फल नहीं देता।

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव ।
आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥ ३ ॥

भा०—दूसरे से पाप से अत्याचार करने वाले का और क्या हो सो भी बतलाते हैं। (नः) हमारे (यः) जो (कः च) कोई भी पुरुष (अभि-अघायति) साक्षात् रूप में हम पर पापकर्म, अत्याचार करता और असत्य दम्भ, गर्व आदि में आकर अपनी बुरी स्वार्थ भरी चेष्टाएं करना चाहता है (पृतन्यतः) सेना-बल से हम पर आक्रमण करते हुए उसके युद्ध के सामर्थ्य, सेना बल का (अजिर-अधिराजौ) अजिर और अधिराज अर्थात् शत्रु का प्रतिस्पर्धी राजा और इससे भी अधिक बलशाली मध्यस्थ राजा, मित्र राजा और पार्ष्णिग्रह दोनों मिल कर (सम्-पातिनौ) झपटते हुए दो (श्येनौ इव) बाजों के समान (हताम्) विनाश करें।

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।
अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ४ ॥

भा०—शत्रु के बल का नाश करके उसे कैद करें। हे शत्रो! तेरे (उभौ) दोनों (बाहू) बाहुओं को (अपाञ्चौ) नीचे करके

(अपि नह्यामि) बांध दूँ जिससे तू फिर हमारे विरुद्ध न उठा सके। और तेरे (आस्यम्) मुँह को भी बांध दूँ, जिससे तू कुवाक्य भी न कहे। (देवस्य) देव अर्थात् महाराज (अग्नेः) अग्रगामी, नेता और शत्रुओं को भून डालने वाले परंतप, प्रतापी राजा के (मन्युना) क्रोध से (ते) तेरे (हविः) बल वीर्य, अन्न और कर का मैं (अवधिषम्) विनाश करूं।

अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम्।
अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः॥ ५॥

भा०—हे शत्रो ! (ते बाहू आस्यम् अपि नह्यामि) तेरे बाहुओं और मुख को बांध दूं। और (घोरस्य अग्नेः मन्युना, तेन ते हविः अवधिषम्) भयंकर अग्नि अर्थात् नेता राजा के क्रोध से तेरे अन्न, बल का नाश करूं।

---

[७१] दुष्ट पुरुषों के नाश का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। अग्निर्देवता। अनुष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

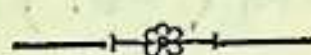
परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भंगुरावतः॥ १॥

भा०—हे (अग्ने सहस्य) बल से उत्पन्न राजन् ! (वयम्) हम लोग (पुरम्) सब मनोरथों के पूरक (विप्रम्) विद्वान् मेधावी (धृषद्-वर्णम्) सब शत्रुओं के पराजय करने में प्रसिद्ध, (भङ्गुरावतः) राष्ट्र को तोड़ फोड़ डालने वाले लोगों का (हन्तारम्) विनाश करने हारे (त्वा) तुझको (दिवे दिवे) प्रति दिन, सदा (धीमहि) अपने राष्ट्र में पुष्ट करके स्थापित करें।

---

[७१] १–(च०) 'भंगुरावतम्' इति ऋ०, यजु०।

देहस्वरूप राष्ट्र में आत्मा को हृदय में और ब्रह्माण्ड में ईश्वर को भी इसी प्रकार हम धारण करें ।



[७२] योग द्वारा आत्मा का तप ।

अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १ अनुष्टुप् । २, ३ त्रिष्टुप् । तृचं सूक्तम् ॥

उत् तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ॥
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७९ । १ ॥

भा०—हे लोगो ! (उत् तिष्ठत) उठो, (अव पश्यत) देखो (इन्द्रस्य) इन्द्र, राजा का (ऋत्वियम्) ऋतु अनुकूल (भागम्) भाग (यदि श्रातम्) यदि परिपक्व हो गया है तो (जुहोतन) दे दो (यदि अश्रातम्) यदि नहीं पका है तो (ममत्तन) पकाओ ।

अध्यात्म में—हे साधक नेता, उठो इन्द्र आत्मा के (भागम्) सेवन करने योग्य (ऋत्वियम्) सत्य ज्ञान, ब्रह्ममय, प्राप्तव्य मोक्ष पदको देखो (यदि श्रातम्) उसका परिपाक होगया है तो उसको आत्मा के निमित्त अर्पण करो । यदि नहीं पक्व हुआ हो तो उसको तपस्या से परिपक्व कर लो । अथवा (ऋत्वियम् भागम्) ऋतु = प्राण सम्बन्धि भाग, अंश इन्द्रिय गण का निरीक्षण करो, यदि वह ज्ञान और तप द्वारा पक्व हैं तो उनको आत्मा में लीन करलो यदि नहीं तो उनको तप से पक्व करलो ।

[७२]—ऋग्वेदे प्रथमस्य शिबिरौशीनर ऋषिः । द्वितीयस्य प्रतर्दनः काशिराजः, तृतीयस्य वसुमना रौहिदश्व ऋषिः ।

१–(तृ०) 'यदिश्रातो', (च०) 'यद्यश्रातो', इति ऋ० ।

श्रातं ह॒विरो ष्विन्द्र प्र याहि ज॒गाम॒ सूरो॒ अध्व॑नो॒ वि मध्य॑म्।
परि॑ त्वासते नि॒धिभि॑: सखा॑यः कुल॒पा न व्रा॒जप॑तिं॒ चर॑न्तम् ॥२॥

भा—हे इन्द्र ! आत्मन् ! प्रभो ! (श्रातं हविः) आदान योग्य वह ब्रह्म समाधि रस परिपक्व हो गया है। (उ प्र याहि) और समक्ष आओ, प्रकट होओ। वही (सूरः) सब का प्रेरक आत्मा (अध्वनः) हृदय आकाश के मध्यभाग में (वि) विशेष रूप से (जगाम) आ गया है। हे आत्मन् ! (त्वा) तेरे (परि) चारों ओर (सखायः) तेरे मित्र प्राण या समाहित मुक्तजन (निधिभिः) नाना प्रकार की सिद्धियों द्वारा प्राप्त ज्ञान, शक्तिरूप रत्नों से भरे स्वजनों सहित अथवा विशेष धारणाओं सहित (आसते) तेरी उपासना उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार (कुलपाः न) कुलके पालक पुत्र या शिष्य गण (व्राजपतिम्) गृह के स्वामी पिता या आचार्य का (चरन्तम्) विचरण करते समय या भोजन करते समय उसके चारों ओर रहते हैं।

यज्ञपक्ष में—हवि अन्न पक गया है, हे इन्द्र ! आगे आओ, सूर्य आकाश के मध्य भाग में आगया है, तेरे मित्र (ऋत्विग्-गण) अपने मन्त्रस्तोमों सहित तेरी उपासना उसी प्रकार करते हैं जैसे पुत्रगण कुल-पिता की।

श्रातं म॑न्य॒ ऊध॑नि श्रा॒तम॒ग्नौ सुशृ॑तं मन्ये॒ तदृ॒तं नवी॑यः ।
माध्यं॑न्दिनस्य॒ सव॑नस्य द॒ध्नः पिबे॑न्द्र वज्रिन् पुरुकृज्जु॑षा॒णः॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! आत्मन् (तत्) उस अलौकिक, (नवीयः) सबसे अधिक प्रशंसनीय; स्तुति के योग्य, अति नवीन, सदा उज्ज्वल (ऋतम्) सत्य ज्ञानमय परम ब्रह्मरस को (ऊधनि) ऊर्ध्व, स्वगमय परम मोक्षाख्य पद में (श्रातम्) सुपरिपक्व रूप से ही

३–(प्र०) 'सुश्रातं मन्ये तदृतं' (च०) 'पुरुकृत' इति ऋ०।

(मन्ये) मनन करता हूँ, जानता हूँ। और (अग्नौ) फिर अग्नि ज्ञानमय गुरु के समीप वास करने पर भी (श्रातं) तपस्या द्वारा, तपरूप से उसी को पकाया, उसी का अभ्यास किया है। और इस प्रकार अब समाधियोग होने पर उसको (सु-शृतं मन्ये) उत्तम रीति से परिपक्व हुआ जानता हूँ। (माध्यन्दिनस्य) दिन के मध्य भाग मध्याह्न काल, ब्रह्म-प्रकाश के हृदयाकाश में अति उज्ज्वलरूप में प्रकाशमान होने के (सवनस्य) सवन काल में उत्पन्न (दध्नः) ध्यानाभ्यास रसका (पिब) पान कर। हे (वज्रिन्) धारण करनेहारे आत्मन्! तू (जुषाणः) उसका सेवन करता हुआ उस रसका प्रेमी होकर (पुरु-कृत्) नाना इन्द्रियगण को अपने वश करके ध्यानाभ्यास रसका पान कर।

---

[७३] ब्रह्मानन्द रस।

अथर्वा ऋषिः। अश्विनौ देवते, घर्मसूक्तम्। १, ४, ६ जगत्यः; २ पथ्या बृहती; शेषा अनुष्टुभः। एकादशर्चं सूक्तम्॥

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु। वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः॥१॥

भा०—हे (अश्विना) दोनों अश्वियो! स्त्री पुरुषो! (दिवः) द्युलोक का (रथी) रथवाला, विजयी, रमणकारी, प्रकाशमान (अग्निः) सूर्य (सम्-इद्धः) खूब प्रकाशित होरहा है। (घर्मः) घर्म धाम (तप्तः) तप गया है। (वाम्) तुम दोनों के लिये (इषे) अन्न के उपभोग के लिये (मधु) मधुर दुग्ध (दुह्यते) दुहा जाता है। हे (अश्विनौ) दोनों स्त्री पुरुषो! (पुरु-दमासः) इन्द्रियों को दमन करने हारे अथवा बहुत से घरों वाले धनाढ्य (वयम्) हम (कारवः) कार्य करने में समर्थ पुरुष (सध-मादेषु) एक साथ आनन्द हर्ष के अवसरों पर

(वाम्) तुम दोनों को (हवामहे) आमन्त्रित करते हैं। जब सूर्य उग आवे, गाय दुही जायं, सम्पन्न लोग विद्वान् स्त्री पुरुषों को अपने यहां आमन्त्रित करें। अध्यात्म में—साधक आत्मज्ञान होने पर साक्षात् करता है, वह (दिवः रथी) मोक्षाख्य प्रकाश का रमणकारी आत्मा-अग्नि अब चेत गया है। घर्म = तेजोमय रस प्राप्त होगया है। प्राण और अपान दोनों के निमित्त मधुर रसका दोहन किया जाता है। इन्द्रियों के विजेता, जितेन्द्रिय हम उन अश्वियों, प्राणों को समाधि काल के आनन्द प्राप्ति के कालों में आह्वान करते हैं।

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम् ।
दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः ॥ २ ॥
यजु० २० । ५५ ॥

भा०—हे (अश्विना) ! अश्वियो (अग्निः) अग्नि, सूर्य या यज्ञ की अग्नि (सम् इद्धः) प्रदीप्त होगई और (वाम्) तुम दोनों के लिये (घर्मः) तेजस्वरूप रस (तप्तः) प्रतप्त, परिपक्व होगया है। (आगतम्) तुम दोनों प्रकट होओ। हे (वृषणा) सुखों और बलों के वर्षक तुम दोनों (इह) इस देह और गेह में (धेनवः) रसका पान कराने वाली प्राणवृत्तियां और गौवें (दुह्यन्ते) दुही जाती हैं। हे (दस्रा) दर्शनीयरूप तुम दोनों हे सब दुःखों के विनाशक ! तुम दोनों के बल पर ही (वेधसः) देह का कार्य करने वाले इन्द्रियगण, गृह का कार्य सम्पादन करने वाले भृत्यगण, यज्ञ का कार्य सम्पादन करने वाले ऋत्विग्गण (मदन्ति) आनन्द प्रसन्न होते हैं या तुमको प्रसन्न करते हैं। अध्यात्म में—आत्मा के प्रकाशित होने पर वही आत्मा का आनन्द उन प्राण और अपान के लिये परम है जो जीवन का वास्तविक आनन्द है। उस समय ये इन्द्रियां भी

२–(द्वि०) 'तप्तो घर्मो विराट्सुतः' (तृ० च०) 'दुहे धेनुः सरस्वती सोमं शुक्रमिहेन्द्रियम्' इति यजु० ॥

परमरस युक्त संवित् ज्ञान प्राप्त करती हैं और (वेधसः) कर्मेन्द्रियां भी स्वयं प्रसन्न रहती और आत्मा को प्रसन्न करती हैं।

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥३॥

भा०—(यज्ञः) यज्ञस्वरूप, आत्मस्वरूप (शुचिः) सब तामस आवरणों से रहित होकर (देवेषु) विषयों में क्रीड़ाशील इन्द्रियों, विद्वानों, दिव्य पदार्थों या अन्य प्राणों के भीतर (स्वाहा-कृतः) स्वयम् अपनी शक्ति से प्रविष्ट होकर विराजमान है। (यः) जो आत्मा (अश्विनोः) अश्वि = प्राण और अपान दोनों को (चमसः) शक्ति प्राप्त करने या अन्नरस के भोजन का साधन है वही (देव-पानः) देव इन्द्रियों की रक्षा करने वाला है। (विश्वे) समस्त (अमृतासः) अमर आत्मा (तम् उ) उसकी ही (जुषाणाः) सेवा करते हुए (गन्धर्वस्य) गौ वेद वाणी को धारण करने हारे परमात्मा के (आस्ना) मुख अर्थात् मुखवत् ब्राह्मणों के हेतु उनके उपदेशों द्वारा (प्रति-हन्ति) परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽयं स वामश्विना भाग आ गतम्।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः ॥४॥

भा०—(यत्) जो शक्तिरस (उस्रियासु) उत्सर्पणशील इन्द्रिय रूप गौओं में (घृतम्) आत्मा का तेजोमय चेतनांश (आ-हुतम्) प्रदान किया गया है (सः पयः) वह पुष्टिकारक अंश वास्तव में हे (अश्विनौ) प्राण और अपान! (वां भागः) तुम दोनों का भाग है। उसको प्राप्त करने के लिये तुम इस देह में, यज्ञमें (आगतम्) आओ, निरन्तर रहो। हे (विदथस्य) इस वेदना, चेतनामय जीवनरूप यज्ञ के (धर्त्तारौ) धारण करने हारो! आप (माध्वी) मधुरूप आत्मा को

धारण करने हारे और (सत्पती) सत्स्वरूप आत्मा के पालक हो। आप उस (तप्तम्) तपे हुए, तप, स्वाध्याय, प्रवचन, शम, दम, तितिक्षा, मुमुक्षा आदि साधनों से प्रतप्त, परिपक्व (घर्मम्) तेजोमय आत्मरस का (पिबतम्) पान करो, इसे प्राप्त करो। जो (दिवः) द्यु अर्थात् मूर्धास्थान के प्रति (रोचने) प्रकाशमान भाग में विराजता है।

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान्।
मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥५॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्वियो ! (वाम्) तुम्हें (घर्मः) ज्योतिर्मय आत्मानन्द रस (नक्षतु) प्राप्त हो। (स्व-होता) स्वयं तुम्हारा होता = आदान प्रतिदान करने हारा (अध्वर्युः) कभी विनाश न होने वाला आत्मा (वाम्) तुम्हारे बल पर (पयस्वान्) पुष्टिप्रद पदार्थों और ज्ञान आनन्दरस से युक्त होकर (प्र चरतु) उत्तम, श्रेयोमार्ग में विचरण करे। हे अश्विनौ ! (तनायाः) देह के सब कार्यों का विस्तार करने वाली (उस्रियायाः) उत्सर्पणशील चेतना शक्ति के (मधोः) मधुमय, अमृत (दुग्धस्य) दुही गई, प्राप्त हुई (पयसः) ज्ञानराशि को (वीतम्) और प्रकाशित करो। प्राणायाम के बल से आत्मा के आनंद को प्राप्त करो। चितिशक्ति की ऋतम्भरा-प्रज्ञा को प्राप्त करके परमानन्द का सुख उपभोग करो।

उप द्रव पयसा गोधुगोषमा घर्मे सिञ्च पय उस्रियायाः।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योनुप्रयाणमुषसो वि राजति ॥६॥
प्र० द्वि० ऋ० ५। ८१। २॥

१–(प्र०, द्वि०) विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः, प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे' इति प्रथम द्वितीयौ पादौ भिद्येते ॥ ऋ० ॥

भा०—हे (गोधुक्) चितिशक्ति रूप कामधेनु का दोहन करने वाले अभ्यासिन् आत्मन् ! (ओषम्) दाहकारी, अन्धकारनाशक तेज को (पयसा) आत्मा के बल-सम्पादक तृप्तिकर, आनन्दरस के साथ मिला कर (उप द्रव) उस रसमय परब्रह्म के अतिनिकट पहुँचने का यत्न कर और (उस्रियायाः) ऊर्ध्व, मूर्धा भाग की ओर ऊर्ध्वगामी वीर्य के बल से सर्पण करने वाली, क्रम से मूल भाग से प्रारम्भ करके ऊपर की ओर सरकती हुई चितिशक्ति के उस (पयः) आनन्द रसको (घर्मे) ज्योतिर्मय साक्षात् रस में (सिञ्च) मिला। (सविता) सबका प्रेरक प्रभु स्वतः साक्षात् ज्योतिर्मय सब पदार्थों का प्रकाशक, (वरेण्यः) सब योगियों का परम वरणीय, श्रेष्ठ है, उस दशा में आत्मा में (नाकम्) दुःख से सर्वथा रहित आनन्दमय स्वरूप को (विख्यत्) विशेष रूप से प्रकाशित करता है और अभ्यासी की यह दशा आजाने पर (उषसः) तामस आवरण की विनाशक, विशोका, ज्योतिष्मती या ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय होने के (अनुप्रयाणम्) अनन्तर ही वह ज्योतिर्मय सविता साक्षात् तेजोमय ब्रह्म का स्वरूप (वि राजति) प्रकाशित होता है।

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम्।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नोऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥७॥

ऋ० १ । १६४ । २६ ॥ अथर्व० ९ । १० । ४ ॥

भा०—मैं (एताम्) इस (सु दुघाम्) सुख से दोहन करने योग्य (धेनुम्) आनन्दरस पान कराने वाली, ब्रह्ममयी, चिन्मयी, आनन्दघन कामधेनु का (उप ह्वये) स्मरण करता हूं। (एनाम्) इसको कोई (सु-हस्तः) कुशल (गो-धुक्) गोरूप आत्मा का दोहन करने हारा (उत) ही (दोहत्) दुह सकता है। (सविता) सब का प्रेरक प्रभु

७—'दीर्घतमा ऋषिर्ऋग्वेदे।' (च०) 'तदु षु प्रवोचम्' इति ऋ०।

(नः) हमें (श्रेष्ठम्) सबसे अधिक श्रेय, कल्याणकारी, परम मंगलमय (सवम्) ज्ञान, परम प्रेरणा का (साविषत्) प्रदान करता है और तब (अभीद्धः) सब प्रकारों और सब तरफों से प्रकाशमान तेजोमय (घर्मः) परम रस आनन्दस्वरूप ब्रह्म साक्षात् होता है। और (तत् उ) उस परमरूप का ही (सु) उपनिषद् आदि ग्रन्थों में ध्यानी, ज्ञानी, ऋषिगण उत्तम रीति से (प्र वोचत्) प्रवचन करते हैं, शिष्यों को उसका उपदेश करते हैं।

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन्[1]।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥८॥

ऋ० १। १६४। २७॥

भा०—जिस प्रकार (वत्सम्) बछड़े को (इच्छन्ती) चाहती हुई गाय (हिंकृण्वती) 'घिं घिं' इस प्रकार शब्द करती हुई, हंभारती हुई बछड़े के पास आजाती है उसी प्रकार (वसु-पत्नी) देह में मुख्य रूप से वास करने वाले आत्मारूप वसु की 'पत्नी' शक्तिस्वरूप चितिशक्ति (वसूनाम) अपने पुत्ररूप अन्य प्राणरूप वसुओं के निमित्त (मनसा) मनोबल से (नि-आगन्) उनको प्राप्त करती है, उन तक पहुंचती है। और जिस प्रकार (इयम्) यह (अघ्न्या) कभी न मारने योग्य, सुशीला, गोमाता (अश्विभ्याम्) स्त्री पुरुषों, गृह के निवासी जनों को (पयः दुहाम्) दूध प्रदान करती है, उसी प्रकार यह चिति-शक्ति या ब्रह्ममयी धेनु (अश्विभ्याम्) प्राण और अपान या आत्मा और अन्तः-करण दोनों के लिये (पयः) पुष्टिकारक और तृप्तिकारक ज्ञान और बल रूप रस को (दुहाम्) प्रदान करती है। (सा) इसलिये वह अघ्न्या गौ (महते सौभगाय) बड़े सौभाग्य, समृद्धि और सुख के लिये (वर्ध-

१—'ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः।' (द्वि०) 'मनसाऽभ्यागात्' इति ऋ० ॥

ताम्) बढ़े । वर्षा के पक्ष में मेघरूप गौ गर्जन करती हुई अन्न आदि वसु का पालन करती है । चर, अचर प्राणियों के लिये तृप्तिकारक जल प्रदान करती है । अध्यात्म में—धर्म—मेघ समाधि की दशा में चितिशक्ति (वसुपत्नी) वसु इन्द्रियों की पालिका है, वह (वत्सम् इच्छन्ती) वत्स, मन को चाहती है, और (मनसा अभ्यागत्) मनन शक्ति द्वारा ही उनको प्राप्त करती है (अश्विभ्यां पयः दुहाम्) प्राण और अपान जीव या अन्तःकरण या सिद्ध और साधक दोनों को रस प्रदान करती हुई (अघ्न्या) अमर, अविनाशी होकर (महते सौभगाय) बड़े भारी परम उत्कृष्ट सेवनीय मोक्षधाम के लिये (वर्धताम्) बढ़े, शक्तिशाली हो।

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान् ।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥९॥

ऋ० ५ । ४ । ५ ॥ ५ । २८ । ३ ॥

भा०—(दमूनाः) जितेन्द्रिय, जितचित्त (अतिथिः) अतिथि के समान पूजायोग्य, सर्वत्र शरीर में शक्ति रूप व्यापक या निरन्तर गतिशील, ज्ञानवान्, (दुरोणे) देहरूप गृह में, (जुष्टः) अति प्रसन्न अपने कर्म—फलों को करने हारा आत्मा (नः) हमारे, हम इन्द्रियगण के (इमं यज्ञम्) इस यज्ञ को, परस्पर संगत हुए प्राणों के परस्पर आदान प्रतिदानमय व्यवस्थित जीवनमय यज्ञ को (उप याहि) प्राप्त हो। हे (अग्ने) सबके अग्रणी ! सेनापति या राजा जिस प्रकार परन्तप होकर (विश्वाः) समस्त (अभि-युजः) आक्रमणकारी सेनाओं को (विहत्य) विनाश करके (शत्रूयताम्) अपना बल नाश करने वाले, अपने पर आक्रमणकारी शत्रुओं के (भोजनानि) भोजन सामग्री को छीनकर अपने लोगों को ला देता है, उसी प्रकार आत्मन् ! तू (विश्वाः) समस्त

१—'अस्या ऋग्वेदे वसुश्रुत आत्रेय ऋषिः ॥

(अभियुजः) प्रत्यक्ष रूप से इन्द्रियों से योग करने हारे पदार्थों को (वि-हत्य) प्राप्त कर उनको अपने अधीन करके (शत्रूयताम्) अपने शत्रु के समान 'त्वं' कारास्पद, आत्मा से भिन्न पदार्थों के (भोजनानि) भोग योग्य फलों को प्राप्त कर, और हम इन्द्रियों के निमित्त प्राप्त करा। इन्द्रियगण का आत्मा के प्रति वचन है। प्रजा या सेनानायक का अपने सेनापति या राजा के प्रति वचन भी स्पष्ट है । आत्मा के अतिथि आदि नाम उपनिषद् में स्पष्ट कहे हैं।

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् होता वेदिषद् अतिथिर्दुरोणसत्॥
(क० उप० वल्ली ४ । कं० २)

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥१०॥
ऋ० ५। २८। ३॥ यजु० ३३। १२॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! अग्रणी! ज्ञानवन्! तू (महते सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य, उत्तम यश और सुखसम्पत्ति प्राप्त करने के लिये (शर्ध)[1] उत्साह कर। इस प्रकार (तव) तेरे (उत्तमानि) उत्तम, उत्कृष्ट कोटि के (द्युम्नानि) यश और धन (सन्तु) हों। हे राजन्! तू (जास्पत्यं)[2] पति-पत्नी के परस्पर दाम्पत्य सम्बन्ध को (सु-यमम्) उत्तम रीति से सुदृढ़ (सम् आकृणुष्व) कर। और (शत्रूयताम्) शत्रु के समान आचरण करने वाले पुरुषों के (महांसि) सब तेजों, बलों को (अभि तिष्ठ) दबा। राजा अपने पराक्रम से राज्य सम्पत्ति को बढ़ावे,

---

१०—ऋग्यजुषोर्विश्ववारा आत्रेयी ऋषिका।

१. शर्धद् उत्सहतामिति निरुक्ते (नै० अ० ४। ख० १९)।

२. 'जास्पत्यं' जाया च पतिश्च जास्पती, तयोः कर्म इति सायणः। दाम्पत्यमित्यर्थः।

राष्ट्र में पतिपत्नी के सम्बन्ध को सुदृढ़ करे। और शत्रु के समान व्यवहार करने वाले राजद्रोहियों के बलों को दबावे।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमध्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ ११ ॥

भा०—पुनः उसी गौ का वर्णन करते हैं। हे (अघ्न्ये) न मारने योग्य अघ्न्या गौ! तू (सु-यवस-अत्) उत्तम जौ की भुस खाकर (ही) निश्चय से (भग-वती) दूध आदि सौभाग्यशाली पदार्थों से युक्त (भूयाः) हो। (अधा) और (वयम्) हम भी (भगवन्तः) सुख सम्पत्तिमान् (स्याम) हों। हे (अघ्न्ये) गौ! तू (विश्वदानीम्) सदा ही (तृणम्) घास (अद्धि) खा और (आ चरन्ती) सब तरफ विचरती हुई (शुद्धम्) स्वच्छ (उदकम्) जलका (पिब) पान कर। अध्यात्म पक्ष में—विड् वै यवः। राष्ट्रं यवः। तै० ३। ९०। ७। २। यवस अर्थात् कभी जुदा न होनेवाले प्राण सामर्थ्यों का ही भोग करती हुई आन्तरिक शक्तियों के ही चमत्कारिक विभूतियों का भोग करती हुई चितिशक्ति (भग-वती) ऐश्वर्यवती हो। और इस प्रकार हम साधक भी ऐश्वर्यवान् हों। वह ज्योतिष्मती मुक्तिदायिनी चितिशक्ति या ज्ञानमयी, ब्रह्मगवी या साधक की ज्ञानमुद्रा (अद्धि तृणम्) उस समय तृण = विनाश योग्य इस शरीर को खा जाती है, अर्थात् देह को अपने में लीन कर लेती है, और साधक विदेहप्रकृतिलय होने की चेष्टा करता है। और चिति-शक्ति स्वतः शुद्ध उदक = स्वच्छ ज्ञान 'ऋत' का पालन करती हुई विचरती है। वही ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय है। (तत्र निरतिशयं सार्वबीजम्। यो० सू०।) उस समय चितिशक्ति की सार्वज्ञशक्ति का उदय होता है।

११—अस्या ऋग्वेदे दीर्घतमा ऋषिः।

राष्ट्र पक्ष में—यवस = राष्ट्र की आय को खाकर राजा की ईश्वरी शासन शक्ति सर्वत्र अघ्न्या = अविनाशी होकर रहे, राष्ट्रवासी हम भी प्रभु के समान ऐश्वर्यवान् हों। वह तृण = शत्रु को खाय और स्वच्छ उदक 'राष्ट्र का' पालन करे।

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि चतुर्दश, ऋचो द्वाचत्वारिंशत्]



[७४] गण्डमाला की चिकित्सा।

अथर्वा ऋषिः। १, २ अपचित-नाशनो देवता, ३ त्वष्टा देवता, ४ जातवेदा देवता। १-३ अनुष्टुप्। ४ त्रिष्टुप् छन्दः। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ १ ॥

भा०—(लोहिनीनाम्) लालवर्ण की (अप-चिताम्) गण्डमाला की फोड़ियों की (माता) उत्पादक जननी (कृष्णा) कृष्ण वा नीले रंग की नाड़ियां होती हैं (इति) इस प्रकार (शुश्रुम) हम अपने गुरुओं से सुनते हैं। (अहम्) मैं (ताः सर्वाः) उन सबको (देवस्य) प्रकाशमान (मुनेः) मुनि, तेजस्वी अग्नि के (मूलेन) प्रतिष्ठास्थान, आग्नेय-तत्त्व, तीव्र जलन पैदा करनेवाले पदार्थ से (विध्यामि) बेधता हूँ।

कौशिक सूत्र में गण्डमाला के रोग की चिकित्सा के लिये कुछ प्रयोग इस प्रकार लिखे हैं १—तीखी शलाका (शर) से गण्डमाला की फोड़ियों को फोड़कर उनका रक्त निकालना। २—प्रातःकाल गरम जल से धोना। ३—काली ऊन को जलाकर उसको घी में मिलाकर मल्हम बनाकर लगाना, ४—कुत्ते से चटाना, ५—गले पर से गन्दा खून निकालने के लिये गोह या जोंक लगाना, ६—सेंधा नमक पीसकर उन पर

छिड़क कर मिट्टी लगाकर मलना । ७-तांत से गण्डमाला के मस्सों को बांधना ।

विध्या॑म्यासां प्रथ॒मां विध्या॑म्यु॒त म॑ध्य॒माम् ।
इ॒दं ज॑घ॒न्या॑मासा॒मा च्छि॑नद्मि॒ स्तुका॑मिव ॥ २ ॥

भा०—(आसाम्) इन गण्डमालाओं में से (प्रथमाम्) प्रथम हुई अपची को (विध्यामि) तेज़ शलाका से या नस्तर से बेंधता हूँ । (उत्) और (मध्याम्) बीच की को भी छेदता हूँ । (इदम्) इसी प्रकार से (आसाम्) इनमें से (जघन्याम्) सबसे निकृष्ट कोटि की अपची को भी (स्तुकाम्) फुन्सी के समान (आ छिनद्मि) काट डालता हूँ । दोष की अधिकता, समता और न्यूनता से अपची के तीन भेद हैं, १ म, जिसमें अधिक मवाद हो । २ य, जिसमें कम । ३ य, जिसमें वहुत सामान्य । तीनों की उत्तम रीति से चिकित्सा करे ।

ईर्ष्या का उपाय ।

त्वा॒ष्ट्रेणा॒हं वच॑सा॒ वि त॑ ई॒र्ष्याम॑मीमदम् ।
अथो॒ यो म॒न्युष्टे॑ पते॒ तमु॑ ते शमयामसि ॥ ३ ॥

भा०—पति कहता है । हे पत्नी ! मैं (ते) तेरे हृदय की (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या के भाव या दूसरे की उन्नति और कीर्ति को देखकर दिल में पैदा हुई जलन को (त्वाष्ट्रेण) त्वष्टा इन्द्र परमेश्वर या पति के (वचसा) वचनों से, अर्थात् पति-पद पर रहकर उसी के पद के योग्य अपने मधुर वचनों से (वि अमीमदम्)[1] तृप्त करता हूँ, दूर करता हूँ या शान्त करता हूँ । स्त्री कहती है—हे (पते) स्वामिन् ! पालक ! नाथ ! प्राणपते ! (अथ) इसके बाद भी (यः) जो (ते) तेरा

[७४] ३—१. मद तृप्तियोगे (चुरादिः), मदी हर्षग्लेपनयोः (दिवादिः) मदि मोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (भ्वादिः) मदी हर्षे (भ्वादिः)।

(मन्युः) क्रोध मेरे प्रति हो (तम् उ) उसको भी (शमयामसि) हम शांत करें।

इस ऋचा के पूर्वार्ध में पत्नी के प्रति पति का वचन और उत्तरार्ध में पति के प्रति पत्नी का वचन है।

त्वष्टा पशूनां, मिथुनानां रूपकृद् रूपपतिः। तै० ३। ८। ११। २॥ त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकरोति। कौ० ३। ९॥ रेतःसिक्तिर्वै त्वाष्ट्रः॥ कौ० ११। ६॥ त्वष्टा, पशुओं का या दम्पति जोड़ों का बनाने वाला रूपपति (सब जीव जातियों का स्वामी) है। वही प्रभु माता के गर्भों में समानरूप से सिक्त वीर्य को नाना प्रकार से परिपक्व करके भिन्न रूप को बनाता है। अथवा रेतः-सेचन का कार्य त्वष्टा का है अतः त्वष्टा = प्रजापति और पति।

ज्ञानवान् की उपासना।

व्रतेन॒ त्वं व्र॑तपते॒ सम॑क्तो वि॒श्वाहा॑ सु॒मना॑ दीदिही॒ह।
तं त्वा॑ व॒यं जा॑तवेदः॒ समि॑द्धं प्र॒जाव॑न्त॒ उप॑ सदेम॒ सर्वे॑॥४॥

भा०—हे (व्रतपते) व्रतका पालन कराने हारे कर्मों के आचार्य! हे (जातवेदः) जातवेदा! जातप्रज्ञ विद्वन्! (त्वम्) तू (व्रतेन) अपने महान् व्रत नियत-कर्त्तव्य-पालन के कार्य से (सम्-अक्तः) भली प्रकार सुशोभित हो, (विश्वाहा) सदा ही (सु-मनाः) उत्तम हृदय और सुचित्त, शुभसंकल्प होकर या उत्तम विद्वान्, ज्ञानवान् होकर (इह) इस लोक में प्रकाशित हो और अन्यों को प्रकाशित कर। और हे (जातवेदः) जातप्रज्ञ, विद्वन्! (तम्) उस प्रसिद्ध (सम्-इद्धम्) प्रकाशवान् (त्वाम्) तेरे समीप हम (सर्वे प्रजावन्तः) सब प्रजा वाले राजगण और गृहस्थी लोग (उप सदेम) आवें, तेरी उपासना और सत्संग करें, तेरे ज्ञानोपदेश से लाभ उठाएं।

[७५] गो-पालन।

उपरिबभ्रव ऋषिः। अघ्न्या देवता, अघ्न्या स्तुतिः । १ त्रिष्टुप्, २ त्र्यवसाना पञ्चपदा भुरिक् पथ्यापंक्तिः। द्व्यृचं सूक्तम् ॥

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥१॥
ऋ० ६। २८। ७॥

भा०—हे गौवो! तुम (प्रजा-वतीः) बछड़ों वाली होकर (सु-यवसे रुशन्तीः) उत्तम तृण आदि भोजन के लिये चरती हुई और (सु-प्रपाने) उत्तम जलपान के स्थान पर (शुद्धाः अपः पिबन्तीः) शुद्ध जलों का पान करती हुई विचरो। (स्तेनः) चोर (वः) तुम पर (मा ईशत) शासन न करे। (अघ-शंसः) पापी और दूसरों को पाप करने की शिक्षा देने वाले व्यक्ति भी तुम पर (मा ईशत) स्वामी न रहें। बल्कि (रुद्रस्य) दुष्टों को रुलाने वाले राजा का (हेतिः) शस्त्र-बल (वः) तुम्हारी (परि-वृणक्तु) सब ओर से रक्षा करे।

गौएं शुद्ध-जल पान करें, उत्तम घास खावें, राजा उनकी रक्षा का प्रबन्ध करे और चोर हत्यारों और हत्या करने के लिये दूसरों को प्रेरित करने वालों को अपने पास गौएं रखने का अधिकार न हो।

अध्यात्म में—(प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः) आत्माएँ या स्त्रियां उत्तम ज्ञान से सम्पन्न होकर उस परम ब्रह्म में विचरती हुई (सु-प्रपाणे शुद्धाः अपः पिबन्तीः) उत्तम आनन्द रससे भरे ब्रह्मधाम में ही शुद्ध स्वच्छ, निर्मल अमृत जलों का पान करती हुई विचरें। (स्तेनः अघशंसः मा ईशत) चोर, अतपस्वी और पापी इनको नहीं पावें। और (रुद्रस्य हेतिः वः परि वृणक्तु) रुद्र की आघातकारिणी शक्ति तुम पर आघात न करे, प्रत्युत रक्षा करे।

[७५] १-(प्र०) 'प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः' (च०) 'परि वो रुद्रस्य हेती वृज्याः।' इति ऋ० ॥ अस्या ऋग्वेदे भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः ॥

प॒द॒ज्ञा स्थ॒ रम॑तयः॒ संहि॑ता वि॒श्वना॑म्नीः ।

उप॑ मा दे॒वीर्दे॒वेभि॒रेत ।

इ॒मं गो॒ष्ठमि॒दं सदो॑ घृ॒तेना॒स्मान्त्समु॑क्षत ॥ २ ॥

भा०—हे (रमतयः) सर्वत्र आनन्द प्रसन्न रहने हारी गौओ ! तुम (पदज्ञाः स्थ) अपने निवासस्थान को जानने वाली हो और तुम (विश्व-नाम्नीः) बहुत से नामों वाली (सं-हिताः) एक ही स्थान पर रहती हुई (देवीः) दिव्य गुणों से युक्त होकर अथवा इधर उधर नित्य क्रीड़ा करती, विचरण करती हुई (देवेभिः) खेलते हुए अपने बछड़ों सहित (मा) मेरे पास (उप एत) आओ । (इमम्) इस (गो-स्थम्) गोशाला में निवास करो, (इदं सदः) यह घर है इसमें रहो और (घृतेन) घी दूध मक्खन से (अस्मान्) हमें (सम् उक्षत) अच्छी प्रकार सेचन करो, बढ़ाओ, प्रदान करो ।

गौओं के विश्वनाम—"चित् असि, मनासि, धीरसि रन्तीरमतिः सूनुः सूवरी इत्युच्चैरुपह्वये सप्त मनुष्यगवीः । आप० ४ । १० । ४ ॥ इडे रन्तेऽदिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुते इत्येतानि ते अघ्न्ये नामानि । तै० सं० ७ । १ । ८ ॥ इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिति सरस्वति महि विश्रुति इति ते अघ्न्ये (देवत्रा) नामानि ॥ श० ४ । ५ । ८ । १० ॥ उक्त आपस्तम्ब और शतपथ के वचनानुसार गौओं के दृष्टान्त से हे—पुरुषदेहों की चिति शक्तियो ! तुम (पदज्ञाः स्थ) परम पद, आनन्द धामको जानती हो । तुम (विश्व-नाम्नीः) विश्व = परमेश्वर को प्राप्त होने वाली (सं-हिताः) भली प्रकार उससे संगत हो जाती हो । तुम (देवेभिः) इन्द्रियों में प्रविष्ट प्राणों के साथ स्वतः (देवीः) प्रकाशमान होकर (मा उप आ इत) मुझ साधक को भी प्राप्त होओ । (इमं गोष्ठं इदं सदः) इस गौओं और इन्द्रियों के आश्र-

यभूत मुझ आत्मा में आओ इस आश्रय स्थान आत्मा में विराजो। और (अस्मान् घृतेन अक्षत) हमें तेजोमय रससे आप्लावित करो।



[७६] गण्डमाला की चिकित्सा और सुसाध्य के लक्षण।

अथर्वा ऋषिः। अपचित-भिषग् देवता। १ विराड् अनुष्टुप्। २ परा उष्णिक्। ३, ४ अनुष्टुप्। ५ भुरिग् अनुष्टुप्। ६ त्रिष्टुप्। षडृचं सूक्तम् ॥

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः।
सेहोररसतरा लवणाद् विक्लेदीयसीः ॥ १ ॥

भा०—(असतीभ्यः) बुरी से भी, (असत्-तराः) बुरी, बिगड़ी हुई, अपची या गण्डमाला की फोड़ियां यदि (सु-स्रसः) अच्छी प्रकार बह रही हैं तो (आ सु-स्रसः) वे शीघ्र ही सुगम रीति से विनष्ट हो जाती हैं। और यदि (सेहोः) वे शुष्क पदार्थ से भी अधिक (अरस-तरा) रसहीन, सूखी हैं, तो वे (लवणात्) नमक छिड़ककर मलने से (वि-क्लेदीयसीः) विशेष रूप से जल छोड़ने लग जाती हैं।

नमक का प्रयोग हम पूर्व लिख आये हैं। रस छोड़ती हुई गण्ड-मालाएं शीघ्र आराम होजाती हैं यह वैद्यक का सिद्धान्त है। 'सु-स्रसः' पद को विदेशियों ने बहुत बदलने की चेष्टा की है, वह मन्त्र का तात्पर्य न समझने के कारण है।

या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपपक्ष्याः।
विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः ॥२ ॥

---

१. 'मन्त्रोषधिप्रयोगेण निःशेषं स्रवणेन विनश्यन्तु' इति सायणः ॥
इदं सूक्तं चतुर्ऋचं 'विद्म वै' इत्यादि द्व्यृचं सूक्तमित्यनुक्रमणिका। उपलब्धसंहितासु उभयं संभूय षडृचं पठ्यते। अर्थभेदात् विनियोगभेदाच्च आद्ययोरेकं सूक्तम्, ततस्तिसृणामेकम्, तत एकस्या एकमिति विवेकः ॥

भा०—(याः) जो (अप-चितः) अपची या गण्डमाला की फोड़ियां (ग्रैव्याः) गर्दन पर हों (अथो) और (याः) जो (उप-कक्ष्याः) कन्धों, पीठ और बगलों में हों और (याः) जो (अप-चितः) फोड़ियां (वि-जाम्नि) पेट या नाभि के नीचे पेडू पर हों वे भी (स्वयं स्रसः) अपने आप जल बहाने वाली होकर (आ-सु-स्रसः) शीघ्र ही सुख से दूर हो जाती हैं।

विजामन् = पेट । 'विजामन्' शब्द अपभ्रष्ट होकर अंग्रेजी में (Abdomen) 'एब-डोमन्' कहलाता है।

स्त्रीभोग से प्राप्त राजयक्ष्मा का उपाय।

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो रोग (कीकसाः) पसलियों को (प्र श्रृणाति) तोड़ डालता है। और (तलीद्यम्) समीप के फेफड़ों में जाकर (अव-तिष्ठति) बैठता है। और (यः कः च) जो कोई रोग (ककुदि) गर्दन के नीचे कन्धों और पीठ के बीच में भी (श्रितः) जम जाता है (तं सर्वं) उस सब (जायान्यं) स्त्री द्वारा प्राप्त होने वाले राजयक्ष्मा रोग को (निर् हाः) शरीर से प्राण के बल से निकाल दो।

'यज्जायान्योऽविन्दत् तज्जायेन्यस्य' इति (तै० सं० २।३।५॥)

पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् ।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥ ४ ॥

भा०—(जायान्यः) स्त्रियों के अतिभोग से प्राप्त होने वाला क्षय, शोष आदि रोग (पक्षी) पक्षी के समान (पतति) एक शरीर से दूसरे शरीर में संचार कर जाता है। (सः) वही (पूरुषम्) भोग के समय पुरुष के शरीर में (आ विशति) पहले थोड़ी मात्रा में ही या

शनैः २ प्रवेश कर जाता है। (तत्) वह निम्नलिखित उपचार (अक्षि- तस्य) १ म-अभी जिसने चिरकाल से जड़ न पकड़ी हो और (सु- क्षतस्य = सु-क्षितस्य) २ य-जिसने खूब जड़ पकड़ भी ली हो (उभयोः) दोनों की (भेषजम्) उत्तम चिकित्सा है। अथवा (अक्षतस्य उभयोः भेषजम्) अक्षत-जिसमें छाती का खून न आता हो, दूसरा जिसमें छाती से कटकट कर खून आने लग गया हो, दोनों की वही चिकित्सा है। अर्थात् शरीर में प्रविष्ट होने वाले विषैले कीड़ों को दूर भगा देना ही इस रोग से बचने का उत्तम उपाय है।

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ ५ ॥

भा०—हे (जायान्य) क्षय रोग ! (ते जानम्) तेरे उत्पन्न होने के विषय में (विद्म वै) हम निश्चय से जानते हैं कि तू हे (जायान्य) क्षय ! (यतः) जहां से (जायसे) उत्पन्न होता है। (त्वम्) तू (तत्र) वहां (कथम्) किस प्रकार (हनः) हानि कर सकता है (यस्य) जिसके (गृहे) घर में हम विद्वान् लोग (हविः) नाना ओषधियों से या रोग नाशक हवि या चरु को बनाकर उससे (कृण्मः) अग्निहोत्र करते हैं अर्थात् रोग नाशक हवि = चरु या अन्न द्वारा इस क्षय रोग को निकाल डालने पर सब प्रकार के क्षय दूर हो जाते हैं।

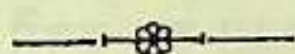
धृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्।
माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि॥६॥

ऋ० ६। ४७। ६॥

भा०—हे (इन्द्र) बलवान् जीव ! तू (कलशे) अपने देह के कलश भाग अर्थात् ग्रीवा से लेकर नाभि तक के भाग में (धृषत्)

६—'रयि स्थानो' इति पाठः, ऋ० ॥

बाह्य रोगों के विनाशकारी बल से युक्त होकर (वसूनाम्) देह में बसने वाले प्राणों के (सम्-अरे) संग्राम में (वृत्र-हा) जीवन के विघ्नभूत रोग के नाशकारी (सोमम्) स्वच्छ वायु रूप अमृत का (पिब) पान कर। और हे (शूर) रोगनाशक जीव ! तू (माध्यन्दिने) दिन के मध्य काल के (सवने) सवन में बलिवैश्वदेव अतिथि यज्ञ आदि के अवसर पर स्वयं भी (आ-वृषस्व) सब प्रकार अन्न आदि खाकर पुष्ट हो। और (रयि-स्थानः) शरीर के धनस्वरूप रयि = अर्थात् प्राण में स्थिति प्राप्त करके (अस्मासु) हम इन्द्रियगण में भी (रयिम्) उस प्राण को (आ धेहि) प्रदान कर। इससे हम सब बलवान् नीरोग रहेंगे।



[७७] राष्ट्रवासियों के कर्त्तव्य।

अंगिराः ऋषिः। मरुतः सांतपना मन्त्रोक्ता देवताः। १ त्रिपदा गायत्री, २ त्रिष्टुप्, ३ जगती। तृचात्मकं सूक्तम् ॥

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन। अस्माकोती रिशादसः ॥१॥

ऋ० २७। ५६। ६ ॥

भा०—हे (सांतपनाः) भली प्रकार तपश्चरण करनेवाले (मरुतः) विद्वान् पुरुषो ! अथवा हे शत्रुओं को अच्छी प्रकार तपानेवाले (मरुतः) वायु के समान तीव्र गति वाले सैनिक भटो ! (इदं हविः) तुम लोगों के निमित्त यह अन्न पर्याप्त रूप में विद्यमान है। (तत्) उसको (जुजुष्टन) प्रेम से स्वीकार करो। और हे (रिशादशः) हिंसक शत्रुओं के विनाशक ! आप लोग (अस्माकम्) हमारी (ऊती) रक्षा के लिये रहो।

[७७] १–'युष्माकोती रिशादासः, इति ऋ०।

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति ।
द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम् ॥२॥
ऋ० ७ । ५९ । ८ ॥

भा०—हे (मरुतः) वीर पुरुषो ! वायु के समान तीव्र गति वाले प्रजागणो ! और हे (वसवः) राष्ट्र के, देह के प्राण रूप या जीवन के हेतु रूप वसुगणों ! देशवासियो ! (नः) हममें से भी (यः) जो (मर्तः) अज्ञानी पुरुष (दुः-हृणायुः) दुष्ट, दुःसाध्य क्रोध के वश होकर (तिरः) कुटिलता से (नः) हमारे (चित्तानि) चित्तों को, सत्य मनोरथों या धर्मों को (जिघांसति) आघात पहुंचाना चाहता है (सः) वह (द्रुहः) द्रोही के योग्य (पाशान्) राजदण्ड रूप पाशों को (प्रति मुञ्चताम्) प्राप्त हो, उनमें बांधा जाय और (तम्) उसको (तपिष्ठेन) अति कष्टदायी (तपसा) यन्त्रणा से (हन्तन) मारो ।

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः ।
ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

भा०—(सं-वत्सरीणाः) एक एक वर्ष के लिये नियुक्त हुए (सु-अर्काः) उत्तम ज्ञानवान्, पूज्य, मननशील, श्रेष्ठ (उरु-क्षयाः) बड़े बड़े महलों में या भवनों में निवास करनेवाले (स-गणाः) अपने सहायकारी साथियों सहित (मानुषासः) मननशील विचारवान् (मरुतः) जो देश के प्राण स्वरूप विद्वान् पुरुष हैं (ते) वे (अस्मत्) हमारे (एनसः) पाप के (पाशान्) पाशों को (प्र मुञ्चन्तु) उत्तम रीति से दूर करें । वे ही उस पापकारी पुरुष के (सांतपनाः) अच्छी प्रकार तपाने वाले होते और (मादयिष्णवः) दूसरों को भी हर्षित किया करते हैं । गर्भाधान से लेकर उपनयन, विवाह, अग्निहोत्र, व्रताचार आदि करनेवाले गृहस्थ लोग 'सांतपन अग्नि' कहाते हैं । वे देश

में अपनी व्यवस्था उक्त रूप से रक्खें और प्रतिवर्ष अपनी व्यवस्था को सुधार लिया करें।

---

[७८] मुक्ति-साधना।

अथर्वा ऋषिः। अग्निर्देवता। १ परोष्णिग्, २ त्रिष्टुप्। द्व्यृचं सूक्तम् ॥

वि ते॑ मुञ्चामि रश॒नां वि योक्त्रं॒ वि नि॒योज॑नम्।
इ॒हैव त्वमज॑स्र एध्यग्ने ॥ १ ॥

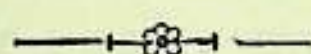
भा०—हे (अग्ने) जीव ज्ञानवन्, आत्मन्! मैं परमात्मा या आचार्य (ते) तेरी (रशनाम्) बन्धन की रस्सी, राग द्वेष-परम्परा को (मुञ्चामि) छोड़ता हूँ, तुझे मुक्त करता हूँ। और (योक्त्रम्) तुझे बांधनेवाले देह को भी (वि) तुझ से दूर करता हूँ। और (नियोजनम्) तुझे बांधनेवाले कर्म फल की परम्परा को भी तुझ से (वि) पृथक् करता हूँ। (त्वम्) तू अब (अजस्रः) अहिंसित, अविनाशी स्वरूप होकर (इह एव) इस मुझ परम पद ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप में ही (एधि) रह।

'अग्निरजस्रः' (आत्मा पुरुषविधः) श० ६। ७। ४। ४ ॥

अ॒स्मै क्ष॒त्राणि॑ धा॒रय॑न्तमग्ने यु॒नज्मि॑ त्वा॒ ब्रह्म॑णा॒ दैव्ये॑न।
दी॒दि॒ह्य॒स्मभ्यं॒ द्रवि॑णे॒ह भ॒द्रं प्रेमं वो॑चो हवि॒र्दां दे॒वता॑सु ॥२॥

भा०—हे (अग्ने) प्राणरूप अग्ने! (अस्मै) इस आत्मा के निमित्त ही (क्षत्राणि) समस्त वीर्यों को (धारयन्तम्) धारण करते हुए (त्वा) तुझको (दैव्येन) देव, आत्मसम्बन्धी (ब्रह्मणा) ब्रह्म बलसे (युनज्मि) युक्त करता हूँ, उसमें समाहित करता हूँ। तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (इह) इस लोक में ही (द्रविणा) नाना ज्ञानों और बलों और विभूतियों को (दीदिहि) प्रदान कर। और

(इमम्) इस आत्मा को वह प्राण (देवतासु) इन इंद्रियगणों में (भद्रम्) सुखकारी (हविर्दाम्) अन्न और बलशक्ति तथा उनकी भोग्यशक्ति को देने वाला (प्र-वोचः) उपदेश किया जाता है । पुरोहित राजा के प्रति भी (अस्मै) इस राष्ट्र के लिये (क्षत्राणि धारयन्तम् हे अग्ने त्वा दैव्येन ब्रह्मणा युनज्मि) क्षत्रबलों को धारण करनेवाले तुझ परंतप राजा को ईश्वरीय वेदज्ञान से युक्त करता हूँ । (इह अस्मभ्यं द्रविणा दीदिहि) इस राष्ट्र में हमें श्रेष्ठ धन प्राप्त करा और (देवतासु इमं भद्रं हविर्दाम् प्रवोचः) विद्वान्, उत्तम देवसदृश पुरुषों में इस पुरुषको सुखकारी उत्तम अन्नदाता होने का उपदेश कर ।



[७९] स्त्री के कर्त्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता अमावास्या देवता । १ जगती, २–४ त्रिष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

यत् ते॑ दे॒वा अकृ॑ण्वन् भाग॒धेय॒ममा॑वास्ये सं॒वस॑न्तो महि॒त्वा ।
तेना॑ नो य॒ज्ञं पि॑पृहि विश्ववारे र॒यिं नो॑ धेहि सुभगे सु॒वीर॑म् ॥१॥

भा०—हे (अमा-वास्ये) सहवास करनेहारी स्त्री ! (ते महित्वा) तेरे महत्त्व या गौरव या आदरभाव के कारण (सं-वसन्तः) एकत्र एक देश या गृह में निवास करनेवाले (देवाः) विद्वान् लोग (यत्) जो (भागधेयम्) भाग, अधिकार (ते) तेरे निमित्त (अकृण्वन्) नियत कर देते हैं (तेन) उसीसे तू (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ, गृहस्थ यज्ञ, जो परस्पर संगत रहने से हो रहा है उसको (पिपृहि) पूर्ण कर, पालन कर । और हे (विश्व-वारे) सब उत्तम गुणों से अलंकृत पत्नि ! और (सु-भगे) सौभाग्यवति ! तू ही (नः) हमें (सु-वीरम्) उत्तम बलवान् पुत्ररूप (रयिम्) धन को (धेहि) प्रदान कर या धारण कर ।

अध्यात्म पक्ष में—(अमावास्ये) एकत्र सबको आवास देनेहारी ब्रह्मशक्ते ! तेरी महिमा से देव, विद्वान् ज्ञानी पुरुषों ने जो तेरा भाग नियत किया है उससे इस यशस्वी आत्मा को पूर्ण कर। हे विश्ववारे ! सर्व वरणीये, सर्वोत्तमे ! तु हममें सुवीर, रयि, आत्मस्वरूप या ब्रह्मज्ञान प्रदान कर।

अ॒हमे॒वास्म्य॑मावा॒स्या॒ मामा व॑सन्ति सु॒कृतो॒ मयी॒मे।
मयि॑ दे॒वा उ॒भये॑ सा॒ध्याश्चेन्द्र॑ज्येष्ठाः सम॑गच्छन्त॒ सर्वे॑ ॥ २ ॥

भा०—स्त्री कहती है-(अहम्) मैं (एव) ही (अमावास्या) अमावास्या (अस्मि) हूँ। क्योंकि (माम्) मुझे लक्ष्य करके ही (इमे) ये (सुकृतः) उत्तम पुण्यचरित्र पुरुष (मयि) मेरा आश्रय लेकर ही (आ वसन्ति) निवास करते हैं। (इन्द्र-ज्येष्ठाः) इन्द्र, ईश्वर को ही सर्वश्रेष्ठ माननेहारे (देवाः) विद्वान्गण और (साध्याः) साधना करनेवाले (उभे) ये दोनों ज्ञानी और कर्मवान् (मयि) मेरे आश्रय पर ही (सर्वे) सब (सम् अगच्छन्त) एकत्र होते हैं। इससे गृहस्थ आश्रम की ज्येष्ठता दर्शायी गई है।

अध्यात्म पक्ष में—मैं ब्रह्मशक्ति ही अमावास्या हूँ। मुझको लक्ष्य करके ही सब पुण्यात्माजन मेरे आश्रय पर एकत्र निवास करते हैं, (देवाः) मुक्त पुरुष और (साध्याः) मुक्तिपथ के अभ्यासी साधक लोग सब एकत्र होते हैं।

आग॒न् रात्री॑ सं॒गम॑नी॒ वसू॑नामू॒र्जं पु॒ष्टं वस्वा॑वे॒शय॑न्ती।
अ॒मा॒वा॒स्या॑यै ह॒विषा॑ विधे॒मोर्जं॒ दुहा॑ना॒ पय॑सा न॒ आग॑न् ॥३॥

भा०—(वसूनाम्) वास करने हारे गृह के प्राणियों को (संगमनी) एकत्र मिलाकर रखनेवाली (पुष्टम्) पुष्टिकारक (ऊर्जम्) अन्नरस को और (वसु) धन को (आ वेशयन्ती) प्रदान करती हुई, (रात्री) रमण, आनन्द, हर्ष को प्रदान करनेवाली गृहपत्नी

(आ अगन्) आती है। उस (अमा-वास्यायै) सहवास करनेहारी गृहपत्नी को हम (हविषा) अन्न आदि उत्तम पदार्थों से (विधेम) प्रसन्न करें। वह (ऊर्जं दुहाना) अन्न आदि उत्तम पदार्थों से (विधेम) प्रसन्न करें। वह (ऊर्जं दुहाना) अन्नरस प्रदान करती हुई (पयसा) दूध के पुष्टिकारक पदार्थों के साथ (नः) हमें (आ अगन्) प्राप्त हो।

अध्यात्म पक्षमें—योगियों को रमण करानेवाली (वसूनां संगमनी) मुक्त जीवों को एकत्र वास देनेवाली, मुक्तिरूप रात्रि सब (ऊर्जम्) ब्रह्मानन्दरस रूप धन का प्रदान करती हुई प्राप्त होती है। उस अमावास्या को जिसमें जीव और ब्रह्म एकत्र वास करते हैं अपने ज्ञान हवि से परिचर्या कर (पयसा) ब्रह्मज्ञान के साथ (ऊर्जम्) ब्रह्म रस प्रदान करती हुई प्राप्त होती है।

अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥४॥

ऋ० १० । १२१ । १० ॥ यजु० १० । २० ॥

भा०—हे (अमा-वास्ये) सहवासशीले गृहपत्नि ! (त्वद्) तुझसे (अन्यः) दूसरा कोई (एतानि) इन (विश्वा रूपाणि) समस्त पुत्र आदि पदार्थों को (परि-भूः) शक्तिमती होकर (न) नहीं (जजान) पैदा करता। (यत्कामाः) जो कामना रख कर हम (जुहुमः) वीर्य आदि का त्याग करते हैं हे परमशक्ते ! (तत् नः) वह पुत्र आदि हमें (अस्तु) प्राप्त हो। और (वयम्) हम (रयीणाम्) समस्त धन सम्पत्तियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों।

परम ब्रह्मशक्ति के पक्ष में—हे अमावास्ये ! सब के साथ विद्यमा (न त्वद् अन्यः एतानि विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान) तेरे से अतिरिक्त कोई भी दूसरी शक्ति सर्वव्यापक हो कर इन समस्त नाना लोकों को

उत्पन्न नहीं करती। (यत्कामा: ते जुहुमः तत् नः अस्तु) जिस मोक्ष पद के लाभ की आकांक्षा करके तेरे प्रति हम आत्मत्याग करते हैं वह हमारी अभिलाषा पूर्ण हो। (वयं स्याम पतयो रयीयाम्) हम रयि—वीर्य, बल और धनों के स्वामी हों।



[८०] परमपूर्ण ब्रह्मशक्ति।

अथर्वा ऋषिः। पौर्णमासी प्रजापतिर्देवता। १, ३, ४ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम॥१॥

भा०—वह ब्रह्मशक्ति (पश्चात्) इस संसार के प्रलय के अनन्तर भी (पूर्णा) पूर्ण ही थी, और (मध्यतः) इन दोनों कालों के बीच के संसार के रचना काल में भी वह (पौर्णमासी) पूर्णरूप से समस्त जगत् को अपने भीतर मापने या बनाने वाली, महती शक्ति (उत् जिगाय) सबसे अधिक उच्चता पर विराजमान है। (तस्याम्) उसमें (देवैः) विद्वान् मुक्तात्माओं सहित (सं-वसन्तः) निवास करते हुए (महित्वा) हम लोग अपनी शक्ति और उसकी महिमा से (नाकस्य) सर्वथा दुःख रहित, परम सुखमय मोक्ष के (पृष्ठे) धाम में (इषा) अपनी इच्छा के अनुसार (सं मदेम) आनन्द का उपभोग करें।

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम्॥ २॥

भा०—(पौर्णमासम्) समस्त संसार के रचयिता (वाजिनम्) सर्व शक्तिमान् (वृषभम्) सब सुखों के वर्षक, प्रभु परमेश्वर की (वयम्)

४-(प्र०) ,प्रजापते' (द्वि०) 'विश्वा जातानि परिता बभूव' इति ऋ०।

हम (यजामहे) उपासना करते हैं। (सः) वह (नः) हमें (अनुपदस्वतीम्) कभी किसी के प्रयत्न से भी न क्षीण होनेवाली और स्वयं भी (अक्षिताम्) अक्षय (रयिम्) शक्ति का (ददातु) प्रदान करे।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥३॥

भा०—हे (प्रजापते) समस्त प्रजाओं के परिपालक प्रभो ! (त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरा कोई (एतानि) इन (विश्वा रूपाणि) समस्त प्रकाशमान्, कान्तिमान् नाना रूपवान् लोकों और पदार्थों को (परि-भूः) सर्वव्यापक सर्वसामर्थ्यवान् होकर (न) नहीं (जजान) उत्पन्न करता, प्रत्युत तू ही सब का पालक, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सबको उत्पन्न करने हारा है। हम लोग (यत्कामाः) जिस कामना से प्रेरित होकर (ते) तेरे निमित्त (जुहुमः) आत्म त्याग करते हैं (तत् नः अस्तु) भगवन् ! वह हमें प्राप्त हो। और (वयम्) हम (रयीणाम्) सब धनों के (पतयः) पालक (स्याम) हों। इसी मन्त्रलिंग से पौर्णमासी आदि शब्द परमेश्वर के वाचक हैं, प्रसिद्ध पौर्णमासी या पूनम आदि पदार्थ प्रस्तुत होने से 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार से ब्रह्म का ही वर्णन किया जाता है।

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः ॥४॥

भा०—(पौर्णमासी) पूर्ण ब्रह्म की सर्वव्यापिनी और सबकी उत्पादिका शक्ति (प्रथमा) सबसे पूर्ण और सबसे अधिक श्रेष्ठ (यज्ञिया) यज्ञ, परमात्मा की वह शक्ति (आसीत्) है, जो (अह्नाम्) दिनों और (रात्रीणाम्) रातों के समय में (अतिशर्वरेषु) और शर्वरी = महाप्रलय कालों को भी अतिक्रमण करके वर्त्तमान रहती है।

हे (यज्ञिये) यज्ञमय परमेश्वर की उत्पादक शक्ते! (ये) जो (त्वाम्) तुझको (यज्ञैः) यज्ञों, प्रजापति की नाना शक्तियों के अनुकरणों द्वारा (अर्धयन्ति) समृद्ध करते, ब्रह्म की महिमा को बढ़ाते हैं (ते) वे (सुकृतः) पुण्यात्मा लोग (नाके) परम सुखमय लोक में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट होते हैं। ईश्वर के गुणों को अपने भीतर धारण कर अपने आत्मा को उन्नत करके परोपकार के कार्य करनेवाले महात्मा लोग उत्पादक उस प्रभु का साक्षात् करते और मुक्ति का लाभ करते हैं।



[८१] सूर्य और चन्द्र।

अथर्वा ऋषिः। सावित्री सूर्याचन्द्रमसौ च देवताः। १, २, ६ त्रिष्टुप्; ३ अनुष्टुप्; ४ आस्तारपंक्तिः ५, स्वराडास्तार पङ्क्तिः। षडृचं सूक्तम्॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः॥ १॥
ऋ० १०। ८५। १८॥

भा०—(एतौ) ये दोनों सूर्य और चन्द्र (क्रीडन्तौ) खेलते हुए (शिशू) दो बालकों के समान (मायया) उस प्रभु की निर्माण शक्ति से प्रेरित होकर (पूर्वापरम्) एक दूसरे के आगे पीछे (चरतः) विचरते हैं और (अर्णवम्) इस महान् अन्तरिक्ष को (परि यातः) पार करते हैं। (अन्यः) उनमें से एक सूर्य (विश्वा) समस्त (भुवना) लोकों को (वि चष्टे) प्रकाशित करता है और (अन्यः) दूसरा, चांद जो कि (ऋतून्) ऋतुओं को (विदधत्) उत्पन्न करता हुआ (नवः) नये रूप से (जायसे) प्रकट हुआ करता है।

[८१] १–(द्वि०) 'यातोऽध्वरम्' (तृ०) 'विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे' 'विदधज्जायते' इति पाठभेदाः ऋ०॥

नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥२॥
ऋ० १० । ८५ । १९ ॥

भा०—चन्द्र का वर्णन करते हैं । (जायमानः) प्रकट होता हुआ तू हे चन्द्र ! सदा (नवः नवः) नया ही नया (भवसि) हो जाता है । कला के घटने या बढ़ने से प्रतिदिन चन्द्रबिम्ब में नवीनपन ही दीखता है । और (अह्नाम्) दिनों का तू (केतुः) ज्ञापक है । चन्द्रमा की कलाओं के अनुसार दिनों की गणना की जाती है, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया इत्यादि । हे चन्द्र ! तू (उषसाम्) रात्रियों के समाप्ति और सूर्योदय कालों के (अग्रम्) पूर्व काल में (एषि) आया करता है । और (आयन्) आता हुआ तू (देवेभ्यः) देवगण पृथिवी, जल, समुद्र, वायु इनको और इन्द्रियों को (भागम्) इन २ का विशेष भाग (वि दधासि) विशेष रूप से प्रदान करता है । चन्द्रोदय के अवसर पर समुद्र बेला आदि नाना प्रकार के वायुपरिवर्त्तन, ओषधियों का पोषण ओस आदि का पड़ना आदि क्रियाएं होती हैं । और इस प्रकार हे (चन्द्रमः) चन्द्रमा ! आह्लादकारी शक्तिवाले ! तू (दीर्घम्) लम्बा (आयुः) जीवन (तिरसे) प्रदान करता है ।

सोमस्यांशो युधां पतेऽनूनो नाम वा असि ।
अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥ ३ ॥

भा०—सूर्य और चन्द्र का वर्णन हो चुका अब चन्द्र की उपमा लेकर राजा और ईश्वर का वर्णन करते हैं । हे (युधां पते) समस्त योद्धा सैनिकों, क्षत्रियों के स्वामिन् ! सेनापते तथा योगियों के पालक प्रभो ! हे (सोमस्य) सबके प्रेरक, आह्लादक, अनुरंजक बल के (अंशो) व्यापक भण्डार ! तू भी (अनूनः नाम असि) 'अनून' नामवाला है । तू किसी प्रकार कम नहीं है । हे (दर्श) दर्शनीय ! अथवा सर्व प्रजा

के द्रष्टः ! तू (मा) मुझको (प्रजया) प्रजा और (धनेन) धन से (च) भी (अनूनं) पूर्ण (कृधि) कर ।

दर्शोऽसि दर्शतोऽसि समग्रोऽसि समन्तः ।
समग्रः समन्तो भूयासं गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥४॥

भा०—पूर्व मन्त्र में 'दर्श' से कहे पदार्थ की व्याख्या करते हैं । हे (दर्श) दर्श ! तू दर्श है अर्थात् (दर्शतः) तू दर्शत = दर्शनीय है और भक्ति और योग द्वारा साक्षात् करने योग्य है । आप (सम्-अग्रः) सब प्रकार से और सब कामों में सब पदार्थों के आगे, सबके पूर्व विद्यमान, सबके कारण स्वरूप, और सबके अग्रणी नेतास्वरूप (असि) हो । और (सम्-अन्तः) सब प्रकार से समस्त संसार के अन्तः अर्थात् प्रलयकाल में सबको अपने भीतर प्रलीन करने हारे हो । हे प्रभो ! मैं भी (गोभिः) गौओं, (अश्वैः) अश्वों, (प्रजया) प्रजा और (पशुभिः) पशुओं (गृहैः) गृहों और (धनेन) धन सम्पत्तियों से (सम्-अग्रः) सबका अग्रणी और (सम्-अन्तः) सबसे पिछला अर्थात् सब से उत्कृष्ट (भूयासम्) होऊं ।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेनाप्यायस्व ।
आ वयं प्यासिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥५॥

भा०—हे प्रभो ! (यः) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) द्वेष करता है, प्रेम का व्यवहार नहीं करता और (यं च) जिसको (वयं द्विष्मः) हम भी स्नेह से नहीं देखते (तस्य) उसके (प्राणेन) प्राण = जीवन के साधनों से हमें (प्यायस्व) बढ़ा और (वयम्) हम (गोभिः अश्वैः, प्रजया, पशुभिः, गृहैः धनेन) गौओं, घोड़ों, प्रजाओं, पशुओं, गृहों और धनों से (आ प्यासिषीमहि) सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हों ।

यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति ।
तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिराप्याययन्तु भुवनस्य गोपाः ॥६॥

भा०—(यं) जिस (अंशुम्) व्यापक प्रभु की (देवा:) देव गण, तेजोमय सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि लोक और दिव्य गुणी विद्वान् लोग (आप्याययन्ति) महिमा को बढ़ाते हैं, अथवा (यम् अंशुम्) [प्राप्य] देवा [आत्मानम्] आप्याययन्ति) जिस व्यापक प्रभु की शरण लेकर विद्वान्, शक्तिमान् लोग अपने आपको पुष्ट करते और बढ़ाते हैं। और (यम्) जिस (अक्षितम्) अविनाशी, रस रूप प्रभु को या उसकी दी हुई समृद्धि को (अक्षिताः) अविनाशी जीव (भक्षयन्ति) अन्न, जल वायु और आनन्द रूप में उपभोग करते हैं। (तेन) उस ब्रह्मज्ञान से ही (इन्द्रः) ज्ञानवान्, अज्ञाननाशक (वरुणः) दुःखों और पापों का निवारक, (बृहस्पतिः) वेद वाणी का पालक, आचार्य, राजा और अन्य विशाल विद्वान् लोग (भुवनस्य गोपाः) इस संसार के रक्षक होकर (अस्मान्) हमें भी (आप्याययन्तु) पुष्ट करें बढ़ावें। आचार्य, राजा पुरोहित आदि सभी लोग परब्रह्म की समस्त उपकारक शक्तियों से प्रजा को पुष्ट करें।

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

॥ तत्र सूक्तान्यष्टौ, ऋचश्चैकात्रिंशत ॥

---

[८२] ईश्वर से बलों की याचना।

सम्पत्कामः शौनक ऋषिः। अग्निर्देवता। १, ४, ५, ६ त्रिष्टुप्, २ ककुम्मती बृहती; ३ जगती। षडृचं सूक्तम् ॥

अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम् ॥१॥

ऋ० ४। ५८। १० ॥ यजु० २७। ६८ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (सु-स्तुतिम्) उत्तम स्तुति करने योग्य (गव्यम्) गौ, गतिशील आत्मा, जीवों के लिये हितकारी अथवा इन्द्रियगण के लिये प्राप्त करने योग्य (आजिम्) अन्तिम लक्ष्य, परम आत्मा रूप का (अभि अर्चत) साक्षात् करके उसका यथार्थ वर्णन करो। और (अस्मासु) हम मनुष्यों के बीच (भद्रा) सुख और कल्याणकारी (द्रविणानि) ज्ञान और धन सम्पत्तियों को (धत्त) अपने पास रक्खो अर्थात् उन सम्पत्तियों को अपने जन-समाज में मत रक्खो जिससे परस्पर हानि, कलह और कष्ट उत्पन्न हो। (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ या आत्मा को (देवता) देव भाव (नयत) प्राप्त कराओ। और सर्वत्र (घृतस्य) तेजोमय, प्रकाशमय ज्ञान या स्नेह की (मधुमत्) आनन्दरस से युक्त या मधुर (धाराः) धारायें, शक्तियें और वाणियें (पवन्ताम्) बहें।

मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।
मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥ २ ॥

भा०—(अग्रे) प्रथम मैं (मयि) अपने आत्मा में (अग्निम्) उस प्रकाशस्वरूप अग्नि, तेजस्वी परमात्मा को (क्षत्रेण) वीर्य, (वर्चसा) तेज और (बलेन) बल के धारण करने के (सह) साथ साथ (गृह्णामि) धारण करता हूँ। मैं (मयि) अपने में (प्रजाम्) प्रजा को और (मयि) अपने में (आयुः) दीर्घ जीवन को (दधामि)

[८२] १–(प्र०) 'अभ्यर्षत सुष्टुतिं' (च) मधुमत्पवन्ते' इति ऋ०, य० ॥
(तृ०) 'नयत देवताः' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः ।

धारण करता हूँ। (स्वाहा) सबसे अच्छे रूप में यों कहना ही उत्तम है कि मैं (मयि) अपने में (अग्निम्) 'अग्नि' को धारण करता हूँ। अर्थात् 'अग्नि' को धारण करने का तात्पर्य वेद के वचनानुसार अपने में क्षत्र = वीर्य, वर्च = तेज और बल = शारीरिक शक्ति को ज्ञान के साथ धारण करना और प्रजाओं के साथ दीर्घ जीवन को धारण करना ही है।

इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा निक्रन् पूर्वचित्ता निकारिणः।
क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः ॥३॥
यजु० २७। ४॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि या सूर्य या विद्युत् के समान तेजस्वी नेता! राजन्! तू (इह एव) इस राष्ट्र में ही (रयिम्) धन सम्पत्ति को (अधि धारय) धारण कर। (पूर्व-चित्ताः) पूर्व राजाओं के कार्यों को जानने वाले, (नि-कारिणः) तुझे गद्दी से उतार देने में समर्थ अथवा तुझसे अपमा नितया तिरस्कृत लोग (त्वा) तुझको (मा निक्रन्) तेरे पद से नीचे न करें या तेरा अपमान न करें। हे (अग्ने) राजन्! सभापते! यह राष्ट्र (तुभ्यम्) तेरे लिये (क्षत्रेण) क्षात्रबल से (सु-यमम्) सुखपूर्वक व्यवस्था करने योग्य (अस्तु) रहे। (उप-सत्ता) तेरा आश्रय लेने वाली प्रजा (अनि-स्तृतः) कभी मारी न जाकर स (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो।

निकारिणः = ज्ञान कर्म समुच्चय से नाना जन्मों को नीचे करने वाले नितरां यज्ञ करणशील, इत्यादि अर्थ संगत नहीं, क्योंकि स्वयं वेद 'मा निक्रन्' इस प्रयोग में 'नि' पूर्वक 'कृ' धातु को पद से नीचे उतार देने अर्थ में प्रयोग करता है। नये पदाधिष्ठित राजा को चाहिए कि वह

१—द्वि० 'पूर्वजितो निकारिणः' (तृ०) 'क्षत्रमग्नेसुयम' इति यजु०।
अत्र यजुर्वेदे अग्निः प्रजापतिर्ऋषिः :

१. सब रयि (कोष, सम्पत्ति) को अपने वश करले, जिसे 'निकारी' लोग जो राजा को उसके राजपद से च्युत करने में सशक्त हों और पूर्व राजाओं के राज्य कार्यों से पूर्ण परिचित या पूर्व राजाओं के पक्षकर्ता हों और उसके नवीन राज्य के संचालन में बाधा उपस्थित कर सकें, वे भी उसको राज पद से नीचे न कर सकें। २. फिर वह क्षत्र-बल या सेना-बल से राज्य को अपने वश करे। ३. वह अपने आश्रित लोगों की रक्षा करे कि उनको दूसरे विरोधी पक्ष के लोग न मार सकें।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥४॥

यजु० ११ । १७ ॥

भा०—(अग्निः) जो प्रकाशमान् प्रजापति (उषसाम्) उषाकालों के भी (अग्रम्) पूर्व भाग को (अनु अख्यत्) क्रम से प्रकाशित करता है। और वही (जातवेदाः) समस्त पदार्थों का ज्ञाता और सर्वज्ञ प्रभु (प्रथमः) सबसे प्रथम, सबका आदि मूल (अनु) पश्चात् भी (अहानि) सब दिनों का (अख्यत्) प्रकाश किया करता है। वही (सूर्यः अनु) सूर्य को प्रकाशित करता है। वही (उषसः अनु) उषा-कालों को प्रकाशित करता और (रश्मीन् अनु) समस्त ज्योतिर्मय प्रकाशमान तारों को भी प्रकाशित करता है और वही (द्यावापृथिवी अनु) द्यु और पृथिवी इन दोनों लोकों में भी (आविवेश) सर्वत्र व्यापक है।

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥५॥

ऋ० ४ । १३ । १ इत्यत्र प्रथमः पादः ।

४–पुरोधा ऋषिर्यजुर्वेदे । (तृ० च०) "अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावा पृथिवी आततन्थ" इति यजु० ।

भा०—(अग्निः) वही प्रकाशक प्रभु (उषसाम् अग्रम्) उषाओं के मुख भाग को (प्रति अख्यत्) प्रकाशित करता है। वही (प्रथमः) सब का आदिमूल (जातवेदाः) सर्वज्ञ (अहानि प्रति अख्यत्) सब दिनों को प्रकाशित करता है, (सूर्यस्य प्रति) सूर्य की (रश्मीन् च) रश्मियों को भी वही (पुरुधा) नाना प्रकार से (प्रति अख्यत्) प्रकाशित करता है। (द्यावापृथिवी प्रति आततान) और वही द्यु और पृथिवी अर्थात् आकाश और ज़मीन दोनों के प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है।

घृतं ते॑ अग्ने दि॒व्ये स॒धस्थे॑ घृ॒तेन॒ त्वां मनु॑र॒द्या समि॑न्धे।
घृ॒तं ते॑ दे॒वीर्न॒प्त्य॑ आ व॑हन्तु घृ॒तं तुभ्यं॑ दुहतां॒ गावो॑ अग्ने ॥६॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! प्रकाशस्वरूप आत्मन्! (ते) तेरा (घृतम्) परम तेज (दिव्ये) दिव्य, तेजोमय या इन्द्रियों के (सधस्थे) सहस्थान इस शरीर में विद्यमान है। और (मनुः) मननशील मन या मननाभ्यासी साधक (त्वाम्) तुझको (घृतेन) तेजोरूप से ही (अद्य) सदा (सम्-इन्धे) भली प्रकार प्रकाशित करता है अर्थात् अपने भीतरी आत्मा में तेरे ज्योतिर्मय रूप को ही प्रज्वलित कर उसका साक्षात्कार करता है। (देवीः) दिव्यगुणों से सम्पन्न कान्तिमती (नप्त्यः) सम्बन्ध करने वाली, अर्धगामिनी ज्ञानेन्द्रियां (ते) तेरे लिए ही (घृतम्) ज्ञानमय घृत को (आवहन्तु) धारण करें। और हे (अग्ने) आत्मन्! (गावः) गमनशील इन्द्रियगण (तुभ्यम्) तेरे लिये ही (घृतम्) सुखरूप घृत को (दुहताम्) प्रदान करें। यज्ञाग्नि के पक्ष में स्पष्ट है।



[८३] बन्धन-मोचन की प्रार्थना।

शुनःशेप ऋषिः। वरुणो देवता। १ अनुष्टुप्। २ पथ्यापंक्तिः। ३ त्रिष्टुप्। ४ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥

भा०—हे (वरुण) वरुण ! सर्वश्रेष्ठ, सब पापों के निवारक, सब के वरण करने योग्य परमात्मन् ! (राजन) राजा के समान सर्वोपरि (ते) तेरा (गृहः) सबको ग्रहण करने वाला, सब देहों का शासक धाम, (अप्सु) जीवों और समस्त लोकों में (हिरण्ययः) सुवर्ण के समान तेजोमय (मिथः = मितः) जाना गया है। (ततः) वहां ही विराजमान (धृत-व्रतः) समस्त ज्ञान और कर्मों का धारण करने हारा (राजा) प्रकाशस्वरूप राजा के समान सबका अनुरंजनकारी तू (सर्वा धामानि = दामानि) समस्त बन्धनों को (मुञ्चतु) छुड़ा। वरुण वही परमात्मा ब्रह्म है जिसके "मित हिरण्ययगृह" की तुलना उपनिषद् के तत्वज्ञों को उपनिषत् के निम्नलिखित स्थलों से करनी चाहिये।
"ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरः। तदश्वत्थः सोमसवनः। तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्। इति छान्दो० उप०।५।३॥

धाम्नो धाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः ।
यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः ॥ २॥

भा०—हे (राजन्) राजन् ! हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! तू (धाम्नः धाम्नः) प्रत्येक बन्धन से (इतः) इस लोक में (नः) हमें (मुञ्च) मुक्त कर। (यद्) जब हम (ऊचिम) कहें कि (आपः) हे सर्वव्यापक तथा जल की तरह पवित्र करने वाले ! (अघ्न्या इति (हे अनश्वर ! (वरुण इति) तथा हे सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! (ततः) तब हे (वरुण) हे प्रभो ! हमें (मुञ्च) मुक्त कर।

२–(प्र०) 'धाम्नो धाम्नो राजंस्ततो वरुण नो मुञ्च। यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च ॥' इति यजुषि तैत्तिरीये, आश्र, शां०, लाट्या० श्रौतसत्रेषु च ॥ यजुर्वेदेऽस्य दीर्घतमा ऋषिः०॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥३॥
ऋ० १।२४।१५ ॥ यजु० १२।१२ ॥

भा०—हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! (उत्तमम्) उत्तम, उत्कृष्ट, दृढ़ (पाशम्) फांसे को (उत श्रथाय) मुक्त कर, (अधमम् पाशम् अव श्रथाय) अधम निकृष्ट बन्धन को भी दूर कर; अथवा शरीर, मन, वाणी तीनों द्वारा प्राप्त तीनों प्रकार के बन्धनों से हमें मुक्त कर । अथवा शरीर के ऊपर के भाग के बन्धन को, मध्य के बन्धन को और अधोभाग के बन्धन को भी दूर कर (अध) और (वयम्) हम हे (आदित्य) सूर्य के समान तेजस्विन् ! (तव) तेरे उपदिष्ट (व्रते) सत्य आचरण आदि वैदिक नियमों में विचरते हुए (अदितये) तेरी अखण्ड नियमव्यवस्था के निमित्त, अथवा तेरे अखण्ड सुख प्राप्त करने के लिये (अनागसः) निष्पाप, निरपराध (स्याम) रहें ।

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (वरुण) सर्वपापनिवारक प्रभो ! (अस्मत्) हमसे (ये) जो (उत्तमाः) ऊंचे २ बड़े, कठोर २ (अधमाः) नीचे और (ये वारुणाः) जो वरुण, परमात्मा के दैवी बन्धन हैं उन (सर्वान् पाशान्) समस्त बन्धनों को (प्र मुञ्च) भली प्रकार छुड़ा, दूर कर । और (दुरितम्) दुष्टाचरण और (दुःस्वप्न्यम्) मन के उस दुष्ट संस्कार को जो हमारे स्वप्न काल में बुरे रूप में प्रकट होता हो (अस्मत्) हमसे (निः स्व = निः सुव) दूर कर, (अथ) और हम लोग (सुकृतस्य) पुण्य चरित्र से प्राप्त होने योग्य (लोकम्) लोक या जन्म को (गच्छेम) प्राप्त हों ।

३-(तृ०) 'अथा वयमा' इति ऋ० ॥

'दुरित दुःस्वप्न्य' के दूर होने की प्रार्थना से ऐहिक दुराचरण और शरीर के छोड़ने के अनन्तर आत्मा की दुःखमय स्वप्नावस्था के समान जो दशा है उससे भी मुक्ति पाने की प्रार्थना की गई है। 'यथा स्वप्नलोके तथा पितृलोके' इस उपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार शरीर से पृथक् जीव की दशा स्वप्न-काल की स्थिति के समान होती है।

---

[८४] राजा के कर्त्तव्य।

भृगुर्ऋषिः। १ जातवेदा अग्निर्देवता। २, ३ इन्द्रो देवता। १ जगती। २, ३ त्रिष्टुप्। तृचं सूक्तम्।

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह। विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम् ॥ १ ॥ यजु० २७। ७॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी! अग्नि के समान शत्रुओं को पीड़ा करने हारे राजन्! तू (जात-वेदाः) धन सम्पत्ति प्राप्त करके (अनाधृष्यः) किसी से भी पराजित न होकर (अमर्त्यः) अविनाशी, अमरण-धर्मा (विराट्) सर्वोपरि राजा और (क्षत्र भृद्) क्षत्र-बल को पुष्ट करके (इह) इस राष्ट्र में (दीदिहि) प्रकाशित हो। और (विश्वाः) समस्त (अमीवाः) रोगों को प्रजा से (प्र मुञ्चत्) दूर करके (मानुषीभिः) मनुष्यों के हितकारी, (शिवाभिः) कल्याणकारी रक्षा के उपायों से (नः) हमारे (गयम्) गृह और प्राणों की (अद्य) आज सदा काल (परि पाहि) रक्षा कर।

---

[८४] १-(प्र०) 'जातवेदा अनिष्टृतो' (तृ०) 'विश्वा आशा प्रमुञ्चन् मानुषीभिर्यः शिवेभिरद्य परिपाहि नो वृधे।' इति याजुषः। 'तत्रास्या ऋच अग्निः प्रजापतिर्ऋषिः।

इन्द्रं क्षत्रमुभि वाममोजोजायथा वृषभ चर्षणीनाम् ।
अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् ॥ २ ॥
ऋ० १६ । १८० । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यशील राजन् ! और (चर्षणीनाम्) समस्त प्रजा के मनुष्यों में से (वृषभ) सर्वश्रेष्ठ ! नरर्षभ ! तू (क्षत्रम्) समस्त क्षत्रियबल और (वामम्) सुन्दर, दर्शनीय (ओजः अभि) तेज पराक्रम को स्वयं प्राप्त करके (अजायथाः) राजारूप में प्रकट हुआ है । इसलिए अपने पराक्रम और क्षत्रबल से (अमित्रायन्तम्) शत्रु के समान आचरण करने वाले (जनम्) लोगों को (अप आनुदः) दूर मार भगा । और (उरु) इस विस्तृत (लोकम्) लोक को (देवेभ्यः) विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों के लिये (उ) ही (अकृणोः) रहने योग्य बना ।

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात् परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व ॥३॥
ऋ० १० । १८० । २ ॥ यजु० १८ । ७१ ॥

भा०—(भीमः) भयंकर (गिरि-स्थाः) पर्वतनिवासी (मृगः न) पशु, सिंह, जिस प्रकार वीरता से अपने शिकार पर टूटता है, उसी प्रकार इन्द्र शत्रुओं पर (परस्याः परावतः) दूर से भी दूर से (आ जगम्यात्) आ टूटता है । हे (इन्द्र) राजन् ! तू अपने (सृकम्) दूर तक जाने वाले, प्रसरणशील (पविम्) वज्र को (सं-शाय) खूब तीक्ष्ण करके उस (तिग्मम्) तीक्ष्ण शस्त्र से (शत्रून्) शत्रुओं को (वि ताढि) खूब अच्छी तरह मार और (मृधः) संग्रामकारी लोगों का (वि नुदस्व) विनाश कर ।

———

२–(तृ०) 'जनममित्रयन्तम्' इति ऋ० । तत्रास्या ऋषिर्जयः ।

[८५] ईश्वर का स्मरण ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । तार्क्ष्यो देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥

ऋ० १० । १७८ । १ ॥

भा०—(त्यम्) उस (वाजिनम्) ज्ञान, वेग, बल से युक्त, (देवजूतम्)' विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों से पूजित, सेवित, (सहः-वानम्) शक्तिमान्, (रथानाम्) रथरूप देहों या आत्माओं के रमण-स्थान इन लोकों में (तरु-तारम्) व्यापक, प्रेरक, (अरिष्ट-नेमिम्) सबको शुभ मार्ग में झुकाने वाले, (पृतना-जिम्) समस्त मनुष्य आदि प्रजाओं के भीतर उत्कृष्ट रूप से विद्यमान, उनके विजेता, उनको अपने वश करने हारे, (आशुम्) व्यापक (तार्क्ष्यम्) बलवान् परमात्मा को हम लोग अपने (स्वस्तये) कल्याण के लिये (आ हुवेम) स्मरण करते हैं, पुकारते हैं ।

---

[८६] इन्द्र, ईश्वर का स्मरण ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
ह्वये नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु ॥१॥

साम० प्र० ४ । ५१ ॥ ऋ० ६ । ४७ । ११ ॥ यज० २० । ५० ॥

---

[८५] १–अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्य ऋषिर्ऋग्वेदे ॥ (द्वि०) 'सहवानं' (तृ) 'पृतनाजमाशुं' इति० ऋ० ।

२–(तृ०) 'ह्वयामि शक्रं (च) 'स्वस्तिनो मघवा धात्विन्द्रः' इति पाठः यजु० ऋ० । वेत्विन्द्रः इति साम० । ऋग्वेदेऽस्या ऋचो गर्ग ऋषिः । यजुर्वेदे च प्रजापतिर्ऋषिः, भरद्वाज इत्यपि क्वचित् ।

भा०—मैं (इन्द्रम्) इन्द्र को (हुवे) बुलाता हूँ। (अविता-रम् इन्द्रम्) रक्षाकारी, शत्रुओं से बचाने वाले इन्द्र को (हुवे) बुलाता हूँ। (हवे-हवे) प्रत्येक यज्ञ में या जब जब बुलाया जाय तब तब (सु-हवम्) सुखपूर्व स्मरण करने योग्य, स्वयमेव सहायतार्थ उपस्थित होने वाले (शूरम्) शूरवीर (इन्द्रं हुवे) इन्द्र को बुलाता हूँ। (नु) और (शक्रम्) शक्तिमान् (पुरु-हूतम्) इन्द्रियों से पूजित आत्मा और प्रजाओं से सत्कृत राजा (इन्द्रम्) इन्द्र को मैं बुलाता हूँ। (इन्द्रः) वह इन्द्र (मघवान्) धन ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न होकर (नः) हमारा (स्वस्ति) कल्याण (कृणोतु) करे।

[८७] रुद्र, ईश्वर का स्मरण।

अथर्वा ऋषिः। रुद्रो देवता। जगती छन्दः। एकर्चं सूक्तम्।

यो अ॒ग्नौ रु॒द्रो यो अ॒प्स्व॒१॒॑न्तर्य ओष॑धीर्वी॒रुध॑ आवि॒वेश॑।
य इ॒मा विश्वा॒ भुव॑नानि चाक्लृ॒पे तस्मै॑ रु॒द्राय॒ नमो॑ अस्त्व॒ग्नये॑ ॥१॥

भा०—(यः) जो (रुद्रः) रोदनकारी, तीक्ष्ण शक्ति (अग्नौ) अग्नि में प्रविष्ट है, और (यः) जो (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर है, और (यः) जो (ओषधीः) ओषधियों और (वीरुधः) लताओं में (आ-विवेश) प्रविष्ट है, और (यः) जो (इमाः) इन (विश्वा) समस्त (भुवनानि) भुवनों को (चाक्लृपे) बनाती है, उस (अग्नये) अग्निस्वरूप (रुद्राय) रुद्र के लिये (नमः) हमारा नमस्कार और आदरभाव है। अर्थात् जिस प्रभु की शक्तियां अग्नि में तेजोरूप से, जल में स्नेहरूप से, ओषधियों में रस और पुष्टिरूप से, और लता वन-स्पतियों में रोग दूर करने की शक्तिरूप से विद्यमान है, और जो समस्त भुवनों को नाना रूप और सामर्थ्यों से युक्त बनाता है, हम उस प्रभु का सदा स्मरण करें।

[८८] सर्पविष की चिकित्सा।

गरुत्मान् ऋषिः । तक्षको देवता । त्र्यवसाना बृहती छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि । विषे विषमपृक्था विषमिद् वा अपृक्थाः । अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि ॥ १ ॥

भा०—हे सर्प ! तू (अप इहि) दूर चला जा, क्योंकि तू (अरिः असि) शत्रु है । तू सबको कष्ट देता है। (वै) निश्चय से तू (अरिः असि) दुःखकारी शत्रु है । हे पुरुष ! यदि सर्प परे न जाय और काट ही ले तो उसकी चिकित्सा के लिये (विषे) विष के ऊपर (विषम्) विष को ही (अपृक्थाः) लगाओ । विष को दूर करने के लिये विष का ही प्रयोग करो (वै) निश्चय से (विषम् इत्) उसी सर्प के विष को (अपृक्थाः) पुनः ओषधि रूप से प्रयोग करो। अथवा (अहिम्) उसी सांप के (एव) ही (अभि-अप-इहि) पास फिर पहुंचो और (तं जहि) उसको मारो और उसी का विष लेकर उससे पूर्व विष को शान्त करो ।

प्रसिद्ध भारतीय वैद्यविद्या के विद्वान् वाग्भट ने अष्टांग-हृदय में सर्प के काटने पर उसकी चिकित्सा के लिये पुनः उसी सर्प को पकड़ कर काटने का उपदेश कि या है । इसका यही रहस्य है कि सर्प का विष ही सर्प के विष का उत्तम उपाय है । और तिस पर भी उसी जाति के सर्प का विष सर्प-विष की अचूक दवा है । डा० वैडल तथा अन्य विद्वानों ने चिरकाल तक परिश्रम करके यह जाना है कि विषधर सर्प जब किसी को काटता है तो उसका विष ज़ख़म के भीतर तो जाता ही है परन्तु थोड़ा सा विष का भाग उस सर्प के पेट में भी जाता है। इससे उस सर्प के शरीर में विष के सहन करने की शक्ति उत्पन्न होती है। सर्प से काटा आदमी यदि पुनः उस सर्प को दांतों से काट ले तो सर्प की विष-सहिष्णुता शक्ति से उसके शरीर में चढ़ा विष शान्त हो जाता है अत

भी सरकारी हस्पतालों में सर्प-चिकित्सा के लिये ८० प्रतिशत फणधर सर्प के विष के साथ २० प्रतिशत अन्य सर्पों का विष मिला कर सीरम तैयार करते हैं। वेद ने संक्षेप में उसी सिद्धान्त को स्पष्ट शब्दों में दर्शाया है।

[८९] ब्रह्मचर्यपालन।

सिन्धुद्वीप ऋषिः। अग्निर्देवता। १–३ अनुष्टुभः। ४ त्रिपदा निचृत् परोष्णिक् छन्दः। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अपो दिव्या अचायिषम् रसेन समपृक्ष्महि ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १ ॥

ऋ० १। २३। २३ ॥

भा०—मैं (दिव्याः) दिव्य, प्रकाशमय, ज्ञानमय, ईश्वरीय (अपः) कर्म और ज्ञान-कणों का (सम् अचायिषम्) संग्रह करूं और उनके (रसेन) सारभूत बल से अपने को (सम् अपृक्ष्महि) संयुक्त करूं। हे (अग्ने) ज्ञानवान् प्रभो! इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञानकर्म से मैं (पयस्वान्) 'पयस्वान्', ज्ञानवान् और कर्मवान् होकर (आगमम्) प्राप्त हुआ हूँ (तम् मा) उस मुझको (वर्चसा) ब्रह्मतेज से (संसृज) युक्त कर। जिस प्रकार मेघ (दिव्यः) दिव्य जलों का संग्रह करके विद्युत् अग्नि से मिल कर प्रकाशमान् हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान और कर्म में निष्ठ होकर शरीर में हृष्ट पुष्ट होकर आचार्य और ईश्वर की साक्षिता में ब्रह्मचर्य का पालन करे।

---

[८८] १–'आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगंस्महि। पयस्वानग्न आगहितं मां संसृज वर्चसा।' इति ऋ०। ऋग्वेदेऽस्य सूक्तस्य काण्वो मेधातिथिर्ऋषिः। (द्वि०) 'रसेन समसृक्ष्महि' (च०) 'वर्चसा प्रजया च धनेन च' इति ऋग्वेदाद्विशिष्टः पाठभेदो। यजु० ॥

सं मा॑ग्ने वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा ।
वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ विद्यात् स॒ह ऋषि॑भिः ॥ २ ॥

अथर्व० ९।१।१५॥ १०।५।४७॥ ऋ० १।२३।२४॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् गुरो ! (मा) मुझे (वर्चसा) तेज से (सं सृज) युक्त कर, (प्रजया सं) प्रजा से युक्त कर, (आयुषा सम्) दीर्घ आयु से युक्त कर । (अस्य) इस प्रकार के तेज और आयु से सम्पन्न इस (मे) मुझ को (देवाः) ज्ञानवान् विद्वान् पुरुप (विद्युः) जानें, और (ऋषिभिः) मन्त्रद्रष्टाओं, वेद के विद्वान् योगियों सहित (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रभु भी (विद्यात्) मुझे वैसा जाने । अर्थात् विद्वानों, अधिकारियों, ऋषियों और ईश्वर की साक्षिता में गुरु के अधीन ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का पालन करें ।

इ॒दमा॑पः॒ प्र व॑हतावद्यं॑ च॒ मलं॑ च॒ यत् ।
यच्चा॑भिदुद्रो॒हानृ॑तं॒ यच्च॑ शे॒पे अ॒भीरु॑णम् ॥ ३ ॥

ऋ० १।२३।२२॥ यजु० ६।१७॥

भा०—जिस कार जलों से मल धोकर बहा दिया जाता है उसी प्रकार हे (आपः) उत्तम ज्ञान और कर्मनिष्ठ आप्त पुरुषो ! आप लोग (इदम्) यह (अवद्यम्) निन्दायोग्य मेरे अन्तःकरण के नीच भाव और (मलं च) मैल, मलिन विचारों को (प्र वहत) बहा डालो, और अन्तःकरण को स्वच्छ कर दो । मेरे मन का अवद्य = निन्दनीय और मलिन कार्य यही है कि (यत्) जो मैं (च) प्रायः (अभि-दुद्रोह) दूसरों के प्रति द्वेष और द्रोह किया करता हूँ, और (अनृतम्) असत्य

३—'इदमापः प्रवहत यत्किञ्च दुरितं मयि । यद्वाहमभि दुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्' । इति ऋ० ॥

भाषण करता हूँ, और (यत् च) जो कुछ मैं (अभीरुणम् १) निर्भय, निरपराधी पुरुष को (शेपे) कठोर वचन कहता हूँ, अथवा निर्भय होकर मैं स्वयं दूसरों को बुरा भला कहता हूँ, उस मल को (आपः) आप्त वचन और आप्त पुरुष दूर करें।

एधौस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय ।
तेजौसि तेजो मयि धेहि ॥ ४ ॥ यजु० ३८ । २५ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (एधः असि) प्रकाशस्वरूप हो, मैं भी (एधिषीय) प्रकाशित होऊँ। हे परमेश्वर आप (समित् असि) अच्छी प्रकार दीप्तिमान् तेजस्वी हो, मैं भी (सम् एधिषीय) दीप्तिमान् तेजस्वी होऊँ। हे भगवन् ! (तेजः असि) आप तेजः-स्वरूप हो आप कृपा करके (मयि) मुझमें (तेजः) तेज को (धेहि) धारण कराइये।

---

[९०] नीच पुरुषों का दमन।

अंगिरा ऋषिः। मन्त्रोक्ताः देवताः। १ गायत्री। २ विराट् पुरस्ताद् बृहती। ३ त्र्यवसाना षट्पदा भुरिग् जगती। तृचं सूक्तम् ॥

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम् ।
ओजो दासस्य दम्भय ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ४० । ६ प्र० द्वि० ॥

---

१. 'उत्तमर्णाय देयं वस्तु ऋणमित्युच्यते तद् ऋणमभिप्राप्य' इति सायणः। 'अभीरुणमनपराधिनं, अनपराधी हि न बिभेति। यद्वा अभिलुनाति छिनत्ति कर्माणि, यदुच्चरितं सत् तदभीरुणम्' इति उव्वटः। 'निर्भयः' इति सन्दिग्धो ह्विटनिः। 'निर्भयः' इति दयानन्दः।

४–'समेधिषीय' इति पदं यजुषि नास्ति। 'एधोऽस्येधिषीमहि, इति यजु० ॥ अस्या ऋचो यजुर्वेदे प्रजापतिर्दीर्घतमाश्च ऋषि

भा०—हे राजन् अग्ने ! (व्रततेः इव) जिस प्रकार लताओं के (पुराण-वत्) पुराने (गुष्पितम्) झाड़ झंकाड़ को माली खोज २ कर काट डालता है उसी प्रकार तू (दासस्य) राष्ट्र में प्रजाजनों तथा धन सम्पत्ति का नाश करने वाले दुष्ट पुरुष के (ओजः) बल का (दम्भय) विनाश कर।

वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भजामहै।
म्लापयामि भ्रजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते ॥ २ ॥

ऋ० ८। ४०। ६ तृ० च० ॥

भा०—(वयम्) हम राष्ट्रवासी प्रजाजन (अस्य) इस दुष्ट पुरुष के (सं-भृतम्) इकट्ठे किये (वसु) धन को (इन्द्रेण) राजा के साथ मिलकर (वि भजामहे) विशेष रूप से बांट लें। हे दुष्ट पुरुष ! मैं (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ राजा की (व्रतेन) बनाई शासन व्यवस्था के अनुसार (ते) तेरी (भ्रजः) चमचमाती धन सम्पत्ति के (शिभ्रम्) गर्व को अभी (म्लापयामि) विनष्ट किये देता हूँ। जो दुष्ट पुरुष अपने धन के गर्व से दूसरों पर अत्याचार करे और औरों के परिवारों की इज्जत ले, राजा, अपने कानून से, उसका धन हर ले उसकी सम्पत्ति का एक भाग राजा अपने कोष में ले और एक भाग समाज के हितकारी कार्य में लगाये।

यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः।
अवस्थस्य क्नदीवतः शांकुरस्य नितोदिनः।
यदाततमव तत्तनु यदुत्ततं नि तत्तनु ॥ ३ ॥

[९०] २–वस्विन्द्रेण वि भजेमहि नभन्तामन्यके समे' इति विशिष्टः पाठभेदः ऋ० । प्रथमद्वितीययोर्ऋचो ऋग्वेदे नाभाकः काण्व ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते ॥

भा०—हे राजन् ! (अवस्थस्य) नीच दर्जे के (क्रदीवतः) गंवारों की तरह बकने और सबको कलह और लड़ाई, दंगा, फ़साद के लिये ललकारने वाले, (शांकुरस्य) कीले के समान सबके दिल में चुभने वाले, (नितोदिनः) सब को हर प्रकार से पीड़ा या व्यथा देने वाले का (यत्) जो धन, मकान आदि सम्पत्ति अथवा बल (आ-ततम्) फैला हो, (तत्) उसको (अव तनु) घटा दे, और (यत् उत् ततम्) जो पद या मान उन्नत अवस्था तक पहुंचा हो उसको (नि तनु) नीचा कर दे। जिससे उसका (शेपः) काम सम्बन्धी मद, दुराचार करने का बल (अप-अयातै) दूर हो जाय, और वह (स्त्रीषु) जन समाज में रहने वाली स्त्रियों तक (अनावयाः असत्) न पहुंच सके, और उनको प्रलोभन में फांस कर या बल, पद या अधिकार से दबाकर स्त्रियों की इज़्ज़त न ले सके। जो पुरुष दुराचारी अपने दुराचार से स्त्रियों पर बलात्कार करे और आचार में हीन, लोगों से कलहकारी होकर और लोगों को अपने दुराचार के कारण कष्ट देता है उसकी धन सम्पत्ति छीन ली जाय, उसका मान, पद, अधिकार घटा दिया जाय और समाज से बाहर कर दिया जाय जिससे उसके हाथों स्त्रियों का मान नष्ट न हो। ग्रीफ़िथ ने तीसरा मन्त्र अश्लील जानकर छोड़ दिया है। कारण, सायणने इस सूक्त को, कौशिक सूत्र का विनियोग देखकर व्यभिचारी 'जार' के पक्ष में बड़ी निर्लज्जता से लगाया है। ह्विटनी भी उसी प्रवाह में वह गया है। कौशिक ने केवल यह लिखा है कि इस सूक्त से 'बाधकं धनुर्विष्यति आशयेऽश्मानं प्रहरति।' व्यभिचारी को न आने देने के लिए धनुष से बाण फेंके या उसके संकेत स्थान पर पत्थरों से ठोके। कदाचित् कौशिक का यह अभिप्राय है कि व्यभिचारी आदमी को वेद के इस मंत्र की रूह से धनुष बाण से मारने और पत्थरों से उसको 'संगसार' करने का दण्ड देना चाहिए। यह उचित भी जान पड़ता है। मनु ने स्त्रीसंग्रह

प्रकरण में [मनु० २ । ३५२-३७२] दुराचारी स्त्री-व्यसनी पुरुष के कठोर दमन का विधान लिखा है ।

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि नव ऋचश्च चतुर्विंशतिः]

[९१] राजा के कर्त्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमाः (राजा) देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ४७ । १२ ॥ १० । १३१ । ६ ॥ यजु० २० । ५१ ॥

भा०—(सु त्रामा) प्रजा की उत्तम रीति से रक्षा करने हारा (इन्द्रः) राजा भी (अवोभिः) रक्षा करने के नाना उपायों से ही (सु-अवान्)[1] प्रजा की उत्तम रीति से रक्षा करने में समर्थ होता है । अथवा (अवोभिः) रक्षा के साधनों से (स्वऽवान्) राजा स्व = धन सम्पत्ति और राष्ट्र से सम्पन्न हो जाता है अथवा रक्षा के उपायों से ही बहुत से जन उसके अपने हो जाते हैं । (विश्व-वेदाः) और वह समस्त प्रकारों के धनसंचय करके राष्ट्र के लिए (सु-मृडीकः) उत्तम रीति से सुखकारी (भवतु) हो । राजा (द्वेषः) आपस में द्वेषकारी, अप्रीति करने या प्रेम का नाश करने वाले कलहकारी लोगों को (बाधताम्) पीड़ित या दण्डित करे । और (नः) हमें (अभयम्) समस्त राष्ट्रों में भयरहित (कृणोतु) कर दे जिससे हम निर्भय विचरते और व्यापार करते हुए भी (सु-वीर्यस्य) उत्तम बल सामर्थ्य के (पतयः) पति, स्वामी (स्याम) बने रहें । परमात्मपक्ष में स्पष्ट है ।

[९१] १. 'स्वऽवान्' इति पादपाठः । तत्र स्ववान् धनवानिति सायणादयः 'बहवः स्वे विद्यन्ते यस्य सः' इति दयानन्दः । परन्तु 'सुत्रामा, सुमृ-

[९२] उत्तम राष्ट्रपालक राजा।

अथर्वा ऋषिः । चन्द्रमाः (राजा) देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ४७ । १३ ॥ १० । १३१ । ७ ॥ यजु० २० ॥

भा०—(सु-त्रामा) राष्ट्र का उत्तम रक्षक, (सु-अवान्, स्ववान्) उत्तम रक्षा साधनों से सम्पन्न, अर्थशक्ति से सम्पन्न या बहुतसे सहायकों से युक्त होकर (सः) वह (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, प्रतापी राजा (द्वेषः) हमारे शत्रुओं को (अस्मत्) हमसे (आरात्) दूर से (चित्) ही (सनुतः) गुप्त अप्रत्यक्ष, साम, दान, भेद आदि सुगूढ़ उपायों द्वारा (युयोत) भेद डाले। (तस्य) ऐसे गुणवान् बुद्धिमान् (यज्ञियस्य) यज्ञ = पूजा और सत्कार के योग्य राजा के (सु-मतौ) उत्तम शासन या सम्मति में रहते हुए हम (भद्रे) कल्याण और सुखकारी (सौम-

डीकः सुवीर्यस्य इति सर्वत्र 'सु' प्रयोगे स्ववान् इत्यत्रापि 'सुऽअवान्' इत्येष सन्धिच्छेदः साधीयान् । तथाच ह्विटनिः 'इन्द्रः सुत्रामा स्ववान्'- Well saving. Well aiding' इत्यादि । 'सु' उपपदादवतेर्बहुशः प्रयोगाः । यथा—'सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम्' इति ऋग्वेदे (५।८।२) अग्नेर्विशेषणम् ईडेऽग्निं स्ववसं नमोभिः' (ऋ० ५ । ६०।१) 'स्वायुधं स्ववसं सुनीथं' इति (ऋ० १०।४७।२) इन्द्रस्य विशेषणम् । तत्र सूपपदादवतेरसुन्नौणादिकः इति 'स्ववान्' अन्यच्च, 'अवोभिः, स्ववान् इत्यत्र 'सु-अवान्' इत्येष पदच्छेदः सूपयोगः । अस्याः ऋग्वेदे सुकीर्तिः काक्षीवत ऋषिः ॥

९२] १–ऋग्वेदेऽस्या ऋचः पूर्वार्धपरार्धयोर्विपर्ययेण पाठः । अस्या ऋग्वेदे सुकीर्तिः काक्षीवत ऋषिः ।

नसे) शुभ-मनोभाव में (स्याम) रहें, अर्थात् उसके प्रति सदा अच्छा मनोभाव बनाये रक्खें। यदि राजा शत्रुओं से प्रजा की रक्षा न करके उनसे प्रजा का नाश कराता और निर्धन करता है या प्रजा का व्यर्थ शत्रु से युद्ध-कलह करके नाश कराता है तो प्रजा तंग आकर राजा का सत्कार नहीं करती और उसके प्रति दुर्भाव से रहती और द्रोह करती है।

[९३] राजा के पराक्रम से शत्रुओं का विजय।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रे॑ण मन्यु॒ना॑ व॒यम॒भि ष्या॑म पृतन्य॒तः। घ्नन्तो॑ वृ॒त्राण्य॑प्र॒ति ॥१॥

भा०—(मन्युना) ज्ञानदीप्ति, विवेक और असह्य तेज या प्रताप से युक्त मन्युस्वरूप (इन्द्रेण) राजाके साथ (वयम्) हम (पृतन्यतः) सेना द्वारा युद्ध करनेहारे शत्रुओं का और (वृत्राणि) सब प्रकार के विघ्नों और उपद्रवों का (अप्रति) सर्वथा, निःशेष रूप से (घ्नन्तः) विनाश करते हुए (अभि स्याम) जीत लें।

[९४] राजा का कर्त्तव्य, प्रजाओं में प्रेम उत्पन्न करना।

अथर्वा ऋषिः। सोमो देवता। अनुष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम् ॥

ध्रु॒वं ध्रु॒वेण॑ ह॒विषाव॒ सोमं॑ नयामसि।
यथा॑ न॒ इन्द्रः॒ केव॑ली॒र्विशः॒ संम॑नस॒स्कर॑त् ॥ १ ॥

ऋ० १०। १७३। ६ ॥ यजु० ७। २५ ॥

[९४] १—ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि। अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत्'। इति पाठभेदः, यजु०। (द्वि०) अभिसोमंमृशामसि। 'अथोत इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत् इति पाठः ऋ०। तत्र यजुर्वेदे भरद्वाज ऋषिः। ऋग्वेदेऽस्याः ध्रुव ऋषिः। राज्ञः स्तुतिर्देवता।

भा०—हम लोग (ध्रुवेण) ध्रुव, स्थिर (हविषा) अन्न आदि के अंश से (ध्रुवम्) स्थिर दृढ़ (सोमम्) प्रजा के सन्मार्ग में प्रेरक शासक को (अव नयामसि) अपने अधीन करते या स्वीकार करते हैं, अपनाते हैं। (यथा) जिससे (नः) हमारा (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, दर्शनीय, विघ्न-नाशक राजा (केवलीः) अपनी अनन्य साधारण (विशः) प्रजाओं को (सं-मनसः) अपने साथ मनोयोग देनेवाली, एकचित्त, समानचित्त, परस्पर का प्रेमी (करत्) बनावे, उनको संगठित और सुदृढ़ करे।

[९५] जीव के आत्मा और मनकी ऊर्ध्वगति।

कपिञ्जल ऋषिः। गृध्रौ देवते। अनुष्टुप् छन्दः। तृचं सूक्तम् ॥

उद॑स्य श्या॒वौ वि॑थु॒रौ गृध्रौ द्यामि॑व पेततुः।
उ॒च्छो॒च॒न॒प्र॒शो॒च॒ना॒व॒स्योच्छोच॑नौ हृ॒दः ॥ १ ॥

भा०—(अस्य) इस जीव के (विथुरौ) व्यथादायी या व्यथित (गृध्रौ) लोकान्तर की आकांक्षा करने वाले आत्मा और मन अथवा आत्मा और प्राण (श्यावौ गृध्रौ इव) दो श्यामरंग के गीध जिस प्रकार (द्याम्) आकाश में उड़ते हैं उस प्रकार अत्यन्त गतिशील, तीव्र वेग-वान् होकर (उत् पेततुः) ऊपर उठते हैं। दोनों उस समय उसके (हृदः) हृदय को अपने तीव्र वेग और ताप से (उत्-शोचनौ) अति अधिक कान्ति देने वाले होते हैं इसलिये उनका नाम भी (उत्-शोचन-प्रशोचनौ) उत्शोचन और प्रशोचन हैं। वे दोनों उस समय हृदय के अग्रभाग को प्रदीप्त करते हैं। और शरीर को संतप्त करते हैं।

"तस्य हैतस्य हृदयमग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति। चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति। प्राणमनु उत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति इत्यादि।" बृहदारण्यकोपनिषत् ॥ ४।४।२ ॥

देहावसानकाल में आत्मा की समस्त शक्तियां आत्मा में लीन होकर एक हो जाती हैं। और तब हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होता है। वह आत्मपुञ्ज हृदय या आँख या सिर भाग से निकल जाता है। और आत्मा के साथ इन्द्रियगण भी शरीर को छोड़ देते हैं बृहदारण्यक का यह स्थल विशेष दर्शनीय है।

अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव।
कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥ २ ॥

भा०—(श्रान्तसदौ गावौ इव) थककर या हारकर बैठे हुए बैलों को जिस प्रकार उनका गाड़ीवान् पुनः उनकी पूंछ मरोड़कर फिर उठाता है, और जिस प्रकार (कूजन्तौ) गुर्राते हुए (कुर्कुरौ-इव) कुत्ते ऊपर को उछलते हैं, और जिस प्रकार (उत् अवन्तौ) ऊपर को झपटते हुए (वृकौ इव) भेड़िये उछलते हैं उसी प्रकार (अहम्) मैं परमात्मा, शरीर के जीर्ण हो जाने पर (एनौ) इन दोनों जीव और मनको (उत्-अतिष्ठिपम्) उपर को खैंच लेता हूं।

आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत।
अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमान् जभार ॥ ३ ॥

भा०—ये दोनों मरण काल में शरीर से निकलते समय इस शरीर में (आ-तोदिनौ) सर्वत्र व्यथा उत्पन्न करते हैं, (नि-तौदिनौ) खूब ही तीव्र वेदना उत्पन्न करते हैं (नि-तोदिनौ) समस्त अंगों में व्यथा उत्पन्न किया करते हैं। (यः) जो भी जीव (स्त्री) चाहे वह स्त्री हो और (पुमान्) चाहे वह पुरुष हो तो भी (इतः) इस लोक से (जभार[1]) दूसरे लोक में जाता है। मैं मृत्यु रूप व्यवस्थापक ईश्वर (अस्य) इस शरीरधारी प्राणी के (मेढ्रम्) लिंग भाग को

१. हृ गतौ इत्यस्य 'जभार' गच्छामीत्यर्थः ॥

(अपि नह्यामि) बांध देता हूं। मरणासन्न जीव को जीवन के अन्तिम समय में मूत्र नहीं आता।

'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः इदं च परलोकस्थानं च। साध्यं तृतीयं स्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने पश्यति' इत्यादि बृहदारण्यक उप० ४। ३। ९॥ कौशिक सूत्रकारने मण्डूक का शिर काटने में इस मन्त्र का विनियोग किया है। ठीक है। मनोविज्ञान और जीवन-विज्ञान के जानने के लिये मेंढक का सिर काट कर नाड़ी और प्राणों की गति के उत्तम निरीक्षण करने की विधि वर्तमान के वैज्ञानिकों के अनुसार प्राचीन काल में भी थी। जिसको सायणादि ने नहीं समझा।



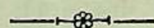
[९६] जीव की शरीरप्राप्ति का वर्णन।

कपिञ्जल ऋषिः। वयो देवता। अनुष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

असदन् गाव सदनेऽपप्तद् वसतिं वयः।
आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम्॥ १॥

भा०—(गावः) जिस प्रकार गौवें अपने (सदने) घर में (असदन्) आकर बैठती हैं उसी प्रकार (गावः) इन्द्रियगण (सदने) अपने आयतन, भोगाश्रय शरीर में (असदन्) आकर बैठ जाती हैं। और जिस प्रकार (वयः) पक्षी (वसतिम्) अपने घोंसले में आकर बैठता है उसी प्रकार यह जीवात्मा अपने (वसतिम्) वासस्थान देह को (उपपप्तत्) प्राप्त कर लेता है। और उस देह में (पर्वताः) पोरुवाले अङ्गों में स्थित हड्डियां भी (आ-स्थाने) ठीक ठीक स्थान पर (तस्थुः) स्थिर हो जाती हैं और (स्थाम्नि) ठीक ठीक स्थान पर मैं परमेश्वर जीव के शरीर में (वृक्कौ) गुर्दे आदि अङ्गों को (अतिष्ठिपम्) स्थापित करता हूं।

गर्भाशय में प्रथम इन्द्रियें, फिर जीव आता है, और फिर हड्डियां और उसके पश्चात् गुर्दे और फेफड़े आदि बनते हैं।



[९७] ऋत्विजों का वरण।

यज्ञासमृणकामोऽथर्वा ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । १–४ त्रिष्टुभः, ५ त्रिपदार्षी भुरिग् गायत्री, ६ त्रिपाद् प्राजापत्या बृहती, ७ त्रिपदा साम्नी भुरिक् जगती । ८ उपरिष्टाद् बृहती । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

यद॒द्य त्वा॑ प्रय॒ति य॒ज्ञे अ॒स्मिन् होत॑श्चिकित्व॒न्नवृ॑णीमही॒ह ।
ध्रु॒वम॑यो ध्रु॒वमु॒ता श॑विष्ठ प्रवि॒द्वान् य॒ज्ञमुप॑ याहि॒ सोम॑म् ॥१॥

ऋ० ३। २६। १६ ॥ यजु० ८। २० ॥

भा०—हे (चिकित्वन्) ज्ञानवन्, विद्वन्, ब्रह्मन्! हे (होतः) ज्ञान प्रदान करने हारे देव, विद्वान् पुरुषों को उपदेश करने और उनको अपने उपदेशों के प्रति आकर्षण करने में समर्थ! (यत्) क्योंकि हम यजमान लोग (इह) इस अवसर पर (अद्य) आज (अस्मिन्) इस (यज्ञे प्रयति) यज्ञ के प्रारम्भ होने के समय (अवृणीमहि) आप को ऋत्विक् रूप से वरण करते हैं, इसलिये आप (ध्रुवम्) निश्चयपूर्वक (अयः) यज्ञ करें या यज्ञ में आवें, (उत) और हे (शविष्ठ) शक्तिमन्! आप (प्र-विद्वान्) उत्तम कोटि के विद्वान् होकर (सोमम् यज्ञम्) सोमयज्ञ में (ध्रुवम्) अवश्य (आ उप याहि) आइये, पधारिये। अथवा हे (शविष्ठ यज्ञं प्रविद्वान् ध्रुवं सोमम् उपयाहि) शक्तिमन्! आप यज्ञ को भली प्रकार जानते हुए सोम-यज्ञ में पधारें। अथवा सोम-रस का पान अवश्य करें।

[९७] १– (द्वि०, तृ०) 'चिकित्वोऽवृणीमहीह। ध्रुवमयो ध्रुवमुताशमिष्ठाः' इति ऋग्वेदे पाठभेदः। 'वयं हि त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह। ऋधगया ऋधगुता शमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्॥ इति याजुषः पाठः। (तृ०) ऋधगयाट्' (च०) विद्वान् प्रजानन्नुपयाहि यज्ञम्। ऋग्वेदेऽस्या विश्वामित्र ऋषिः।

अध्यात्म पक्ष में; परमात्मा के प्रति सम्बोधन करके लगता है।

समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या।
स ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानाम् ॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! परमेश्वर! (नः) हमें (मनसा) मननशील चित्त और (गोभिः) इन्द्रियों सहित या वेदवाणियों द्वारा (सं नेष) समान रूप से उत्तम मार्ग में ले चल। हे इन्द्र! राजन्! हमें (सूरिभिः) ज्ञानी विद्वानों के साथ (सं नेष) मिला। हे (हरि-वन्) दुःखहारी ज्ञान और कर्मनिष्ठ विद्वन्! हमें (स्वस्त्या) कल्याणमय उत्तम फल से (सं नेष) युक्त कर। और (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद, ज्ञान द्वारा, (यत्) जो कुछ (देव-हितम्) विद्वानों और शिल्पज्ञ श्रेष्ठ पुरुषों को हितकारी या देव = दिव्य पदार्थों में स्थित, गुण या ज्ञानी पुरुषों में विद्यमान ज्ञान और तप है उसको भी हमें (सं नेष) प्राप्त करा और (यज्ञियानाम्) यज्ञ के योग्य, यज्ञशील (देवानाम्) देव विद्वान् पुरुषों की (सु-मतौ) शुभ सम्मति में हमें (सं नेष) चला। गौण रूप से धनैश्वर्य आदि सम्पन्न विद्वान्, सत्तावान् गृहस्थ के प्रति, प्रजाओं का, यह वचन भी उपयुक्त है।

यानावह उशतो देव देवांस्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे।
जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि ॥३॥

यजु० ८। १९॥

२–(प्र०) 'समिन्द्रणो' (द्वि०) 'सं सूरिभिर्वा सं स्वस्ति' (च०) 'सुमतया यज्ञियानाम्' इति ऋग्वेदीयः पाठभेदः। (प्र०) 'समिन्द्रणो,' (द्वि०) संसूरिभिर्मघवन्' (तृ०) 'सं ब्रह्मणा देवकृत' (च०) 'यज्ञियानां स्वाहा' इति याजुषाः पाठभेदाः ऋग्वदेऽस्या अत्रिर्ऋषिः।

३–(प्र०) 'यां आवहा' (द्वि० तृ०) 'पपिवांसश्च विश्वेऽसुं घर्मं स्वराति-ष्ठाताऽनु' इति यजु० ॥

भा०—हे अग्ने ! अग्नि के समान दुष्टों के संतापक (देव) राजन् ! तू (उशत:) नाना पदार्थों, धन, गौ आदि पशु, आजीविका, दान दक्षिणा आदि के अभिलाषा करने वाले (यान्) जिन (देवानाम्) विद्वान् शिल्पी और गुणी विज्ञ पुरुषों को (आ-अवहः) स्वयं अपने समीप या अपने राज्य में बुलाता है (तान्) उनको (स्वे) अपने २ (सधस्थे) संघों में रहने की (प्रेरय) प्रेरणा कर । हे (वसवः) राष्ट्र में निवास करने हारे विद्वान् शिल्पी गुणी विज्ञ पुरुषो ! तुम लोग इस राजा के राष्ट्र में (जक्षि-वांसः) उत्तम अन्नों को खाते हुए और (मधूनि) मधुर दुग्ध आदि पदार्थों का (पपि-वांसः) पान करते हुए (वसूनि) नाना प्रकार के वासयोग्य धन, रत्न, सुवर्ण और मकान आदि को (धत्त) स्वयं धारण करो और राजा को भी प्रदान करो ।

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः ।
वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥४॥

यजु० ८ । १८ ॥

भा०—राजा का विद्वान् गुणज्ञों के प्रति वचन । हे (देवाः) विद्वान् गुणज्ञ पुरुषो ! (वः) आप लोगों के लिये (सुगा) सुख से प्राप्त करने, एवं निवास करने योग्य (सदना) घर (अकर्म) बना देते हैं । (ये) जो आप लोग (जुषाणाः) प्रेम से युक्त होकर (सदने) इस राष्ट्रमय यज्ञ या मेरी प्रेरणा में (आ-जग्म) आते हैं वे आप लोग (स्वा) अपने अपने योग्य (वसूनि) वास करने के निमित्त उचित वेतन आदि धनों को (भरमाणाः) लेते हुए (वसु) अपने विज्ञान और शिल्प रूप (घर्मम्) प्रकाशमान (दिवम्) हुनर को (अनु आ रोहत) मेरे राष्ट्र के अनुकूल या आवश्यकतानुकूल प्रादुर्भाव करो,

४–'य आजग्मेद सवनं जुषाणाः' (तृ०) 'वहमाना हवींष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा' इति यजु० ।

बढ़ाओ, उसका अभ्यास करो और बढ़ाओ। अथवा (वसु घर्मं दिवं आ रोहत अनु) वास योग्य, प्रकाश से युक्त स्वर्ग समान उत्तम पद पर आरूढ़ होओ।

तीसरा और चौथा दोनों मन्त्र अध्यात्म पक्ष में बड़े स्पष्ट हैं।

(१) (यान् उशतः आवह हे देव तान् अग्ने स्वे सधस्थे प्रेरय) हे देव आत्मन् ! अग्ने ! मुख्य प्राण ! सबके नेतः ! विषयों की अभिलाषा करने वाली जिन इन्द्रियों को तुम धारण करते हो उनको अपने अपने स्थान में प्रेरित करो। (जक्षिवांसः पपिवांसो मधूनि अस्मै वसूनि धत्त) हे वासकारी प्राणो ! तुम इस देह में कर्म-फल भोगते और विषय-रस का पान करते हुए भी मधुरज्ञान आत्मा को प्रदान करो।

(२) (हे देवाः वः सुगा सदना अकर्म्ये मे जुषाणाः आजग्म) हे प्राणगण ! देवो ! जो आप मुझ आत्मा के जीवनमय यज्ञ में मेरे से प्रीति रखते हुए आगये हो तो तुम्हारे लिये सुख से गमन करने योग्य इन्द्रिय-आयतनों को मैंने बना दिया है। (स्वा वसूनि वहमानाः भरमाणाः वसु धर्मं दिवम् अनु आरोहत) अपने अपने प्राणों को धारण करते हुए और ज्ञान को धारण करते हुए पुनः प्रकाशस्वरूप मोक्षानन्द को प्राप्त करो। इसी शैली पर यह वचन ईश्वर का मुक्त और भक्त आत्माओं के प्रति भी जानना चाहिये।

यज्ञ य॒ज्ञं ग॑च्छ य॒ज्ञप॑तिं गच्छ। स्वां योनिं॑ गच्छ॒ स्वाहा॑ ॥५॥

यजु० ८। २२ ॥

भा०—हे (यज्ञ) आत्मन्, समाधि द्वारा ईश्वर के साथ संगति लाभ करने हारे आत्मन् ! तु (यज्ञम्[1]) उस पूज्य यज्ञरूप परमेश्वर को (गच्छ) जा, प्राप्त हो। हे आत्मन् ! तू तो उसी (यज्ञ-पतिम्)

५—१ यज्ञं परमात्मानं विष्णुमिति सायणः।

समस्त यज्ञों, जीवों के पालक प्रभु को (गच्छ) प्राप्त कर। (स्वाहा) यह कितना अच्छा आदेश है कि तू (स्वाम्) अपने (योनिम्) परम आश्रयस्थान, स्वयोनि, आत्मभू, स्वयम्भू प्रभु को ही (गच्छ) प्राप्त हो। बस यही (स्वाहा) सबसे उत्तम आहुति अपना परमसर्वस्व है। आत्मा को परमात्मा में समर्पण करे।

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः। सुवीर्यः स्वाहा ॥ ६ ॥

यजु० ८। २२ ॥

भा०—हे (यज्ञ-पते) समस्त यज्ञों के स्वामिन्! (एषः) यह भी महान् (यज्ञः) ब्रह्माण्ड, यह देह और यह आत्मा जिसमें इन्द्रिय मन प्राण आदि संगत हैं अथवा यह यज्ञ अर्थात् जो समाधि काल में तेरा संग लाभ हुआ है (ते) तेरा ही है। यही स्वतः (सहसूक्त-वाकः) सुन्दर सुन्दर स्तुति वचनों, मन्त्रों द्वारा वर्णन किया जाता है। और (सु-वीर्यः) उत्तम बल का देने वाला है। (स्वाहा) बस, यह आत्मा, हे परमात्मन्! तेरे भीतर अपने को लीन कर देता है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ गीता ॥

दोनों मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ स्पष्ट है।

वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः।
देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥ ७ ॥

यजु० २। २० अस्या उत्तरार्धः। यजु० ८। २१ अस्या० पूर्वार्धः ॥

भा०—यज्ञ में (हुतेभ्यः) हवन करानेहारे विद्वानों को (वषट्) दान दिया जाय और (अहुतेभ्यः) जो हवन न करने वाले भी हों ऐसे दर्शकों के भी सत्कारार्थ (वषट्) कुछ दिया जाय। और इसके पश्चात्

६—'सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा' इति यजु०

७—५, ६, ७ एषां त्रयाणां मन्त्राणामत्रिर्मनसस्पतिर्वा ऋषिः। यजु०।

यजमान कहे—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (गातुविदः) सब मार्गों को जानते हैं। आप लोग (गातुम्) मार्ग को (वित्त्वा) भली प्रकार जानकर (गातुम् इत) अपने घर के मार्ग में पधारो। अर्थात् यज्ञ में आये विद्वानों को दान दक्षिणा देकर यजमान आदर पूर्वक उनको उत्तम मार्ग बतला कर मार्ग की सुविधाएं करके उनको विदा करे।

अध्यात्म पक्ष में—हुत और अहुत दोनों प्रकार के साधकों के लिये 'वषट्' वही आत्मसमर्पण का मार्ग है। हे (देवाः) विद्वान् योगिजनो ! आप लोग (गातु-विदः) गन्तव्य परमपद को जानने हारे हो, इसलिये (गातुं वित्त्वा) उस गन्तव्य पद को जानकर (गातुम् इत) उस परम गन्तव्य मोक्ष पद को प्राप्त करो। अथवा, मार्ग, गातु, सेतु इत्यादि सब शब्द परम देवमार्ग, परायण, मोक्ष, ब्रह्म के वाचक हैं।

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम्।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा॥

यजु० ८। २१ उत्तरार्धः।८

भा०—(मनसस्पते) हे मननशील आत्मा और चित्त के स्वामिन् परमात्मन् ! अन्तर्यामिन् ! मैंने (देवेषु) देव अर्थात् इन्द्रियगणों में व्यापक (इमं यज्ञम्) इस यज्ञस्वरूप अपने आत्मा को (दिवि) तेजस्वरूप परम मोक्षपद में (धाम्) धर दिया, उसी में अर्पित कर दिया है। यह उसी (दिवि) परम तेजोमय ब्रह्म में (स्वाहा) अच्छी प्रकार आहुत (स्वाहा) लीन हो जाय, (पृथिव्याम्) उस सर्वाधार महान् ब्रह्म में यह आत्मा (स्वाहा) स्वयं लीन हो, (अन्तरिक्षे) सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक परब्रह्म में (स्वाहा) यह स्वयं लीन हो, (वाते) सर्व प्राणरूप सर्वाधार प्रभु में (स्वाहा) यह आत्मा लीन हो।

८—'मनसस्पते इमं देवं यज्ञं स्वाहा वाते धाः' इति याजुषः पाठः।

[९८] अध्यात्म यज्ञ।

अथर्वा ऋषिः। मन्त्रोक्ता बर्हिर्देवता। विराट् त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्॥

सं बर्हिरक्तं हविषा घृतेन समिन्द्रेण वसुना सं मरुद्भिः।
सं देवैर्विश्वदेवेभिरक्तमिन्द्रं गच्छतु हविः स्वाहा॥ १॥

यजु० २। २२॥

भा०—यह आत्मा (हविषा) ज्ञान और (घृतेन) तेज से (सम् अक्तः) सम्पन्न हो गया है, तेजोमय या प्रकाशित हो गया है। यह (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् मुख्य (वसुना) प्राण और (मरुद्भिः) अन्य गौण प्राणों से भी (सम अक्तम्) सम्पन्न हो गया है। यह (देवैः विश्वदेवेभिः) देव, विद्वानों समस्त दिव्य शक्तियों और समस्त कामनाओं से (सम् अक्तम्) सम्पन्न होकर, यज्ञ में आहुति के निमित्त, (बर्हिः) धान्य के समान बीजभूत एवं शम दम आदि से वृद्धिशील आत्मा, (हविः) स्वयं ज्ञानमय हवि होकर (इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यमय परमेश्वर को (गच्छतु) प्राप्त हो। (स्वाहा) यह आत्मा स्वयं अपने प्रति इस प्रकार कहता है या यही सबसे उत्तम आहुति है।

[९९] गृहस्थ को उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। जामिभूता वेदिर्मन्त्रोक्ता देवता। उत्तरा भुरिक् त्रिष्टुप्। एकर्चं सूक्तम्॥

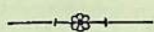
परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम्।
होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके॥१॥

[९८] १-(प्र०) 'संबर्हिरङ्क्तां' (द्वि०) 'समादित्यैर्वसुभिः सः' (तृ०) समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां (च०) दिव्ये नभो गच्छतु स्वाहा' इति याजुषाः पाठभेदाः।

१. अमुया इत्यत्र द्वितीयायाः स्थाने 'याच्' आदेशः, इति सायणः।

भा०—हे यजमान गृहस्थ ! जिस प्रकार यज्ञ की वेदि को कुशाओं से आच्छादित किया जाता है उसी प्रकार (वेदिम्) पुत्र आदि सन्तान प्राप्त करने के साधन स्वरूप इस स्त्री को (परि स्तृणीहि) सब प्रकार से उसका धारण और पोषण कर। (अमुया[1]) इस (शयानाम्) सोती हुई (जामिम्) सन्तान उत्पन्न करने हारी स्त्री को (मा मोषीः) कभी मत छल, उससे कुछ मत छिपा, उससे चोरी करके कुछ मत कर। (होतृ-सदनम्) होता, सबके देने वाले परमेश्वर या प्रजापति का सदन, स्थान (हरितम्) बड़ा मनोहर हरियाले धान्यों से पूर्ण और (हिरण्यम्) सुवर्ण से भरपूर हितकारी और रमण योग्य है। और (यजमानस्य) यज्ञ करने हारे, गृहस्थ सम्पादन करने वाले पुरुष के (लोके) स्थान में भी (एते) ये नाना प्रकार के (निष्काः) सुवर्ण के सिक्के हैं। जब सब धन धान्य से पूर्ण और सुवर्ण से भरपूर ईश्वर के ख़जाने हैं और गृहस्थ के घर में भी नाना धन हैं तो उसे चाहिये कि अपनी स्त्री को अच्छे वस्त्र पहनावे और उत्तम भोजन खिलावे, पुष्ट करे।

'योषा वै वेदिः वृषा अग्निः' श० १।२।५।१२॥



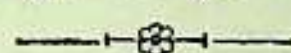
[१००] दुःस्वप्न का नाश करना।

यम ऋषिः। दुःस्वप्ननाशनो देवता। अनुष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

पर्यावर्ते दुःष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्याद्भूत्याः।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः॥ १॥

भा०—मैं (दुःस्वप्न्यात्) बुरे स्वप्न से उत्पन्न हुए (पापात्) पाप से (परि आवर्ते) परे रहूँ। और (अभूत्याः) अनिष्ट के (स्वप्न्यात्) संकल्प से उत्पन्न (पापात्) पाप से भी परे रहूँ। (अहम्) मैं (अन्तम्) दोष और अपने बीच में (ब्रह्म) पवित्र ईश्वर के नाम-

स्मरण या पवित्र मन्त्र को (कृण्वे) पाप का बाधक बना लेता हूँ, इससे (स्वप्न-मुखाः) असत्संकल्पों से उत्पन्न होने वाली (शुचः) हृदय की संतापजनक प्रवृत्तियां (परा कृण्वे) दूर कर दूं। अथवा उस पवित्र संकल्प द्वारा (स्वप्न-मुखाः) स्वप्न के उपकारी (शुचः) दुर्विचारों को (परा कृण्वे) दूर कर दूं।

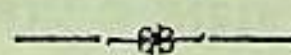


[१०१] दुःस्वप्न को दूर करने का उपाय।

यम ऋषिः। दुःस्वप्ननाशनो देवता। अनुष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा॥ १॥

भा०—(यत्) जो कुछ (स्वप्ने) स्वप्न में मैं (अन्नम्) अन्न आदि पदार्थ (अश्नामि) भोग करता हूँ, खाता हूं, वह (प्रातः) सवेरे उठ कर (न अधि-गम्यते) सत्य नहीं पाया जाता। इसलिये मैं संकल्प करता हूं कि (तत् सर्वं) वह सब जो मैं स्वप्न में भी देखूं या करूं (मे) मेरे लिये (शिवं) कल्याणकारी (अस्तु) हो, क्योंकि (तत्) वह स्वप्न का देखा या किया (दिवा) जागने पर दिन के समय (नहि दृश्यते) दीखता भी नहीं। इसलिये व्यर्थ स्वप्न के देखे सुने पर शोक न करे, प्रत्युत अपने चित्त को दृढ़ करके उसे 'असत्' समझे।



[१०२] विचारपूर्वक उन्नति का संकल्प।

प्रजापतिर्ऋषिः। द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं मृत्युश्च देवताः। विराट् पुरस्ताद् बृहती। एकर्चं सूक्तम्॥

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मां हिंसिषुरीश्वराः॥ १॥

भा०—(द्यावापृथिवीभ्याम्) द्यु और पृथिवी अर्थात् माता और पिता को (नमःकृत्य) नमस्कार करके और (अन्तरिक्षाय) अन्तर्यामी परमेश्वर और (मृत्यवे) सब के संहारक परमेश्वर को (नमस्कृत्य) नमस्कार करके (ऊर्ध्वः) ऊंचे, सीधा (तिष्ठन्) खड़ा होकर (मेक्षामि) चलूं । (ईश्वराः) ये मेरे ईश्वर, मेरे स्वामी (मा) मेरा (मा हिंसिषुः) विनाश न करें ।

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वादश सूक्तानि, ऋचश्चैकविंशतिः]



[१०३] प्रजापति ईश्वर का वर्णन।

ब्रह्मा ऋषिः । आत्मा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन् ।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ १ ॥

भा०—(कः) प्रजापति राजा और परमेश्वर वा कौन (क्षत्रियः) क्षत्रिय, बलवान् (वस्यः)[1] उत्तम फल की (इच्छन्) अभिलाषा करता हुआ (नः) हमें (अस्याः) इस अद्भुत (अवद्यवत्याः) निन्दा योग्य, घृणित (द्रुहः) पारस्परिक द्रोह से (उत् नेष्यति) ऊपर उठाएगा । ईश्वर या प्रजापति के सिवाय कौन दूसरा (यज्ञकामः) इस महान् यज्ञ को, जिसमें लक्षों जीव परस्पर संगति किये जा रहे हैं, चलाने की इच्छा करता है, और इस महाप्रभु के सिवाय (कः) कौन दूसरा है जो (पूर्तिकामः) इस समस्त संसाररूप यज्ञ को पूर्ण करने की अभिलाषा रखता है और (कः) प्रजापति ईश्वर के सिवाय और कौन है जो (देवेषु) सूर्य, चन्द्र आदि दिव्य तेजोमय पदार्थों में

[१०३] १. 'वस्वः वसीयः प्रशस्तं फलम्' इति सायणः ।

विद्वान् तपस्वी पुरुषों में (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) जीवन को (वनुते) प्रदान करता है। इस प्रकार समस्त जीवों में प्रेमभाव उत्पन्न करके परस्पर के घातप्रतिघात को मिटाने वाला, जीव संसार को हिंसा-प्रतिहिंसा के भावों को हटाकर उन्नत करने वाला, संसार को चलाने हारा, पूर्ण करनेहारा और दीर्घ जीवन का दाता विश्व का आत्मा वही प्रभु है। इसी प्रकार प्रजाओं में परस्पर के झगड़े मिटाने वाला, एक दूसरे की प्रतिहिंसा के भाव को हटाकर उन्नत करनेवाला, राष्ट्रयज्ञ के चलाने और पूर्ण करने वाला, राष्ट्र का आत्मा, राजा प्रजापति है। शरीर में वीर्यवान् एवं कर्ता, आत्मा ही वैसा प्रजापति है।

---

(१०४) प्रजापति ईश्वर।

ब्रह्मा ऋषिः। आत्मा देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। एकर्चं सूक्तम्॥

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम्।
बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति॥ १॥

भा०—(कः) प्रजापति के सिवाय और कौन है जो (पृश्निम्) श्वेत वर्ण, उज्ज्वल अथवा ब्रह्मानन्द के भीतरी रस का आस्वादन करने वाली, (वरुणेन) सर्व विघ्ननिवारक परम राजा प्रभु ईश्वर की (अथर्वणे) ज्ञानवान्, अहिंसित नित्य आत्मा को (दत्ताम्) प्रदान की हुई दुधारी सुशील गाय के समान (सु-दुघाम्) आत्म-सुख प्रदान करने और (धेनुम्) रसपान करने वाली (नित्य-वत्साम्) नित्य मनोरूप वत्स के साथ जुड़ी हुई अथवा (नित्यवत्साम्) नित्य निवास करने-हारी अविनाशिनी शक्ति को (बृहस्पतिना) वाणी के पालक प्राण के साथ (सख्यम्) मैत्रीभाव को (जुषाणः) रखता हुआ या परस्पर प्रजा के साथ उस शक्ति से प्रेम ममत्व का सम्बन्ध करता हुआ, (यथा-वशम्)

अभिलाषा या इच्छा के अनुसार (तन्वः) इस शरीर के भीतर (कल्प-याति) सामर्थ्यवान् बनाता है । अर्थात् इस शरीर में नित्य चेतनाशक्ति को प्राण के साथ जोड़कर उसे शरीर के भीतर इच्छानुसार कार्य करने को समर्थ कौन बनाता है ? वह प्रभु ही बनाता है । वरुण देव ने अथर्वा को गाय दी इत्यादि प्ररोचनामात्र है ।

---

[१०५] वेद के शासनों पर आचरण करो ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

भा०—(पौरुषेयाद्) पुरुषों या सामान्य लोगों की स्तुति और निन्दाओं की कथाओं से (अपक्रामन्) परे रहते हुए हे ज्ञानवान् साधक ! तू (दैव्यम्) देव, परमेश्वर की (वचः) पवित्र वाणी वेद को (वृणानः) सबसे उत्कृष्ट रूप में स्वीकार कर अपने (विश्वेभिः) समस्त (सखिभिः) मित्रों सहित (प्रणीतीः) वेद के प्रतिपादित, उत्तम न्यायानुकूल मार्गों और सत् शिक्षाओं पर और वेद के आदेशों पर (अभि-आवर्तस्व) आचरण कर । गुरु उपनयन और समावर्त्तन के अवसरों पर अपने शिष्यों को इस मन्त्र का उपदेश किया करते थे ।

[१०६] ज्ञानवान् विद्वान् और ईश्वर से अपनी भूल चूक पर रक्षा की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता अग्निर्जातवेदा वरुणश्च देवते । बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

यदस्मृति चकृम किंचिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः ।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥१॥

भा०—हे अग्ने ! ज्ञानवन् ! विद्वन् ! अपराधियों को अग्नि के समान पीड़क राजन् ! हम (यद्) जा कुछ (अस्मृति) विना विचारे, विना जाने, भूल चूक से (किंचित्) कुछ भी (चकृम) कर जायं और हे (जातवेदः) वेदज्ञान के जानने और अन्यों को जनानेहारे विद्वन्! राजन् ! और जो कुछ (चरणे) सत् आचरण में (अस्मृति) विना विचारे, भूलचूक से (उपारिम) चूक जायं, सत् आचरण न कर सकें, हे (प्रचेतः) सबसे उत्कृष्ट ज्ञान से सम्पन्न प्रभो ! विद्वन् ! (त्वम्) तू (ततः) उससे होने वाले अनर्थ से (नः) हमें (पाहि) बचा । और (शुभे) हमारे कल्याण के निमित्त (नः) हमें (सखिभ्यः) हमारे समान अन्य मित्र बन्धुजनों को (अमृतत्वम्) अमृत मोक्षपद, परमानन्द का (अस्तु) लाभ हो ।

[१०७] सूर्य की किरणों का कार्य

भृगुर्ऋषिः । सूर्य आपश्च देवताः । अनुष्टुप् छन्दः । एकर्चं सूक्तम् ॥

अव॑ दि॒वस्ता॑रयन्ति स॒प्त सूर्य॑स्य र॒श्मय॑: ।
आप॑: समु॒द्रिया॒ धारा॒स्तास्ते॑ श॒ल्यम॑सिस्रसन् ॥ १ ॥

भा०—(दिवः) द्योतमान प्रकाशस्वरूप (सूर्यस्य) सूर्य के (सप्त) सात प्रकार के (रश्मयः) किरण (समुद्रियाः) समुद्र के या अन्तरिक्ष या मेघ के (आपः) जलों को (धाराः) धारारूप में (अव तारयन्ति) नीचे भूमि पर लाते हैं । (ताः) वे धारामें हे पुरुष ! (ते) तेरे (शल्यम्) कष्टों का (असिस्रसन्) नाश करें । समुद्र का जल सूर्य की किरणों से मेघ रूप होकर जल रूप से बरसता है उससे समस्त प्राणी अन्न प्राप्त कर सुखो होते हैं और कष्टों को भुला देते हैं ।

त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥
यदा त्वमभिवर्षसि अथेमाः प्राणते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायाऽन्नं भविष्यति ॥ १० ॥
प्रश्नोप० २ ॥ १० ॥

---

[१०८] हत्याकारी अपराधियों को दण्ड ।

भृगुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । १ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्, २ त्रिष्टुप् । द्वृचं सूक्तम् ॥

यो नस्तायद् दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने ।
प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान् मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम् ॥१॥

भा०—(यः) जो (नः) हम में से (तायत्) छुपकर चोर के समान (दिप्सति) दूसरे की हत्या करना चाहता है, और (यः) जो (नः) हम में से कोई (आविः) प्रत्यक्ष रूप में दूसरे को मारना चाहता है वह (स्वः) चाहे अपना बन्धु हो या (विद्वान्) ज्ञानवान् भारी पण्डित हो, यदि वह (नः) हम में से, हमारे जनसमुदाय के लिये (अरणः) दुःखदायी है तो (दत्वती) दांतोंवाली (अरणिः[१]) कष्टदायनी, उसे खा जानेवाली पीड़ा या पीड़ाकर यन्त्रणा (प्रतीची) जो उसकी इच्छा के प्रतिकूल हो वह (तान्) उनको (एतु) अवश्य प्राप्त हो । हे अग्ने ! शत्रुसंतापक राजन् ! (एषा) ऐसे हत्याकारी षड-यन्त्री घातक लोगों के पास (वास्तु) निवास के लिये अपना स्वतन्त्र घर (मा भूत्) न हो प्रत्युत वे सरकार की कैद में रहें और (मा उ अपत्यम् भूत्) ऐसे नीच हिंसक लोगों की कोई सन्तान भी न हो ।

---

[१०८] १–अरणि = आर्तिकारिणी, कष्टदायिनी वेड़ियां । सम्भवतः लोहे की शृंखला को अरणि कहा जाता हो और अंग्रेजी का Iron = आयरन शब्द इसी का अपभ्रंश हो ।

यदि ऐसे पुरुषों की सन्तान उनकी ही दायभागिनी समझी जायेगी तो उनका हत्या द्वारा धन प्राप्त करने का पेशा परम्परा से फैलेगा। इसलिये ऐसा हत्याकारी पुरुष सन्तान का पिता होने का हकदार भी नहीं। और न वे पुत्र अपने हत्याकारी पिता के हत्या से प्राप्त धन के उत्तराधिकारी बन सकते हैं।

यो नः सुप्तान् जाग्रतो वाभिदासात् तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः ।
वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान् प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥२॥

भा०—(यः) जो मनुष्य या प्राणी (नः) हमें (सुप्तान्) सोते हुओं को या (जाग्रतः) जागते हुओं को (तिष्ठतः) खड़े हुओं को या (चरतः) चलते हुओं को (अभि-दासात्) नष्ट करे या हम पर आक्रमण करे, तो हे (जात-वेदः) प्रज्ञावान् विद्वान् न्यायाधीश ! आप (वैश्वानरेण) समस्त प्रजाओं के नेता या उनके हितकारी राजा को (स-युजा) साथ लेकर (स-जोषाः) प्रजा के प्रति प्रमभाव से उन (प्रतीचः) प्रतिकूल चलने वालों को (निःदह) सर्वथा अग्नि में भस्म कर डाल, उनका विनाश कर ॥



[१०९] ब्रह्मचारी का इन्द्रियजय और राजा का अपने चरों का वशीकरण।

बादरायणिर्ऋषिः । अग्निर्मन्त्रोक्ताश्च देवताः । १ विराट् पुरस्ताद् बृहती अनुष्टुप् । २, ३, ५, ६, ४, ७ अनुष्टुभौ त्रिष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।
घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥१॥

भा०—(उग्राय) तीव्र बलवान्, (बभ्रवे) बभ्रु, सब के भरण पोषण करनेवाले ब्रह्मचारी राजा को (इदं नमः) यह आदर भाव प्राप्त

हो (यः) जो कि (अक्षेषु) अपनी इन्द्रियों पर और जो राजा अपने चरों पर (तनूवशी) अपने शरीर में स्थित उन पर वश करने में समर्थ है। मैं ब्रह्मचारी (घृतेन) प्रकाशमय ज्ञान या स्नेहमय घृत से (कलिम्) अपने ज्ञान करनेवाले मनको (शिक्षामि) सधा लेता हूँ, और (सः) वह (नः) हमें (ईदृशे) इस रूप में (मृडाति) सुखी करता है। जो राजा स्नेह से अपने लोगों को सधाता है वह सुखी रहता है।

घृतम॑प्स॒राभ्यो॑ वह॒ त्वम॑ग्ने पां॒सून॒क्षेभ्यः॒ सिक॑ता अ॒पश्च॑ ।
य॒थाभा॒गं ह॒व्यदा॑तिं जुषा॒णा मद॑न्ति दे॒वा उ॒भया॑नि ह॒व्या ॥२॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! तपस्विन् ! (त्वम्) तू (अप्सराभ्यः) ज्ञान मार्गों में शरण करनेहारी इन्द्रियों के लिये (घृतम्) पुष्टिकारक घृत और प्रकाशस्वरूप ज्ञान को (वह) प्राप्त कर, और (अक्षेभ्यः) क्रीड़ाशील कर्मेन्द्रियों के लिये (पांसून्) भूमि प्रदेश, (सिकताः) सेचनद्रव्य या बालू के समान रूक्ष पदार्थ और (अपः च) शोधन पदार्थ, जल को प्राप्त कर। इस प्रकार (देवाः) शरीर में क्रीड़ा करनेवाले हर्षशील या गतिशील इन्द्रियगण (यथा-भागम्) अपनी सेवन शक्ति के अनुसार (हव्य-दातिम्) भोग्य अन्न के भाग को (जुषाणाः) प्राप्त करते हुए (उभयानि) वनस्पतियों से उत्पन्न और पशुओं से उत्पन्न घृत, दूध आदि दोनों प्रकार के (हव्या) हव्य = भोग योग्य अन्न पदार्थों को प्राप्त कर (मदन्ति) प्रसन्न रहते हैं। अर्थात् ज्ञानशील इन्द्रियों को घृत आदि स्निग्ध पदार्थ द्वारा अधिक ज्ञान ग्रहणशक्ति से सम्पन्न बनाना चाहिए और कर्मेन्द्रियों को धूलि, मिट्टी, रेता और जल स्पर्श से कठोर, पुष्ट और शुद्ध, द्वन्द्वसहिष्णु बनाना चाहिये।

राजा के पक्ष में—राजा (अप्सराभ्यः) प्रजाओं को घृत आदि स्निग्ध एवं पुष्टिकारक पदार्थ अनायास प्राप्त करावे। और अक्ष = अपने चर-पुरुषों को भूमि के स्थलों में, मरुओं में और जल प्रदेशों में कार्य के लिये

भेजे। इस प्रकार समस्त राष्ट्रवासी लोग देव तुल्य रहकर अपने अधिकार के सदृश अपना वेतन भोगते हुए आनन्द प्रसन्न रहें।

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च।

ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु ॥३॥

भा०—(हविर्धानम्) हविर्धान अर्थात् अन्न का आगार यह लोक (च) और (सूर्यम्) सूर्य इन दोनों के (अन्तरा) बीच में (अप्सरसः) इन्द्रियां (सध-मादम्) अपने साथ २ हर्षित होनेवाले आत्मा को (मदन्ति) हर्षित करती हैं। (ताः) वे ही ये मुझ ब्रह्मचारी के (हस्तौ) हाथों को क्रियाशक्ति को (घृतेन) ज्ञान से (सं सृजन्तु) युक्त करें और (मे) मुझ आत्मा के (सपत्नम्) शत्रु, काम, क्रोध आदि को (कितवम्) जो कि मुझको "तेरा क्या तेरा क्या" इस प्रकार की युक्तियों द्वारा तुच्छ करना चाहता है, (रन्धयन्तु) नष्ट करें।

राजा के पक्ष में—(अप्सरसः) प्रजाएं एकत्र होकर आनन्द उत्सव करें। राजा के हाथों को वे (घृतेन) पुष्टिकारक कोष और सेना द्वारा पुष्ट करें और राजा के (सपत्नं कितवम्) भूमि पर समान अधिकार का दावा करने वाले, उसको ललकारने वाले शत्रु का विनाश करें।

आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर।

वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति ॥ ४ ॥

भा०—(प्रतिदीव्ने) प्रतिपक्षी होकर मुझे विजय करनेवाले अपने शत्रु के लिये मैं योद्धा (आदिनवम्) आगे आकर उसपर विजय करता हूं और उससे युद्ध करता हूं। हे ब्रह्मन् परमेश्वर ! राजन् ! (अस्मान्) हम वीर भटों को (घृतेन)तेजोमय द्रव्य से (अभि-क्षर) युक्त कर और (यः) जो (अस्मान्) हमारे विरुद्ध (प्रतिदीव्यति) प्रतिपक्षी होकर युद्ध करे उसको (अशन्यां वृक्षम् इव) जैसे विजली वृक्ष पर पड़कर उसको मार डालती है उसी प्रकार (जहि) विनष्ट कर।

यो नो द्युवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च ।
स नो देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (नः) हम में से (देवः) देव, विद्वान् ब्रह्मचारी (द्युवे) दिव्य व्रत, ब्रह्मचर्य के पालक के निमित्त (इदम्) इस प्रकार के अक्षय (धनम्) धन, बल, सामर्थ्य को (चकार) उत्पन्न करता है और (यः) जो (अक्षाणाम्) इन्द्रियों का (ग्लहनम्) ग्रहण और (शेषणम्) वशीकरण (च) भी करता है वह (नः) हममें से (देवः) विद्वान् इन्द्रियविजयी पुरुष (इदं हविः) इस उत्तम उपादेय सुख, ज्ञान और अन्न को (जुषाणः) स्वीकार करता है । ऐसे (गन्धर्वैः) गौ वेदवाणी के धारणशील और गौ इन्द्रियों के वशीकर्त्ता जितेन्द्रिय के सहित (सधमादम्) आनन्द प्रसन्न होकर हम (मदेम) अपने जीवन को सुखी करें ।

राजा के पक्ष में—जो हमारे योद्धा को भरणपोषण का धन देता है, और जो चरों और भटों को वश करता है और उनको अन्यों से अतिरिक्त मानपद प्रदान करता है वह हमारा देव = राजा इस हवि, मानपद और बलिभूत कर को प्राप्त करे और ऐसे (गन्धर्वेभिः) गौ-पृथिवी के स्वामी राजाओं के संग हम प्रजा वासी सुखी रहें ।

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

भा०—हे (अक्षाः) राजा के आंख स्वरूप चर लोगो, सुभटो ! (वः) तुम्हारा (नामधेयम्) नाम (सं-वसवः) 'संवसु' है, तुम एकत्र सेना और संस्था बनाकर, संगठित होकर छावनियों, सेनादलों या संस्थाओं में रहने से 'संवसु' कहाते हो । तुम (राष्ट्र-भृतः) राष्ट्र को धारण करने वाले, राजा के या स्वयं राष्ट्र धारक (उग्र-पश्याः) उग्रता से शत्रु पर देखने वाले या देखने में भयानक (अक्षाः) 'अक्ष' राजा

के इन्द्रियरूप हो। हे (इन्दवः) तेजस्वी पुरुषो ! हम (तेभ्यः) उन (वः) आप लोगों का (हविषा) अन्न आदि द्रव्यों से (विधेम) सत्कार करें और आप द्वारा राष्ट्ररक्षा के सम्पादन होने के कारण (वयम्) हम प्रजागण (रयीणाम्) धनों और बलों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों।

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥ ७ ॥

भा०—(यत्) जो मैं राष्ट्रपति (नाथितः) प्रार्थित वा ऐश्वर्यवान् होकर (ब्रह्मचर्यं यद् ऊषिम) और जो राष्ट्र रक्षा के लिये हम अधिकारी लोगों ने ब्रह्मचर्य का वास किया है। ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति (देवान्) देव, विद्वान् पुरुषों को (हुवे) अपने समीप बुलाता हूं और हम सब मिलकर राष्ट्र की रक्षा के लिये (यत्) जो (बभ्रून्) भूरे-लाल मिले, ख़ाकी रंग की पोशाक पहने (अक्षान्) तीव्र गतिशील योद्धाओं को (आ-हुवे) प्राप्त करता हूं (ते) वे (नः) हम सब राजा प्रजाओं को (ईदृशे) ऐसे विजय लाभ के अवसर पर (मृडन्तु) सुखी करें।

ब्रह्मचारी के पक्ष में—हम जो तपस्यापूर्वक विद्वानों की सेवा करते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और तीव्र वेगवान् इन्द्रियों पर वश करते हैं तब ऐसे मोक्षपद में यह प्राण हमें सुख प्राप्त कराते हैं। अन्यथा ये ही नाना सांसारिक दुःखों का कारण होते हैं।



[११०] राजा और सेनापति का लक्षण।

भृगुर्ऋषिः। इन्द्राग्नी देवते। १ गायत्री। २ त्रिष्टुप्। ३ अनुष्टुप्। तृचं सूक्तम्।

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति। उभा हि वृत्रहन्तमा ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् और (इन्द्रः च) इन्द्र अर्थात् सेनापति दोनों ही (दाशुषे) कर आदि देने वाले प्रजाजन के लिये (अप्रति) अपने मुकाबले में किसी को न ठहरने देकर (वृत्राणि) कार्य में विघ्न डालने वाले समस्त शत्रुओं को (हतः) विनाश करते हो। इसलिये (उभा हि) दोनों ही (वृत्रहन्तमा) वृत्रों को नाश करने वालों में श्रेष्ठ हैं।

याभ्यामजयन्त्स्वरग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा ।
प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेऽहम् ॥ २ ॥

भा०—(याभ्याम्) जिन दोनों के बल से (अग्रे एव) पहले ही (स्वः) ऐहलौकिक सुख को (अजयन्) प्रजाजनों ने प्राप्त किया। और (यौ) जो दोनों (विश्वा) समस्त (भुवनानि) अपने राज्य के सब प्रान्तों को (आ-तस्थतुः) अपने वश किये हुए हैं, उन (प्रचर्षणी) उत्कृष्ट द्रष्टा, अतएव उत्कृष्ट कोटि के पुरुषपुंगव (वृषणा) सुखों के वर्षक, बलवान् (वज्र-बाहू) अपने हाथों में तलवार लिये हुए, (वृत्र-हणौ) राष्ट्र को घेरनेवाले विघ्नरूप शत्रुओं का नाश करने वाले दोनों को (अग्निम् इन्द्रम्) अग्नि और इंद्र नाम से (अहम्) मैं (हुवे) स्मरण करता हूँ। अध्यात्म में अग्नि, इन्द्र, ईश्वर और जीव हैं।

उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः ।
इन्द्र गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (त्वा) तुझको (बृहस्पतिः) वेद ज्ञान का स्वामी (देवः) देव विद्वान् पुरोहित (चमसेन) चमसरूप से (उप-अग्रभीत्) तेरा आदर करता है, सोमपात्र तुझे प्रदान करता है। तू (सुन्वते) सोमसवन करनेवाले (यजमानाय) यजमान, तेरी संगति करनेहारे पुरुष के निमित्त, (गीर्भिः) स्तुति, वाणियों सहित (नः) हम प्रजाओं के भीतर (आ-विश) आ, प्रवेश कर।

अध्यात्म में—बृहस्पति प्रभु ने इस आत्मा को शीर्ष कपाल में सोम रस पान करने का सौभाग्य दिया है। जो साधक उसकी साधना करे उसके लिये ही वह इन्द्र अर्थात् आत्मा (नः) हम इन्द्रिय रूप प्रजाओं के भीतर अध्यात्म स्तुतियों सहित प्रवेश करता है।



[१११] वीर्यवान् युवा पुरुष को उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः । वृषभो देवता । पराबृहती त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधानं आत्मा देवानामुत मानुषाणाम्।
इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्रेह तास्ते रमन्ताम् ॥१॥

भा०—हे युवा पुरुष ! तू (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील, सर्वोत्पादक परमेश्वर का (कुक्षिः) सृष्टि उत्पादन करने का ख़जाना है। तू (सोमधानः) सोम, उत्पादक वीर्य को धारण करने वाला, (देवानाम्) देव विद्वान् जनों और (मानुषाणाम्) साधारण मनुष्यों के बीच में (आत्मा) प्रेरक आत्मा के समान है। हे नरश्रेष्ठ ! हे नरपुंगव ! (इह) इस गृहस्थ आश्रम में रह कर (प्रजाः जनय) प्रजाओं को उत्पन्न कर। (याः) जो प्रजाएं (ते) तेरी (आसु) इन भूमियों में निवास करती हों और (याः) जो (अन्यत्र) अन्य देशों में भी हों (ताः) वे सब (ते) तेरी प्रजाएं (रमन्ताम्) सुखपूर्वक जीवन यापन करें।



[११२] पाप से मुक्त होने की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषि । आपः वरुणश्च देवताः । १ भुरिक् । अनुष्टुप् । २ अनुष्टुप् ।
द्व्यृचं सूक्तम् ॥

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते ।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

भा०—(शुम्भनी) शोभादायक (द्यावापृथिवी) द्यु और पृथिवी दोनों (महि-व्रते) विशाल कार्य को करनेवाली और (अन्तिसुम्ने) भीतरी सुख उत्पन्न करती हैं । उनके बीच में (सप्त) सर्पणशील, निरन्तर गति करनेहारी (देवीः) तेजोमय, प्रकाशमय, ज्ञानस्वभाव (आपः) प्राप्त करने योग्य ज्ञानधारायें, जलधाराओं के समान, (सुस्रुवुः) स्रवण करती हैं, बहा करती हैं । (ताः) वे ईश्वर की परम दिव्य शक्तियां (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ।

अध्यात्म में—द्यु और पृथिवी अर्थात् प्राण और अपान शरीर में महान् कार्य करनेवाले सुखप्राप्ति के साधन हैं । उनके आश्रय पर सात (देवीः आपः) ज्ञानधाराएं, सात शीर्षण्य प्राण विचरते हैं, वे सन्मार्ग में रह कर हमें पाप से मुक्त करें ।

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ २ ॥

भा०—व्याख्या देखो (का० ६ । सू० ९६ । २) । वे ही पूर्वोक्त दिव्य प्राणधाराएं (मा) मुझको (शपथ्यात्) परनिन्दा से उत्पन्न (अथो वारुण्यात्) और वरुण अर्थात् ईश्वर के प्रति दुर्विचार आदि से उत्पन्न पाप से (मुंचन्तु) दूर करें, (अथो) और वे ही (यमस्य पड्वीशात्) मृत्यु की बेड़ियों से और (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (देव-किल्विषात्) विद्वानों के प्रति किये अपराध अथवा इन्द्रियों के बुरे आचरण से उत्पन्न पाप से मुक्त करें ।



(११३) स्त्री पुरुषों में कलह के कारण ।

भार्गव ऋषिः । तृष्टिका देवता । १ विराट् अनुष्टुप् । २ शङ्कुमती चतुष्पदा भुरिक् उष्णिक् । द्वयृचं सूक्तम् ॥

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके ।
यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मै शेप्यावते ॥ १ ॥

भा०—हे (तृष्टिके)[1] कामतृष्णा से आतुर स्त्री ! हे (तृष्टवन्दने) कामातुर, तृष्णातुर पुरुषों को चाहने वाली, पुनः हे (तृष्टिके) धन-तृष्णातुर स्त्रि ! (यथा) जिस प्रकार से (शेप्यावते) भोग साधन-युक्त वीर्यवान् अपने (अमुष्मै) अमुक = पति के लिये तू (कृत-द्विष्टा) द्वेष किये (असः) बैठी है । तू अपनी तृष्णा के कारण ही (अमूम्) अमुक पति पुरुष को (छिन्धि) विनाश कर रही है । अर्थात् स्त्री पुरुषों में काम-तृष्णा और धन-तृष्णा से ही परस्पर कलह उत्पन्न होती है ।

तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि ।
परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥ २ ॥

भा०—हे कामातुर तृष्णालु स्त्रि ! तू (तृष्टा) तृष्णावाली होकर ही (तृष्टिका असि) कुत्सित तृष्णावाली हो जाती है । तू (विषा) विषैली बेल के समान ही (विषातकी) अपने हृदय के द्वेष के विष से पति को ऐसी आतङ्क या दुःख देनेवाली (असि) हो जाती है कि (यथा) जिससे (वशा इव) जिस प्रकार वन्ध्या गौ (वृषभस्य) सन्तानोत्पादक वीर्यवान् महा सांड के भी छोड़ने योग्य होती है उसी प्रकार तू भी (वृषभस्य) वीर्यवान् पुत्रोत्पादन में समर्थ पति के भी (परि-वृक्ता) छोड़ने योग्य (असि) हो जाती है । अर्थात् जो स्त्री काम-तृष्णा में फंस जाती है वह तृष्णा के कारण ही बदनाम हो जाती है ।



(११४) स्त्री-पुरुषों में कलह के कारण

भार्गव ऋषिः । अग्नीषोमौ देवते । अनुष्टुप् छन्दः । द्वयृचं सूक्तम् ॥

१. 'कुत्सिता तृष्टा तृष्टिका' इति सायणः ॥

आ ते ददे वक्षणाभ्य आ तेऽहं हृदयाद् ददे ।
आ ते मुखस्य संकाशात् सर्वं ते वर्च आ ददे ॥ १ ॥

भा०—हे द्वेषकारिणी अधम नारि ! (ते वक्षणाभ्यः) तेरे कटि और कुक्षि के भागों से (वर्चः) उस परम पातिव्रत्य रूप तेज को (आददे) मैं ले लेता हूँ और (अहम्) मैं (ते हृदयात्) तेरे हृदय से भी (वर्चः आददे) उस तेज को हर लेता हूँ। (ते सर्वं वर्चः) तेरा समस्त सौभाग्य, मैं (आ ददे) स्वयं लेता हूँ। अर्थात् दुराचारिणी कामातुरा स्त्री का सोम = सौम्य स्वभाव वाला पति उसके शरीर से अपने दिये समस्त सौभाग्य के चिह्न अलङ्कार आदि उतार ले, यदि वह दुराचार से बाज न आवे। इस मन्त्र का पूर्व सूक्त से सम्बन्ध है।

प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ २ ॥

भा० – (व्याध्यः) नाना प्रकार की पीड़ाएं (इतः) इस हमारे घर से (प्र यन्तु) दूर हो जायँ। (प्र अनुध्याः) और उसके पीछे आने वाले दुष्परिणाम भी दूर हों और उनके कारण होनेवाली (अशस्तयः) निन्दाएँ भी (प्र उ) दूर हों। (अग्निः) अग्नि के स्वभाव का होकर पुरुष (रक्षस्विनीः) कार्य में विघ्न करने वाली दुष्टाचारिणी स्त्रियों का (हन्तु) दमन करे और (सोमः) सौम्यभाव का पुरुष (दुरस्यतीः) दूसरों का बुरा चाहनेवाली दुष्ट प्रवृत्तियों का भी (हन्तु) विनाश करे। अपने घरों में इस प्रकार के बुरे रोग, बुरे विचार, उनसे उत्पन्न होने वाले कुपरिणाम, निन्दाएं, परकार्य में विघ्न डालने और दूसरों का बुरा चाहने की सब बुरी आदतों को पुरुष अग्नि के समान तीक्ष्ण और चन्द्र के समान प्रेममय होकर न आने दे। और बुरी आदतों वालों को भय दिखावे और प्रेम से समझावे।

---

[११५] पापी लक्ष्मी को दूर करना।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः। सविता, जातवेदा देवता । १, ४ अनुष्टुप् । २, ३ त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत ।
अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि ॥ १ ॥

भा०—हे (पापि) पापकारिणी (लक्ष्मि) कलङ्कदायिनि ! दुष्टाचारिणि ! तू (इतः) इस घर से (प्र-पत) परे भाग, (इतः) यहां से (नश्य) भाग जा, (अमुतः) उस दूर देश से भी (प्र पत) परे चली जा। (त्वा) तुझ कुलक्षणा को (अयस्मयेन) तपे लोहे के (अङ्केन) दाग़ से दाग़ कर (द्विषते) तुझे द्वेष्य पक्ष में हम लगाते हैं, अर्थात् तुम्हें अपने द्वेषी जानकर दूर करते हैं।

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम् ।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः ॥२॥

भा०—(या) जो (लक्ष्मीः) लक्ष्मी, घर की लक्ष्मी होकर भी (पतयालूः) नीचे दुराचार में गिरने वाली (अजुष्टा) प्रेम से रहित होकर, (मा) मुझे (अभि-चस्कन्द) ऐसे चिपटी हुई है जैसे (वृक्षम्) वृक्ष को (वन्दन[1] इव) वन्दन नामक विष वेल चिपट जाती है और उस पर छाकर वृक्ष को सुखा डालती है और उसको बढ़ने नहीं देती। हे (सवितः) सबके प्रेरक राजन् ! न्यायकारिन् ! (ताम्) उस ऐसी नागिन के समान लक्ष्मी को भी (इतः अन्यत्र) यहां से दूसरे स्थान पर (अस्मत्) हमसे पृथक् (धाः) रख। और (हिरण्य-हस्तः)

२–१, 'वन्दनःऽइव' इति पदपाठोऽपि बहुश उपलभ्यते, प्रातिशाख्यानुसारी च। सायणस्तु 'वन्दनाइव' इति पदच्छेदं चकार तथैव च शंकरपाण्डुरङ्गः ॥

सुवर्णादि धनों से सम्पन्न तू (नः) हमें (वसु) उत्तम धन (रराणः) प्रदान कर ।

एकंशतं लक्ष्म्यो॒॑ मर्त्यस्य साकं तन्वा॑ जनुषोऽधि जाताः ।
तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो॥
नि यच्छ ॥ ३ ॥

भा०—(एक-शतम्) १०१ एकसौ एक (लक्ष्म्यः) मनुष्य के स्वरूप को दर्शाने वाली मानस वृत्तियां (मर्त्यस्य) इस मरणधर्मा प्राणी के (तन्वा) शरीर के (साकं) साथ (जनुषः अधि) जन्मते ही (जाताः) उत्पन्न होती हैं । (तासाम्) उनमें से (पापिष्ठाः) पाप से युक्त प्रवृत्तियों को (इतः) इस मनुष्य से (निः प्र हिण्मः) सर्वथा हम प्रयत्नपूर्वक दूर करें और हे (जात-वेदः) विज्ञान सम्पन्न गुरो ! और आदिगुरो परमात्मन् ! या गृहपते ! (शिवाः) कल्याणकारिणी लक्ष्मियों, शुभ मानसवृत्तियों को (अस्मभ्यम्) हमें (नि यच्छ) प्रदान कर, हमें उनकी शिक्षा कर ।

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥ ४ ॥

भा०—(खिले) बाड़े में (वि-ष्ठिताः) एकत्र बैठी हुई (गाः) गौओं को (इव) जिस प्रकार गवाला अलग २ पहचानता है उसी प्रकार मैं भी (एताः) अपने भीतर बैठी हुई इन २ (एना) नाना प्रकार की मानस वृत्तियों को (वि-आकरम्) पृथक् २ कार्य-कारण रूप से विवेक पूर्वक जाचूं । (याः) जो (पुण्याः) पुण्य पवित्र (लक्ष्मीः) लक्ष्मियां या मेरे स्वभाव को दर्शाने वाली उत्तम प्रवृत्तियां हैं वे मेरे जीवन में (रमन्ताम्) बार २ प्रकट हों और (याः) जो (पापीः) पापजनक, बुरी प्रवृत्तियां हैं (ताः) उनको अपने में से (अनीनशम्) निकाल कर दूर कर दूं ।

[११६] ज्वर निदान ।

अथर्वांगिरा ऋषिः । चन्द्रमाः देवता । १ परा उष्णिक् । २ एकावसाना-
द्विपदा आर्ची अनुष्टुप् । द्व्यृचं सूक्तम् ॥

नमो॑ रू॒राय॒ च्यव॑नाय॒ नोद॑नाय धृ॒ष्णवे॑ ।
नमः॑ शी॒ताय॑ पूर्वकाम॒कृत्व॑ने ॥ १ ॥

भा०—(रूराय) रोगी को तड़पाने वाले (च्यवनाय) बल वीर्य के नाशक (नोदनाय) धक्का लगाने वाले (धृष्णवे) मनुष्य को निराश करने वाले (पूर्वकाम-कृत्वने) मनुष्य की पूर्व की अभिलाषाओं या पूर्णकार्य, वीर्य, बलको काट डालनेवाले (शीताय) शीतज्वर के (नमः नमः) नाना उपाय करो ।

यो अ॒न्ये॒द्युरु॒भ॒ये॒द्युर॒भ्येती॒मं म॒ण्डूक॑म॒भ्ये॒त्वव्रतः ॥ २ ॥

भा०—और (यः) जो (अन्येद्युः) एक दिन छोड़कर अगले दिन आवे, (उभयेद्युः) दो दिन छोड़कर (अभ्येति) आवे या दो दिन आकर एक दिन छोड़े और (अव्रतः) जो बिना किसी नियम के आवे वह सब ज्वर (इमं मण्डूकम्) इस मेंढक पर (अभि-एति) आता है और निर्बल हो जाता है ।

दलदल की जगहों में उत्पन्न ज्वर आदि रोगों को सहन करने की क्षमता दलदलकी ओषधियों और जीवों में है । इसलिये उनके शरीर का भीतरी विष अवश्य ज्वर के विष का शमनकारी होगा इस सिद्धान्त से ज्वर के लिये मेंढक का प्रयोग बतलाया गया है । ऐसा ही प्रयोग सर्प काटे का भी पूर्व लिख आये हैं । ज्वर प्रकरण देखो (का० १ सू० २६) मण्डूक के अर्थ और भी हैं । जैसे कि श्योनाक वृक्ष, मण्डूक पर्णी ओषधि अर्थात् मंजीठ, ब्राह्मी इत्यादि ।



[११७] सेनापति का कर्त्तव्य ।

अथर्वाङ्गिरा ऋषिः । इन्द्रो देवता । पथ्या बृहती । एकर्चं सूक्तम् ॥

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा के चिद् वि यमन् विं न पाशिनोति धन्वेव ताँ इहि ॥१॥

ऋ० ३ । ४५ । १ ॥ साम० पू० सं० २२६ ॥ यजु० २० । ५३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् सेनापते ! (मन्द्रैः) उत्तम (मयूररोमभिः) मोर के समान नीले २ बालों वाले (हरिभिः) तेज़ घोड़ों में तू (आयाहि) शत्रु पर चढ़ाई कर । (त्वा) तुझको (केचित्) कोई भी विरोधी लोग (पाशिनः विं न) पक्षी को जालियों के समान (मा वि यमन्) न पकड़ सकें । यदि वे मुकाबले पर भी आवें तो भी (धन्व इव) वीर धनुर्धारी के समान (तान्) उनको (अति इहि) अतिक्रमण करके अपने देश को चला आ ।

ईश्वरपक्ष में—देखो, सामवेद पूर्वार्ध सं० २२६ ।

[११८] कवचधारण ।

अथर्वाऽङ्गिरा ऋषिः । बहव उत चन्द्रमा देवता । त्रिष्टुप् । एकर्चं सूक्तम् ॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ७५ । १८ ॥ यजु० २७ । ४६ ॥

[११७] १–(तृ०) 'मा त्वा केचिन्नियेमुरिन्न पाशिनो' इति साम० । तत्र विश्वामित्र ऋषिः ।

१. अतिधन्व इव महेश्वासा इव इति दयानन्दो यजुर्भाष्ये । तत्र पदपाठः अति धन्वेति अतिऽधन्व इति । धन्व इति शस्त्रविशेषः । इति दयानन्दः ऋग्भाष्ये । उपचाराच्च धनुर्धरे धन्व इति प्रयोगो द्रष्टव्यः ।

भा०—हे जयाभिलाषिन् राजन् ! (ते मर्माणि) तेरे मर्मस्थानों को मैं (वर्मणा) कवच से (छादयामि) ढकता हूँ । (सोमः) सबका प्रेरक (राजा) सबका स्वामी (त्वा) तुझे (अमृतेन) अमर शक्ति से (अनु वस्ताम्) आच्छादित करे । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (उरोः) बड़े से भी (वरीयः) बड़ा राज्य और जीवन (कृणोतु) करे, और (त्वा) तुझको ([illegible]यन्तम्) विजय करते हुए देखकर (देवाः) देव, विद्वान् लोग (अनु मदन्तु) खूब प्रसन्न हों और तुझे उत्साहित करें ।

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तानि [illegible] , [illegible] चतुर्विंशतिः]

॥ इति सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

दशानुवाका अष्टौ च दश चैव शतोत्तरम् ।

सूक्तानि सप्तमेऽथर्वः षडशीति शतद्वयम् ।

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभित श्रीमज्जदेवशर्मणा

विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये सप्तमं काण्डं समाप्तम् ।

ओ३म्

अथर्ववेदसंहिता

अथाष्टमं काण्डम्

[१] दीर्घजीवन-विद्या

ब्रह्मा ऋषिः । आयुर्देवता । १, ५, ६, १०, ११ त्रिष्टुभः । २, ३, १७—२१ अनुष्टुभः । ४, ९, १५, १६ प्रस्तारपंक्तयः । ७ त्रिपाद् विराड् गायत्री । ८ विराट् पथ्याबृहती । १२ त्र्यवसाना पञ्चपदा जगती । १३ त्रिपाद भुरिक् महाबृहती । १४ एकावसाना द्विपदा साम्नी भुरिग् बृहती । एकविंशत्यर्चं सूक्तम् ।

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम् ।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके॥ १॥

भा०—मृत्यु का उपाय बतलाते हैं। (अन्तकाय) शरीर का अन्त करने और (मृत्यवे) देह को आत्मा से जुदा करनेवाले कारण को (नमः) दूर करने का उपाय करो। इससे हे पुरुष ! (ते) तेरे (प्राणाः) प्राण और (अपानाः) अपान (इह) इस शरीर में (रमन्ताम्) सुखपूर्वक आवें और जावें। (अयम्) यह (पुरुषः) देहपुरी में बसनेवाला जीव (इह) इस देह में (असुना सह) जीवन के बाधक विघ्नों को परे फेंकने वाले प्राण के साथ (सूर्यस्य) सबके प्रेरक सूर्य के (भागे) सेवनीय अंशभूत (अमृतस्य लोके) शीघ्र न मरने अर्थात् पूर्ण आयु के जीवन में (अस्तु) विद्यमान रहे।

बाहर आने वाला श्वास प्राण और भीतर जानेवाला उच्छ्वास अपान कहाता है। दक्षिण नासा का प्राण 'सूर्य' और वाम नासा का प्राण 'अमृत' कहाता है, अथवा ब्रह्मचर्य से वीर्यरक्षा करना सूर्य का भाग है और प्रजा का वीर्य द्वारा उत्पन्न करना, गृहस्थ करना यह अमृत का लोक है।

'प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्' तै० ब्रा० १।५।५।६॥ अथवा (सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोक इह पुरुषः अस्तु) सूर्य समस्त प्राणों के प्रेरक आत्मा के सेवन करने में और अमृत = जीव के लोक = निवास-स्थान इस देह में यह जीव रहे।

अमृतम् = अमृतात् मृत्युर्निवर्त्तते ॥ श० १०।२।६।१७॥ एतद्वै मनुष्यस्यामृतम् यत् सर्वमायुरेति ॥ श० ९।५।१।१०॥ य एवं शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति सहैवैतदमृतमाप्नोति ॥ १०।२।६।८॥ एते उ वाव लोकाः यदहोरात्राणि अर्धमासाः मासाः ऋतवः संवत्सरः ॥ १०।२।६।७॥ अमृतम् उ वै प्राणाः ॥ श० ९।३।३।१३॥ प्रजापतिर्वा अमृतः ॥ श० ६।३।१।१७॥ ते देवा होचुर्नातोऽपरः कश्चन सह शरीरेणामृतोऽसद् यदैव त्वमेतं भागं हरासा अथ व्यावृत्य शरीरेण अमृतोऽसद्। योऽमृतोऽसद् विद्यया वा कर्मणा वा ॥

अमृत से मृत्यु दूर होती है। समस्त आयु का भोगना अमृत प्राप्त करना है॥ १०० वर्ष तक का जीवन प्राप्त करना अमृत है॥ दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष ये अमृत के लोक हैं और सूर्य की परिक्रमा के भाग हैं॥ प्राण अमृत है॥ प्रजापति होना अमृत है॥ देव विद्वानों ने देखा कि शरीर के साथ कोई अमर नहीं, तो भी यह आत्मा अपने शरीर को पलट कर अमृत रहता है। वह नित्य अमृत, विद्या और कर्म से होता है॥

उदे॑नं भगो॑ अग्रभी॒दुदे॑नं॒ सोमो॑ अंशु॒मान् ।
उदे॑नं म॒रुतो॑ दे॒वा उदि॑न्द्रा॒ग्नी स्व॒स्तये॑ ॥ २ ॥

भा०—मनुष्य के जीवन के आधार बतलाते हैं। (एनं) इस पुरुष को (भगः) भजन या सेवन करने योग्य अन्न ने (उत् अग्रभीत्) शरीर के रूप में ग्रहण किया है। (एनम्) और इसको (अंशुमान्) व्यापन शक्ति या रस से युक्त (सोमः) जल ने (उत्) ग्रहण किया है। (एनम्) और इसको (देवाः) गतिशील (मरुतः) प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, कृकल, देवदत्त, नाग, कूर्म, धनंजय नामक वायु-रूप जीवन के साधन प्राणों ने (उत्) ग्रहण किया है, और (इन्द्राग्नी) इन्द्र मुख्यप्राण और अग्नि-जाठर अग्नि वैश्वानर इन्होंने इस देहमय पुरुष को (उत्) धारण किया है क्यों ? (स्वस्तये) जिससे यह जीव शरीर में सुखपूर्वक जीवन सत्ता का उपभोग करे ॥

इह तेऽसु॑रि॒ह प्रा॒ण इ॒हायु॑रि॒ह ते॒ मनः॑ ।
उत् त्वा॒ निर्ऋ॑त्याः॒ पाशे॑भ्यो॒ दैव्या॑ वा॒चा भ॑रामसि ॥३॥

भा०—मृत्यु से दूर होने का उपाय। हे पुरुष ! (इह) इस शरीर में (ते) तेरे (असुः) जीवन के बाधक कारणों को दूर करने की भी शक्ति विद्यमान है, और (इह प्राणः) इसी शरीर में उत्कृष्ट रूप से प्राण लेने की शक्ति भी है और (इह आयुः) इसी में तेरी आयु, दीर्घ जीवन है, (इह ते मनः) और यहीं तेरा मननशील अन्तःकरण विद्यमान है। जीवन के सब साधन यहां ही इस शरीर में विद्यमान हैं तो फिर केवल अज्ञान से तू उन साधनों का उपयोग नहीं करता, इस-लिये (त्वा) तुझ पुरुष को हम विद्वान् लोग (दैव्या वाचा) देव, परमेश्वर की ज्ञानमयी वाणी वेदोपदेश से (निर्ऋत्याः) सर्वथा दुःख देने वाली तामस प्रवृत्ति या मृत्यु या अज्ञान या अविद्या के (पाशेभ्यः) फांसों से (उत् भरामसि) ऊपर उठाते हैं।

उत् क्रा॑मा॒तः पु॑रुष॒ माव॑ पत्था मृ॒त्योः पड्वी॑शमवमु॒ञ्चमा॑नः।
मा च्छि॑त्था अ॒स्माल्लो॒कादु॒ग्नेः सूर्य॑स्य सं॒दृशः॑ ॥ ४ ॥

भा०—हे (पुरुष) इस देहरूप पुरी में वास करनेवाले जीव ! (अतः) इस अविद्या के पाश से तू (उत् क्राम) ऊपर उठ, (मा अव पत्था) नीचे मत गिर। (मृत्योः) मृत्यु की (पड्वीशम्) पैर में बँधी बेड़ियों को (अवमुञ्चमानः) छुड़ाता हुआ (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक या जीवन से (मा छित्थः) सम्बन्ध मत तोड़, जीवन से वियुक्त मत हो और (अग्नेः) अग्नि, आचार्य और (सूर्यस्य च) सूर्य सब के प्रेरक परमेश्वर की शक्तियों का (सं दृशः) भले प्रकार दर्शन कर।

तुभ्यं॒ वातः॑ पवतां मा॒तरिश्वा॒ तुभ्यं॑ वर्षन्त्व॒मृता॒न्यापः॑ ।
सूर्य॑स्ते त॒न्वे॒३ शं त॑पाति॒ त्वां मृ॒त्युर्द॑यतां॒ मा प्र मे॑ष्ठाः ॥ ५ ॥

भा०—हे जीव ! (तुभ्यम्) तेरे लिये (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में गति करने वाला (वातः) वायु (पवताम्) सदा बहता रहे, तू सदा स्वच्छ वायु कर सेवन कर। और (तुभ्यम्) तेरे लिये (आपः) जल (अमृतानि) अमृत, जीवन के प्राणरूप सूक्ष्म अंशों को (वर्षन्तु) बरसावें, प्रदान करें, तू स्वच्छ जीवन की वृद्धि करने वाले जलों का पान कर। (ते तन्वे) तेरे शरीर के लिये (सूर्यः) यह सूर्य सब सौर-जगत् का और प्राणियों का प्रेरक (शम्) कल्याणकारी होकर (तपाति) तपे। और (मृत्युः) मृत्यु, शरीर से जीव को पृथक् करने वाली शक्ति भी इस प्रकार (त्वाम्) तेरी (दयताम्) रक्षा करे और तू (मा प्र मेष्ठाः) मत मर, चिरजीवन धारण कर।

उ॒द्यानं॑ ते पुरुष॒ नाव॒यानं॑ जी॒वातुं॑ ते॒ दक्ष॑तातिं कृणोमि ।
आ हि रोह॑म॒मृतं॑ सु॒खं रथ॒मथ॒ जिर्वि॒र्वि॒दथ॒मा व॑दासि ॥ ६ ॥

६—ऋग्वेदे 'जिव्रि' शब्द उपलभ्यते। 'तोग्न्यो न जिव्रिः' [ऋ० ११८०।५]

भा०—हे (पुरुष) जीव ! मनुष्य ! (ते) तेरी (उद्यानम्) ऊपर की गति हो, तू अपने जीवन में ऊपर को उठ, (न अव-यानम्) नीचे को मत गिर। (ते) तेरे (जीवातुम्) जीवन को भी मैं (दक्ष-तातिम्) बल से युक्त (कृणोमि) करता हूं। तू (इमम्) इस (अमृ-तम्) अमृतरूप सौ वर्ष के जीवन से युक्त (रथम्) रमण साधन, भोगों के आयतन रूप इस देह को (सुखम्) सुख पूर्वक (हि) निश्चय से (आ रोह) धारण कर, और तू (जिर्विः) जीर्ण होकर बुढ़ापे में भी (विदथम्) अपने जीवन के ज्ञानमय अनुभव को (आवदासि) सर्वत्र उपदेश कर।

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरोभून्मा जीवेभ्यः प्रमदो मानुगाः पितॄन् विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥ ७ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते मनः) तेरा चित्त (तत्र) उस निषिद्ध कर्म में (मा गात्) न जाय। (मा तिरः भूत्) तेरा चित्त तिरछा, कुपथ में भी न हो। (जीवेभ्यः) जीवों के हित के लिये (मा प्र मदः) तू प्रमाद मत कर। (पितॄन्) अपने बूढ़े पालकों के पीछे पीछे मृत्यु के मुख में (मा अनु गाः) मत जा। प्रत्युत (त्वा) तुझ को (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् गण और हृष्ट पुष्ट इन्द्रियें (इह) यहां इस शरीर में चिरकाल तक (अभि रक्षन्तु) सब प्रकार से सुरक्षित रक्खें।

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम्।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥ ८ ॥

भा०—हे पुरुष ! (गतानाम्) गये गुज़रे, शरीर को छोड़कर जाने वाले लोगों के लिये (मा आ दीधीथाः) विलाप मत कर, (ये) जो (परावतम्) दूसरे लोक में या दूसरे शरीर में (नयन्ति) पहुंच जाते हैं, अथवा तुझ को या तेरी मनोवृत्ति को दूसरे लोक में ले जाते

हैं तू उनका (मा आदीधीथाः) ध्यान मत कर और तू (तमसः) मृत्यु रूप या पापरूप तम अन्धकार से निकल कर (ज्योतिः) अमृत, पुण्य-रूप प्रकाश की तरफ (आ रोह) चढ़। हम विद्वान् लोग (ते हस्तौ) तेरे हाथों को (रभामहे) पकड़ते हैं। तू हमारे हाथों का सहारा लेकर अन्धकार के गढ़े से निकल कर ऊपर आजा।

मृत्युर्वै तमः ॥ गो० ३० । २५ । १ ॥ पाप्मा वै तमः ॥ श० १२ । ९ । २ । ८ ॥ ज्योतिरमृतम् ॥ श० १४ । ४ । १ । ३२ ॥ प्राणो वै ज्योतिः ॥ श० ८ । ३ । २ । १४ ॥

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ ।
अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ ९ ॥

भा०—(श्यामः च) श्याम और (शबलः) शबल, रात और दिन ये दोनों (यमस्य) सर्वनियन्ता परमेश्वर के (प्रेषितौ) भेजे हुए (पथि-रक्षी) जीवन मार्ग की यह काल की रक्षा करने वाले (श्वानौ) सदा गतिशील हैं। तू (अर्वाङ्) सामने, आगे की ओर (एहि) बढ़ (मा विदीध्यः) विलाप और पछतावा मत कर। (अत्र) इस लोक में (पराङ्मनाः) पूर्व के गुज़रे हुए की चिन्ता करते हुए (मा तिष्ठः) मत बैठ। अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः ॥ कौ० २ । ९ ॥

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि ।
तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥ १० ॥

भा०—हे (पुरुष) मोहवश अपने मरों के साथ ममता करके उनके साथ मरने की इच्छा करने वाले मूढ़ पुरुष! (एतम्) इस (पन्थानम्) मार्ग का (मा अनु गाः) अनुसरण मत कर। (भीमः एषः) यह मार्ग बहुत भयपूर्ण है। (येन) जिस मार्ग से (पूर्वम्) तू पहले भी (न इयथ) नहीं चला (तम्) उस अज्ञान मार्ग के विषय में मैं

(ब्रवीमि) तुम्हें उपदेश करता हूँ कि (एतत्) यह मार्ग (तमः) अन्धकारमय मृत्यु है। हे (पुरुष) पुरुष ! उसकी तरफ (मा प्र पत्थाः) तू मत जा, क्योंकि (परस्तात्) उसके परे, अतीत काल में जाने से (भयम्) भय है कि भटक जाय। (ते) तेरे लिये तो (अर्वाक्) आगे बढ़ना ही (अभयम्) भय रहित है।

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्वन्ता रक्षतु त्वा मनुष्याउ यमिन्धते।
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह॥११॥

भा०—हे पुरुष ! (ये) जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं में या लोकों में रहने वाले (अग्नयः) अग्नि, प्रकाशमान सूर्य, चन्द्र, तारे अथवा प्रजाओं में रहने वाले विद्वान् गण हैं (त्वा रक्षन्तु) वे तेरी रक्षा करें। और (यम्) जिसको (मनुष्याः) मननशील पुरुष (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं वह अग्नि भी (त्वा रक्षतु) तेरी रक्षा करे। और (जात-वेदाः) सब प्राणियों में व्यापक या सर्वज्ञ (वैश्वानरः) सबका हितकारक, जाठर अग्नि या ईश्वर भी (रक्षतु) तेरी रक्षा करे, (दिव्यः) दिव्य आकाश में उत्पन्न होने वाला अग्नि भी (विद्युता सह) विद्युत के सहित तुझे (मा प्र धाग्) न जलावे।

मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर।
रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च।
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः॥ १२॥

भा०—हे पुरुष (त्वा) तुझको (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाला जन्तु (मा अभि मंस्त) न आ दबोचे। (संकसुकात्) नाश करने वाले, लोभी जीव से तू (आरात्) दूर रहकर (चर) चल। (द्यौः) आकाश (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे। (पृथिवी रक्षतु) पृथिवी तेरी रक्षा करे। (सूर्यः च चन्द्रमाः च) सूर्य और चन्द्रमा

(त्वा रक्षताम्) तेरी रक्षा करें। और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, वायुमण्डल तेरी (देव-हेत्याः) दैवी आघातकारी पदार्थ से (रक्षतु) रक्षा करे।

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम्।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥ १३ ॥

भा०—(बोधः) तुझे ज्ञान का बोध कराने वाला तेरा गुरु और (प्रतीबोधः) प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान कराने वाला उपदेशक ये दोनों (त्वा रक्षताम्) तेरी रक्षा करें। (अस्वप्नः) न सोने वाला, पहरेदार और (अनवद्राणः) कभी कुत्सित आचरण न करने वाला सदाचारी आचार्य, (गोपायन्) तेरा रक्षक और (जागृविः) तेरी रक्षा में सदा जागरणशील सन्तरी ये सब तेरी रक्षा करें। या तेरे रक्षक लोग, ज्ञानी दूसरों के ज्ञानदाता, अप्रमादी, सदाचारी, रक्षक तथा सदा सावधान होकर तेरी रक्षा किया करें।

ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा ॥१४॥

भा०—(ते) ऊपर कहे पदार्थ या उपरोक्त गुणों के रक्षक पुरुष (त्वा रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें, (ते त्वा गोपायन्तु) वे तेरी पहरेदारी करें, (तेभ्योः नमः) उनका आदर करो या उनको अन्न दो, और (तेभ्यः स्वाहा) उनको उत्तम आदर के वचन कहो।

जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः।
मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेनु ह्वयामसि ॥ १५ ॥

भा०—(धाता) पालक, पोषक और (त्रायमाणः) रक्षक और (सविता) उत्पादक (वायुः) सबका प्रेरक या सर्वव्यापक (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा (त्वा) तुझको (जीवेभ्यः) अन्य तेरे आश्रय पर जीने वाले प्राणियों के लिये और (समुदे) सबके साथ

आनन्द प्रसन्न रहने के लिए (त्वा दधातु) तेरा पोषण करे । (प्राणः) प्राण और (बलम्) बल (त्वा) तुझे (मा हासीत्) न छोड़ें । (ते असुम्) तेरे प्राण और बलको हम (अनु) अनुकूल रूप से (ह्वयामसि) बुलाते हैं ।

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा
जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः ।
उत् त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ १६ ॥

भा०—(त्वा) तुझे (जम्भः) अंगों को जकड़ने वाला, (संहनुः) जबाड़ों को पकड़ने वाला रोग (मा विदत्) कभी न पकड़े और (तमः) आंखों के आगे अंधेरा सा ला देने वाला शिरोरोग या तमक रोग भी तुझे न पकड़े, और (जिह्वा) जीभ भी कभी तुझे रोग में न आ पकड़े। तू (बर्हिः) सदा वृद्धिशील रह कर (कथा) किसी प्रकार (प्रमयुः) मरणोन्मुख (स्याः) हो सकता है ? (त्वा) तुझको (आदित्याः) ज्ञानयोगी, बालब्रह्मचारी, (वसवः) वसु ब्रह्मचारी और (इन्द्राग्नी) राजा और आचार्य ये (स्वस्तये) कल्याण के लिए (उद् भरन्तु) मृत्यु से उन्नति के पथ पर ले जावें ।

उत् त्वा द्यौरुत् पृथिव्युत् प्रजापतिरग्रभीत् ।
उत् त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥

भा०—(द्यौः) यह महान् आकाश या सूर्य (त्वा) तुझको (मृत्योः) मृत्यु से (उद् अग्रभीत्) ऊपर उठाये रहे, बचावे । (पृथिवी उत् अग्रभीत्) यह पृथिवी तुझे मृत्यु से बचावे । (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी परमेश्वर (त्वा उत अग्रभीत्) तुझको बचावे । और (ओषधयः) ये ओषधियां (सोमराज्ञीः) जिनका राजा सोम है अर्थात् जिनमें सबसे अधिक गुणकारी ओषधि सोमलता है, वे (त्वा मृत्योः) तुझको मृत्यु से (उत अपीपरन्) ऊपर उठावें, बचावें ।

अ॒यं दे॑वा इ॒हैवास्त्व॒यं मामुत्र॑ गादि॒तः ।
इ॒मं स॒हस्र॑वीर्येण मृ॒त्योरुत् पा॑रयामसि ॥ १८ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (अयम्) यह पुरुष (इह एव अस्तु) इस देह में ही पूर्ण आयु तक रहे । (इतः) इस देह को छोड़कर वह (अमुत्र) दूसरे लोक में (मा गात्) शतवर्ष के पूर्व न जावे । हम विद्वान् लोग (सहस्र-वीर्येण) हज़ारों उपायों से, अपरिमित सामर्थ्यप्रद विधियों से, बलयुक्त, सहनशील, वीर्यरक्षा ब्रह्मचर्य के उपाय से इस पुरुष को (मृत्योः) मृत्यु से (उत् पारयामसि) ऊंचा उठावें, मृत्यु से बचावें ।

सहस्रं सहस्वद् इति निरुक्तम् ।

उत् त्वा॑ मृ॒त्योर॑पीपरं॒ सं ध॑मन्तु वयो॒धसः॑ ।
मा त्वा॑ व्यस्तके॒श्यो॑ मा त्वा॑घ॒रुदो॑ रुदन् ॥ १९ ॥

भा०—हे पुरुष ! मैं विद्वान् या ईश्वर (मृत्योः) मृत्यु के पास से (त्वा) तुझको (उत् अपीपरम्) ऊपर करता हूँ । (वयोधसः) अन्न, आयु का धारण और प्रदान करने वाले लोग तुझको पुष्ट करें । (व्यस्त-केश्यः) स्त्रियें बाल खोल-खोल कर तेरे लिए (मा रुदन्) न रोया करें, और (अघ-रुदः) बुरी तरह से रोने वाले बन्धुजन भी (त्वा) तेरे लिये (मा रुदन्) न रोवें । अर्थात् तू पूर्ण आयु होकर वृद्ध दशा में शरीर छोड़ । इससे किसी के विलाप दुःख का तू कारण न होगा ।

आहा॑र्ष॒मवि॑दं त्वा॒ पुन॒रागाः॒ पुन॑र्णवः ।
सर्वा॑ङ्ग सर्वं॑ ते॒ चक्षुः॒ सर्व॒मायु॑श्च ते विदम् ॥ २० ॥
ऋ० १० । १६१ । ५ ॥

२०–(प्र०) 'आहार्षत्वाविदं त्वा पुनरागाः पुनर्नवः' इति ऋ० ।

भा०—हे पुरुष! जीव! (आ अहार्षम्) मैं परमेश्वर तुझको इस शरीर में प्राप्त कराता हूँ। और (त्वा अविदम्) तुझको स्वयं लिए रहता हूँ या तेरी खबर रखता हूँ। तू इस शरीर में (पुनः आगाः) बार २ आता है। और (पुनः नवः) पुनः पुनः नया होता है। हे (सर्वाङ्ग) समस्त अंगों से युक्त पुरुष! (ते) तेरी (सर्वम्) समस्त (आयुः च) आयु (ते) तुझे (आविदम्) प्राप्त कराता हूँ। ईश्वर हमें इस देह में लाता हमारी खबर रखता है, जीवन के योग्य सब पदार्थ देता है, हम सदा नये होकर उत्पन्न होते हैं और शरीर को भी प्रतिदिन वह नया बनाये रखता है, हमें इन्द्रियें ज्ञान प्राप्त करने के लिए देता है, और वह दीर्घ जीवन को प्रदान करता है।

व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥ २१ ॥ (२)

भा०—(ते) तेरे लिये (ज्योतिः) जीवन का प्रकाश प्रतिदिन सूर्य रूप से और आत्मा में ज्ञान रूप से (व्यवात्) विशेष रूप से प्रकट होता हुआ (अभूत्) आता है। और (त्वत्) तुझ से (तमः) अन्धकार और मृत्यु (अप अक्रमीत्) दूर हो जाता है। और हम भी (त्वत्) तुझ से (निर्ऋतिम् मृत्युम्) पाप और पाप से होने वाली निःशेष दुःखकारी मृत्यु को (अप निदध्मसि) दूर करते हैं और (यक्ष्मम्) यक्ष्म नामक तपेदिक रोग को भी (अप नि दध्मसि) दूर करते हैं।

---

[२] दीर्घ जीवन का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः। आयुर्देवता। १, २, ७ भुरिजः। ३, २६ आस्तार पंक्तिः। ४ प्रस्तार पंक्तिः। ५, १०, १६, १८, २०, २३—२५, २७ अनुष्टुभः। ६-१५

पथ्या पंक्तिः। ८ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती जगती। ९ पञ्चपदा जगती। ११ विष्टारपंक्तिः।१२, २२, २८ पुरस्ताद् बृहत्य:। १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती। दनुष्टुप्। १७ त्रिपादनुष्टुप् १९ उपरिष्टाद् बृहती। २१ सतः पंक्तिः। षड्विंशत्यर्थ सूक्तम्॥

आ रभस्वेमामृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः॥१॥

भा०—हे पुरुष! (इमाम्) इस (अमृतस्य) अमृत, पूर्ण १०० वर्ष की आयु के (श्नुष्टिम्)[1] भोग प्राप्त करने का (आरभस्व) उद्योग कर। (ते) तेरी (जरदष्टिः) जरा अवस्था तक की जीवनयात्रा और जीवन पर्यन्त उपभोग करने के निमित्त अन्न आदि सामग्री सदा (अच्छिद्यमाना) विना विच्छेद के निरन्तर जुटी (अस्तु) रहे। (ते) तेरे (असुम्) असु प्राण को और (आयुः) दीर्घ जीवन को (पुनः) फिर (आ भरामि) प्रदान करता हूँ। हे पुरुष! तू (रजः तमः) राजस और तामस भोगों और विलासों में (मा उप गाः) मत जा और इस प्रकार (मा प्र मेष्ठाः) तू मृत्यु को प्राप्त न हो। अर्थात् सात्विक वृत्ति से जीवन निर्वाह करने से दीर्घजीवन प्राप्त होता है।

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय।
अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि॥२॥

भा०—हे पुरुष! तू (जीवताम्) प्राण धारण करने वाले, जीते जागते लोगों की (ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश या कान्ति को (अर्वाङ्) साक्षात् (अभि = एहि) प्राप्त कर। (त्वा) तुझको मैं ईश्वर (शतशारदाय) सौ वर्ष की आयु भोगने के लिये इस जीवलोक में (आहरामि) लाता हूँ। और (मृत्यु-पाशान्) मृत्यु के बन्धनों को और

१. श्नुष्टिः, श्नुसु अदने आदान इत्येके।

(अशस्तिम्) निन्दाजनक अपकीर्ति या अप्रशंसनीय निन्दनीय गति को (अव-मुञ्चन्) दूर करता हुआ (ते) तुझे (प्र-तरम्) उत्कृष्ट, (द्राघीयः) दीर्घ (आयुः) आयु (दधामि) प्रदान करता हूँ।

वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव।
यत् ते मनस्त्वयि तद् धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन्॥३

भा०—(ते) तेरे लिये (प्राणम्) प्राण को हे पुरुष ! मैं (वातात्) इस वायु से (अविदम्) उत्पन्न करता हूँ। और (अहम्) मैं प्रजापति (तव) तेरी (चक्षुः) दर्शन शक्ति को (सूर्यात्) सूर्य से उत्पन्न करता हूँ। और (यत्) जो (ते) तेरे (मनः) संकल्प-कारी अन्तःकरण है उसको (त्वयि) तेरे भीतर (धारयामि) स्थापित करता हूँ। (अंगैः) अपने सब अंगों, इन्द्रियों या ज्ञानेद्रियों से (संवित्स्व) भली प्रकार ज्ञान कर और (जिह्वया) जीभ या वाणी से (आलपन्) स्पष्ट वाणी का उच्चारण करता हुआ (वद) बोल।

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि।
नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम्॥ ४॥

भा०—हे पुरुष ! जीवात्मन् ! (अग्निम् इव) जिस प्रकार आग को फूंक लगा कर या वायु द्वारा पंखे से जिया लिया जाता है, उसी प्रकार (द्विपदाम्) दोपाये मनुष्य–शरीर और पक्षि–शरीरों में और (चतुष्पदाम्) चौपायों में (जातम्) उत्पन्न होकर शरीर धारण किये हुए तुझको मैं ईश्वर (प्राणेन) प्राण द्वारा (अभि सं धमामि) स्वयं प्रत्यक्षरूप में चैतन्य किये रहता हूँ। उत्तर में जीव कहता है। हे भगवन् ! (मृत्यो) सब प्राणियों को देह से पृथक् करने वाले मृत्यो ! (ते चक्षुषे) तेरे प्रदान किये चक्षु आदि इन्द्रिय साधनों के लिये (नमः) उनका भोग्य विषय और (ते प्राणाय) तेरे दिये प्राण के लिये भी

मैं (नमः) अन्न (अकरम्) उत्पन्न करूं। अशनाया वै मृत्युः। भूख मृत्यु है।

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि।
कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः॥ ५॥

भा०—(अयम्) यह पुरुष (जीवतु) जीवे, सदा जीवे, (मा-मृत) कभी न मरे। हम विद्वान्गण इसको (सम् ईरयामसि) उत्तम रीति से जीवन गति प्रदान करते हैं। मैं (अस्मै) इस पुरुष के लिये (भेषजं कृणोमि) सब दुःख दूर करने का उपाय करता हूँ। हे (मृत्यो) मौत! तू (पुरुषम्) पुरुष को (मा वधीः) मत मार। उत्तम रूपसे प्राणशक्ति को प्रेरित करने से और रोग की तुरन्त चिकित्सा कर लेने से शरीर मृत्यु के भय से बच जाता है।

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये॥६॥

भा०—(अहम्) मैं परमेश्वर (अस्मै) इस पुरुष के लिये (शीवलाम्) जीवनप्रद, प्राणप्रद (नघारिषाम्) कभी प्राण पर आघात न करने वाली (जीवन्तीम्) जीवन्ती नामक ओषधि को, (त्रायमाणाम्) त्रायमाणा नामक ओषधि को और (सहस्वतीम्) सब रोगों के आक्रमणों को दबाने वाली (सहमानाम्) बलवती, रोगनाशक, पापनाशक ओषधि या सहदेवी ओषधि को (अरिष्टतातये) नीरोग होने के लिये (हुवे) जीवों को प्रदान करता हूँ।

अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु।
भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः॥७॥

७–'सं। सर्वहाया' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः।

भा०—हे मृत्यु ! संसार के संहार करने वाले प्रभो ! (अधिब्रूहि) तू इस जीव को दीर्घ जीवन प्राप्त करने का उपदेश कर। (मा रमथाः) इसको मार मत। (इमं सृज) इस पुरुष को उत्पन्न कर, रचऔर आगे बढ़ा। यह पुरुष (तव एव) तेरा ही (सन्) होकर (इह) इस लोक में (सर्व-हायाः) समस्त जीवन के शतवर्ष पर्यन्त (अस्तु) रहे। (भवाशर्वौ) हे भव और शर्व ! सर्वोत्पादक और सर्वविनाशक शक्तियो ! तुम दोनों अपने अपने अवसर पर इस जीव को (मृडतम्) सुखी करो और (शर्म यच्छतम्) सुखमय कल्याण प्रदान करो। इस पुरुष के (दुरितम्) दुष्कर्म, पाप, दुष्ट आचरण को (अपसिध्य) दूर करके (आयुः धत्तम्) दीर्घ जीवन प्रदान करो।

उत्पत्ति काल में जीव में दुश्चेष्टाओं को दूर करने और वार्धक काल में तपस्या करने से भी दीर्घ जीवन प्राप्त होता और जीवन में सुख होता है। नहीं तो बाल्यकाल के कुसंग और वार्धक काल की भोगतृष्णा ही जीवन को रोगमय और जीर्ण कर देती है।

अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितो३ यमेतु।
अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥८

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यु रूप प्रभो ! (अस्मै) इस जीव को (अधि ब्रूहि) तू उपदेश कर ! (इमम्) इस पुरुष का (दयस्व) पालन कर। (उदितः) दुःखों से ऊपर उठ कर, अभ्युदय को प्राप्त करके (अयम्) यह पुरुष (एतु) जीवनपथ में आवे। और (अरिष्टः) किसी प्रकार भी पीड़ित न होकर, (सर्वाङ्गः) सब अंगों से पूर्ण, हृष्ट पुष्ट (सुश्रुत्) उत्तम श्रवण शक्ति से युक्त रह कर (जरसा) बुढ़ापे में (सत-हायनः) सौ वर्ष पूर्ण करके (आत्मना) अपने देह से (भुजम्) अपने योग्य, कर्म फल का (अश्नुताम्) भोग करे।

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत् त्वा
मृत्योरपीपरम्
आराद॒ग्निं क्र॒व्यादं॑ नि॒रूहं॑ जी॒वात॑वे ते परि॒धिं द॑धामि ॥ ९ ॥

भा०—(देवानाम्) दिव्य पदार्थ अग्नि, वायु, विद्युत्, वर्षा, उल्का आदि पदार्थों का और राष्ट्र के शासक, विद्वान् और शक्तिशाली अधिकारी पुरुषों का (हेतिः) आघातकारी शस्त्र या दण्ड (त्वा) तुझे (परिवृणक्तु) आघात न करे, अपने आघात से बचाये रक्खे। मैं (त्वा) तुझ जीव को (रजसः) राजस प्रलोभनों से (पारयामि) पार करता हूँ। (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले पशु को और प्राणनाशक (अग्निम्) अग्नि को अथवा (क्रव्यादम् अग्निम्) नर शरीर के मांस को स्वीकार करने वाले शवाग्नि को (आरात्) दूर (निरूहम्) करता हूँ। और (ते) तेरे (जीवातवे) जीवन के लिये (परिधिम्) उत्तम सुरक्षा (दधामि) स्थापना करता हूँ।

यत् ते॑ नि॒यानं॑ र॒जसं॑ मृत्यो॑ अनवध॒र्ष्य॑म् ।
प॒थ इ॒मं तस्मा॒द् रक्ष॑न्तो॒ ब्रह्मा॑स्मै॒ वर्म॑ कृण्मसि ॥ १० ॥

भा०—हे (मृत्यो) मृत्यो! आत्मा को शरीर से पृथक् करने हारे तमःस्वरूप मृत्यो! (यत्) जो (ते) तेरा (अनवधर्ष्यम्) असह्य और अजेय (रजसम् = राजसम्) रजोगुण का बना हुआ (नियानम्) नीचे जाने का मार्ग है, (तस्मात्) उस (पथः) मार्ग से (रक्षन्तः) इस जीव की रक्षा करते हुए हम (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान या वेदोपदिष्ट ज्ञान को (अस्मै) इस जीव की रक्षा के लिये (वर्म) आवरणकारी कवच (कृण्मसि) करें। राजस कार्य और विचार मनुष्य को नीचे गिराते हैं। वे मौत की तरफ़ ले जाते हैं, उनसे बचने के लिये सात्विक मार्ग, वेदोपदिष्ट ब्रह्मज्ञान एक भारी कवच है।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोप सेधामि सर्वान् ॥११॥

भा०—(ते प्राणापानौ) हे पुरुष ! तेरे प्राण और अपान, भीतर से बाहर और बाहर से भीतर चलने वाले श्वासों को (कृणोमि) उचित रूप से सुधार देता हूँ । और इस प्रकार (जराम्) बुढ़ापे और (मृत्युम्) मौत दोनों को (अप सेधामि) दूर कर देता हूँ । इस प्रकार (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) जीवन (स्वस्ति) तेरे लिये कल्याणकारी, सुखजनक और अविनाशी हो । इसी प्राण और अपान की उचित गति से (वैवस्वतेन) विवस्वान् सूर्य से उत्पन्न काल के (प्रहितान्) भेजे (चरतः) निरन्तर गतिशील, परिवर्त्तनशील (यम-दूतानि) यम के दूत रूप काल के खण्ड, दिन, मास, पक्ष, ऋतु, वर्ष आदि (सर्वान्) सब को (अप सेधामि) जीवन विनाश करने के कार्य से दूर करता हूँ ।

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।
रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि ॥ १२ ॥

भा०—(तमः इव) जिस प्रकार प्रकाश द्वारा अन्धकार दूर कर दिया जाता है उसी प्रकार हम (निर्ऋतिम्) अविद्यामय पाप की प्रवृत्ति को, (अरातिम्) दान न देने वाली, कंजूसी, कृपणता को (ग्राहिम्) हाथ पैर जकड़ देने वाली अथवा सब की सुख सम्पत् चाट जाने वाली लोभवृत्ति को, (क्रव्यादः) मांसाहारी जन्तुओं को, और (पिशाचान्) घृणित शव मांस के खाने वाले पिशाचों को, और (रक्षः) धर्म कार्य से परे हटाये रखने वाले, विघ्नकारी पुरुषों को, और (यत्) जो कुछ भी (दुर्भूतम्) दुष्ट या दुःखकारी पदार्थ है (तत्) उस सब को (परः) परे (अरात्) दूर ही (अप हन्मसि) मार भगायें ।

अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत् ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम् १३

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (अग्नेः) प्रकाशस्वरूप (अमृतात्) अमृतमय, अमर (आयुष्मतः) दीर्घ आयु से सम्पन्न (जात-वेदसः) वेद, ज्ञानमय, सर्वज्ञ प्रभु या सूर्य से (वन्वे) प्राप्त करता हूँ। (यथा) जिससे तू भी (अमृतः) अमृतमय होकर (न रिष्याः) विनाश को प्राप्त न हो। (सजूः असः) तू उस अमृतमय के साथ प्रेम करता रह। (तत्) उस परमपद का (ते) तेरा ब्रह्मज्ञान तेरे लिये (समृध्यताम्) समृद्धिकारक, सर्वफलप्रद हो।

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ १४ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे लिये (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, (अभिश्रियौ) सब तरफ़ से शोभायमान या सब तरफ से आश्रय देनेवाली, (असन्तापे) संताप, क्लेश से रहित, सुखकारी, (शिवे) शुभ, कल्याणकारी (स्ताम्) हो। हे पुरुष ! (ते) तेरे लिये (सूर्यः) सूर्य (शम्) कल्याण, सुखकारीरूप में (आ तपतु) तपे, प्रकाशित हो, और पृथ्वी को संतप्त करे। और (ते हृदे) तेरे हृदय के अनुकूल (वातः) वायु भी (शम्) कल्याण और सुखकारी होकर (वातु) बहे। (शिवाः) शुभ, सुखकारी (दिव्याः) आकाश से उत्पन्न, दिव्य, गुणकारी, (पयस्वतीः) पुष्टिकारक अन्नों से समृद्ध (आपः) वर्षा की जलधाराएँ (त्वा) तेरे देश के प्रति (अभि क्षरन्तु) सब ओर से आवें भूमि पर पड़ें और भूमियों को सींचें।

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥ १५ ॥

भा०—(ते) तेरे लिये (ओषधयः) ओषधियां (शिवाः) कल्याणकारी (सन्तु) हों। मैं तुझ रोगी एवं अस्वस्थ पुरुष को स्वस्थ और रोग रहित करने के लिये (अधरस्याः) नीची और हीन गुणवाली भूमि से (उत्तरां पृथिवीम् अभि) उत्कृष्ट गुणवाली, ऊँची, स्वच्छ वायु से पूर्ण पर्वत की भूमि में (उत् अहार्षम्) ऊपर ले जाऊं। (तत्र) वहां (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा दोनों (आदित्यौ) प्रकाशमय पुञ्ज, अदिति = अखण्ड सामर्थ्यवान् शक्ति के पुञ्ज (उभौ) दोनों ही (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करें। तेरे जीवन को दीर्घ करें। ओषधि का सेवन और ऊंचे स्थल पर सूर्य और चन्द्र के प्रकाश का सेवन दीर्घ जीवन का कारण है।

यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे३तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥ १६ ॥

भा०—हे पुरुष! (यत ते) जो तेरा (परिधानम्) शरीर को ढांपने का ऊपरी (वासः) वस्त्र है और (याम्) जिसको तू (नीविम्) शरीर के कटिभाग में धोती या पाजामा या लंगोटी (कृणुषे) बना कर तेड़ लगा लेता है (तत्) उस वस्त्र को भी हम (ते तन्वे) तेरे शरीर के लिये (शिवम्) सुखकारी, कल्याणकारी (कृण्मः) करें। जिससे वह वस्त्र (ते) तेरे लिये (संस्पर्शे) स्पर्श में (अद्रुक्षणम्) रूखा और कठोर, क्लेशकारी न (अस्तु) हो, प्रत्युत सुखकारी, कोमल हो जो शरीर में न चुभे।

यत् क्षुरेण मर्चयता सु तेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ १७ ॥

भा०—हे पुरुष ! तुम लोग (सु-तेजसा) खूब चमकते, तेज़ धार वाले तीक्ष्ण (क्षुरेण) छुरा से (मर्चयत) वालों को साफ़ करा दो, और कर्म करा दो। हे नापित पुरुष ! तू (वप्ता) केशों को काटनेवाला नाई होकर (केशश्मश्रु) शिर के बालों और मुख पर के मूँछ आदि बालों को भी (वपसि) मूंड़ डाल। हे पुरुष ! (तव) तेरा (मुखम्) मुख (शुभम्) सुन्दर, शोभायुक्त हो। इस अवसर पर हे नापित ! तू (नः) हमारे (आयुः) जीवन का (मा) मत (प्रमोषीः) नाश कर। अर्थात् हे लोगो ! तीक्ष्ण धार वाले छुरे से बाल बनवाओ, सिर के और मुख के बाल साफ़ कराओ, सुन्दर मुख से रहो, परन्तु नाई असावधानी से किसी के प्राण न ले, उस्तरे निर्विष हों और उनका सावधानी से प्रयोग करे।

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ १८ ॥

भा०—हे पुरुष ! (व्रीहियवौ) धान्य और जौ दोनों (ते) तेरे लिये (शिवौ) शिव, कल्याणकारी, सुखकारी (स्ताम्) हों। वे दोनों तेरे (अबलासौ) बल के विनाशक या कफ़कारी न हों और वे दोनों (अदोमधौ) खाने में सुखकारी, मधुर प्रतीत हों। (एतौ) ये दोनों (यक्ष्मम्) राजयक्ष्मा और अन्य रोगों का (वि बाधेते) नाना प्रकार से नाश करें, (एतौ) वे दोनों (अंहसः) मानस और शरीर के पाप और पीड़ाओं से भी पुरुष को (मुञ्चतः) छुड़ाते हैं।

यद॒श्नासि॒ यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।
यदाद्यं१ यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥ १९ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (यत्) जिस (धान्यम्) धान्य, अन्न को (कृष्याः) कृषि, खेती से उत्पन्न करके (अश्नासि) खाता है और

(यत्) जिस पुष्टिकारक दूध और जल को (पिबसि) पान करता है और (यत्) जो पदार्थ भी (आद्यम्) खाने योग्य है और (यद् अनाद्यम्) जो पदार्थ खाने योग्य नहीं है अर्थात् पीने आदि के योग्य है उस (सर्वम्) सब (अन्नम्) अन्न को (ते) तेरे लिए (अविषम् कृणोमि) विष रहित करता हूं।

अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि ।
अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत ॥ २० ॥

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझे (अह्ने) दिन के समय और (रात्रये च) रात्रि के समय (उभाभ्याम्) दोनों के सुखपूर्वक उपभोग के लिये (परि दद्मसि) हम स्वतन्त्रता देते हैं। और हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (में) मेरे (इमम्) इस शरीर और धन की (अरायेभ्यः) निर्धन और (जिघत्सुभ्यः) भुक्खड़ों से (परि रक्षत) रक्षा करो।

प्रत्येक व्यक्ति को दिन और रात विचरने की स्वतन्त्रता है। और राजकर्मचारी लोग प्रजाजन की 'अराय' अर्थात् निर्धन, विना सम्पत्ति के जरायमपेशा डाकुओं से और जिघत्सु अर्थात् दूसरों को खा जाने वाले हिंसक जन्तुओं से रक्षा करें।

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ २१ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते) तेरे व्यवहार के लिये (शतं हायनान्) सौ वर्षों, (अयुतं हायनान्) एक सहस्र वर्षों का और (द्वे युगे) दो युग (त्रीणि चत्वारि) तीन युग और चार युगों का विस्तार (कृण्मः) बतलाते हैं। (इन्द्राग्नी) राज्याधिकारी तथा ज्ञानी और (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् लोग (अहृणीयमानाः) विना संकोच के (ते) तेरे इस व्यवहार को (अनु मन्यन्ताम्) स्वीकार करें।

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि ।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥ २२ ॥

भा०—हे पुरुष ! हम (शरदे) शरद्, (हेमन्ताय) हेमन्त, (वसन्ताय) वसन्त, और (ग्रीष्माय) ग्रीष्म ऋतुके उपभोग के लिये (त्वा) तुझको (परि दद्मसि) सब प्रकार से स्वतन्त्र करते हैं । और (येषु) जिन कालों में (ओषधीः) ओषधियां (वर्धन्ते) बढ़ती हैं सर्वत्र हरियाली ही हरियाली छा जाती है वे (वर्षाणि) वर्षा के काल भी (तुभ्यम्) तेरे लिये (स्योनानि) सुखकारी हों ।

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम् ।
तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः ॥ २३ ॥

भा०—(मृत्युः) मृत्यु (द्विपदाम्) दुपायों पर भी (ईशे) बलशाली है और (मृत्युः) मृत्यु (चतुष्पदाम् ईशे) चौपायों पर भी बलशाली है, उन पर भी वह शासन करता है । इसलिये हे पुरुष (गोपतेः) पशुओं के और उनके समान भयातुर अज्ञानी प्राणियों के स्वामी (तस्मात्) उस (मृत्योः) मृत्यु से मैं (त्वा) तुझे (उद्-भरामि) ऊपर उठाता हूं ! (सः) वह तू ज्ञानवान होकर मृत्यु से (मा विभेः) मत डर ।

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः ।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥ २४ ॥

भा०—हे (अरिष्ट) हिंसा से मुक्त अविनाशी आत्मन् ! पुरुष ! (सः) वह, तू इस शरीर से सर्वथा पृथक् चैतन्य आत्मा है । तू (न मरिष्यसि) कभी नहीं मरेगा । (न मरिष्यसि) तू निश्चय से कभी नहीं मरेगा । अतः (मा बिभेः) तू भय मत कर । (तत्र) उस

परम पद चैतन्य रूप में प्राप्त होकर ज्ञानी मुक्त पुरुष (न वै म्रियन्ते) निश्चय से नहीं मरते (नो) और न (अधमं तमः) अधम, नीचे के अन्धकारमय नरक लोक को ही (यन्ति) जाते हैं।

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ २५ ॥

भा०—(यत्र) जिस देश और जिस काल में (इदम्) यह (ब्रह्म) वेदज्ञान (जीवनाय) जीवन की रक्षा के लिये (परिधिः) प्रकोट या दुर्ग के समान (क्रियते) बना लिया जाता है (तत्र) वहां (वै) निश्चय से (गौः अश्वः पुरुषः पशुः) गौ, अश्व, मनुष्य और पशु सब जीव (जीवति) जीते रहते हैं। क्योंकि वेद में इन सब के जीवन के उपायों का वर्णन है।

परि त्वा पातु समानेभ्यो॑ऽभिचारात् सबन्धुभ्यः ।
अमम्रिर्भवामृतो॑ऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम् ॥२६॥

भा०—हे पुरुष ! पूर्व मन्त्र में कहा हुआ वेदज्ञानमय दुर्ग, (त्वा) तेरी (समानेभ्यः) तेरे समान बल, विद्या और आयु वाले पुरुषों से होने वाले और (सबन्धुभ्यः) साथ रहने वाले बन्धुजनों की ओर से होने वाले (अभि-चारात्) आक्रमण से (परि पातु) रक्षा करे। तू (अमम्रिः) कभी न मरनेवाला, अविनाशी और (अमृतः) अमृत, अमर जीवात्मा है, तू (अतिजीवः) अन्य सामान्य जीवों की दशा को अपने ज्ञानबल से पार कर लेता है, अतः (ते शरीरम्) तेरे शरीर को (असवः) प्राण (मा हासिषुः) कभी परित्याग न करें।

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥ २७ ॥

भा०—(ये) जो (एक-शतम्) एक सौ एक (मृत्यवः) मृत्युएं हैं और (याः) जो (अति-तार्याः) पार करने योग्य (नाष्ट्राः) नाश-कारिणी अविद्या ग्रन्थि हैं, (वैश्वानरात्) समस्त जीवों के भीतर व्यापक (अग्नेः) प्रकाशमय प्रभु के (अधि) बलपर या उसकी तरफसे प्रतिनिधि होकर, (देवाः) ज्ञानी पुरुष (त्वाम्) तुझे (तस्मात्) उनसे (मुञ्चन्तु) छुड़ावें।

अ॒ग्नेः शरी॑रमसि पारयि॒ष्णु र॑क्षो॒हासि॑ सपत्न॒हा ।
अथो॑ अमीव॒चात॑नः पूतु॒द्रुर्नाम॑ भेष॒जम् ॥ २८ ॥ [५]

भा०—हे आत्मन् ! पुरुष ! तू स्वयं (अग्नेः) उस ज्ञानमय आत्मा का (शरीरम् असि) शरीर है। तू स्वयं (पारयिष्णु) इस क्लेशमय संसार के पार करने में समर्थ, (रक्षोहा) समस्त विघ्नों और विघ्नकारी दुष्टों का नाशक और (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक (असि) है (अथो) और तू (अमीव-चातनः) समस्त रोगों, क्लेशों का नाशक है। तू ही (पूतु-द्रुः) इस शरीररूप वृक्ष को सदा पवित्र करने वाला (भेषजम्) सब भव रोगों का परम औषध है।

ब्रह्म के विषय में—(पूतु-द्रुः) इस महान् ब्रह्माण्डमय वृक्ष को पवित्र करने वाला है। अथवा 'ऊर्ध्वमूलो अवाक्शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः,' इत्यादि प्रतिपादित पवित्र वृक्षस्वरूप ब्रह्म ही भवरोग का परम औषध है।

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वे सूक्ते, एकोनपञ्चाशदृचः]



[३] प्रजा-पीड़कों का दमन ।

चातन ऋषिः । अग्निर्देवता, रक्षोहणम सूक्तम् । १–६, ८–१३,१, १६, १८-२०, २४ जगत्यः । ७, १२, १४, १५, २१, १२ भुरिक् त्रिष्टुप् । २२, २३ अनुष्टुभौ । २५ बृहतीगर्भा जगती । २६ गायत्री ।

षड्विंशचत्यर्चं सूक्तम् ॥

रक्षोहणं वाजिनमा जिंघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुपयामि शर्म ।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु
नक्तम् ॥ १ ॥ ऋ० १० । ८७ । १ ॥

भा०—मैं (वाजिनम्) बलवान् (रक्षोहणम्) राक्षस, विघ्नकारी पुरुषों के नाशक पुरुष को (आजिघर्मि) और भी अधिक प्रबल करता हूँ । और (प्रथिष्ठम्) उस महान् से भी महान् (मित्रम्) मरण से बचाने वाले प्रजा के पालक, प्रजाके मित्र राजा की (शर्म) इस शरण को (उपयामि) प्राप्त होता हूँ । वह (अग्निः) अग्नि के समान शत्रु का तापक, परंतप, (शिशानः) निरन्तर तीक्ष्ण स्वभाव का होकर (क्रतुभिः) अपने कर्मों द्वारा (समिद्धः) प्रदीप्त, उज्ज्वल, कीर्त्तिमान् होकर (सः) वह (नः) हमें (रिषः) हिंसक पुरुष से (दिवा नक्तम्) दिन और रात (पातु) रक्षा करे ।

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः ।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन् ॥२॥
ऋ० १० । ८७ । ८ ॥

[३] १–ऋग्वेदेऽस्य सूक्तस्य पायुर्ऋषिः । अग्नी रक्षोहा देवता ।

१. वृष शक्तिबन्धने (चुरादिः)

भा०—हे (जातवेदः) समस्त प्रजाजनों के जानने हारे अग्नि के समान राजन् ! तू (समिद्धः) भड़कती आग के समान राज्य आदि ऐश्वर्य और उसके उचित तेज और सामर्थ्य से प्रदीप्त होकर (अयोदंष्ट्रः) अपनी लोहों की दाढ़ों से, शस्त्रों से सुसज्जित होकर (अर्चिषा) अपने तेज से (यातु-धानान्) प्रजा के पीड़क एवं दण्डनीय पुरुषों को ही (उपस्पृश) ज्वाला से जला, (मूर-देवान्) इन मूढ़, अज्ञानी, विषय भोगों के व्यसनी लोगों या जुआखोर लोगों को (जिह्वया) अपनी जिह्वा द्वारा अर्थात् अपने उपदेश वाणी द्वारा भी (आरभस्व) अपने वश कर और (क्रव्यादः) तू कच्चा मांस खा जाने वाले, उग्र प्रकृति के हिंसक पुरुषों पर भी (वृष्ट्वा) उपदेशामृत की वर्षा कर (आसन् अपिधत्स्व) उनके मुखों पर पट्टी बांध अर्थात् वे तेरे ऐसे वश में हों कि तेरे विरोध में कुछ बोल न सकें।

मूरदेवाः—मारकव्यापाराः राक्षसाः इति सायण ऋ० भाष्ये। मूलेन औषधेन दीव्यन्ति परेषां हननाय क्रीड़न्ति अथवा मूढ़ाः कार्याकार्यविभाग-बुद्धिशून्याः सन्तो ये दीव्यन्ति इति सायणोऽथर्वभाष्ये। अर्थात् हिंसक राक्षस या विष औषधों से दूसरों को मार के मज़ा लूटने वाले या कार्याकार्य को न जानकर विवेकरहित होकर जूआ खेलने वाले। ग्रीफ़िथ के मत में 'Foolish Gods' adoiers' मूर्ख देवों के पूजने वाले।

अथवा—जो मूढ़ होकर व्यसनों में क्रीड़ा करें वे मूरदेव हैं उनको (जिह्वया आरभस्व) जिह्वा के व्यसन द्वारा वश करे। इसी प्रकार क्रव्या मांसखोर जन्तुओं के मुखपर बांधकर वश करे जिससे वे काट न सकें।

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोवरं परं च।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ॥ ३॥
ऋ० १० । ८७ । ३ ॥

३—(प्र०) उपधेहि दंष्ट्रः' (तृ०) 'परियाहि राजन्' इति ऋ०।

भा०—हे अग्ने ! राजन् ! हे (उभयाविन्) अच्छे और बुरे, उत्तम और अधम सबकी प्रजा रूप से रक्षा करने हारे राजन् ! तू स्वयं (हिंस्रः) दुष्टों का हिंसक होकर (शिशानः) अति तीक्ष्ण स्वभाव होकर उस दुष्ट पुरुष के (अवरं परं च) नीचे और ऊपर के (उभा) दोनों (दंष्ट्रौ) दाढ़ों को (उपधेहि) अपने वश कर (उत) और (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (परि याहि) विचरण कर और (यातु-धानान्) पीड़ाकारी दुष्ट पुरुषों को (जम्भैः) हननकारी, पीड़क या उनको फांस लेने वाले उपायों से (अभि संधेहि) पकड़ कर अपने वश कर।

अ॒ग्ने त्वचं॑ यातु॒धान॑स्य भिन्धि हिं॒स्राश॒निर्हर॑सा ह॒न्त्वेन॑म् ।
प्र पर्वा॑णि जातवेदः शृणीहि क्र॒व्यात् क्र॑वि॒ष्णुर्वि चि॑नोत्वेनम् ॥४॥
ऋ० १० । ८७ । ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! शत्रुनाशक राजन् ! तू (यातुधानस्य) प्रजा को पीड़ा देने वाले दुष्ट डाकू पुरुष की (त्वचम्) खाल को (भिन्धि) शरीर से कटवा कटवा कर छिलवा दे। (हिंस्रशनिः) उसको मार डालने वाली विद्युत् (हरसा) प्राण हरण करने वाले धक्कों से (एनं हन्तु) उसको मार डाले। और उसके (पर्वाणि) पोरू पोरू को हे जातवेदः, प्रज्ञावान् राजन् ! (शृणीहि) कटवा डाल । और (क्रविष्णुः) मांस का भूखा (क्रव्यात्) मांसाहारी जन्तु (एनम्) दुष्ट पुरुष को (विचिनोतु) नाना प्रकार से नोच नोच कर खा जाय।

प्रजापीड़कों को राजा विचित्र दण्ड दे जैसे—उसकी खाल छिलवा दे, बिजली के धक्कों में मरवा दे, पोरू पोरू कटवादे या भूखे शेर चीतों से फड़वा दे। जिससे उसको अपने किये अत्याचारों का प्रतिफल मिले और अपने से पीड़ितों के कष्टों का भी उसे ज्ञान हो।

४–(प्र०) 'विचिनोतु वृक्णम्' इति ऋ०।

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम् ।
उतान्तरिक्षे पतन्त यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥५॥
ऋ० १० । ८७ । ५ ॥

भा०—हे (जातवेदः) विद्वन् ! राजन् ! (यत्र इदानीम्) जहां कहीं भी और जब कभी भी (तिष्ठन्तम्) खड़े हुए, (चरन्तम्) विचरते हुए (उत) और (अन्तरिक्षे पतन्तम्) अन्तरिक्ष में, आकाश मार्ग से जाते हुए (यातुधानम्) पीड़ाकारी दुष्ट पुरुष को (पश्यसि) तू देखे, तभी और उसी स्थान पर तू (शिशानः) अतितीक्ष्ण (अस्ता) शरों के फेंकने में सावधान और (शर्वा) हिंसक, घातक, अस्त्र, बाण या गोली से (तम्) उसको (विध्य) बेंध डाल, यदि किसी प्रकार वश में न आता हो और छिपता फिरता हो तो जहां भी मिले वहां ही उसको गोली का शिकार किया जाय। राजा स्वयं तो क्या करेगा ?, वह (अस्ता) धनुर्धर बाण फेंकने और गोली चलाने वाले पुरुषों या (शर्वा, शिशानः) तीक्ष्ण हिंसक पुरुषों को लगा कर उनसे मरवा डाले।

यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः ।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ध्येषाम् ॥६॥
ऋ० १० । ८७ । ४ ॥

भा०—यदि दुष्ट पुरुष बहुत से मिल कर गिरोह बना कर प्रजा का पीड़न करें तो हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रुपीड़क राजन् ! तू भी (यज्ञैः) संगति करके एकत्र हुये सैनिकों द्वारा (इषूः) बाणों को (संनममानः) उन पर फेंकता हुआ और (वाचा) अपनी वाणी से

५—(तृ०) यद् वान्तरिक्षे पथिभिः पतन्तम् इति ऋ० ।

या हुक्म से (शल्यान्) तीक्ष्ण शल्य, कांटों, कीलों और लोहे के तीखे टुकड़ों को (अशनिभिः) बिजली के समान बल से फूटने वाले अशनि नाम आग्नेयास्त्र या बाम्ब के गोलों द्वारा (दिहानः) खूब प्रबल, वेगवान् करके (ताभिः) उन से (प्रतीचः) अपने विरुद्ध युद्ध में आये (यातुधानान्) दुष्ट राक्षस पुरुषों को (हृदये विध्य) उनके छाती में बेध डाल। और (एषाम्) उनके (बाहून्) हाथों और बाजुओं को (प्रति भङ्ग्धि) तोड़ डाल।

उतारब्धान्त्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान्।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥७॥

ऋ० १०।८७।७॥

भा०—हे (जातवेदः) अग्ने! प्रजाजनों के जानने हारे विद्वान् राजन्! (उत) और तू (आरब्धान्) पकड़े हुए (उत) और (आरेभाणान्) सर्वत्र कोलाहल करते हुए (यातुधानान्) प्रजापीड़क पुरुषों को (ऋष्टिभिः) ऋष्टि नामक तीक्ष्ण धार वाले शस्त्रों द्वारा, संगीनधारी सिपाहियों की रखवाली में (स्पृणुहि) रख। और हे (अग्ने) अग्नि के समान दुष्टपीड़क! (पूर्वः) सब से श्रेष्ठ तू (शोशुचानः) अपनी दीप्ति से प्रकाशमान होकर उन प्रजापीड़कों को (निजहि) सर्वथा मार ढाल। और या (आमादः) कच्चा मांस खाने वाली (एनीः) लाल काली (क्ष्विङ्काः) चीलें (एनम्) इसको (अदन्तु) खाजाएं। राजा दुष्टों को संगीनों के पहरे में रक्खे या उन का तुरन्त ही विनाश करे और चीलों से नुचवा डाले।

७–(प्र०, द्वि०) 'उतालब्धं स्पृणुहि' जातवेद आलेभानादृष्टिभिर्यातुधानात् इति ऋग्वेदे॥

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति ।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥८॥
ऋ० १० । ८७ । ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (यः) जो भी (यातुधानः) प्रजा को पीड़ा पहुंचाने वाला पुरुष (इदम्) इस प्रकार का पीड़ाजनक कार्य (कृणोति) करे तू (इह) इस राष्ट्र में (प्र ब्रूहि) भली प्रकार सब को जनादे कि (यतमः सः) वह अमुक दुष्ट पुरुष है। जिससे लोग उसके बुरे काम को जान कर उससे सावधान रहें और वह लोगों के सामने अपने बुरे काम के लिये लज्जित हो । और (तम्) उसको (आरभस्व) पकड़ ले । (समिधा) और हे बलशालिन् ! तू अपने अति प्रदीप्त अग्नि की ज्वाला के समान तेज से और (नृ-चक्षसः) सब मनुष्यों के ऊपर दृष्टि रखने वाले पुलिस के अध्यक्ष या न्यायाधीश की (चक्षुषा) दृष्टि से प्रजा पर उसके अत्याचारों को तोल कर प्रजा के हित के लिए (एनम्) उस दुष्ट पुरुष का (रन्धय) विनाश कर, इसे दण्ड दे, जला डाल ।

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः ।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन् यातुधाना नृचक्षः ॥९॥
ऋ० १० । ८७ । ९ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तू अपने (तीक्ष्णेन) तीखी (चक्षुषा) आंख से अपने तीक्ष्ण निरीक्षण से (यज्ञम्) इस यज्ञ की, जिसमें लक्षों, करोड़ों प्राणी संगठित रूप में रहते हैं, (रक्ष) रक्षा कर, और हे (प्रचेतः) उत्कृष्ट ज्ञानसम्पन्न राजन् ! (वसुभ्यः)

८–(द्वि०) 'यो यातुधानो' इति ऋ० ॥

इसमें बसनेवाली प्रजाओं के लिये (प्राञ्चम्) उत्कृष्ट, उत्तम श्रेणी का राष्ट्र (प्र णय) बना, अथवा इस यज्ञमय राष्ट्र या राज्यव्यवस्था को (प्राञ्चम् प्र णय) उन्नत दशा पर, ज्ञानमय मार्ग पर ले चल। (हिंस्रम्) हिंसक, प्रजा के प्राणघातक पुरुषों और (रक्षांसि) प्रजा के कार्यों में और प्रजाओं को उत्तम फल प्राप्त करने में विघ्नकारी लोगों को (अभि शोशुचानम्) सब प्रकार से संताप देते हुए (त्वा) तुझको हे (नृचक्षः) प्रजा के निरीक्षक राजन् ! (यातुधानाः) वे पीड़ाजनक दुष्ट लोग (मा दभन्) विनष्ट न करें।

नृचक्षा: रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा।
तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च ॥१०॥
• ऋ० १० । ८७ । १० ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! परन्तप ! तू (नृचक्षाः) प्रजा के हित पर निरन्तर दृष्टि रखता हुआ (विक्षु) अपनी प्रजा में विचरते हुए (रक्षः) प्रजा के सुख और उन्नति के कार्य में विघ्न डालने और प्रजा को पीड़ा देनेवाले दुष्ट पुरुष को अवश्य (परि पश्य) देख, उस पर सदा चक्षु रख। और (तस्य त्रीणि अग्रा) उसके तीन अग्रगामी लोगों को (प्रति शृणीहि) विनष्ट कर। हे (अग्ने) राजन् और (तस्याः) उसके पीठ की (पृष्टीः) पसुलियों को अर्थात् उसके पास के सहयोगी जो सदा उसके पक्षपोषक हैं उनको (हरसा) अपने हरण सामर्थ्य से अर्थात् कैद में डालनेवाले पोलिस विभाग से भयभीत करके या पकड़ कर (शृणीहि) विनष्ट कर। और इसी प्रकार (यातुधानस्य) प्रजापीड़क लोगों के (त्रेधा) तीन प्रकार के (मूलम्) मूल को, अड्डे को (त्रेधा) तीन प्रकार से ही (वृश्च) काट डाल।

पीड़ादायी दुष्ट आदमी के तीन अग्र-शक्ति, धन और जन।

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति ।
तमर्चिषा स्फूर्जयन् जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि ॥११॥
ऋ० १० । ८७ । १० ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (यः) जो दुष्ट पुरुष (अनृतेन) असत्य से (ऋतम्) सत्य को (हन्ति) मारता है वह (यातुधानः) प्रजा का पीड़क दुष्ट पुरुष 'यातुधान' राक्षस है । वह (ते) तेरे (प्रसितिम्) बन्धन में (त्रिः) तीनों प्रकार से या तीन बार (एतु) आवे, यदि फिर भी बाज़ न आवे तो हे (जातवेदः) अग्ने ज्ञानवान् राजन् ! (तम्) उसको (अर्चिषा) आग से (स्फूर्जयन्) तड़पाता हुआ, (समक्षम्) सबके सामने (एनम्) इसको (गृणते) अपनी पीड़ा प्रकट करनेवाले प्रजाजन के हित के लिये (नियुङ्ग्धि) दण्ड दे, उसका निग्रह कर ।

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद् वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः ।
मन्योर्मनसः शरव्या३जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥१२॥
ऋ० १० । ८७ । १३ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (यत् अद्य) जब कभी (मिथुना) दोनों स्त्री पुरुष, गृहस्थ लोग (शपातः) दुःखित होकर किसी को गालियां देवें, बुरा भला कहें, रोवें-चीखें और (यत्) जब (रेभाः) विद्वान् लोग भी (वाचः) वाणी का (तृष्टम्) कटु रूप (जनयन्त) उत्पन्न करें अर्थात् तीखी हृदयवेधी वाणियां बोलें तब उन गृहस्थों और विद्वान् पुरुषों की दयनीय दुःखवेदना देखकर हे राजन् ! (या) जो (मन्योः) मन्यु रूप तेरे (मनसः) मन से जो (शरव्या) तीव्र बाण के समान क्रोध की ज्वाला (जायते) प्रकट होती है (तया) उससे (यातुधानम्) प्रजा के पीड़क पुरुषों को (विध्य) [illegible] कर ।

११-(च०) 'गृणते निवृङ्धि' इति ऋ० ॥

राज्य में गृहस्थ नरनारी और विद्वान् पुरुषों के आर्त्तनाद पर राजा ध्यान दे और उनको दुःख देनेवाले दुष्ट लोगों को पकड़ कर यथोचित दण्ड दे।

परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि।
परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥१३

ऋ० १० । ८७ । १४ ॥

भा०—हे अग्ने! राजन्! (यातुधानान्) प्रजापीड़क पुरुषों को (तपसा) अपने संतापकारी तेज या शस्त्र से (परा शृणीहि) अच्छी प्रकार विनष्ट कर और (हरसा) विनाशक बल से (रक्षः) राक्षस, दुष्ट पुरुष को (परा शृणीहि) अच्छी प्रकार विनष्ट कर। और (मूर-देवान्) मूढ़ देवों को माननेवाले, प्रतिमापूजक, पाखण्डी या दूसरों को मारने के व्यसनी अथवा मूढ़ होकर व्यसनों में मज़ा लेनेवाले लोगों को (अर्चिषा) आग की ज्वाला से (परा शृणीहि) अच्छी प्रकार विनष्ट कर और (असु-तृपः) दूसरों का प्राण लेकर अपना पेट भरनेवाले प्राणघातक डाकुओं को (शोशुचतः) शोक विलाप करते हुए भी (पराशृणीहि) खूब अच्छी प्रकार विनष्ट कर कि वे फिर अपनी दुष्टता न करें। अथवा 'अर्चिः' 'हर' और 'तपः' ये तीन प्रकार के शस्त्र अस्त्र हैं जिनसे दूर से ही प्रहार कर दिया जाता है। उन तीनों प्रकार के अस्त्रों से उनको (पराशृणीहि) उतना अधिक दण्ड दिया जाय कि 'परा' अर्थात् हद हो जाय, और वे फिर भी दुष्टता को त्याग कर सन्मार्ग पर लौट आवें।

पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु प्रत्यगेनं शपथा यन्तु सृष्टाः।
वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन् विश्वस्यैतु प्रसितिं यातुधानः ॥१४

ऋ० १० । ८७ । १५ ॥

१३–(च०) 'परासुतृपो अभिशोशुचानः' इति ऋ०।

१४–'तृष्टाः' इति सायणाभिमतः।

भा०—(अद्य) आज सदा ही (देवाः) विद्वान्, अधिकारीगण या राजा लोग (वृजिनम्) पाप और पापी प्राणघातक और सत्कार्य-विनाशक राक्षस को (परा शृणन्तु) अच्छी प्रकार मारें। और (सृष्टाः) किये गये (शपथाः) निन्दावचन (एनम्) उस दुष्ट से (प्रत्यग्) पर ही (यन्तु) जाएँ। और (वाचा स्तेनं) वाणी द्वारा छल कर चोरी करनेवाले को (शरवः) हिंसक बाण (मर्मन्) उसके मर्मस्थानों में (ऋच्छन्तु) लगें। और (यातुधानः) प्रजापीड़क आदमी (विश्वस्य) सबके (प्रसितिम्) बन्धन को (एतु) प्राप्त हो अर्थात् ऐसे पुरुष को सब कोई बांध लें।

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥ १५

ऋ० १०। ८७। २६॥

भा०—(यः) जो आदमी (पौरुषेयेण) आदमी के (क्रविषा) मांस से (सम् अङ्क्ते) अपने को पुष्ट करता है, और (यः) जो (यातु-धानः) पीड़ादायक पुरुष (अश्व्येन) घोड़े आदि पशु के मांस से या (पशुना) अन्य पशु के मांस से अपने को पुष्ट करता है। और (यः) जो (अघ्न्यायाः) न मारने योग्य गाय के (क्षीरम्) दूध को (भरति) चुरा लेता है ऐसे ऐसे (तेषाम्) उन प्रजापीड़क लोगों के (शीर्षाणि) सिरों को (हरसा) अपने हरणशील शस्त्र या क्रोध से (अपि वृश्च) काट ले।

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः।
परैणान् देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम्॥१६॥

ऋ० १०। ८७। १८॥

१६–(द्वि०) 'वृश्च्यन्ताम्' (तृ०) 'परेनान्देव' इति ऋ०।

भा०—यदि (यातुधानाः) प्रजापीडक लोग (गवाम्) गौ आदि पशुओं को (विषम्) विष (भरन्ताम्) दें और उनको मार डालें और यदि (दुरेवाः) दुष्ट चालचलन के लोग (अदितये) गाय को (आ वृश्चन्ताम्) काटें तब (देवः) राजा (सविता) सबका प्रेरक (एनान्) इनको (परा ददातु) राज्य से दूर करे या इनका सर्वस्व हर ले और वे (ओषधीनाम्) अन्न आदि और रोगनाशक ओषधियों के (भागम्) भाग-जीवनोपयोगी अंश को भी (परा जयन्ताम्) न पा सकें। अर्थात् पशुनाशक लोगों का सर्वस्व लेकर राजा उन्हें देश से निकाल दे और वे अन्न और औषध न पा सकें और रोगों से मरें।

संवत्सरीणं पयं उस्रियायास्तस्य माशीद् यातुधानों नृचक्षः ।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात् तं प्रत्यञ्चंमर्चिषा विध्य मर्मणि ॥१७

ऋ० १० । ८७ । १७ ॥

भा०—हे (नृचक्षः) समस्त प्रजाओं के ऊपर अपनी कृपादृष्टि से देखने हारे राजन ! (यातुधानः) प्रजापीड़क आदमी (उस्रियायाः) गाय का (संवत्सरीणम्) वर्ष भर में उत्पन्न होनेवाला जितना (पयः) दूध है (तस्य) उसके किसी अंश को भी (मा आशीत्) न खा सके। हे (अग्ने) राजन् ! और (यतमः) दुष्ट पुरुषों में से कोई भी (पीयूषम्) गोदुग्ध रूप अमृत को (तितृप्सात्) भरपेट पावे तो (तम्) उसको (प्रत्यञ्चम्) सबके सामने (अर्चिषा) अग्नि की जलती लपट से (मर्मणि विध्य) उसके मर्मस्थान में मार, उसको तपे लोहे के छड़ों से मर्म स्थानों में मारा जाय।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
सहमूरानन दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ १८॥

ऋ० १० । ८७ । १९ ॥

१७–(च०) 'विध्य मर्मन्' इति ऋ० ।
१८–(तृ०) 'अनुदह सहमूरान्' इति ऋ० ।

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तू (यातु-धानान्) प्रजापीड़कों को (सनात्) सदा से ही (मृणसि) विनष्ट करता आता है, (त्वा) तुझे (रक्षांसि) राक्षस लोग (पृतनासु) संग्रामों में भी (न जिग्युः) न जीत पावें। (क्रव्यादः) मांसखोर (सह-मूरान्) मूढ़ लोगों, घातक अज्ञानी लोगों के साथ ही (अनु दह) अपने वश में करके भस्म कर डाल, (ते दैव्यायाः) तेरे दिव्य गुणयुक्त और राजकीय (हेत्याः) दण्डकारी शस्त्र से (ते) वे दुष्ट पुरुष (मा मुक्षत) बचने न पावें।

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात्।
प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु ॥१९॥

ऋ० १० । ८७ । २० ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (त्वम्) तू (नः) हमारी (अधरात्) नीचे से, (उदक्तः) ऊपर से, (पश्चात) पीछे से (उत) और (पुरस्तात्) आगे से (रक्ष) रक्षा कर। (ते) तेरे (त्ये) वे नाना प्रकार के (शोशुचतः) अति दीप्त, चमचमाते प्रकाशमान, (अजरासः) कभी क्षीण न होने वाले, (तपिष्ठाः) संतापकारी अस्त्र शस्त्र (अघशंसम्) पाप की बात कहने वाले निन्दक, पापप्रचारक पुरुष को (प्रति दहन्तु) जला डालें।

पश्चात् पुरस्तादधरादुतोत्तरात् कविः काव्येन परि पाह्यग्ने।
सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्त्ताँ अमर्त्यस्त्वं नः ॥२०॥(७)

ऋ० १० । ८७ । २१ ॥

१९–(प्र०) 'अधरादुदक्तात्' (त०) 'प्रति ते ते' इति ऋ०।
२०–(प्र०) अधरादुदक्तात्', (द्वि०) 'परिपाहि राजन्' (तृ०) 'सखे सखयम्,' (च०) 'जरिम्णेऽग्ने' इति ऋ०।

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (काव्येन) विद्वान्, क्रान्तदर्शी पुरुष या परमेश्वर के बताये ज्ञान के व्यवस्थापुस्तक या दण्डविधान के कानून ग्रन्थ से स्वयं (कविः) क्रान्तदर्शी विद्वान् होकर (पश्चात्) पीछे से, (पुरस्तात्) आगे से, (अधरात् उत उत्तरात्) नीचे और ऊपर से (परिपाहि) हमारी रक्षा कर। तु समस्त प्रजा का (सखा) मित्र होकर हे (अग्ने) राजन् ! (जरिम्णे) अति वृद्धावस्था के काल तक (सखायम्) अपने मित्र रूप प्रजाजन को (पाहि) बचा। और (अमर्त्यः) अविनाशी होकर तू (नः) हम (मर्त्यान्) मरणधर्मा मनुष्यों का (परि पाहि) सब प्रकार से परिपालन कर।

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि यातुधानान्।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥ २१ ॥

भा०—(अग्ने) हे अग्ने ! राजन् ! तू (येन) जिस आंख से (शफारुजः = शपारुजः) प्रजाजन को गालियों और निन्दाजनक वचनों से पीड़ित करनेवाले (यातुधानान्) दुष्ट प्रजापीड़क पुरुषों को (पश्यसि) देखता है, (रेभे) व्यर्थ कोलाहल करनेवाले बकवादी, पागल के समान बकने वाले पुरुष पर भी (तत्) वही (चक्षुः) सूक्ष्मदर्शी आंख (प्रतिधेहि) रख। और तू (अथर्ववत्) अहिंसक रक्षक प्रजापति के समान (दैव्येन ज्योतिषा) दैव्य, दिव्य विद्वानों की ज्ञानमय ज्योति या तेज से (सत्यम्) ठीक २ यथार्थ रूप से (अचितम्) अपुष्ट, निर्बल या मूर्ख, ज्ञानरहित (धूर्वन्तम्) धूर्त्तता करनेवाले; छली, कपटी, असत्यवादी या हिंसक पुरुष को (नि ओष) सब प्रकार से जला; संतप्त कर।

२१—(द्वि०) 'शफारुं जयेन' इति क्व० ।

परि॑ त्वाग्ने पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गुरावतः ॥ २२ ॥

ऋ० १० । ८७ । २२ ॥

भा०—हे (अग्ने) शत्रुसंतापक ! हे (सहस्य) शत्रु को या दुष्टों को दमन करनेवाले बली राजन् ! (वयम्) हम लोग (पुरम्) सबके पालक (विप्रम्) मेधावी, ज्ञानवान्, (धृषद्वर्णम्) प्रगल्भ, उन्नत वर्ण या पदपर अधिष्ठित शत्रु के धर्षक, (भंगुरावतः) प्रजा के पीड़क लोगों के (हन्तारम्) विनाशक (त्वा) तुझको (दिवे दिवे) प्रति दिन (परि धीमहि) घेरे रहें, आश्रय करें। [देखो का० ७ । ४१ । १]

वि॒षेण॑ भङ्गुरावतः प्रति॑ स्म र॒क्षसो॑ जहि ।
अग्ने॑ ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ तपु॑रग्राभिर॒र्चिभिः॑ ॥ २३ ॥

ऋ० १० । ८७ । २३ ॥

भा०—(विषेण) विष से (भंगुरावतः) प्रजा को पीड़ित करने वाले (रक्षसः) दुष्ट पुरुषों को, हे (अग्ने) राजन् ! अपने (तिग्मेन) तीक्ष्ण (शोचिषा) तेज से स्वयं (तपुरग्राभिः) अग्नि से सतप्त अगले फलों वाली, अति भयंकर (अर्चिभिः) दीप्त ज्वालाओं से (प्रति जहि स्म) विनष्ट कर। (भंगुरावतः विषेण प्रतिजहि स्म) दुष्ट पुरुषों को विषसे मार।

वि ज्योति॑षा बृह॒ता भा॑त्य॒ग्निरा॒विर्विश्वा॑नि कृणुते महि॒त्वा ।
प्रादे॑वीर्मा॒याः स॑हते दु॒रेवाः॒ शिशी॑ते॒ शृङ्गे॒ रक्षो॑भ्यो वि॒निक्षे॑ ॥२४॥

ऋ० ५ । २ । ९ ॥

२२–'भंगुरावताम्' इति ऋ० । विशेषा पाठभेदा अथर्व० ७ । ७१ । १ 'अस्या टिप्पण्यां द्रष्टव्याः।'

२३–(द्वि०) 'प्रति ष्म रक्षसो दह,–'ग्राभिर्ऋष्टिभिः' इति ऋ० ।

२४–(च०) 'रक्षसे विनिक्षे' इति ऋ० । तत्रास्याः वृषो जार ऋषिः ।

भा०—(अग्निः) प्रकाशमान सूर्य जिस प्रकार (बृहता) बड़े विशाल (ज्योतिषा) तेज से (विभाति) विविध रूप से प्रकाशमान होता है और (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (विश्वानि) संसार के समस्त पदार्थों को (आविः कृणुते) प्रकाश से प्रकाशित करता और प्रकट करता है और जिस प्रकार परमेश्वर अपने बड़े भारी तेज से नाना सूर्यों में प्रकाशमान है और सब पदार्थों को अपने सामर्थ्य से प्रकट करता है उसी प्रकार यह (अग्निः) राजा भी अपने (बृहता ज्योतिषा) बड़े भारी तेज से (विभाति) नाना प्रकार से प्रकाशित होता है और (महित्वा) अपने बड़े सामर्थ्य से सब प्रकार के प्रजा के हितकारी कार्यों को (आविः कृणुते) प्रकट करता है। और (अदेवीः) देवों से विपरीत असुरों की (दुरेवाः) दुःखदायिनी या दुःसाध्य (मायाः) मायाओं को (प्र सहते) वश करता है और (रक्षोभ्यः) राक्षसों के (विनिक्षे) विनाश के लिये (शृङ्गे) अपने सींग के समान तीखे हिंसा के साधन शस्त्रों और अस्त्रों को (शिशीते) सदा तेज़, तीखे बनाये रहता है।

ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते।
ताभ्यां दुर्हार्दमभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा जातवेदो वि निंक्ष्व ॥ २५ ॥

भा०—हे (जातवेदः) विद्वान् राजन्! (ये) जो (ते) तेरे (अजरे) अविनाशी (ब्रह्मसंशिते) ब्रह्म, वेद के ज्ञान से तीक्ष्ण हुए (तिग्महेती) दो प्रकार के शस्त्र और अस्त्र, तीखे हथियार हैं (ताभ्याम्) उनसे (दुर्हार्दम्) दुष्ट हृदयवाले (किमीदिनम्) दूसरों की जान और माल को तुच्छ समझने वाले (अभिदासन्तम्) विनाशकारी (प्रत्यञ्चम्) अपने से विपरीतकारी पुरुष को (अर्चिषा)

ज्वाला से हे (जातवेदः) अग्नि के समान प्रतापी राजन् ! (विनिक्ष्व) विनाश कर।

अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः ।
शुचिः पावक ईड्यः ॥ २६ ॥ (८) ऋ० ७ । १५ । १० ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि के समान शत्रु का तापक (शुक्र-शोचिः) शुद्ध, प्रदीप्त कान्ति से युक्त (अमर्त्यः) अविनाशी, ध्रुव, कभी न मरने वाला, सदा प्रतिष्ठित होकर (रक्षांसि) प्रजापीड़क दुष्ट पुरुषों का (सेधति) निवारण करता है, विनाश करता है। वह (शुचिः) काम, अर्थ और धर्म कार्यों में शुद्ध हृदय, ईमानदार (पावकः) प्रजा के पापों को दूर कर उनको पवित्र करने वाला होकर (ईड्यः) स्तुति के योग्य होता है।

[४] दुष्ट प्रजाओं का दमन।

चातन ऋषिः। इन्द्रासोमौ देवते। रक्षोहणं सूक्तम्। १-३, ५, ७, १८, २१, ४ विराट् जगती। ८-१७, १९, २२, २४ त्रिष्टुभः। २०, २३ भुरिजौ। २५ अनुष्टुप्। पञ्चविंशर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः ।
परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः ॥१॥
ऋ० ७। १०४ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम ! सेनापते और राजन् ! (रक्षः) राक्षसों को (तपतम्) संतप्त और पीड़ित करो (उब्जतम्) और मारो। हे (वृषणा) शत्रुओं की शक्ति को बांधने में समर्थ आप दोनों (तमोवृधः) अन्धकार में शक्ति से बढ़ने वाले और माया, छल कपट से अपनी शक्ति को बढ़ाने वाले अथवा 'तमः' तामस, नीच

[४] १—अस्य सूक्तस्य ऋग्वेदे वसिष्ठ ऋषिः, इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ देवते।

कामों से बढ़ाने वाले लोगों को (नि अर्पयतम्) नीचे गिरा दो। और (अचित:) चेतना रहित, चित्त रहित. निर्दय लोगों को (परा-श्रणीतम्) अच्छी प्रकार विनष्ट करो, (नि ओषतम्) सर्वथा मूल सहित जला दो, (हतम्) मारो और (नुदेथाम्) परे भगा दो। और (अत्रिणः) दूसरों का माल मार खा जाने वालों को (नि शिशीतम्) सर्वथा क्षीण, निर्बल करदो।

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निमाँ इव।
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने॥२॥

ऋ० ७। १०४। २॥

भा०—(इन्द्रासोमा) हे इन्द्र और सोम ! (अघ-शंसम्) पाप का उपदेश करने वाले, पाप की कथा कहने वाले (अघम्) पाप का या पापी का (सम् अभि) अच्छी प्रकार मुकाबला करो। (अग्निमान् चरुः इव) आग पर चढ़े हुए हाण्डी के समान वह पाप और पापी (तपुः ययस्तु) संताप को प्राप्त हो और पीड़ा अनुभव करे। और (घोर-चक्षसे) घोर चक्षुवाले क्रूर (ब्रह्मद्विषे) ब्रह्म वेद को जानने वाले विद्वान् ब्राह्मणों के द्वेषी (क्रव्यादे) मांसभोजी और (किमीदिने) दूसरों के जान माल को तुच्छ समझने वाले या 'अब क्या, अब क्या' इस प्रकार काल को मूर्खता से व्यसनों में लगाने वाले की (अनवायम्) निरन्तर (द्वेषः धत्तम्) उपेक्षा करो, उसको कभी मत चाहो।

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्।
यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः॥३

ऋ० ७। १०४। ३॥

२-(द्वि०) 'चरुरग्निवाँ इव' इति ऋ०।
३-(तृ०) 'यथा नातः पुन' इति ऋ०।

भा०—हे (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम पूर्वोक्त सेनापते और राजन्! (दुष्कृतः) दूसरों के लिये दुःखदायी कार्य करने वाले दुष्टाचारियों को (अनारम्भणे) बेसहारे के, अनाश्रय, घोर (तमसि) अन्धकार के (अन्तः) भीतर (वव्रे) बन्द करदो और (प्र विध्यतम्) अच्छी प्रकार उनकी ताड़ना कर, उन्हें दण्ड दो। (यतः) जिससे (एषाम्) उन में से (एकः चन) एक भी (न उत् अयत्) फिर ऊपर न उठे। (वाम्) तुम दोनों का (तत् शवः) वह प्रसिद्ध सामर्थ्य, बल (सहसे) उनको दबाने के लिये सदा (मन्युमत्) क्रोध या विवेक से पूर्ण (अस्तु) हो।

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्।
उत् तक्षतं स्वर्यं१ पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥४॥
ऋ० ७। १०४। ४॥

भा०—हे (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम! आप दोनों (अघ-शंसाय) पाप की कथा वार्त्ता कहने वाले पुरुष के लिये (दिवः) द्युलोक या आकाश से और (पृथिव्याः) पृथिवी से भी (तर्हणम्) विनाशक (वधम्) शस्त्र को (सं वर्त्तयतम्) चलाओ। और (पर्व-तेभ्यः) पर्वत अर्थात् मेघों या पर्वतों से चमकने वाले वज्र के समान (स्वर्यम्) गड़गड़ाते हुए या अति तीव्र उपतापक विद्युत्-दल को तुम दोनों (उत् तक्षतम्) स्वयं उत्पन्न करो, (येन) जिससे (वावृ-धानम्) बल और शक्ति से बराबर बढ़ते हुए (रक्षः) प्रजा के पीड़क राक्षसों को (निजूर्वथः) विनष्ट करो।

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्मंहन्मभिः।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥५॥
ऋ० ७। १०४। ५॥

५–(च०) 'निःऽस्वरम्' इति सायणाभिमतः पदच्छेदः।

भा०—हे (इन्द्रासोमा) पूर्वोक्त इन्द्र और सोम ! (युवम्) आप दोनों (दिवः) आकाश की ओर से (अग्नितप्तेभिः) आग में तपे हुए, चमचमाते, बिजुली के समान प्रज्वलित (अश्म-हन्मभिः) अश्मा-लोहसार, फौलाद के आघातकारी गोलियों, फलकों से युक्त शस्त्रों से (अत्रिणः) राष्ट्र की प्रजाओं को हड़पने वालों को (परि वर्त्तयतम्) घेर लो। और (अजरेभिः) कभी विनाश न होने वाले, सदा तय्यार (तपुर्वधेभिः) संतापकारी, आग्नेय बाणों से (पर्शाने) उन दुष्टों के पासों पर, कोखों में, ऐसे (विध्यतम्) मारो कि वे (निस्वरम्) बहुत अधिक पीड़ा, वेदना (यन्तु) प्राप्त करें अथवा (निस्वरं यन्तुम्) वे चीखने भी न पायें।

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना।
यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपती इव जिन्वतम् ॥६॥
ऋ० ७। १०४। ६॥

भा०—हे (इन्द्रासोमा) पूर्वोक्त इन्द्र और सोम ! (वाजिना) बलवान् (अश्वा) दोनों घोड़ों को जिस प्रकार (कक्ष्या इव) साज की चमड़े की पट्टियां शोभा देती हैं और उनको नियम में रखती हैं उसी प्रकार (इयम्) यह (मतिः) मनन करने योग्य बुद्धि (वाम्) तुमको (परि भूतु) शोभा दे और राष्ट्रव्यवस्था के कार्य में नियम में रक्खे। मैं राज-पुरोहित या ईश्वर, मुख्य मन्त्री (वाम्) तुम दोनों के लिये (मेधया) परम विवेक बुद्धि से (यां होत्राम्) जिस वाणी को प्रेरित करता हूँ तुम दोनों (ब्रह्माणि) उन वेदवचनों को (नृपती इव) प्रजापालक नरेशों के समान ही (आ जिन्वतम्) प्रेम से स्वीकार करो और पालन करो।

६--(च०) 'नृपतीव जिन्वतम्' इति ऋ०। 'नृपतीऽइव' इति पदपाठः।

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद् यो मा कदाचिद् भिदासति द्रुहः ॥७॥
ऋ० ७।१०४।७॥

भा०—हे (इन्द्रसोमा) पूर्वोक्त इन्द्र और सोम! आप दोनों (तुजयद्भिः) बलवान्, तीव्र (एवैः) गति साधनों, रथों से (प्रतिस्मरेथां) दुष्टों के मुकाबले पर आजाओ। (भङ्गुरावतः) प्रजापीड़क या तुम्हारी आज्ञा के भंग करने वाले या राष्ट्रव्यवस्था के विनाशक (द्रुहः रक्षसः) द्रोही प्रजापीड़क लोगों को (हतम्) विनष्ट करो। (यः) जो कोई (कदाचित्) कभी भी (मा द्रुहः) मेरा द्रोह करता है वह (दुष्कृते) अपने इस दुष्ट कार्य के निमित्त (सुगम्) कभी सुख या सुगम उपाय को (मा भूत्) प्राप्त न हो।

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः।
आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥८॥
ऋ० ७।१०४।८॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! (यः) जो (पाकेन) परिपक्व, सत्य (मनसा) मन से (चरन्तम्) आचरण करते हुए (मा) मुझ पर भी (अनृतैः) असत्य (वचोभिः) वाक्यों से (अभिचष्टे) आक्षेप करता है, (काशिना) मुट्ठी में (संगृभीतः) पकड़े हुए (आपः, इव) जलों के समान वह (असतः) असत्य का (वक्ता) कहने वाला मिथ्यावादी स्वयं (असन् अस्तु) आप से आप मिट जाय, शून्य हो जाय। जिस प्रकार मुट्ठी में लिया पानी आप से आप निकलकर गिर जाता है उस प्रकार असत्यवादी स्वयं नाश को प्राप्त हो।

७–(च०) 'यो नः कदा', 'द्रुहा' इति ऋ०।

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः ।
अहये वा तान् प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे॥९॥

ऋ० ७।१०४।९॥

भा०—(एवैः) अभिलषित अभिप्रायों से (विहरन्तः) विचरते हुए (ये) जो लोग (पाकशंसम्) परिपक्व सत्य, यथार्थ बात के उपदेश करने वाले पुरुष को (दूषयन्ति) बदनाम करते या उस पर दोषारोप करते हैं (ये) जो लोग (भद्रम्) अन्यों के कल्याणकारी साधु पुरुष की (स्वधाभिः) अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर (दूषयन्ति) निन्दा करते हैं (सोमः) सौम्यगुण युक्त राजा या शान्तस्वभाव का व्यवस्थापक धर्माधिकारी (तान्) उन असत्य दोषारोपकों के (अहये) सांप के या सांप समान क्रूर स्वभाव वाले जल्लाद दण्डकारी को (प्रददातु) सौंप दे। (वा) या (निर्ऋतेः) मृत्यु दण्डकारी विभाग के (उप एत्य) वश में (आ दधातु) कर दें।

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम् ।
रिपुस्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च ॥१०॥(६)

ऋ० ७।१०४।१०॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रु के तापकारिन् राजन्! (यः) जो पुरुष (नः) हमारे (रसम्) जल को और (पित्वः) अन्न के अंश को (दिप्सति) हम से छीन लेना चाहता है और जो (अश्वानाम्) अश्वों, (गवाम्) गौओं और (तनूनाम्) हमारे शरीरों को हम से काट लेना चाहता है, चुरा या छीन लेना चाहता है (स्तेयकृत्) चोरी करने वाला (स्तेनः) वह चोर (रिपुः) पापी, अपराधी हो जाता है। वह भी (दभ्रम्) दण्ड को (एतु) प्राप्त हो

१०–"यो अश्वानां यो गवां" इति ऋ० ।

और (सः) वह (तन्वा) अपने शरीर से और (तना) अपने पुत्र आदि से (निहीयताम्) वियुक्त किया जाय, वञ्चित किया जाय ।

परः सो अस्तु तन्वा३तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥११॥

ऋ० ७ । १०४ । ११ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! धर्माधिकारियो या शासनकारो और राजसभासदो ! या प्रजाजनो ! (यः) जो पुरुष (मा) मुझ प्रजापुरुष को (दिवा) दिन के समय में और (यः च) जो (नक्तम्) रात के समय में (दिप्सति) मारता है, घात करता है (सः) वह (तन्वा) अपने शरीर से और (तना च) पुत्र से भी (परः अस्तु) वियुक्त किया जाय । वह (विश्वा) समस्त प्रजाओं में (तिस्रः) तीन (पृथिवीः) पृथिविएँ, तीन मंजिले अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों से नीचे शूद्र रूप में (अधः अस्तु) उस निचले पद पर रहे अथवा तीन मंजिल गहरे तहखाने में कैद करके डाला जाय और (अस्य) उसका (यशः) मान और कीर्त्ति (प्रति शुष्यतु) उसके पाप के कारण सूख जाय, उसको नीचे गिराकर अपमानित किया जाय ।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥१२॥

ऋ० ७ । १०४ । १२ ॥

भा०—(सु विज्ञानम्) उत्तम विशेष ज्ञान की (चिकितुषे) मीमांसा या विवेचना करने वाले विवेकशील (जनाय) पुरुष के लिये (सत् च) सत्, सत्य और (असत्) असत्, असत्य (वचसी)

११–(च०) 'यो नो दिवा' इति ऋ० ।

वचन (पस्पृधाते) परस्पर स्वयं स्पर्धा करते हैं आपस में एक दूसरे से कलह करते हैं। विवेकी पुरुष के समक्ष सत्य और असत्य दोनों एक दूसरे का खण्डन करते, एक दूसरे से विवाद करते और एक दूसरे से प्रबल होना चाहते हैं, तो भी (तयोः) उन दोनों में से (यत्सत्यम्) जो सत्य है और (यतरत्) उन दोनों में से जो (ऋजीयः) सरल और श्रेष्ठ, छलहीन है (सोमः) न्यायाधीश (तत् इत्) उसकी ही (अवति) रक्षा करता है वा उसकी ओर झुकता है और (असत्) असत्य का (हन्ति) विनाश करता है।

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥१३॥

ऋ० ७। १०४। १३॥

भा०—(सोमः) सत्य का परिपालक राजा यथार्थ न्यायकारी (वृजिनम्) त्याग देने योग्य, पाप को या पापी को (नवा उ) कभी भी नहीं (हिनोति) समर्थन करता और (मिथुया) मिथ्या, झूठ के पक्ष को (धारयन्तम्) धारण करने वाले (क्षत्रियम्) बलवान् पुरुष का भी वह (न हिनोति) पक्ष नहीं करता। प्रत्युत वह (रक्षः) ऐसे दुष्ट राक्षस को (हन्ति) मारता है और ऐसे (असत्) असत्य (वदन्तम्) बोलने हारे को भी (हन्ति) मारता है। वे दोनों ही (इन्द्रस्य) राजा के (प्रसितौ) बन्धन में (शयाते) पड़ जाते हैं।

यदि वाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं
सचन्ताम्॥१४॥

ऋ० ७। १०४। १४॥

१४–(प्र०) 'देवा आस' इति ऋ०।

भा०—(यदि वा) यदि मैं (अनृत-देवः) असत्य को अपना इष्ट मानने वाला, असत्य का उपासक होऊं (अपि वा) और यदि (मोघम्) व्यर्थ ही (देवान्) नाना उपास्यों की झूठ मूठ (ऊहे) कल्पना करूं तो हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! या पापियों के संतापक ! मैं अवश्य दण्ड का भागी हूँ, परन्तु हम वैसे नहीं हैं। अतः हे (जातवेदः) विद्वन् ! (अस्मभ्यम्) हमारे प्रति फिर (किम्) क्योंकर आप (हृणीषे) क्रोध करेंगे। प्रत्युत जो लोग (द्रोघ-वाचः) आप के विरुद्ध द्रोह की चर्चा करने वाले, द्रोही लोग हों, (ते) वे (निर्ऋथम् , मृत्यु या दण्ड को (सचन्ताम्) प्राप्त हों।

अ॒द्या मु॑रीय॒ यदि॑ यातुधा॒नो अस्मि॒ यदि॒ वायु॑स्त॒तप॒ पूरु॑षस्य ।
अधा॒ स वी॒रैर्द॒शभि॒र्वि यू॑या॒ यो मा॒ मोघं॒ या॒तु॒धा॒नेत्याह॑ ॥१५॥

ऋ० ७। १०४। १५ ॥

भा०—(यदि) यदि मैं (यातुधानः) प्रजा को पीड़ा देने वाला (अस्मि) होऊं और (यदि वा) यदि (पुरुषस्य) किसी पुरुष के (आयुः)जीवन को (ततप) पीड़ा दूं तो (अद्य) आज ही, शीघ्र ही (मुरीय) मृत्यु का दण्डभागी होऊं। (अधा) और (यः) जो (मा) मुझे (मोघम्) व्यर्थ, विना कारण (यातुधान इति आह) प्रजा का पीड़क बतलाये (सः) वह (दशभिः वीरैः) दसों प्राणों से (वि यूयाः) वियुक्त किया जाय। अथवा (दशभिः वीरैः वि यूयाः) दसों पुत्रों से वियुक्त किया जाय।

प्राणा वै दशवीराः। श० १२।८।१।२२ ॥

यो माया॑तुं या॑तुधा॒नेत्याह॒ यो वा॑ र॒क्षाः शुचि॑र॒स्मीत्याह॑ ।
इन्द्र॒स्तं ह॑न्तु मह॒ता व॒धेन॒ विश्व॑स्य ज॒न्तोर॑ध॒मस्प॑दीष्ट ॥१६॥

ऋ० ७। १०४। १६ ॥

भा०—(यः) जो (माम्) मुझको (अयातुम्) प्रजापीड़क या दण्ड्य न होते हुए भी (यातुधान इति आह) प्रजापीड़क, दण्ड-नीय इस प्रकार बतलावे (वा) और (यः) जो (रक्षाः) स्वयं राक्षस, प्रजा का पीड़क होकर भी अपने को (शुचिः अस्मि) मैं शुचि, निर्दोष हूँ (इति आह) ऐसा कहे (इन्द्रः) राजा (तम्) उसको (महता) बड़े भारी (वधेन) दण्ड से (हन्तु) दण्डित करे। और वह (विश्व-स्य जन्तोः) समस्त प्राणियों से (अधमः पदीष्ट) नीचा समझा जाय।

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहुस्तन्वं गूहमाना।
व॒व्रम॑न॒न्तमव॒ सा प॑दीष्ट॒ ग्रावा॑णो घ्नन्तु र॒क्षस॑ उप॒ब्दैः ॥ १७॥

ऋ० ७ । १०४ । १७॥

भा०—अपराधिनी स्त्रियों को दण्ड। (या) जो स्त्री (खर्गला इव) उल्लुनी के समान (नक्तम्) रात को (तन्वम्) अपने शरीर को अन्धकार में (गूहमाना) छिपाती हुई (प्र जिगाति) घूमा करे या (द्रुहुः) अपने सम्बन्धियों से लड़ कर (अप जिगाति) घर छोड़ कर भाग जाय। (सा) वह स्त्री (अनन्तम्) अनन्त काल के लिये (वव्रम्) कैद, आवृत स्थान या गढ़े में (पदीष्ट) प्राप्त हो। और यदि स्त्री न होकर पुरुष उपरोक्त दोष करे तो ऐसे (रक्षसः) दुष्टों को (ग्रावाणः) विद्वान् लोग (उपब्दैः) अपने वाक्-प्रहारों से या तीक्ष्ण दण्डाज्ञाओं से (घ्नन्तु) दण्डित करें। अथवा (ग्रावाणः) पत्थर (उपब्दैः) अपने घरघराते शब्दों सहित उन राक्षसों का विनाश करें।

१७–(द्वि०) 'नक्तमपद्रुहा तन्वं, (तृ०) 'वव्रां अनन्तां अव, इति ऋ०।

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वीच्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन।
वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे॥१८॥
ऋ० ७।१०४।१८॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान् पुरुषो ! या वेगवान् सिपाहियो ! आप लोग (विक्षु) प्रजाओं में (वि तिष्ठध्वं) विशेष २ रूपों में अधिकारी होकर शासनपदों पर स्थिर होओ या स्थान स्थान पर पहरेदार रूप में खड़े रहो और (इच्छत) प्रजाओं का हित करने की इच्छा करो। (रक्षसः) राक्षसों को (गृभायत) पकड़ो और उनको (सं पिनष्टन) अच्छी प्रकार पीस दो, पीड़ित करो, दण्डित करो। (ये) जो राक्षस लोग (वयः) तीव्रगति वाले होकर (नक्तभिः) रातों में (पतयन्ति) घूमा करें और जो (देवे) देव = राजा के (अध्वरे) यज्ञ या राष्ट्र के प्रजापालन के कार्य में (रिपः) पाप कर्म, हिंसा आदि कार्य (दधिरे) करते हैं उन (रक्षसः) राक्षसों को (गृभायत) पकड़ो और (सं पिनष्टन) खूब दण्ड दो।

प्र वर्त्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि।
प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तोऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन॥१९॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (दिवः) आकाश से जिस प्रकार बिजुली तीव्रता से नीचे आती है उसी प्रकार तू (अश्मानम्) अश्मा, लोहसार या फौलाद की बनी तलवार या शस्त्र को (प्र वर्त्तय) भली प्रकार प्रयोग में ला। और हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (सोम-शितं) सोम-न्यायाधीश से तीक्ष्ण किये, दण्डनीय रूप से निर्धारित, दण्डनीय पुरुष को (सं शिशाधि) अच्छी प्रकार से दण्डित कर। और (पर्व-

१८–(प्र०) 'विक्ष्विच्छत', (तृ०) 'वयो ये भूत्वी' इति ऋ०।
१९–'दिवो अश्मा', (तृ०) 'प्राक्तादपाक्तादधरादुदक्तादभि' इति ऋ०।

तेन) पोरुओं वाले वज्र से या धनुष् से (प्राकृतः) आगे से भी (रक्षसः) राक्षसों का (अभि जहि) विनाश कर ।

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोदाभ्यम् ।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥२०॥
ऋ० ७ । १०४ । २० ॥

भा०—(एते उ) ये वे (श्व-यातवः) कुत्ते को साथ लिये या कुत्तों के समान चाल चलने वाले, टुकड़ेखोर या पागल कुत्तों के समान प्रजा को फाड़ खाने वाले, प्रजापीड़क या (अश्व-यातवः) अश्वों पर चढ़ कर जाने वाले (दिप्सवः) हिंसक लुटेरे लोग (पतयन्ति) जारहे हैं, ये (अदाभ्यम) अहिंसनीय बलवान् (इन्द्रम्) राजा को (दिप्सन्ति) मारना चाहते हैं। ऐसे (पिशुनेभ्यः) कुक्कुरों के समान क्षुद्राचारी (यातुमद्भ्यः) प्रजापीड़कों के लिये (शक्रः) शक्तिमान् राजा (नूनम्) निश्चय से (अशनिम्) वज्र के समान तीव्र प्रहार करने हारे अशनि नाम महास्त्र को (सृजत्) बनावे और (शिशीते) उसको खूब तीव्र सदा काम आने योग्य बनावे । डाकुओं के गिरोहों से बचने के लिये राजा सदा अशनि नामक अस्त्रों को तैयार रक्खे ।

इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरो हविर्मथीनामभ्याविवासताम् ।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः ॥२१॥
ऋ० ७ । १०४ । २१ ।

भा०—(इन्द्रः) राजा (यातूनाम्) पीड़ाकारियों का और (अभि आविवासताम्) रण में अभिमुख होकर मुकाबले में लड़ने वाले (हविर्मथीनाम्) हविः—राजा की आज्ञा का मथन, विनाश

२१–(च०) 'सत पाति' इति ऋ०

करने वाले (यातूनाम्) प्रजापीड़कों का (पराशरः) प्रबल विनाशक (अभवत्) है। (वनम्) वन को (यथा) जिस प्रकार (परशुः) कुल्हाड़ा काट डालता है और (पात्रा इव) मिट्टी के वर्त्तनों को जिस प्रकार पत्थर फोड़ डालता है उसी प्रकार (सतः) देश पर चढ़ आये (रक्षसः) दुष्ट पुरुषों को (शक्रः) शक्तिमान् राजा (इत्) भी (अभि भिन्दन् एतु) काटता, फाटता हुआ पहुंचे।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ २२ ॥

ऋ० ७। १०४। २२ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! (दृषदा) जिस प्रकार पत्थर से मिट्टी का वर्त्तन तोड़ डाला जाता है उसी प्रकार तू (उलूक-यातुम्) उल्लुओं के समान चाल चलनेवाले, रात के समय लोगों पर छापा मारने वाले (शुशुलूक-यातुम्) छोटे उल्लू के समान चाल चलने वाले, अप्रत्यक्ष में कर्ण कटु बोलने वाले और जन्तुओं की आंखें निकालने वाले या उनकी आंखों में धूल झोंकने वाले, चुगलखोर, (श्व-यातुम्) कुत्तों के समान चाल चलने वाले, कमज़ोरों पर गुर्रा गुर्रा कर उनको फाड़ खा जाने वाले (उत) और (कोक-यातुम्) भेड़िये के समान चाल चलने वाले, पीछे से आक्रमण करके निर्दयता से लूटने पीटने वाले (सुपर्ण-यातुम्) बाज के समान चाल चलनेवाले, अपने से कमज़ोरों पर टूटकर उनके बच्चों और जान माल को लूट खसोटने वाले और (गृध्र-यातुम्) गीध के समान चाल चलने वाले, मरते सिसकतों की भी खाल खैंचने या उनपर अत्याचार करके उनका धनापहरण करने वालों को (प्र मृण) अच्छी प्रकार विनष्ट कर, उनको दण्ड दे और उनका बल तोड़ डाल।

२२–'शिशुलूकयातु' इति ऋ०

मा नो रक्षो अभि नड् यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान् ॥२३॥

ऋ० ७। १०४। २३॥

भा०—(यातु-मावत्) पीड़ादायक (रक्षः) दुष्ट पुरुष (नः) हम तक (मा) कभी न (अभि नट्) पहुंचे। (ये) जो (किमीदिनः) दूसरों की जान माल को कुछ भी न जानने वाले (मिथुना) स्त्री पुरुष हैं वे (अप उच्छन्तु) हमसे दूर रहें। (पार्थिवात् अंहसः) पृथिवी सम्बन्धी कष्ट से (पृथिवी) पृथिवी और (दिव्यात्) आकाश सम्बन्धी (अंहसः) कष्ट से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (अस्मान्) हमारी (पातु) रक्षा करे।

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम्।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥२४॥

ऋ० ७। १०४। २४॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! (यातु-धानम्) परपीड़ादायी (पुमांसम्) पुरुष को और (मायया) माया, छल कपट से (शाशदानाम्) दूसरों का विनाश करने वाली, अर्थलोलुपा (स्त्रियम्) स्त्री को भी (जहि) विनाश कर, उसको दण्ड दे। (मूर-देवाः) गर्दन रहित या झुकी, विकृत गर्दन वाले होकर (ऋदन्तु) नाश को प्राप्त हों, कष्ट पावें कि (ते) वे (उत्-चरन्तम्) ऊपर उठते हुए सूर्य को भी (मादृशन्) न देख सकें। उक्त प्रकार के दुष्ट स्त्री पुरुषों की गर्दनें मरोड़ कर ऐसी झुका दी जावें कि वे सूर्य को भी न देख सकें।

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम्।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः॥ २५॥ (११)

२३–'यातुमावतामपोच्छतु मिथुना या किमीदिना' इति ऋ०।

भा०—हे इन्द्र और हे (सोम) सोम ! आप दोनों में से (इन्द्रः) राजा (प्रति चक्ष्व) सदा अपने प्रतिकूल पुरुषों का निरीक्षण करे और हे सोम ! आप (वि चक्ष्व) उनके नाना कार्यों की विवेचना किया करो। दोनों ही अपने अपने कार्यों में (जागृतम्) जागृत, सावधान रहो। और (रक्षोभ्यः) राक्षस और उन दुष्ट पुरुषों के लिए (वधम्) वधकारी दण्ड का (अस्यतम्) विधान किया करो और (यातु-मद्भ्यः) पीड़ाकारी लोगों के लिए (अशनिम्) विद्युत् के समान घातक अस्त्रों का भी प्रयोग करो।

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

[५] शत्रुनाशक सेनापति की नियुक्ति।

शुक्र ऋषिः। कृत्यादूषणमुत मन्त्रोक्ता देवताः। १, ६ उपरिष्टाद् बृहती। २ त्रिपाद् विराड् गायत्री; ३ चतुष्पाद् भुरिग् जगती। ४, १२, १३, १६, १८ अनुष्टुभः, ५ संस्तारपंक्तिर्भुरिक्, ७, ८ ककुमत्यावनुष्टुभौ, ९ पुरस्कृति-जगती, १० त्रिष्टुप्, ११ पथ्या पांक्तिः, १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती, १५ पुरस्ताद बृहती; १९ जगतीगर्भा त्रिष्टुप्, २० विराड्गर्भा आस्तारपंक्तिः, २१ विराट् त्रिष्टुप्, २२ त्र्यवसाना सप्तपदा विराड्गर्भा भुरिक् शक्वरी। द्वाविंशर्चं सूक्तम् ॥

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते।
वीर्यवान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १ ॥

भा०—(अयं मणिः)[1] यह शिरोमणि या शत्रुओं का स्तम्भन करने वाला अपने समाज का अलंकार-भूत पुरुष (प्रतिसरः) शत्रु के प्रति वीरता से आक्रमण करने में कुशल और (वीरः) वीर है। इसी बात को दर्शाने वाला पदक भी उसी नाम से कहा गया कि वह (मणिः)

[५] १. मनस्तम्भे इत्यतः।

मणि, पदक (वीराय) वीर्यवान् को ही (बध्यते) बांधा जाता है।
उसके लगाने वाले के ये गुण प्रकट होते हैं कि वह (वीर्यवान्) साम-
र्थ्यवान्, (सपत्नहा) शत्रुओं को मारने वाला, (शूरवीरः) शूरवीर
या शौर्यसम्पन्न वीरों से घिरा हुआ उनका मुखिया, (परिपाणः) सब
ओर से सुरक्षित (सुमंगलः) शोभन राष्ट्र का मंगलकारी है। विशेष
वीर सेनापतियों को विशेष पदकों से सुशोभित करना चाहिये जिससे
उनके बल, सामर्थ्य, साहसगुण प्रकट हों। तुलना करो (अथर्व० २।
११। १-५) 'स्राक्त्योऽसि, प्रतिसरोऽसि, प्रत्यभिचरणोऽसि। आप्नुहि
श्रेयांसमति समं क्राम॥' इत्यादि।

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः।
प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः॥ २॥

भा०—सब अगले मन्त्रों में भी मणि शब्द से मणिवान् या शत्रु स्तम्भनकारी का बोध होता है। (अयं) यह (मणिः) शूरवीरता के पदक से सुशोभित सेनापति (सपत्नहा) अपने शत्रुओं का नाशक, (सुवीरः) स्वयं उत्तम वीर और उत्तम उत्तम वीर पुरुषों को अपने शासन में रखने वाला, (सहस्वान्) बलवान्, भारी शत्रु बल को भी थामने वाला, (वाजी) वेगवान्, अश्व के समान बलवान्, (सहमानः) शत्रुओं को दबाता हुआ, (उग्रः) रण में बड़ा भयकारी है। वही (वीरः) वीर (कृत्याः) शत्रुओं के गुप्त, घातक प्रयोगों को, शत्रु की चालों को (दूषयन्) बेकार करता हुआ (एति) आता है।

सायण तथा ग्रीफ़िथ आदि विद्वानों ने यह सूक्त समस्त 'स्राक्त्य-मणि' की स्तुति में लगा दिया है। परन्तु मणि या पदक पदार्थ जड़ होने से ये विशेषण उसमें संगत नहीं है। प्रत्युत लक्षण से उसके धारण करने वाले सेनापति में संगत होते हैं।

अनेनेद्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान् पराभावयन्मनीषी ।
अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेनाजयत् प्रदिशश्चतस्रः ॥३॥

भा०—मणि से सुशोभित पुरुष का इस प्रकार परिचय दिया जाता है—(अनेन) इस (मणिना) पदक से विभूषित या शिरोमणि सेनापति के बल से (इन्द्रः) राजा (वृत्रम् अहन्) राष्ट्र के घेरने वाले शत्रु का नाश करता है। (मनीषी) अपने मन्त्र या मनोबल से समस्त राष्ट्र को प्रेरित या संचालित करने वाला राजा (असुरान्) असुर, बलवान्, बल के गर्वी उपद्रवी लोगों को (परा अभावयत्) पराजित करता है। (अनेन) इस के बल से (इमे) इन (द्यावापृथिवी उभे) द्यौ और पृथिवी, भूमि-पतियों और भूमियों दोनों को (अजयत्) विजय करता है और (अनेन) इसके बल से (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओं का (अजयत्) विजय करता है।

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः ।
ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः ॥ ४ ॥

भा०—(अयम्) यह (मणिः) जिस प्रकार (स्राक्त्यः) स्रक्ति नामक तिलक वृक्ष से बना है, उसी प्रकार यह (मणिः) मणि को धारण करने वाला वीर भी (स्रातचः) समस्त सेना के बीच तिलक के योग्य है। अथवा माला आदि से सुशोभित करने योग्य है। वही (प्रतीवर्त्तः) शत्रुओं से अभिमुख खड़ा होने वाला और (प्रतिसरः) शत्रुओं पर चढ़ाई करने में समर्थ है। वह (ओजस्वान्) ओजस्वी (विमृधः) नाना प्रकार से युद्ध करने में समर्थ (वशी) शत्रुओं पर, अपने सेनासमूह और अपने इन्द्रियगणों पर भी वशकारी होकर (सर्वतः) सब प्रकार से (अस्माम्) हमारी (पातु) रक्षा करे ।

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ५ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि (तत् आह) उसी बात का उपदेश करता है। (तत् उ) और उसी का उपदेश (सोमः आह) सोम, न्यायशील राजा करता है। (बृहस्पतिः) वेद का विद्वान् या सब वेदों का स्वामी (सविता) सबका प्रेरक (इन्द्रः) इन्द्र, महाराज भी वही बात कहता है, इसलिये (मे) मुझ शासक की आज्ञा में विद्यमान (ते) वे (पुरोहिताः) अगले मुख्य स्थान पर नियुक्त सेनानायक लोग अपने (प्रतिसरैः) शत्रु पर तीव्र आक्रमण करने वाले सुभटों द्वारा (कृत्याः) शत्रु से प्रयुक्त दुष्प्रयोगों को (प्रतीचीः) विपरीतगामी, निष्फल (अजन्तु) करदें।

अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम् ।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ६ ॥

भा०—चाहे शत्रु का आक्रमणकारी उत्पात (द्यावा पृथिवी अन्तः दधे) आकाश और पृथिवी दोनों को घेर ले (उत अहः, उत सूर्यम्) और चाहे दिन और सूर्य को भी घेरलें। तो भी (मे) मेरे (ते देवाः) वे विद्वान् (पुरोहिताः) मुख्य स्थान पर नियुक्त सेनापति लोग (प्रतिसरैः) शत्रु के प्रतिकूल आगे आगे बढ़ने वाले साहसी, वीर भटों के साथ आगे बढ़ते हुए (कृत्याः) शत्रु के कामों को (प्रतीचीः) विपरीत (अजन्तु) करदें।

ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते ।
सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥ ७ ॥

भा०—(ये जनाः) जो लोग (स्राक्त्यं मणिम्) स्राक्त्य मणिधारी पुरुष को (वर्माणि कृण्वते) अपना कवच, रक्षक बना लेते हैं वे

(सूर्य इव) सूर्य जिस प्रकार (दिवम् आरुह्य) आकाश में सर्वोपरि विराजमान है उसी प्रकार वे भी उच्च पद को प्राप्त होकर (वशी) सब राष्ट्र को वश करके (कृत्याः) शत्रुओं की नाना चालों का (विबाधते) नाना प्रकार से नाश करते हैं।

स्राक्त्येन॑ म॒णिन॒ ऋषि॑णेव मनी॒षिणा॑।
अजै॑षं॒ सर्वा॒ः पृत॑ना॒ वि मृधो॑ हन्मि र॒क्षसः॑ ॥ ८ ॥

भा०—(स्राक्त्येन मणिना) स्राक्त्यमणि के धारण करने वाले, (ऋषिणा इव) क्रान्तदर्शी योग्य मन्त्री के समान (मनीषिणा) बुद्धिमान् सुभट द्वारा (सर्वाः पृतनाः) समस्त शत्रु सेनाओं को (अजैषम्) मैं राजा विजय करूं और (रक्षसः) सब राक्षसों को भी (मृधः) सब युद्धों को भी (अजैषम्) जीतूं।

याः कृ॒त्या आ॑ङ्गिर॒सीर्याः कृ॒त्या आ॑सु॒रीर्याः
कृ॒त्याः स्व॒यंकृ॑ता॒ या उ॑ चा॒न्येभि॒राभृ॑ताः।
उ॒भयी॒स्ताः परा॑ यन्तु परा॒वतो॑ नव॒तिं ना॒व्या॒३ अति॑ ॥ ९ ॥

भा०—(याः) जो (कृत्याः) जन संहारकारी क्रियाएं (आङ्गिरसीः) आङ्गिरस वेद, अथर्ववेद के विद्वान् वैज्ञानिकों द्वारा बतलाई जाती हैं, और (याः कृत्याः आसुरीः) जो बलवान्, शक्तिशाली पुरुषों द्वारा संहारकारी क्रियाएं की जाती हैं, (या कृत्याः) जो हिंसाकारी कार्य (स्वयंकृताः) प्रजा अपने आप कर लेती है, और (या उ) जो (अन्येभिः) अन्य, शत्रु लोगों द्वारा (आभृताः) लाई जाती है, (ताः) वे (उभयीः) दोनों प्रकार की दैवी और मानुषी विपत्तियां (परावतः) दूर (नवतिं नाव्याः अति) ९० नदियों को पार करके (परा यन्तु) दूर चली जावें।

अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः।
प्रजापतिः परमेष्ठी विराड् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे ॥१०॥ (१२)।

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र (विष्णुः) विष्णु (सविता) सविता, (रुद्रः) रुद्र (अग्निः) अग्नि (प्रजापतिः) प्रजापति (परमेष्ठी) परमेष्ठी (विराट्) विराट् (वैश्वानरः) वैश्वानर ये सब (देवाः) राष्ट्र के बड़े २ अधिकारी लोग और (सर्वे) सब (ऋषयः च) क्रांत-दर्शी ऋषिगण (अस्मै) इस महा शूरवीर पुरुष के शरीर पर (मणिम्) शोभाजनक पदक और (वर्म) कवच को उसकी प्रतिष्ठा के निमित्त (बध्नन्तु) बांधे ।

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव।
यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥ ११ ॥

भा०—हे पुरुष ! तु जो मणि को धारण करता है वह (ओषधी-नाम्) रोग को नाश करने वाली दवाओं में (उत्तमः) ओषधि के समान उत्तम (जगताम्) गति करने वाले पदार्थों में (अनड्वान् इव) उस को उठा ले चलने वाली वाहक शक्ति के समान मूल आधार और (श्वपदाम्) कुत्ते के से नखों वाले मांसाहारी जन्तुओं में से (व्याघ्र इव) बाघ के समान सबसे अधिक वीर है । हम (यम्) जिस अभि-लषित पुरुष को (ऐच्छाम) प्राप्त करना चाहें (तम्) उसको और (प्रतिस्पाशनम्) अपने बाधना देने वाले पीड़ाकारी को (अन्तितम्) अन्त हुआ या विनष्ट हुआ ही (अविदाम) देखें, प्राप्त करें ।

स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा।
अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १२ ॥

भा०—(यः) जो (इमम्) इस (मणिम्) मणि, प्रतिष्ठा और वीरता के सूचक चिह्न को (बिभर्त्ति) धारण करता है (सः)

वह (व्याघ्रो: भवति) व्याघ्र के समान शूरवीर (अथो सिंह:) और सिंह के समान पराक्रमी, (अथो वृषा) बैल के समान प्रजा के भार को अपने कन्धों पर उठाने वाला और (अथो सपत्न-कर्शन:) अपने शत्रुओं को जीतने वाला होता है। अर्थात् इन गुणों के धारण करने वाले धीर, वीर पराक्रमी पुरुष को उस मणि या पदक को धारण करने का अधिकार है।

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः ।
सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १३ ॥

भा०—(य) जो (इमम्) इस (मणिम्) मणि को (बिभर्त्ति) धारण करता है वह इतना सामर्थ्यवान् होता है कि (एनम्) इसके (न) न (अप्सरसः) स्त्रियें अपने प्रलोभनों से (न गन्धर्वाः) और न भूमि को धारण करने वाले, भूमिपाल अपनी कुटिल नीतियों से और (न मर्त्याः) न साधारण मनुष्य ही (घ्नन्ति) मारने में समर्थ होते हैं। बल्कि वह (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं में अपने यश और तेज से (विराजति) नाना प्रकार से सुशोभित होता है।

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत् ।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत् संश्रेषिणे जयत् ।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥ १४ ॥

भा०—(कश्यपः) सब प्रजाओं का द्रष्टा प्रजापति (त्वाम्) तुझ को हे वीर पुरुष ! (असृजत) बनाता है, उत्पन्न करता है, और (कश्यपः) सबका द्रष्टा ज्ञानी ही (त्वा) तुझको (सम् ऐरयत्) भली प्रकार उत्तम मार्ग में प्रेरित करता है। (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् राजा (त्वा) तुझको (अबिभः) धारण करता है और विशेष रूप से भूति देकर नियुक्त वरता है, और तुझको (बिभ्रत्) विशेष रूप से

नियुक्त करके ही महाराजा (सं-श्रेषिणे) परस्पर संघात पूर्वक रहने वाले राष्ट्र को (अजयत्) जीतता है। ऐसे (सहस्र-वीर्यम्) अपरिमित सामर्थ्यवान् (मणिम्) पदकधारी शिरोमणि पुरुष को ही (देवाः) राष्ट्र के शासक लोग (वर्म) अपना रक्षक कवच के समान (अकृण्वत) बना लेते हैं।

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति।
प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥ १५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (यः) जो पुरुष (त्वा) तुझ को (कृत्याभिः) अपनी दुष्ट चालों से और (यः त्वा दीक्षाभिः) और जो तुझे विशेष व्रत, नियम और नियन्त्रण व्यवस्थाओं से और (यः त्वा यज्ञैः) जो तुझे यज्ञों अर्थात् परस्पर संगठित संघों द्वारा (जिघांसति) मारना या पीड़ा देना चाहता है (त्वम्) तू हे इन्द्र ! (तम्) उसको (शत-पर्वणा) सैकड़ों पर्वों वाले अपरिमित बल वाले, अथवा सैकड़ों टुकड़ों वाले (वज्रेण) शत्रु बल के निवारक साधन, सेनाबल या वज्र = तलवार से (प्रत्यक् जहि) पीछे मार भगा।

'तलवार से ले लिया' इस मुहावरे में जिस प्रकार तलवार सेना का प्रतिनिधि है उसी प्रकार 'वज्र' शब्द भी तलवार का वाचक होकर 'शतपर्वा वज्र' सैकड़ों शस्त्रों वाली सेना का वाचक है।

अयमिद् वै प्रतीवर्त ओजस्वान् संजयो मणिः।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

भा०—(अयम्) यह ही (मणिः) मणि के समान पदक का धारण करने वाला, शिरोमणि पुरुष (प्रतीवर्त्तः) शत्रु का मुख फेर देने में समर्थ (ओजस्वान्) प्रभाव-शाली होने के कारण (संजयः) जय लाभ करने में भली प्रकार समर्थ है। वह ही (परिपाणः) राष्ट्र

की सब प्रकार से रक्षा करता हुआ या स्वयं चारों ओर से सुरक्षित रह कर और (सु-मंगलः) उत्तम मंगलजनक अभिषेक और राजतिलक आदि राजोचित संस्कारों से सुशोभित होकर (प्रजां धनं च) प्रजा और धन की (रक्षतु) रक्षा करे।

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात्।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥ १७ ॥

भा०—हमारे (अधरात्) नीचे से अर्थात् हम से नीचे के लोगों की ओर से (असपत्नम्) हमारे कोई विरोधी न उठें। (नः उत्तरात् असपत्नम्) हमारी अपेक्षा ऊंचे पद के लोगों में से भी हमारे शत्रु न रहें। हे (इन्द्र) राजन् ! (नः) हमारे (पश्चात्) पीछे की ओर से (असपत्नम्) हमारे शत्रु न हों और (पुरः) आगे की ओर से हमारे आगे (ज्योतिः कृधि) प्रकाश, ज्ञान और वेदमय आदेश को रख, जिससे हम अंधेरे में न भटकें और निर्भय होकर जीवन व्यतीत करें।

यह राजा का कर्त्तव्य है कि प्रजा को सब ओर से निर्भय करके प्रजा को अन्धेरे में न रक्खे, प्रत्युत उनको ज्ञानमय उन्नत मार्ग की ओर आगे बढ़ावे, उनको अन्धेरे में या अज्ञानमय दशा में न रक्खे। यह वेद का उपदेश है।

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १८ ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यु, आकाश और पृथिवी (मे वर्म दधातु) मेरे लिये आपत्तियों को वारण करने वाला कवच या रक्षा-

१७,–१. मणिर्वा इन्द्र शब्देन उच्यते इति सायणवचनात्तन्मतेऽपि मणि-शब्देन मणिभिन्नं वस्तु सूक्तेन वर्ण्यते इति मणिव्याजेन मणिधारिणो राज्ञ एव वर्णनमिष्यते।

साधन प्रदान करें। (अहः वर्म) दिन का प्रकाशमय काल मुझे आपत्तियों से बचने का उपाय प्रदान करे। (सूर्यः वर्म दधातु) सूर्य, तेजःपुञ्ज अपने प्रखर तेज से मुझे रोगों से बचने का साधन दे। (इन्द्रः च वर्म) इन्द्र, विद्युत् या राजा मुझे वर्म अर्थात् ऐसा साधन दे और (अग्निः च वर्म) अग्नि और अग्रणी, नेता, सेनापति मुझे रक्षा साधन दे और (धाता वर्म दधातु) सबका पालक पोषक परमात्मा मुझे सब विपत्तियों से बचने का प्रबल साधन प्रदान करे।

ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे।
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदष्टिर्यथासानि॥१९॥

भा०—(ऐन्द्राग्नम्) इन्द्र और अग्नि राजा और सेनापति का प्रदान किया हुआ (बहुलम्) नाना प्रकार का (यत्) जो (उग्रम्) अति भयंकर (वर्म) रक्षा साधन है उसको (विश्वे देवाः) सब देव विद्वान्‌गण और अधिकारी लोग और (सर्वे) सब प्रजा के लोग भी (न अति विध्यन्ति) भंग नहीं करते, उसको नहीं तोड़ते। (तत्) वह प्रबल रक्षा साधन (मे तन्वम्) मेरे शरीर की (सर्वतः) सब प्रकार से (त्रायताम्) रक्षा करे। (यथा) जिससे मैं (बृहत्) बड़ा शक्तिमान् और (आयुष्मान्) दीर्घायु होकर (जरदष्टिः) निर्विघ्न बुढ़ापे तक जीवन के भोग करने में समर्थ (असानि) रहूँ।

आ मारुक्षद् देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये।
इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे॥२०॥

भा०—(देवमणिः) देव, विद्वानों के बीच, शिरोमणि के समान शोभावान् वह राजा (मा) मुझ राष्ट्रवासी जन की (मह्यम्) बड़े भारी (अरिष्टतातये) विनाश से रक्षा करने के लिये (आरुक्षत्) राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होता है। हे प्रजागणो! (इमम्) इस

(मेथिम्) शत्रुओं के विनाशक और दण्डकारी (तनूपानम्) सबके शरीरों की रक्षा करने वाले (त्रि-वरूथम्) तीन प्रकार के सेनाबलों अर्थात् जल, थल और हवाई सेनाओं से सम्पन्न राजा की (ओजसे) इसके प्रभाव के कारण (अभि संविशध्वम्) शरण आओ, इसकी छत्रच्छाया में आओ।

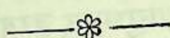
अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम्।
दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासत् ॥२१॥

भा०—(इन्द्रः) सबसे अधिक ऐश्वर्यशील परमात्मा (अस्मिन्) इस राजा में (नृम्णम्) सब मनुष्यों का अभिमत धन, बल, ऐश्वर्य और सुख (विदधातु) स्थापित करे। हे (देवासः) विद्वान्, शक्ति-युक्त पुरुषो! अधिकारियो! (इमम्) इसके (अभि-संविशध्वम्) चारों ओर आकर विराजमान होओ। (यथा) जिससे यह राजा (शत-शारदाय) सौ वर्ष तक के (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु तक (आयुष्मान्) दीर्घजीवी (जरदष्टिः) जरावस्था तक स्थिर (अ-सत्) रहे।

स्वस्तिदा विशांपतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।
इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा।
स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥ २२ ॥ (१३)

भा०—हे वीर पुरुष! (स्वस्तिदाः) स्वस्ति, कल्याण, प्रजा को सुख शान्ति और समृद्धि देने वाला, (विशांपतिः) प्रजाओं का राजा होता है। वही (वृत्रहा) प्रजा में से विघ्नकारी दुष्टों का नाश करने वाला, (विमृधः) नाना प्रकार से उनको दण्ड देने वाला होकर समस्त प्रजा को (वशी) वश करने में समर्थ होता है। ऐसा ही तू बन। (इन्द्रः) सर्वैश्वर्यवान्, (जिगीवान्) सर्वत्र विजयशील, (अपरा-

जितः) कहीं भी पराजित न होने वाला, (सोमपाः) सोम, राष्ट्र का पालक, (अभयंकरः) प्रजा को अभय-प्रदाता, (वृषा) सब सुखों का वर्णन करने वाला या सब की शक्तियों का प्रतिवन्ध करने वाला वह (ते) तेरे शरीर पर (मणिम्) वीरताद्योतक मणि या पदक को (ब-ध्नातु) बांधे। और (सः) वह (सर्वतः) सब प्रकार से (दिवा) दिन और (नक्तं च) रात (विश्वतः) सब से (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे।



[ ]कन्या के लिये अयोग्य और वर्जनीय वर और स्त्रियों की रक्षा।

मातृनामा ऋषिः। मातृनामा देवता, उत मन्त्रोक्ता देवताः। १,३,४-६,१३, १८-२६ अनुष्टुभः; २ पुरस्ताद् बृहती; १० त्र्यवसाना षट्पदा जगती। ११, १२, १४, १६ पथ्यापंक्तयः, १५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी; १७ त्र्यवसाना सप्तपदा जगती। षड्विंशत्यर्चं सूक्तम्।

यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ।
दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः॥ १॥

भा०—हे वरवर्णिनि! (जातायाः) विवाहयोग्य, शुभगुणमयी, निर्दोष रूप से गुणवती (ते) तुझ कन्या के लिये (पतिवेदनौ) पति के रूप में प्राप्त होने वाले (यौ) जिनको (माता) तेरी माता (उत्-ममार्ज), पति होने से निषेध करदे, उनमें से एक (अलिंशः)[2] अगम्य, अस्पृश्य, त्वचागत संक्रामक दोष से युक्त (दुर्णामा)[3] कुष्ठी, पापरोगी और

१. 'उन्ममार्ज' परिहृतवती, पत्युः परिग्रहायेति शेष इति सायणः।

२. 'अलिंशः' लिश अल्पीभावे (भ्वादिः) गतौ च (तुदादिः)

३. 'दुर्णामा' क्रिमिर्भवति पापनामा। क्रिमिः क्रव्ये मेद्यति। क्रमतेर्वा स्यात् सरणकर्मणः, क्रामतेर्वा।

दूसरा (वत्सपः) बच्चों का पालन करने वाला बड़ी उमर का बूढ़ा या संवर्त्त रोग से पीड़ित है। वे दोनों ही (तत्र) कन्या के साथ विवाह करने के लिये (मा गृधत्) कभी अभिलाषा न करें।

जातः पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च,
अपजातश्च लोकेऽस्मिन् मन्तव्या शास्त्रवेदिभिः।
मातृतुल्यगुणो जातस्त्वनुजातः पितुः समः।
अतिजातोऽधिकस्तस्माद् अपजातोऽधमाधमः।

पञ्च० १।४२६,४२७॥

जात, अनुजात, अतिजात और अपजात चार प्रकार की संतान होती हैं। माता के गुणों पर उत्पन्न सन्तान 'जात', पिता के गुणों पर अनुजात, उन दोनों से अधिक अतिजात और हीन 'अपजात' कहाती है। संस्कृत साहित्य में पुत्र पुत्रियों को 'जात', 'जाता' शब्द से व्यवहार किया जाता है। माता पुत्री के विवाह के समय कुष्ठादि रोगों से पीड़ित और बूढ़ों को कन्या को पति के लिये कभी न वरे, प्रत्युत इनकार करदे। और न ऐसे रोगियों और अधेड़ लोगों को विवाह की इच्छा करनी चाहिये।

पलालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम्।
आश्रेषं वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम् ॥ २ ॥

भा०—कन्या की माता (पलालानुपलालौ) पलाल अर्थात् मांसभक्षी और अनुपलाल अर्थात् मांसभक्षियों की सन्तानों को या हीन और हीनों के संगी लोगों को और (शर्कुं) हिंसक स्वभाव, (कोकम्) उल्लू या भेड़िये के स्वभाव के छली या निर्दयी, (मलिम्लुचम्) मलिन स्वभाव, चोर और (पलीजकम्) श्वेत बालों वाले या पलित रोगी, (आश्रेषम्) शीघ्र चिपट जाने वाले, संक्रामक रोग से पीड़ित अथवा गर्मी, सुजाक आदि दाहकारी रोग से पीड़ित, (वव्रिवाससम्) रूपविना-

शाक अथवा रूप या ऊपर के दिखावे के ही वस्त्रों से सजे हुए (ऋक्ष-ग्रीवम्) रीछ के समान मोटी गर्दन वाले अति लोमश और (प्र-मीलिनम्) सदा अपनी आंखें मिचमिचाने वाले, चून्धे आदमी को भी (माता उन्ममार्ज) कन्या की माता अपनी कन्या के विवाह के निमित्त नकार दे।

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयिव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥
(मनु० अ० ३ । ५६)

दुराचारी, नीच, नपुंसक, वेदरहित, लोमश, बवासीर, क्षयी, मृगी, कोढ़ आदि के रोगी पुरुषों को विवाह के लिये छोड़ देना चाहिये, चाहे ये कुल बड़े समृद्ध भी क्यों न हों। वेद के कथनानुसार मांसाहारी, नीच, उनका संगी, हिंसक, चोर, वृक के समान दम्भी, पलितरोगी, संक्रामक रोगी, रीछ के समान लोमवान्, चूंधे आदमी को त्याग देना चाहिये, चाहे वे उत्तम रूप वस्त्रादि पहन कर भी क्यों न आये हों। पैप्पलादशाखा में इस मन्त्र में 'मुष्कयोरपहन्मसि' अधिक पाठ है। अर्थात् ऐसे पुरुषों की संतान रोकने के लिये इनके अण्डकोश काट देने चाहियें जिन से ये सन्तान उत्पन्न ही न कर सकें।

मा संवृतो मोप सृप ऊरू माव सृपोन्तरा ।
कृणोम्यस्यै भेषजं बजं दुर्णामचातनम् ॥ ३ ॥

भा०—हे दुर्नाम ! कुष्ठ रोगी पुरुष या कुष्ठ रोग ! (मा संवृतः) तू कभी वरण न किया जाय। और यदि भूल से किसी प्रकार कन्या के द्वारा वरण भी किया गया हो तो (ऊरू) कन्या के जंघा भागों के (मा उपसृप) समीप स्पर्श मत कर अर्थात् कन्या के साथ संग मत कर और (अन्तरा मा अव सृप) मकान के भीतर भी मत रह।

(अस्यै) इस कन्या के लिये (दुर्नाम-चातनम्) दुष्ट नाम वाले दुष्ट रोग से पीड़ित पुरुष के दूर करने वाले (ब्रजं) अभिगमनीय, सुन्दर पुरुष को ही (भेषजम्) उत्तम उपाय (कृणोमि) करता हूं।

दुष्ट रोगी पुरुष न वरे जायँ और वे कन्याओं का संग न करें। कन्याएं ऐसे रोगियों के हाथ न जायँ, इस का सब से उत्तम उपाय उनके समक्ष उत्तम, शालीन वरों को स्थापित करना है।

दुर्णामा च सुनामा चोभा संवृतमिच्छतः।
अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम् ॥ ४ ॥

भा०—(दुर्नामा) दुष्ट रोग से बदनाम हुआ घृणित पुरुष और (सुनामा च) उत्तम रूप से युक्त सुन्दर, सुगुण पुरुष (उभा च) दोनों ही (संवृतम्) स्वयंवर के अवसर पर अपने को वरा जाना (इच्छतः) चाहते हैं। हम कन्या के सम्बन्धीगण (अरायान्) उत्तम गुण सम्पत्तियों से रहित निकृष्ट अधम, कुलक्षणी लोगों को (अप हन्मः) दूर भगादें और (सुनामा) उत्तम गुण, रूप, यश वाला पुरुष (स्त्रैणम्)[1] कन्याओं को या स्त्री के शरीर को (इच्छताम्) प्राप्त करे, उसका स्वामी बने।

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (कृष्णः) अति काला या काले कर्मों वाला, पापाचारी (केशी) लम्बे २ बालों वाला, असभ्य (असुरः) केवल प्राणपोषी, खाऊ, पीऊ, उड़ाऊ (स्तम्बजः) जंगली और (तुण्डिकः) नाक थोथने वाला, कुरूप, वानर के मुख वाला पुरुष हो और भी इसी प्रकार (अरायान्) कुलक्षण वाले पुरुषों को हम (अस्याः मुष्काभ्याम्)[2]

१—'स्त्रैणं' स्त्रियाः सम्बन्धि अङ्गं, स्त्रीसमूहं वा इति सायणः।
२—'पंचम्यर्थे चतुर्थी।'

इस कन्या के उत्पादक अंग तथा (भंससः) मूल भागों से (अप हन्मसि) परे रक्खें । अर्थात् ऐसे नीच वृत्ति के पुरुषों के दुर्व्यसनों से कन्या को यत्न से बचाना चाहिए कि कोई उसके कौमार व्रत को खण्डित न करे ।

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।
अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥ ६ ॥

भा०—(अनुजिघ्रम्) गन्ध लेकर (प्रमृशन्तम्) अपने विषय को पता लगाने वाले, (उत) और (क्रव्यादम्) मांसखोर, (रेरिहम्) चाटने वाले या कुत्तों के समान जीभ से चाटने वाले, नीच लोभी पुरुष को और (श्वकिष्किण:) कुत्तों की चाल चलने वाले, दूसरों की सेवा में लगे (अरायान्) निर्धन, दरिद्र, कुलक्षणों को (बजः) उत्तम गम्य, तेजस्वी (पिङ्गः)[1] वरण करने योग्य, सम्पन्न, भूमि मकान आदि से सुप्रतिष्ठित और उत्तम वाग्मी पुरुष (अनीनशत्) नाश कर देता है, परास्त कर देता है । अतः उनको त्याग कर उत्तम, सुप्रतिष्ठित एवं विद्वान् को कन्या का वर स्वीकार करना चाहिए ।

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥

भा०—हे वरवर्णिनि ! (यः) जो पुरुष (भ्राता) तेरे भाई (पिता इव च) और पिता का सा रूप बनाकर (स्वप्ने) निद्रा के समय (निपद्यते) नीच भाव से तेरे समीप आता है (तान्) उन सब दुष्ट भाव से भरे (क्लीब-रूपान्) नपुंसक और (तिरीटिनः) उन्मार्गगामी, टेढ़े रास्ते पर जाने वाले, कुपथगामी पुरुषों को (बजः)

१–पिजि भाषार्थः, हिंसाबलादानानिकेतनेषु इति चुरादिः, पिजि वर्णे अदादिः इत्येतेभ्यः पचाद्यच् न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् निपातनात् ।

वह स्वयंवृत उत्तम तेजस्वी पुरुष (सहताम्) पराजित करे और कन्या को सुख से अपने संग विवाह ले।

यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम्।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत्॥ ८॥

भा०—हे वरवर्णिनि! (यः) जो दुष्ट पुरुष (त्वा) तुझे (स्वपन्तीम्) सोता हुआ जानकर (त्सरति) छल से भेष बदल कर तेरे पति के समान रूप बनाकर, तेरा सतीत्व नष्ट करना चाहता है, और (यः) जो (त्वाम्) तुझ (जाग्रतीम्) जागती हुई को (दिप्सति) मार पीटकर कष्ट देना चाहता है (छायाम् सूर्य इव) जिस प्रकार सूर्य छाया या अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार दुष्टों का परितापक (परिक्रामन्) चारों तरफ़ पहरा देता हुआ रक्षक राजा (तान्) उनको (अनीनशत्) निरन्तर विनाश करे।

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम्।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम्॥ ९॥

भा०—(यः) जो दुष्ट पुरुष (इमाम्) इस (स्त्रियम्) स्त्री को (मृतवत्साम्) मरे बच्चे वाली और (अवतोकाम्) पतित गर्भ वाली (कृणोति) करे अर्थात् उसके बच्चों को मार दे या गर्भों को गिरा दे, हे (ओषधे) दुष्टों के तापदायी राजन्! (त्वम्) तू (अस्याः) इस स्त्री के (तम्) उस (अञ्जिवम्) प्रकट कामी (कमलम्) जार को ओषधिवत् (नाशय) विनष्ट कर, दण्ड दे।

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः।
कुसूला य च कुक्षिलाः ककभाः करुमाः स्रिमाः।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय॥ १०॥ (१४)

भा०—(ये) जो (शालाः) आवारागर्द, इधर उधर घूमने वाले या हिंसक (गर्दभ-नादिनः) गधों के समान खें खें करके हंसने और कोलाहल मचाने वाले (सायं) सायंकाल, रात्रि के प्रारम्भ में (परि-नृत्यन्ति) इधर उधर नाचते हैं, अश्लील चेष्टायें करते हैं और (ये) जो (कुसूलाः) कुत्सित रूप में दूसरों के साथ लगने, बिना मतलब दूसरों के सिर हो जाने वाले, (कुक्षिलाः) बड़ी २ कोखों वाले, मोटे ताजे, (ककुभाः) कुत्सित, निन्द्य वस्त्र पहने, बदपोशाक, (करुमाः) कुत्सित शब्दों के प्रयोग करने वाले, गाली गलौच बकने वाले, (स्त्रिमाः) लफंगे, लुक छिपकर भागने वाले हैं हे (ओषधे) दुष्टों को तापदायक राजन् ! दण्डकारिन् ! उन (विषूचीनान्) नाना प्रकार की पीड़ाएं देने वाले दुष्ट पुरुषों को (त्वम्) तू (गन्धेन) अपने तीव्र पीड़ाकर दण्ड द्वारा, तीव्र गन्ध वाली औषध जिस प्रकार अपने गन्ध से कीड़ों को नाश करती है उसी प्रकार (वि नाशय) नाना प्रकार से नष्ट कर ।

'शालाः' शल गतौ इत्यस्मात् ण्यन्तादच् । शृणोतेर्वा घञ् छान्दसो लः। 'कुसूलाः' कुसेरुवच् इत्यतः उणादिरूलच् । 'ककुभाः' कुभि आच्छादने, कुत्सिताच्छादनशीलाः । 'करुमाः' रौतेर्मन् औणादिः । कुत्सितशब्दकारिणः । 'स्त्रिमाः' सरतेर्वा मन् । सरणशीलाः । 'गन्धेन' गन्ध अर्दने चुरादिः । अर्दनम् पीड़ाकरणम् दण्डनमिति यावत् ।

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति ।
क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि ॥ ११ ॥

भा०—(ये) जो पुरुष (कुकुन्धाः) कुत्सित मांस, हड्डी आदि मलिन पदार्थों को धारण करने वाले, (कुकूरभाः) कुत्सित

पदार्थों को खोजने और गन्दे शब्द बोलने वाले, और (कृत्तीः) पशुओं की खालों और (दूर्शानि) दुःखदायी जन्तुओं को (बिभ्रति) धारण करते हैं, और जो (क्लीबा इव) नपुंसक, हीजड़ों और कंजरों के समान (प्रनृत्यन्तः) नाचते कूदते हुए (वने) जंगलों में (घोषम्) शोर (कुर्वते) मचाते हैं, या (वने घोषं कुर्वते) वनमें अपनी झोंपड़ी बनाकर रहते हैं, (तान्) उनको (इतः) इस राष्ट्रसे (नाशयामसि) परे मार भगावें।

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः।
अरायान् वस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान्।
मककान् नाशयामसि ॥ १२ ॥

भा०—(ये) जो (दिवः) आकाश से (आतपन्तम्) सब ओर प्रकाश फेंकते हुए, तपते हुए (सूर्यम्) सूर्य के समान शत्रुओं को परिताप देने वाले, (अमुम्) उस राजा के प्रताप को (न तितिक्षन्ते) नहीं सहन करते ऐसे (अरायान्) दरिद्र, नीच, (बस्तवासिनः) चाम ओढ़ने वाले, (दुर्गन्धीन्) दुर्गन्ध पदार्थों के सेवी (लोहितास्यान्) रुधिर से मुंह लाल किये, (मककान्) हीनाचार वाले पुरुषों को हम (नाशयामसि) विनष्ट करें।

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥ १३ ॥

भा०—(ये) जो (अतिमात्रम् आत्मानम्) अपने भारी रूप को (अंसे) अपने कन्धे पर (आधाय बिभ्रति) रक्खे हुए हैं अर्थात् बड़े भयंकर डील डौल वाले और बनावटी मुँह बनाकर अपने कन्धे पर पहने रहते हैं ऐसे छद्मवेशी लोग रात को (स्त्रीणां) स्त्रियों के संग (श्रोणि-प्रतोदिनः) दुर्व्यवहार करने वाले हैं, हे (इन्द्र) राजन् ! (रक्षांसि) उन राक्षसों, कूट रूपधारी लोगों का (नाशय) विनाश कर।

ये पूर्वे वध्वो॑३ यन्ति हस्ते शृङ्गा॑णि बिभ्र॑तः ।
आपाकेष्ठाः प्रहासिन॑ स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशया-
मसि ॥ १४ ॥

भा०—(ये) जो दुष्ट, गुण्डे लोग (वध्वः पूर्वे) स्त्री के आगे, स्त्रियों के सामने (हस्ते) हाथ में (शृङ्गाणि) सींगों को या अपने गुह्याङ्गों वा शस्त्रों को (बिभ्रतः) लिए हुए (यन्ति) आजायें ऐसे बेशर्म नीच गुण्डों को, और जो (आपाकेष्ठाः)[1] अकेले, टूटे, फूटे, रद्दी भयंकर स्थानों में (प्रहासिनः) अट्टहास करें, और (ये) जो ग्राम के लोगों को त्रास देने के लिये (स्तम्बे) झुण्ड में (ज्योतिः) प्रकाश या आग के शोले (कुर्वते) किया करें, (तान्) उनको (इतः) यहां से (नाशयामसि) मार भगावें ।

येषां॑ पश्चात् प्रप॑दानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा॑ ।
खलजाः श॑कधूमजा उरुण्डा ये च॑ मट्मटाः कुम्भमु॑ष्का अयाशवः॑।
तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय ॥ १५ ॥

भा०—(येषाम्) जिनके (प्रपदानि) पंजे (पश्चात्) पीछे की ओर (पार्ष्णीः) एड़ियां (पुरः) आगे को और (मुखा पुरः) मुँह आगे हों ऐसे (खलजाः) गुण्डों के छोकरे, (शक-धूमजाः) शक्तिमान्, तामस, बड़बड़ाने वाले (कुम्भमुष्काः) और घड़े के समान स्थूल अण्डकोशों वाले, (अयाशवः) भोग करने में सर्वथा असमर्थ, निर्वीर्य, आन्त्रवृद्धि के रोग से पीड़ित (तान्) उनको हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के ज्ञानी पुरुष ! तू (अस्याः) इस स्त्री के (प्रतिबोधेन) ज्ञान

१. 'पाक' इति प्रशस्यनाम ततो विपरीतं 'अपाकम्' तदेव 'आपाकम्' तत्र तिष्ठन्ति निवसन्ति इति आपाकेष्ठाः, जीर्णभग्नचिरत्यक्तगृह-कूपादिषु कृतावस्थानाः । सा० ।

बल से (नाशय) नष्ट कर। अर्थात् पूर्वोक्त विकृत आकृति रूपवाले, दुष्टाचारी, हीन, रोगी, नपुंसक आदि लोगों के हाथ में स्त्रियें न पड़ जावें, इसलिये स्त्रियों को उत्तम शिक्षा प्रदान करें, जिससे वे उनके फंदों में न फंसें। मूर्ख, भोली भाली स्त्रियां उपरोक्त कुरंग और बदशकल लोगों को साधु करके पूजती हैं और फंस जाती हैं उनसे सावधान कर दिया जाय।

पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्डगाः।
अव भेषज पादय य इमां संविवृत्सत्यपतिः स्वपतिं स्त्रियम् ॥१६॥

भा०—(पर्यस्ताक्षाः) जिनकी आंखें फिरी हुई हों, जो सीधा न देख सकें, ऐसे टेढ़-अंखे आदमी और (अप्रचङ्कशाः) बिलकुल लंगड़े लूले या आंखों से लाचार, (पण्डगाः) चूतड़ों के बल सरकने वाले, चूण्डे या नपुंसक लोग सदा (अस्त्रिणाः) स्त्रियों से रहित (सन्तु) रहें। ऐसे लोगों को कभी स्त्री प्राप्त करने का अधिकार न हो। और (यः) जो भी (इमाम्) इस वरवर्णिनी, (स्वपतिम्) स्वयं अपना पति वरण करने हारी (स्त्रियम्) स्त्री को (अपतिः) जो स्वयं उसका पालन करने में समर्थ न होकर भी (संविवृत्सति) प्राप्त करना चाहता है उसको हे (भेषज) चिकित्सक राजवैद्य ! तू (अव पादय) उसको विवाह के अयोग्य ठहरा।

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम्।
उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम्।
पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना ॥ १७ ॥

भा०—हे स्त्री ! (स्पन्दना) लात मारने वाली (गौः इव) गौ जिस प्रकार (स्थालीम्) दूध दुहने के बर्तन को (पदा) पैर से या (पार्ष्ण्या) एड़ी से ठुकरा देती है इसी प्रकार हे स्वयं अपने पति को

वरने वाली स्त्री ! तू भी (उद् हर्षिणम्) अति अधिक कामी, (मुनि-केशम्) मुनि के समान जटा वाले, (जम्भयन्तम्) हिंसक, शरीर को पीड़ा पहुँचाने वाले, (मरीमृशम्) बार २ गुह्यांगों को स्पर्श करने वाले, (उदुम्बलम्) अति अधिक भोगी, (तुण्डेलम्) बन्दर के समान आगे को बढ़े हुए मुख वाले या बहुत बड़ी तोंद वाले, (उत) और (शालुडम) लुच्चे, व्यभिचारी पुरुप को (पदा) पैरों से और (पाण्था) एडियों से (प्र विध्य) खूब ठोकरें मार, ताड़ । स्त्री ऐसे नीच पुरुष को स्वयं दण्ड दे, उसका तिरस्कार करे ।

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते ।
पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥ १८ ॥

भा०—हे स्त्रि ! (यः) जो (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (प्रति-मृशात्) विनाश करने की चेष्टा करे या (ते जातं वा) तेरे उत्पन्न हुए बालक को (मारयाति) मारे (तम्) उसको (उग्रधन्वा) प्रबल धनुर्धारी शासक (पिङ्गः) वृत पति या बली राजा (हृदयाविधम्) हृदय में बाण प्रहार (कृणोतु) करे और मार डाले ।

यदि कोई दुष्ट पुरुष स्त्री को उसके वृत पति से जुदा करके उसके पूर्व धारित गर्भ का नाश करे या बालक को मारे तो ऐसे दुष्ट को हृदय में उसका पति बाण मार कर प्राण ले । राजा ऐसा विधान करे ।

ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।
स्त्रीभागान् पिङ्गो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु ॥ १९ ॥

भा०— (ये) जो दुष्ट, कामी लोग (अम्नः) एक साथ उत्पन्न या अचेत, अबोध, नन्हें, बेखबर या मन के प्रतिकूल (जातान्) उत्पन्न हुए बच्चों को (मारयन्ति) मार डालते हैं और जो कामी लोग (सूतिकाः) नवप्रसूता स्त्रियों के साथ (अनुशेरते) संग करते हैं

(तान्) उन (स्त्रीभागान्) स्त्रीसेवी, व्यभिचारी (गन्धर्वान्) लुच्चों को (पिंगः) बलवान् राजा (वातः अभ्रम् इव) वायु जिस प्रकार बादलों को छिन्न भिन्न कर देता है उसी प्रकार (अजतु) धुन डाले, कठिन यातनाएं दे देकर उनको धुन डाले, उनकी बोटी बोटी कटवा डाले।

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत्।
गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥ २० ॥ (१५)

भा०—स्त्री (परिसृष्टम्) सब प्रकार से परिपूर्ण गर्भ को अथवा अपने पति द्वारा गर्भ में आहित वीर्य को (धारयतु) धारण करे और (यत्) जो गर्भ में (हितम्) धारण करले (तत्) वह (मा अव-पादि) कभी नीचे न गिरे कभी गर्भ का पात न किया जाय। हे स्त्रि! (ते गर्भम्) तेरे गर्भ को (उग्रौ) उग्र बलशाली (नीवि-भार्यौ) धन और स्त्री के गर्भ की रक्षा करने वाले राजा और पति दोनों (भेषजौ) दो ओषधियों के समान होकर (रक्षताम्) रक्षा करें।

पवीनसात् तङ्गल्वाच्छायकादुत नग्नकात्।
प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥ २१ ॥

भा०—हे स्त्री! (पवीनसात्) पूति गन्ध से युक्त, सड़ी नाक वाले, (तङ्गल्वात्) फूली गालों वाले, (छायकात्) मुँह से काटने वाले और (नग्नकात्) नंगे, निर्लज्ज इन (किमीदिनः) सब पदार्थों को तुच्छ देखने वाले, मूर्ख, असभ्य गुण्डों से (पिङ्गः) बलवान् पुरुष (प्रजायै) तेरी प्रजा और (पत्यै) तेरे पति के सुख के लिये (त्वा परि पातु) तेरी रक्षा करे।

द्वयास्याच्चतुरक्षात् पञ्चपादादनङ्गुरेः।
वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ॥ २२ ॥

भा०—(द्व्यास्यात्) दोमुँहे, (चतुरक्षात्) चार आंखों वाले, (पञ्चपादात्) पांच पैरों वाले, (अनंगुरेः) बिना अंगुली वाले या (वरीवृतात्) गोल मटोल गांठ के समान उस बालक से जो (वृन्तात्) गर्भाधानी के मूल से (अभि प्रसर्पतः) आगे को उत्पन्न हो रहा है उससे स्त्री को हे वैद्य ! (परि पाहि) सुरक्षित कर। अर्थात् वैद्य उत्तम उपचार द्वारा स्त्री को दुष्ट पिण्ड के प्रसव से बचावे।

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ २३ ॥

भा०—(ये) जो (आमम्) कच्चा (मांसम्) मांस (अदन्ति) खाते हैं, और (ये च) जो (पौरुषेयम्) पुरुष या मानुष का (क्रविः) मांस खाते हैं और (केशवाः) लम्बे केश वाले, मायावी जो लोग (गर्भान्) गर्भों को भी (खादन्ति) खा जाते हैं (तान्) उन दुष्ट प्राणियों को (इतः) यहां से (नाशयामसि) विनष्ट करें।

ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि।
बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेधि नि विध्यताम् ॥ २४ ॥

भा०—(श्वशुराद् अधि) श्वशुर से (स्नुषा इव) जिस प्रकार पुत्रवधू या बहू लज्जायुक्त होकर छिप जाती है उसी प्रकार (ये) जो दुष्ट प्राणी (सूर्यात्) सूर्य के प्रकाश से परे भाग कर अन्धेरे में जा छिपते हैं (बजः च पिंगः च) गतिशील, पराक्रमी और बली पुरुष या ओषधि (तेषाम्) उनके (हृदये अधि) हृदय में, मर्म में (नि विध्यताम्) खूब प्रहार करे।

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्।
आण्डादो गर्भान्मा दभन् बाधस्वेतः किमीदिनः ॥ २५ ॥

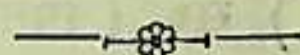
भा०—हे (पिङ्ग) बलवान् ओषधे तापकारिन् ! (जायमानम्) उत्पन्न होते हुए बालक की (रक्ष) रक्षा कर । (पुमांसम् स्त्रियम्) पुमान् बालक को या स्त्री बालक को भी (मा क्रन्) विक्षिप्त या दुखी न करें । (आण्डादः) बालक के अण्डकोष भागों को काटकर खा जाने वाला रोगकीट (गर्भान्) गर्भ-गत बालकों का (मा दभन्) विनाश न करे, इसलिए हे वैद्य या ओषधे ! (तान्) उन (किमीदिनः) तुच्छ भुक्कड़ क्षुद्र प्राणियों का (इतः) यहां से (बाधस्व) विनाश कर ।

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद् रोदमघमावयम् ।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥ २६ ॥ (१५)

भा०—(अप्रजास्त्वम्) स्त्रियों को सन्तान न होना, (मार्तवत्सम्) मरा हुआ बालक होना, (आत्) और तिस पर भी बालक के होते समय (आवयम्) उत्पन्न होने वाली पीड़ाओं के कारण (रोदम्) बहुत अधिक पीड़ा से (अघम्) कष्ट या बुरे लक्षण दीखना (तत्) इन सबको (वृक्षात् स्रजम् इव) जिस प्रकार वृक्ष से फूल तोड़ लिया जाता है उसी प्रकार सुगमता से स्त्री शरीर से (कृत्वा) दूर करके इन सब रोगों को (अप्रिये) अप्रिय पक्ष में (प्रतिमुञ्च) डाल दे, अर्थात् इन रोगों को सदा अप्रिय जानकर इनका विनाश किया कर ।

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम् ऋचश्चाष्टाचत्वारिंशत्]



२६–क्लृप्तोऽत्र प्रतिविधानमर्थः । सा० ।

[७] ओषधि विज्ञान ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः ओषधयो देवता । १, ७, ८, ६, ११, १३, १६—२४, २७ अनुष्टुभः, २ उपरिष्टात् भुरिग् बृहती, ३ पुर उष्णिक्, ४ पञ्चपदा परा अनुष्टुप् अति जगती, ५, ६, १०, २५ पथ्या पङ्क्तयः, १२ पञ्चपदा विराड् अतिशक्वरी, १४ उपरिष्टान्निचृद् बृहती, त्रिष्टुप्; २६ निचृद् त्रिष्टुप्, २२ भुरिक् त्रिष्टुप् षट्पदा जगती, १५ त्रिष्टुप्, अष्टाविंशर्चं सूक्तम् ।

या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः ।
असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि ॥ १ ॥

भा०—(या) जो ओषधियां (बभ्रवः) पुष्टिकारक, मांस बढ़ाने वाली (याः च) और जो (शुक्राः) शुक्र, वीर्यवर्धक (रोहिणीः) रोहिणी अर्थात् क्षत आदि को भरने वाली, उन (पृश्नयः) रस पोषण करने वाली, (असिक्नीः) श्याम रंग की (कृष्णाः) कृष्ण वर्ण की या विलेखन करने वाली (ओषधीः) ओषधियें हैं (सर्वाः) उन सबका हम (अच्छ आवदामसि) भली प्रकार उपदेश करते हैं । अथवा (बभ्रवः) भूरे रंग की (शुक्राः) श्वेत रंग की (रोहिणीः) पुष्टिकारी (पृश्नयः) चित्र वर्ण की (असिक्नीः) फलियों वाली (कृष्णाः) काली रंग की इत्यादि ओषधियों का हम उपदेश करते हैं ।

त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद् देवेषितादधि ।
यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ॥२॥

भा०—(यासाम्) जिन (वीरुधाम्) लताओं या वृक्ष वनस्पति आदि ओषधियों का (द्यौः) सूर्य (पिता) पालक है अर्थात् जिनकी धूप लगने से रक्षा होती है, (पृथिवी माता) पृथिवी माता है अर्थात् जो पृथिवी से रस और पुष्टि प्राप्त करती हैं । और (समुद्रः) मेघ ही

(मूलम्) उत्पन्न होने का कारण है अर्थात् वर्षाकाल में वर्षा के जल से जो उत्पन्न होती हैं वे ओषधियां (इमम्) इस (पुरुषम्) पुरुष की (देवेषितात्) विषय क्रीड़ा द्वारा प्राप्त हुए (यक्ष्मात्) रोग से या देव = मेघ या वर्षा काल में उत्पन्न (यक्ष्मात्) राजयक्ष्मा के रोग से (त्रायन्ताम्) रक्षा करें ।

आपो अग्रं दिव्या ओषधयः ।
तास्ते यक्ष्ममेनस्यमङ्गादङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥

भा०—(अग्रम्) सब से प्रथम और सब से उत्कृष्ट (ओषधयः) ओषधि जो रोग और पाप को नाश करने में समर्थ हैं वे (दिव्याः) दिव्य गुणयुक्त (आपः) अप् = जलों के समान पवित्र और अन्यों को पवित्र करने वाले आप्त विद्वान् पुरुष हैं । वे शीतल स्वभाव होकर पापों के लिये संतापकारी हैं (ताः) वे (ते) तेरे (एनस्यम्) पाप से उत्पन्न (यक्ष्मम्) राजरोग को (अङ्गात् अङ्गात्) शरीर के अङ्ग अङ्ग से (अनीनशन्) विनाश कर देते हैं । जिस प्रकार रोगों को दूर करने में दिव्य जल सब से उत्तम ओषधि हैं और जल विलासादि द्वारा उत्पन्न रोगोंको सुलभतया विनाश कर देता है उसी प्रकार आप्त पुरुष भी हैं जो ज्ञानोपदेश से पापभावों को दूर करते हैं । समस्त रोग जलों द्वारा दूर करने के उपाय हाइड्रोपैथी (जलचिकित्सा) द्वारा जानने चाहियें ।

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि ।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥ ४ ॥

भा०—हे पुरुष ! मैं परमेश्वर (ते) तुझे (प्रस्तृणतीः) अच्छी प्रकार फैलने वाली, (स्तम्बिनीः) झुण्डों वाली, (एकशुङ्गाः) एक सरपत वाली, (प्रतन्वतीः) खूब बढ़कर फैलने वाली, नाना प्रकार

की ओषधि लताओं का (आवदामि) उपदेश करता हूँ। और (ते) तुझे (अंशुमतीः) बहुत कोपलों वाली या अंशु अर्थात् सोम के गुणों वाली, (काण्डिनीः) काण्ड या पोरुओं वाली और (याः) जो (विशाखाः) शाखाओं से रहित या नाना प्रकार की शाखाओं वाली (वीरुधः) लताओं को जो (वैश्व-देवीः) समस्त विद्वान् पुरुषों के उपयोग की, (उग्राः) अपना प्रभाव करने में तीव्र, (पुरुष-जीवनीः) पुरुष शरीर को जीवन प्रदान करने या प्राण धारण कराने में समर्थ हैं उनका (ह्वयामि) उपदेश करता हूँ।

यद् वः सहः सहमाना वीर्यं यच्च वो बलम् ।
तेनेममस्माद् यक्ष्मात् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥ ५ ॥

भा०—हे ओषधियो ! तुम (सहमानाः) रोगों को दूर करने में बलवती हो। (यद्) जो (वः) तुम में (सहः) रोग दूर करने का सामर्थ्य (यत् च) और जो (वः) तुम्हारा (वीर्यम्) पुष्टिकारक रस और (बलम्) बल है (तेन) उससे (इमम्) इस (पुरुषम्) पुरुष को (अस्माद्) इस (यक्ष्माद्) राजयक्ष्मा आदि रोग से (मुञ्चत) छुड़ाओ। (अथो) और इस प्रकार ओषधियों के बल पर मैं (भेषजम्) रोगों को दूर करने का कार्य (कृणोमि) करता हूँ।

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये॥६॥

भा०—(अस्मै) इस रोगी पुरुष के (अरिष्टतातये) स्वास्थ्यलाभ कराने के लिये (अहम्) मैं वैद्य (जीवलाम्) आयुप्रद (नघारिषाम्) किसी प्रकार की हानि न पहुँचाने वाली, (जीवन्तीम् ओषधिम्) जीवन्ती

६—अथर्व० [८ । २ । ६] इत्यत्रापि द्रष्टव्यम् ।

नामक ओषधि को और (उन्नयन्तीम्) रोगी की दशा को उत्तम रूपमें ला देनेवाली, उसकी दशा को सुधारनेवाली (अरुन्धतीम्) 'अरुन्धती' नामक ओषधि को और (मधुमतीम्) मधुर रस वाली (पुष्पाम्) 'पुष्पा' ओषधि को (हुवे) बतलाता हूँ, उसके सेवन का उपदेश करता हूँ, वैद्य रोगी के रोग दूर करने, उसे पुष्ट करने और उसके चित्त प्रसादन के लिये उचित ओषधियों का नुसखा बना कर रोगी को दे।

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम।

यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ ७॥

भा०—(इह) इस चिकित्सा के अवसर में (मम) मुझ (प्रचेतसः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् वैद्य के (वचसः) वाणी या उपदेश के अनुसार (मेदिनीः)[1] बुद्धिप्रद, रोगनाशक या स्निग्ध गुणयुक्त पौष्टिक ओषधियां (आ यन्तु) प्राप्त हों (यथा) जिनसे (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (दुरिताद् अधि) दुःखप्रद अवस्था से (पारयामसि) पार कर सकें।

अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः।

ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ॥ ८॥

भा०—(अग्नेः) अग्नि को (घासः) अपने भीतर धारण करनेवाली, (अपां गर्भः) और जलों को भीतर धारण करने वाली, (याः) जो ओषधियां (पुनः नवाः) प्रतिवर्ष बार-बार नये सिरे से फूट पड़ती हैं ऐसी (ध्रुवाः) सदा स्थितिशील, शीघ्र नाश न होने वाली (सहस्र-नाम्नीः) सहस्रों नामवाली अथवा बलप्रद स्वरूप वाली (भेषजीः) रोगहारी ओषधियां (आभृताः) ला लाकर संग्रह की (सन्तु) जावें।

७—१ 'मेदृ मेधृ हिंसनयोः' (भ्वादिः), मिदि स्नेहने (चुरादिः), मिदा स्नेहने (दिवादिः), मिदा स्नेहने भ्वादिः।

अवकोल्वा उदकात्मान ओषधयः ।
व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥

भा०—(अवका-उल्वाः) जल में उतराने वाले सैवार के भीतर उत्पन्न होनेवाली (उदकात्मानः) जलमय देहवाली, जल के विना न जीनेवाली और (तीक्ष्ण-शृङ्ग्यः) तीखे सींग या कांटोंवाली ओषधियां भी (दुरितम्) दुःखदायी रोग को (वि ऋषन्तु) विशेष रूपसे दूर करें ।

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः ॥ १० ॥ (१७)

भा०—(उत्-मुञ्चन्तीः) रोग से मुक्त करने हारी, (वि-वरुणाः विशेष रूप से वरण करने योग्य या (विवरुणाः) वरुण से रहित, निर्जल, (उग्राः) अति बलवाली, (विष-दूषणीः) विषों की नाशक (अथो) और (बलास-नाशनीः) कफ को या शरीर के बलनाशक) रोगों का नाश करनेवाली, (कृत्या-दूषणीः च) दुष्ट पुरुषों के दुष्ट घातक अपचारों से उत्पन्न पीड़ाओं का नाश करनेवाली, (ओषधीः) ओषधियां (याः) जो भी हैं (ताः) वे सब (इह) इस वैद्यशाला में (आ यन्तु) प्राप्त हों ।

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।
त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥ ११ ॥

भा०—(अप-क्रीताः) दूर देश से द्रव्य के बदले प्राप्त की गई, (सहीयसीः) अतिबलशाली (वीरुधः) लताएं, (याः) जिनकी (अभिस्तुताः) सब तरफ प्रशंसा सुनाई दे रही हो वे भी (अस्मिन्)

हमारे इस ग्राम में (गाम्, अश्वम्, पशुम्, पुरुषम्) गौ, घोड़े आदि पशु और पुरुषों को भी (त्रायन्ताम्) रोगों से बचावें।

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव।
मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुहतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

भा०—(आसाम्) इन (वीरुधाम्) ओषधियों का (मूलम्) मूल (मधुमत्) मधु के समान मधुर रसयुक्त है, (आसां अग्रं मधुमत्) इन ओषधियों का अग्रभाग, कोंपल मधुर रस से युक्त है, (आसां मध्यं मधुमत्) इन ओषधियों का मध्यभाग मधुर रस से युक्त (बभूव) होता है, इसी प्रकार (आसां पर्णं मधुमत्) इन ओषधियों का पत्ता मधुरस से युक्त होता है, (आसां पुष्पं मधुमत्) इन का फूल मधुरस से युक्त होता है, इस कारण से ये सब ओषधियें (मधोः संभक्ताः) मधु, अमृत से सिची हुई हैं, इनमें मधु का अंश सर्वत्र व्यापक है। इससे ये अमृतमय ओषधियें (अमृतस्य भक्षः) अमृत के बने भोजन के समान दीर्घायुप्रद हैं। हे पुरुषो ! ये ओषधियां ही खाद्य पदार्थ (घृतम्) घी आदि (अन्नम्) अन्न को (दुहताम्) पूर्ण करतीं, बढ़ातीं और प्रदान करती हैं, जिन में (गोपुरोगवम्) गाय का दूध सब से मुख्य है। नाना प्रकार की ओषधियां हैं जिन में से किसी की जड़ मधुर, किसी की कोंपल, किसी का पत्ता, किसी का फूल, फलतः इन में मधु मानो नाना प्रकार से प्राप्त है। यही सब अमृत का भोजन है, घी, अन्न और दूध, जिन में दूध सब से मुख्य है। ये ओषधियां ही ये सब भोजन हम को प्राप्त करावें।

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः।
ता मा सहस्रपर्ण्यौ मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

भा०—(पृथिव्याम्) पृथिवी पर (यावतीः) जितनी (कियतीः च) और कितनी भी (इमाः) ये (ओषधीः) ओषधियां हैं (ताः) वे सब (सहस्रपर्ण्यः) हज़ारों प्रकार के पत्तों वाली (मा) मुझे (मृत्योः) मृत्यु के (अंहसः) दुःख से (मुञ्चन्तु) दूर करें, बचावें।

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोभिशस्तिपाः।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् ॥ १४ ॥

भा०—(वीरुधाम्) ओषधियों के रसों से बनाया हुआ (वैयाघ्रः) नाना प्रकार की गन्ध देने वाला (मणिः) मणि, रोगस्तम्भन गुटिका (त्रायमाणः) रोगों से रक्षाकारी (अभि-शस्तिपाः) निन्दनीय पापमय रोगों से रक्षा करने वाला होता है। वह (सर्वाः) सब प्रकार के (अमीवाः) रोग जन्तुओं को और (रक्षांसि) बाधक, जीवन के विघ्नकारी रोगादि पीड़ा के कारणों को (अस्मत् दूरम्) हम से दूर (अप अधि हन्तु) मार भगावे। ओषधियों के रस से तीव्र गन्ध की गोलियों या पुटिकाओं को बनावें जो सदा जेब में रहने से रोगों और पीड़ाकारी कारणों का तीव्र गन्ध से नाश करे और रोगों से बचावें।

"विविधं विशेषेण वा आघ्रीयते इति व्याघ्रः स एव वैयाघ्रः।" सचासौ मणिश्चेति। तपेदिक्, सिरदर्द आदि रोगों में निरन्तर सूंघने के लिये विशेष ओषधि-रसों की शीशी या फायों का प्रयोग और प्लेग आदि के समय फिनाइल आदि गोलियों को जेब में रखने आदि का प्रयोग किया जाता है। पूर्वकाल में ऐसी रोगहर ओषधियों को कपड़े में बांधकर गले में या बाजू पर बांध लिया जाता था।

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः।
गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः॥१५॥

भा०—जिस प्रकार पशु (सिंहस्य) शेर के (स्तनथोः) गर्जन से (सं विजन्ते) खूब भयभीत हो जाते हैं और जिस प्रकार पशु (अग्नेः) अग्नि से (विजन्ते) व्याकुल हो जाते हैं उसी प्रकार (आभृताभ्यः) संग्रह की हुई ओषधियों से रोग के कीट भी कांपते हैं और भय से व्याकुल हो जाते हैं। और इसीलिए (वीरुद्भिः) ओषधि लताओं से (अतिनुत्तः) पराजित हुआ हुआ (गवाम्) गौ आदि पशुओं और (पुरुषाणाम्) मनुष्यों का (यक्ष्मः) पीड़ाकारी रोग (नाव्याः) नावों से तरने योग्य (स्रोत्याः) नदियों के समान हमारे शरीर में सदा नवरक्त से पूर्ण बहाने वाली रक्त नाड़ियों से परे दूर (एतु) चला जाय। यहां मुख्य अर्थ भी सम्भव है कि नावों से तरने योग्य नदियों से दूर चला जाय। वेद में "९० या ९९ बड़ी नदियों के पार चला जाना', यह मुहावरा अति दूर चले जाने के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त हुआ है। इसका प्रयोग भाषाओं में उसी प्रकार समझना चाहिए जैसे 'सात समुद्रों पार' का प्रयोग होता है। अथवा जीवन के एक २ वर्ष को एक २ 'नाव्य नदी' से उपमा दी गई है। '९९ नाव्य नदी' जीवन के ९९ वर्ष हैं। रोगादि हमारे ९९ वर्ष के जीवन से परे रहें।

मुमुचाना ओषधयोऽग्नेर्वैश्वानरादधि।
भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ॥ १६ ॥

भा०—हे ओषधि लताओ ! तुम (यासां राजा) जिनका (राजा) राजा, रक्षक (वनस्पतिः) वनस्पति, वनपाल या बड़ा वृक्ष है वे (वैश्वानरात्) सर्व पुरुषों के हितकारी (अग्नेः) अग्नि से (मुमुचानाः) दूर सुरक्षित रहकर (भूमिम्) भूमि को (संतन्वतीः) आच्छादित करती हुई (इत) फैलती जाओ। राज्य में वनपाल ओषधियों की रक्षा करे। वन में ओषधियां खूब अधिक मात्रा में उत्पन्न हों। अग्नि से उनको बचाया जाय।

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥१७॥

भा०—(याः) जो (आङ्गिरसीः) अंग या शरीर में रस को उत्पन्न करने हारी वा अंगिरा आयुर्वेद के विद्वानों की परीक्षित ओषधियां (पर्वतेषु) पर्वतों और (समेषु च) समस्थलों में (रोहन्ति) उगती हैं (ताः) वे (पयस्वतीः) पुष्टिकारक, वीर्यरसवाली (शिवाः) कल्याण और सुखकारी (ओषधीः) ओषधियां (नः) हमारे (हृदे) हृदय की (शं) शांति करने वाली (सन्तु) हों।

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।
अज्ञाता जानिमश्च या यासु विद्म च संभृतम् ॥१८॥
सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥१९॥

भा०—(अहम्) मैं (याः वीरुधः) जिन लताओं को (वेद) जानता हूँ। और (याः च) जिन लताओं को (चक्षुषा पश्यामि) आंख से देखता हूँ और जो (अज्ञाताः) अभी तक नहीं जानी गई और (याः च जानीमः) जिनको हम सब प्रायः जाना करते हैं और (यासु) जिन में से (सं भृतम्) संग्रह किए हुए भाग को (विद्मः) प्राप्त कर लेते हैं (सर्वाः समग्राः) उन सब, समस्त प्रकार की (ओषधीः) ओषधियों को (मम) मुझ आयुर्वेदज्ञ के (वचसः) वचन से (बोधन्तु) सब मनुष्य जानें, (यथा) कि किस प्रकार (इमं पुरुषम्) इस रोगी पुरुष को (दुरितात् अधि) दुःखप्रद रोग से (पारयामसि) छुड़ावें, मुक्त करें।

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥२०॥ (१८)

भा०—(अश्वत्थः) पीपल (दर्भः) दाभ, कुशा और (वीरुधाम्) ओषधियों का (राजा) राजा (सोमः) सोमलता और (हविः) अन्न (अमृतम्) अमृतस्वरूप, दीर्घायु प्रदान करने वाला (व्रीहिः यवः च) धान और जौ भी (भेषजौ) रोगों को दूर करने वाले (अमर्त्यौ) कभी विनाश न होने वाले (दिवः पुत्रौ) द्युलोक से बरसे हुए मेघके जल और ओस एवं सूर्यकी धूपसे उत्पन्न होने वाले हैं अथवा (दिवः) द्युलोक से रस और सूर्य के प्रकाश के बल से (पुत्रौ) 'पुत्र' अर्थात् बहुत से मनुष्यों की जीवन रक्षा करने में समर्थ हैं।

व्रीहियव अमर्त्य=अर्थात् न मरने वाले किस प्रकार हैं, क्योंकि धानों से बीज और बीज से पुनः धान उत्पन्न होते हैं इस कारण वे कभी पृथ्वीतल से विनष्ट नहीं होते। इसी दृष्टान्त से जीव भी कभी नहीं मरता। 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।' कठोप०।

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः।

यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ २१ ॥

भा०—हे (पृश्नि-मातरः) पृश्नि = रसों को अपने भीतर ले लेने में समर्थ, पृथ्वी माता से उत्पन्न (ओषधीः) ओषधियो! (यदा) जब (पर्जन्यः) रसों, जलों का प्रदान करने वाला मेघ (स्तनयति) गरजता है (अभिक्रन्दति) खूब ध्वनि करता है तब तुम (उत जिहीध्वे) ऊपर उठती हो, प्रसन्न होती हो, पुलकित होती हो, उस समय वह (रेतसा) जल से (वः) तुम्हारी (अवति) रक्षा करता है।

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि।

अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः ॥ २२ ॥

भा०—(तस्य) उस (अमृतस्य) जल के (इमम्) परिवर्त्तित रूप इस ओषधि और अन्न के रूप में प्राप्त (बलम्) बल को हम लोग (पुरुषम्) इस पुरुष को (पाययामसि) पिला देते हैं। (अथो) और साथ ही (भेषजम्) रोग की निवृत्ति भी (कृणोमि) करते हैं (यथा) जिससे यह पुरुष (शत-हायनः) सौ वर्ष तक जीवित (असत्) रहता है।

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम्।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २३ ॥

भा०— (वराहः) वराह = सूकर (वीरुधम्) नाना प्रकार की (याः) जिन खाद्य और रोगहारी लताओं को (वेद) जानता है और (नकुलः) नेवला (भेषजीम्) रोग और विष दूर करने हारी जिन ओषधियों को (वेद) जानता है और (याः) जिन ओषधियों को (सर्पाः) सर्प, पृथ्वी पर पेट के बल सरकने वाले प्राणी (विदुः) जानते हैं और (गन्धर्वा) गन्ध से अपने खाद्य पदार्थों को प्राप्त करने वाले गौ, वानर आदि पशु लोग तथा गौओं को धारण पालन करने वाले पशुपाल लोग और विद्वान् लोग जिन ओषधियों को जानते हैं (ताः) उनको मैं उत्तम वैद्य (अस्मै) इस पुरुष की (अवसे) प्राणरक्षा के लिये (हुवे) प्राप्त करूं। पण्डित ग्रीफ़िथ ने इस मन्त्र पर टिप्पणी में लिखा है कि जंगली सूकर की खाद्य मूल कन्दों को खोजने और खोदने में असाधारण शक्ति होती है।

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २४ ॥

भा०—(याः) जिन (आंगिरसीः) अंगिरा, शरीर शास्त्र के वेत्ता ऋषि लोगों की उपदेश की हुई ओषधियों को (सुपर्णाः) उत्तम, विशाल पक्ष वाले या बड़ी उड़ान वाले बाज़, शिकरा, गरुड़, गीध आदि (विदुः) जानते हैं और (याः दिव्याः) जिन दिव्य गुणवाली ओषधियों को (रघटः) छोटी उड़ान वाले पक्षी या '[अ] रघट' अति वेग से चलने वाले पक्षी (विदुः) जानते हैं और जिन ओषधियों को (हंसाः) हंस जाति के (वयांसि) पक्षीगण जानते हैं और (सर्वे पतत्रिणः) सब पंखों वाले (याः च) जिन जिन ओषधियों को जानते हैं और (याः) जिन (ओषधीः) ओषधियों को (मृगाः) मृग, आरण्य पशु, हस्ती, व्याघ्र, गवय, मृग आदि (विदुः) जानते हैं (ताः) उन सबको (अस्मा अवसे) इस पुरुष की रक्षा के लिये (हुवे) प्राप्त करता हूँ, संग्रह करता हूँ।

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥ २५ ॥

भा०—और (यावतीनाम्) जितनी (ओषधीनाम्) ओषधियों को (अघ्न्याः) कभी भी न मारने योग्य (गावः) गौएं (प्राश्नन्ति) खाती हैं और (यावतीनाम्) जितनी ओषधियों को (अजावयः) भेड़ बकरियें खाती हैं (तावतीः ओषधीः) उतनी सभी ओषधियां (अभृताः) संग्रह की जाकर (तुभ्यम्) तुझे (शर्म यच्छन्तु) सुख प्रदान करें।

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥ २६ ॥

भा०—(यावतीषु) जितनी ओषधियों में (भिषजः मनुष्याः) रोग दूर करने का कार्य करने वाले मनुष्य, वैद्य, डाक्टर लोग (भेष-

जम्) रोग दूर करने के गुण को (विदुः) जानते हैं (तावतीः) उतनी (विश्व-भेषजीः) सब रोगहारी ओषधियों को (त्वाम्) तेरे लिये हे पुरुष ! (आ भरामि) ले आता हूँ ।

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।
संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥

भा०—(पुष्पवतीः) फूलों वाली (प्र-सूमतीः) नवपल्लव, नयी शाखाओं, नयी जड़ों को उत्पन्न करने वाली (फलिनीः) फलों वाली (उत) और (अफलाः) फलरहित ओषधियों को (मातरः इव) सम्मान पद पर विराजमान माताओं या गौवों के समान (अस्मा) इस पुरुष के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये (दुह्राम्) दोह लूं, प्राप्त करूं ।

उत् त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात्॥२८॥(१९)

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझको मैं (पञ्चशलात्) संताप करने वाले शल या शर, पीड़ाजनक रोग से अथवा पञ्चप्राणों के कष्टों से (अथो उत) और (दशशलात्) तुझे काटने और चुभने एवं क्षीण करने वाले दुःखदायी रोग अथवा दश इन्द्रियों के कष्टों से (अथो) और (यमस्य) शरीर में बांधने वाले या यातना देने वाले कष्ट की (पड्वीशात्) बेड़ियों से और (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (देव-किल्बिषात्) देव, ईश्वर द्वारा पाप-कर्मों के फलरूप में प्राप्त कष्टों से (उत् अहार्षम्) ऊपर ले आता हूँ, तुझे मुक्त करता हूँ ।

२७—१. अत्र द्वितीयार्थे प्रथमा ।

[८] शत्रुनाशक उपाय।

भृग्वंगिरा ऋषिः। इन्द्रः वनस्पतिः पर सेनाहननश्च देवताः। १, ३, ५, १३-१८ अनुष्टुप्, २, ८-१०, २३ उपरिष्टाद् बृहती, ३ विराट् बृहती, ४ बृहती पुरस्ताद् प्रस्तारपंक्तिः, ६ आस्तारपंक्तिः, ७ विपरीतपादलक्ष्मा चतुष्पदा अतिजगती, ११ पथ्या बृहती, १२ भुरिगनुष्टुम्, १९ विराट् पुरस्ताद् बृहती, २० निचृत् पुरस्ताद् बृहती, २१ त्रिष्टुप्, २२ चतुष्पदा शक्करी। २४ त्र्यवसाना उष्णिग्गर्भा त्रिष्टुप् शक्वरी पञ्चपदा जगती। चतुर्विंशच सूक्तम्॥

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरन्दरः।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः॥ १॥

भा०—(मन्थिता) शत्रुओं को क्लेश देने और उनकी हिंसा करने में समर्थ होकर (इन्द्रः) राजा और सेनापति (मन्थतु) शत्रुओं का हनन करे (शक्रः) शक्तिमान् (शूरः) शूरवीर (पुरंदरः) शत्रु के गढ़ को तोड़ने में समर्थ है (यथा) उसके बल पर हम सुभट लोग (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सहस्रशः) हजारों सेनाओं को (हनाम) मारें।

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम्।
धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम्॥ २॥

भा०—(उपध्मानी) अति शब्द करने वाला या आग लगा देने वाला, (पूतिरज्जुः) एक दम विस्फोट उत्पन्न करने वाला पदार्थ (अमुम्) उस (सेनाम्) शत्रु सेना को (पूतिम्) विशीर्ण, तितर बितर (कृणोतु) कर दे। (अमित्राः) शत्रु लोग (धूमम् अग्निम्) धूम और आग को (परादृश्य) दूर से ही देखकर (हृत्सु) अपने

[८] २—ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः (भ्वादिः), २ पूयी विशरणे दुर्गन्धे च।

दिलों में (भयम्) भय (आदधताम्) प्राप्त करें। (पूतिरज्जुः) जीर्ण रस्सी जिस प्रकार (उपध्मानी) आगको जल्दी पकड़ लेती है और स्वयं जलकर खाक हो जाती है इसी प्रकार इन्द्र राजा भी (अमूं सेनां पूर्तिं कृणोति) इस शत्रु-सेना को विशीर्ण करे। और हे राजन्! (अमित्राः धूमम्) शत्रुगण धूम देने या कंपा देने वाले (अग्निम्) परन्तप अग्नि को (परादृश्य) दूर से ही देखकर तिनकों के समान अपने आप जलकर खाक होजाने के भय से (हृत्सु भयम् आ दधताम्) चित्त में भय करें।

अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून् खदिराजिरम्।
ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान् वधको वधैः ॥ ३ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्वों पर सवार वीर पुरुषो! (अमून्) इन शत्रुओं का (निः शृणीहि) सर्वथा विनाश करो। और हे (खदिर) शस्त्र प्रहार करने हारे वीर! (अमून्) उन शत्रुओं पर (अजिरम्) अति शीघ्रता से निरन्तर (खाद) बल प्रहार कर। शत्रु लोग (ताजद्-भङ्ग इव [1]) एरण्ड के समान अथवा सूखे सरकण्डे के समान (भज्यन्ताम्) टूट फूट जायं और (वधकः) शस्त्रधारी लोग (एनान्) इन शत्रुओं को (वधैः) नाना शस्त्रों से (हन्तु) मारें, 'अश्वत्थ', 'खदिर' और 'वधक' ये तीनों प्रकार के सैनिक लोग अपने अपने युद्ध के उपकरणों से शत्रु का नाश करें।

परुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥ ४ ॥

(भ्वादिः) रज्जुः सृजतेरसुन्। पूतिं विशरणं सृजति इति पूतिरज्जुः" विस्फोटकपदार्थः।

१. ऐरण्डद्रुम इति हारिलः कौशिकसूत्रभाष्ये।

भा०—(परुषाह्वः) परुष नामक या कठोर शस्त्रों या पुरुषों का सामना करने और उनका मुकाबला करने में समर्थ वीर (अमून्) उन (परुषान्) अति कठोर शत्रुओं को भी (कृणोतु)[1] मारे। और (वधकः)[2] बांधने वाले या शस्त्रधारी 'वधक' लोग (एनान्) उनको (वधैः) रस्सों से बांध बांध कर (हन्तु) मारें, दण्ड दें, शत्रु लोग (बृहत् जालेन)[3] बड़े बड़े जालों से (संदिताः) बांधे जाकर (शर इव) सरकण्डे के समान (भज्यन्ताम्) टूट फूट जायँ। अथवा (बृहत् जालेन) बड़े भारी आघातकारी अस्त्र से (संदिताः) काटे जाकर (शर इव भज्यन्ताम्) सरों के समान टूट फूट जायँ।

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥

भा०—ईश्वर की परम विजय का अलंकार स्पष्ट करते हैं। (अन्तरिक्षम्) यह अन्तरिक्ष ही (जालम्) जाल (आसीत्) है और जाल लगाने के लिये (महीः दिशः) विशाल दिशाएं ही (जाल-दण्डाः) जाल तानकर लगाने के दण्डे हैं। वह (शक्रः) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर (तेन) उस महान् (जालेन) अन्तरिक्ष या वायु प्राण रूप जाल से (अभिधाय) पकड़ कर (दस्यूनाम्) दस्युओं, पर-प्राण-विनाशक, पापाचारियों की (सेनाम्) सेना को (अवपत्) काट गिराता है। उसी प्रकार विजिगीषु राजा भी (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष के समान विस्तृत जाल को चारों दिशाओं में विशाल दण्ड लगा कर

१. कृञ् हिंसायाम् (स्वादिः), स्वादिभ्यश्नुः। कृणोति हिनस्ति इत्यर्थः।

२. वध संयमने (चुरादिः), वध बन्धने (भ्वादिः), हन्तेर्वा वधादेशस्य रूपम्।

३. जल अपवारणे (चुरादिः), 'जल घातने' (भ्वादिः)।

उनसे (दस्यूनां सेनाम् अभिधाय) शत्रुओं की सेना को पकड़ कर (अप अवपत्) काट गिरावे।

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः।
तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥६॥

भा०—(बृहतः शक्रस्य) बड़े भारी, शक्तिमान् परमेश्वर का जिस प्रकार (बृहत् हि जालम्) विशाल जाल है उसी प्रकार (बृहतः शक्रस्य) बड़ी भारी शक्ति, पराक्रम से युक्त (वाजिनीवतः) बल सम्पन्न, सेना-सम्पन्न राजा का भी (बृहतः) बड़ा भारी (जालं हि) जाल शत्रुओं को पकड़ने का साधन हो। (तेन) उस जाल से (सर्वान् शत्रून्) समस्त शत्रुओं को (नि उब्ज)[1] अपने अधीन कर, उनको दबा और विनीत कर (यथा) जिससे (एषाम्) इनमें से (कतमः चन) कोई भी (न मुच्यातै) छूटने न पावे।

बृहत् ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया ॥ ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र)[2] शत्रुओं के दलन करने, मार कर भगा देने और विनाश करने हारे राजन् ! हे (शूर) शत्रुनाशक शूरवीर ! (सहस्रार्घस्य) हज़ारों के मुकाबला करने में समर्थ, (शतवीर्यस्य) सैंकड़ों बलों से सम्पन्न, (बृहतः) विशाल (ते) तेरा (जालम्) जाल, शत्रुओं को घेरने का साधन (बृहत्) बहुत बड़ा है (तेन) उससे (शतम्) सौ, (सहस्रम्) सहस्र, (अर्बुदम्) दस सहस्र (दस्यू-

१—उब्ज आर्जवे (तुदादिः)।

२—शत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा इति यास्कः। नि० १०। १। ८

नाम्) दस्युओं को भी (सेनया) अपनी सेना की सहायता से (अभि-धाय) घेर कर, पकड़ कर (नि जघान) तू मार सकता है ।

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥ ८ ॥

भा०— (महतः) उस महान् (शक्रस्य) शक्तिमान् परमेश्वर का (अयं लोकः) यह लोक (जालम् आसीत्) जाल है । (अहम्) मैं (तेन) उस ही (इन्द्र-जालेन) इन्द्र के आवरणकारी जाल के समान विस्तृत (तमसा)[1] अन्धकारमय, तृष्णामय मृत्यु रूप जाल से (अमून्) उन शत्रुरूपी (सर्वान्) सब लोगों को (अभि दधामि) घेरता हूँ । महाभारत में 'इन्द्रजाल' नामक महास्त्र का वर्णन है इसका प्रयोग अर्जुन ने किया है ।

सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना ।
श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान् ॥ ९ ॥

भा०— (उग्रा) उग्र तीव्र (सेदिः) थकान, (उग्रा वृद्धिः) घोर असमर्थता, (उग्रा आर्त्तिः) ऐसी प्रचण्ड वेदना जिसमें (अनप-वाचना) मुंह से गाली या क्रोध के वचन भी न निकल सकें, (श्रमः) थकान (तन्द्रीः च) निद्रा और (मोहः च) मूर्च्छा (तैः) इन नाना प्रकार की अवस्थाओं को उत्पन्न करने वाले अस्त्रों से (अमून् सर्वान्) इन सब शत्रुओं को (अभि दधामि) बांधता हूँ, अपने वश करता हूँ ।

मृत्यवेऽमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः ।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान् प्रति नयामि बद्ध्वा॥१०॥(२०)

१—'तमु कांक्षायाम्' (दिवादिः) ।

भा०—(अमून्) उन शत्रुओं को मैं (मृत्यवे) मृत्यु के (प्र यच्छामि) भेंट करता हूँ। (अमी) ये सब (मृत्युपाशैः) मृत्युकारक, विषाद, दरिद्रता, पीड़ा, थकान, निद्रा और मूर्च्छा आदि पाशों से (सिताः) बंधे हैं। (ये) जो (मृत्योः) मृत्यु के (अघलाः)[1] कष्टों को लाने वाले (दूताः) संतापकारी, पीड़ादायी लोग हैं (तेभ्यः) उन जल्लादों से (एनान्) इन शत्रुओं को (बद्ध्वा) बांध कर (प्रतिनयामि) ले जाता हूँ। दुष्ट, प्राणदण्ड के योग्य शत्रुओं को मृत्युपाशों से बांध बांध कर राजा अपने हत्याकारी लोगों के हाथ सौंपे, वे उनको प्राणों से वियुक्त करें।

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत।
परःसहस्रा हन्यन्ताम् तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥ ११ ॥

भा०—हे (मृत्यु-दूताः) मृत्यु अर्थात् प्राणविच्छेद की पीड़ा देने में समर्थ वीर पुरुषो ! (अमून्) इन शत्रु लोगों को (नयत) ले जाओ। हे (यम दूताः) बंधन करनेवाले या बन्धनों से शत्रुओं को पीड़ा पहुंचाने वाले नियुक्त पुरुषो ! उनको (अप उम्भत)[2] समाप्त करो। (परः सहस्राः) ये हज़ारों (हन्यन्ताम्) मार डाले जायँ। (एनान्) इनको (भवस्य) सामर्थ्यवान् प्रभु राजा का (मत्यम्)[3] शत्रुओं का स्तम्भनकारी सामर्थ्य दण्ड या वज्र (तृणेढु)[4] मारे या स्तम्भन करे।

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥ १२ ॥

१. अघि गत्याक्षेपयोः (भ्वादिः)।
२. उभ उम्भ पूरणे (तुदादिः), ३. मनस्तम्भे (दिवादिः),
४. तृहि । हिंसायाम्।

भा०— उस महान् ईश्वर का जो भारी जाल है, उसके (एकम्) एक (जालदण्डम्) जालदण्ड को (साध्याः) साधनासम्पन्न, 'साध्य' लोग (उद्यत्य) उठा कर (ओजसा) बल से (यन्ति) जाते हैं और (एकम्) एक दण्ड को (रुद्राः) रुद्र, नैष्ठिक ब्रह्मचारी या प्राण-गण उठाते हैं और (एकम्) एक को (वसवः) वसु ब्रह्मचारी या पृथिवी आदि लोक लिये हुए हैं और (एकम्) एक दण्ड को (आदित्यैः) आदित्य ब्रह्मचारी या १२ मास या योगी लोगों ने (उद्यतः) उठा रक्खा है। परमेश्वर का महान् जाल जिस में जीवगण या दुष्टाचारी जीव बंधे हैं, वह कर्म व्यवस्था है उसके साधक साध्य, वसु, रुद्र और आदित्य हैं। प्रति शरीर में भिन्न भिन्न कार्यों से युक्त प्राण इन्द्रिय और पञ्चभूत आदि ही साध्य आदि नाम से कर्मफल, भोग, भोगायतनशरीर और मन आदि को संभाले हुए हैं, अध्यात्म में साध्य = कर्म, वसु = जीव, रुद्र = प्राण, आदित्य = कर्मफल या तत्प्रद ईश्वर। इसी प्रकार राजा भी शत्रुओं और दुष्ट पुरुषों को बांधने के लिये अपने जालके दण्ड अर्थात् दमन साधनों को साध्य, वसु, रुद्र और आदित्य इन चार प्रकार के अधिकारियों के हाथ में दे। साध्य = साधनसम्पन्न, वसु = प्रजा, रुद्र = रोदनकारी, तीक्ष्ण पुरुष, आदित्य = ज्ञानवान्, मार्गदर्शक विद्वान्। इन चार प्रकार के पुरुषों के हाथों में तन्त्र को दिया जाय।

विश्वे॑दे॒वा उ॒परि॑ष्टादु॒ब्जन्तो॒ य॒न्त्वोज॑सा।
म॒ध्येन॒ घ्नन्तो॑ यन्तु॒ सेना॒मङ्गि॑रसो म॒हीम् ॥ १३ ॥

भा०— (विश्वे देवाः) 'विश्वे देव' समस्त देव, युद्ध क्रीड़ा के करने वाले सामान्य सैनिक (ओजसा) बल से (उपरिष्टाद्) ऊपर से (उब्जन्तः) दुष्टों का दमन करते हुए (यन्तु) चलें। (मध्येन) बीच में (अंगिरसः) विद्वान्, विशेष शस्त्रों के ज्ञानवान्, तेजस्वी

पुरुष (महीम्) बड़ी भारी (सेनाम्) सेना को (घ्नन्तः) मारते हुए (यन्तु) जावें।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १४ ॥

भा०—(वनस्पतीन्) वनस्पतियों, वृक्षों और (वानस्पत्यान्) वनस्पतियों या वृक्षों या लकड़ी के बने पदार्थों, (ओषधीः) ओषधियों और (वीरुधः) लताओं को और (चतुष्पात्) चौपायों और (द्विपात्) दोपायों को मैं (इष्णामि) इस रूप से प्रयोग करूं (यथा) जिस प्रकार से (अमून्) उस दूरस्थ (सेनाम्) सेना को (हनन्) विनाश करें। 'इष्णामि' इषु गतौ दिवादिः। अत्र विकरणव्यत्ययः।

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १५ ॥

भा०—(गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व अर्थात् पुरुषों को अप्सरस् अर्थात् स्त्रियों को (सर्पान्) सांपों और सर्प स्वभाव के लोगों को (पुण्यजनान्) पुण्यात्मा लोगों और (पितॄन्) पालक, वृद्ध पुरुषों को (दृष्टान्) देखे, परिचित और (अदृष्टान्) विना देखे, अपरिचित लोगों को भी मैं (इष्णामि) इस प्रकार से प्रेरित करूं (यथा) जिस प्रकार (अमूम्) उस शत्रुभूत, अपने से दूरस्थ (सेनाम्) सेना को (हनन्) विनाश करें।

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥ १६ ॥

भा०—(इमे) ये (मृत्यु पाशाः) शत्रुगण के मृत्यु करा देने वाले पाश, फांसे (उप्ताः) लगा दिये गये हैं (यान् आक्रम्य) जिन

को लगाकर हे शत्रुगण ! तू (न मुच्यसे) कभी छूट कर नहीं जा सकता। (इदं कूटम्) यह कूट अर्थात् शत्रु के फांसने के लिये लगाये हुए फन्दे या कूट अर्थात् पीड़ा देने के निमित्त लगाये हुए जाल (सहस्रशः) हज़ारों की संख्या में (अमुष्याः सेनायाः) शत्रु की उस सेना का (हन्तु) विनाश करे।

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥

भा०—(अग्निना) शत्रुओं के तापकारी राजा द्वारा (अयम्) यह (सहस्रहः) सहस्रों शत्रुओं का नाश करने हारा (घर्मः) अति प्रदीप्त, प्रचण्ड (होमः) यज्ञ, युद्धरूप (समिद्धः) प्रज्वलित किया है। (भवः) सामर्थ्ययुक्त, सत्ताधारी राजा (पृश्निबाहुः) तेजस्वी बाहु वाला, वीरबाहु, सेनापति और (शर्वः) शत्रुघाती योद्धा तुम तीनों (अमूम् सेनाम्) उस शत्रु सेना को (हतम्) मारो।

मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम्।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १८ ॥

भा०—शत्रु लोग (मृत्योः) मृत्यु के (आषम्) ज्वाला या आंच को (आपद्यन्ताम्) प्राप्त हों। वे (क्षुधम्) भूख, (सेदिम्) विषाद, शिथिलता (वधम्) अपघात या बन्धन और (भयम्) भय को (आपद्यन्ताम्) प्राप्त हों। हे इन्द्र! और हे (शर्व) शर्व! शत्रुघाती योद्धा ! (इन्द्रः च) राजा और शर्व तुम दोनों ही (अक्षुजालाभ्याम्) फन्दों और जालों से (अमूम्) उस (सेनाम्) सेना को (हतम्) मारो।

---

१. 'पृश्निबाहुः'—पृश्निः संस्पृष्टो भासां, ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासा इति वा, संस्पृष्टो ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। [नि० २। ४। २]

पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा ।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

भा०—हे (अमित्राः) शत्रु लोग ! तुम (पराजिताः) पराजित हो गये, हार गये । अब (प्र त्रसत) खूब भय करो । अब तुम लोग (नुत्ताः) पछाड़ दिये जाकर (ब्रह्मणा) हमारे ब्रह्मबल से या वेद-विद्या के बल से या ब्रह्मास्त्र से (धावत) भाग जाओ । (बृहस्पति-प्रणुत्तानाम्) वेद वाणी के परिपालक विद्वानों के आश्चर्यजनक विद्या-विज्ञान के चमत्कारों से पछाड़े हुए (अमीषाम्) इन शत्रुओं में से (कः चन) कोई भी (मा मोचि) बचने न पावे ।

अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।
अथैषां बहु बिभ्यतामिषवो घ्नन्तु मर्माणि ॥ २० ॥

भा० – (एषाम्) इन शत्रुओं के (आयुधानि) हथियार (अव पद्यन्ताम्) नीचे हो जायँ । और (इषुम्) बाण को (प्रतिधाम्) प्रतिकूल रूप से धारण (मा शकन्) न कर सकें, न रोक सकें (अथ) और (बहु बिभ्यताम्) खूब डरते हुए (एषाम्) इनके (मर्माणि) मर्म स्थान में (इषवः) बाण (घ्नन्तु) खूब छेदें ।

सं क्रोशतामेनान् द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः ।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥२१

(तृ० च०) अथर्व० ६ । ३२ । ३ ॥ तृ० च० ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यु और पृथिवी दोनों (एनान्) इनकी (सं क्रोशताम्) निन्दा करें और (देवताभिः) देवता और श्रेष्ठ पुरुषों तथा उत्तम दिव्य पदार्थों सहित (अन्तरिक्षं सम्) अन्तरिक्ष

और वायु भी इनकी निन्दा करें अर्थात् भूमि, आकाश और वायु जल मेध आदि सभी पदार्थ इनके अनुकूल न होकर प्रतिकूल हों। उन को इनसे सुख प्राप्त न हो। ये शत्रु (ज्ञातारम्) किसी विद्वान् ज्ञानी पुरुष को (मा विदन्त) प्राप्त न करें और (प्रतिष्ठां मा विदन्तः) प्रतिष्ठा प्राप्त न करें। बल्कि (मिथः) परस्पर (विघ्नानाः) एक दूसरे का नाश करते हुए (मृत्युम् उप यन्तु) मृत्यु को प्राप्त हों।

दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्तर्देशाः किंकरा वाक् परिरथ्यम् ॥ २२ ॥

भा०—वह परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर जब इस महान् विश्वरूप त्रिपुर या त्रिलोक का विजय करता है तब अलंकार रूप से (चतस्रः) चारों (दिशः) दिशाएं (देव-रथस्य) देव उस परमेश्वर के महान् रथ, रमण स्थान ब्रह्माण्डरूप रथ की (अश्वतर्यः) अति अधिक व्याप्त, चार घोड़ियों के समान हैं, (पुरोडाशाः) यज्ञ में चरु द्रव्य या पुरोडाश (शफाः) घोड़ों के खुर हैं। (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष यह वातावरण (उद्धिः) रथ के ऊपर का मुख्य शरीर भाग है। (द्यावापृथिवी) द्यु और पृथिवी (पक्षसी) उसके दोनों पासे हैं। (ऋतवः) ऋतुएं (अभीशवः) रासें हैं। (अन्तर्देशाः) बीच के प्रदेश या लोक (किंकराः) रथ के पीछे खड़े होने वाले चाकर हैं और (वाक्) वाणी (परिरथ्यम्) रथ के ऊपर का पर्दा है।

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम्। इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

भा०—(संवत्सरः) संवत्सर अर्थात् वर्ष (रथः) रथ है। (परिवत्सरः) परिवत्सर (रथोपस्थः) रथ का उपस्थ अर्थात् रथी के बैठने

का स्थान है । (विराट् ईषा) विराट् शक्ति उस रथ की 'ईषा' अर्थात् वह दण्ड है जिनके आगे घोड़े जुड़े होते हैं । और (अग्निः रथमुखम्) अग्नि रथ का मुख अर्थात् जिसमें घोड़े जुड़ते हैं वह भाग है । (इन्द्रः सव्यष्ठाः) इन्द्र सूर्य रथ में बैठने वाले साथी हैं और (चन्द्रमाः सारथिः) चन्द्र सारथी है । इस प्रकार का रथ बनाकर स्वयं कालरूप भगवान् समस्त त्रैलोक्य को विजय कर रहे हैं । हे पुरुषो ! तुम भी इस महान् संवत्सरमय देवरथ का अनुकरण करके रथ बनाओ और विजय करो ।

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा ।
इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।
नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ २४ ॥ (२१)

भा०—हे राजन् ! (इतः जय) इधर जय प्राप्त कर, (इतः वि जय) इधर विजय प्राप्त कर, (संजय) अच्छी प्रकार विजय प्राप्त कर, (जय) विजयी हो, (स्वाहा) लोक में तुम्हें सुकीर्ति, सुख्याति प्राप्त हो । (इमे) ये हमारे योद्धागण (जयन्तु) जय प्राप्त करें, (अमी परा जयन्तु) ये शत्रु लोग पराजित हों । (एभ्यः) इन योद्धाओं को (सु आहा) उत्तम कीर्त्ति प्राप्त हो, (अमीभ्यः) उन शत्रुओं की (दुर् आहा) अपकीर्त्ति हो । (अमून्) उन शत्रुओं को (नीललोहितेन) नीले और लाल रंग की वर्दी पहनने वाले योद्धा के बल से (अभि अवतनोमि) उनका मुकाबला करके उन को अपने नीचे दबा दूँ ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्ते द्वे ऋचश्च द्वापञ्चाशत् ।]

[१] सर्वोत्पादक, सर्वाश्रय परम शक्ति 'विराट्' ।

अथर्वा काश्यपः सर्वे वा ऋषयो ऋषयः । विराट् देवता । मह्मोद्यम् । १, ६, ७, १०, १३, १५-२१, २४ त्रिष्टुभः; २ पंक्तिः; ३ आस्तारपंक्तिः; ४, ५, २३, २५ अनुष्टुभः; ८, ११, १२, २२ जगत्याः; ६ भुरिक्; १४ चतुष्पदा अति जगती;

षड्विंशर्चं सूक्तम् ॥

कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात् कतमस्याः पृथिव्याः । वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वां पृच्छामि कतरेण दुग्धा ॥ १ ॥

भा०—प्रश्न—(तौ) वे दोनों जीव और ब्रह्म (कुतः जातौ) कहां से प्रादुर्भूत हुए, प्रकट हुए, ?, (सः) वह (कतमः) कौनसा सर्वश्रेष्ठ (अर्धः) परम सम्पन्नतम पद या स्वरूप है ?, (कस्मात् लोकात्) किस लोक से, (कतमस्याः पृथिव्याः) कौनसी पृथिवी से ये दोनों प्रकट हुए ? । उत्तर—(विराजः) विराड् अर्थात् नाना रूपों से प्रकट होने वाली प्रकृति रूप (सलिलात्) 'सलिल' सर्व व्यापक पदार्थ से (वत्सौ) दोनों बच्चों के समान (उत् ऐताम्) उदय हुए, प्रकट हुए । प्रश्न— (तौ) उन दोनों के विषय में हे ब्रह्मज्ञानिन् ! मैं (त्वा) तुझसे (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ कि वह विराड् गौ (कतरेण) उन दोनों बछड़ों में से किससे (दुग्धा) दुही जाती है ।

तौ = पं० ग्रीफिथ के मत से सूर्य और विद्युत् । इसका रहस्य आगे स्वयं स्पष्ट होगा ।

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः ।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (सलिलम्) पूर्वोक्त प्रकृतिमय 'सलिल' को (अक्रन्दयत्)[1] विक्षुब्ध करता है, और (त्रिभुजम्) तीन प्रकार से भोग करने योग्य सत्व, रजः, तमः रूप (योनिम्) मिश्रण, अमिश्रण या संयोग विभाग आदि परिणाम (कृत्वा) करके (शयानः) सब में अप्रकट या अव्यक्त रूप से व्यापक है, (काम-दुघः) समस्त काम अर्थात् संकल्पों को पूर्ण करने हारी (विराजः) विराट् प्रकृति का (वत्सः)[2] व्यापक, आच्छादक परम शक्तिमान् (सः) वह ब्रह्म (पराचैः) दूर २ तक (तन्वः) नाना विस्तृत लोकों को (गुहा) इस महान्, सबका आवरण करने हारे आकाश में (चक्रे) बनाता है।

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् ।
ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥३॥

भा०— (यानि) जो (बृहन्ति) विशाल, (त्रीणि) तीन गुण सत्व, रजस् और तमस् हैं, (येषाम्) जिनकी अपेक्षा से (चतुर्थम्) चौथा (वाचम्) वाणी वेदमयी वाक् को (वियुनक्ति) प्रकट करता है। (विपश्चित्) कर्म और ज्ञानों का संचयी, विद्वान् ब्रह्मवेत्ता (तपसा) अपने तप से (एनत्) उसको (ब्रह्म विद्यात्) 'ब्रह्म' जाने। (यस्मिन्) जिसमें (एकम्) एकमात्र वही (युज्यते) समाधि द्वारा साक्षात् किया जाता है, (यस्मिन् एकम्) जिसके विषय में 'एक' अद्वितीय, ऐसा ही समाधि में साक्षात् ज्ञान होता है या जिसको 'एक अद्वितीय' कहना उचित है। 'तमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इति माण्डूक्योप०।

१—क्रदि वैक्लव्ये।

२—वस आच्छादने, निवासे च ।

बृह॒तः परि॒ सामा॑नि ष॒ष्ठात् पञ्चाधि॒ निर्मि॑ता ।
बृ॒हद् बृ॑ह॒त्या निर्मि॑तं॒ कुतोऽधि॑ बृह॒ती निर्मि॑ता ॥ ४ ॥

भा०—(पञ्च[1] सामानि[2]) 'पञ्च' अर्थात् परिणामस्वरूप, 'विस्तृत' या व्यक्त रूप पञ्चभूत (षष्ठात्[3]) उस षष्ठ अर्थात् सर्वव्यापक, उनमें लीन (बृहतः) बृहत् उस महान् तत्त्व में से (परि) पृथक् (अधि निर्मिता) बने और (बृहत्) वह 'बृहत्' महान् तत्त्व (बृहत्याः) उस 'बृहती' प्रकृति से (निर्मितम्) बना या प्रकट हुआ । (प्रश्न) अब प्रश्न यह है कि (बृहती) वह 'बृहती' प्रकृति (कुतः अधि निर्मिता) कहां से बन गई, प्रकट हुई ?

बृह॒ती परि॒ मात्रा॑या मा॒तुर्मात्राधि॒ निर्मि॑ता ।
मा॒या ह॑ जज्ञे मा॒याया॑ मा॒याया॒ मात॑ली परि॑ ॥ ५ ॥

भा०—(बृहती) वह 'बृहती' स्थूल प्रकृति (मात्रायाः परि) 'मात्रा' परम सूक्ष्म प्रकृति से प्रकट हुई और वह (मात्रा) 'मात्रा' परम सूक्ष्म प्रकृति (मातुः अधि निर्मिता) माता, सर्वज्ञ, सर्वविधाता ब्रह्म से (निर्मिता) प्रकट हुई । (माया) वह परम ज्ञानमयी विधात्री, शक्ति कहां से आई ? (माया ह मायायाः जज्ञे) वह 'माया' विधात्री, निश्चय से 'माया' अर्थात् धात्री शक्ति से ही प्रादुर्भूत हुई । अर्थात् वह 'स्वयम्भू' है । और (मायायाः) 'माया' उस विधात्री शक्ति के (परि) वश में (मातली) 'मातली' 'इन्द्र' 'जीव' है ।

यद्वेव मिमीते तस्मात् मात्रा [श० ३।२।४।८] ।

---

१. 'डुपचष् पाके' (भ्वादिः), पचि विस्तारवचने (चुरादिः), पचि व्यक्तिकरणे (भ्वादिः), २. समी परिणामे (दिवादिः), ३. 'षस् षस्ति स्वप्ने' (अदादिः)

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी वि बबाधे अग्निः ।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥६॥

भा०—(वैश्वानरस्य) वैश्वानर सर्वव्यापक ईश्वर की (प्रतिमा) प्रतिमान अर्थात् परिमाण, लम्बाई चौड़ाई इतनी बड़ी है जितनी (उपरि द्यौः) ऊपर यह 'द्यौ' द्युलोक या महान् आकाश है। और (अग्निः) दीप्तिमान् सूर्य के समान परमेश्वर (रोदसी यावत्) द्यौ और पृथिवी भर में (वि बबाधे[1]) व्यापक है। (ततः) उस (अमुतः) दूरतम, विप्रकृष्ट (षष्ठात्) पूर्वोक्त षष्ठ अर्थात् सर्वव्यापक निगूढ शक्ति से (स्तोमाः) स्तोम, प्राणधारी जीव (आ यन्ति) आते हैं और (इतः) यहां से (अह्नः) परम व्यापक शक्ति के (षष्ठम् अभि) षष्ठ, सर्वव्यापी निगूढ, परम रूप के प्रति (उत् यन्ति) पुनः चले जाते हैं, उसी में लीन होकर मुक्त हो जाते हैं।

सप्त स्तोमाः। श० ९।५।२।८। त्रिवृत, पञ्चदशः, सप्तदशः एकविंश एते वै स्तोमानां वीर्यवत्तमाः। श० ८।४।२।२। प्राणा वै स्तोमाः। श० ८।४।१।३। स्तोमाः वै परमाः स्वर्गा लोकाः। ऐ० ४।१८॥ सात स्तोम हैं। त्रिवृत् १५ वां, १७ वां और २१ वां यही स्तोमों में अधिक बलशाली हैं। प्राण स्तोम हैं। सुखमय लोक स्तोम हैं। तं पञ्चदशं स्तोमं वोजो बलमित्याहुः। प्राणो वै त्रिवृदात्मा पञ्चदशः। तां० १९। ११। ३॥ चतुर्दश हि एवैतस्यां करूकराणि भवन्ति वीर्यम् पञ्चदशम्। गो० पू० ५।३॥ प्रजपतिः सप्तदशः। गो० उ० २।१३।५॥ सप्तदशो वै पुरुषो दश प्राणाश्चत्वार्यंगानि आत्मा पञ्चदशो ग्रीवाः शोडश शिरः सप्तदशम्। श० ६।२।३।९॥ तद्वै लोमेति द्वे अक्षरे, त्वग् इति द्वे, असृग् इति द्वे, मेद इति द्वे, मज्जेति द्वे, मांसमिति द्वे, स्नावेति द्वे, अस्थीति द्वे, ताः उ षोडशकलाः॥ अथ य एतदन्तरेण प्राणः सञ्चरति स एव सप्तदशः

१. बाधृ विलोडने (भ्वादिः)

प्रजापति: । श० १०।४।१।१७॥ सप्तदश एष स्तोमो भवति प्रतिष्ठायै प्रजात्यै ॥ तां० १२।६।१३॥ एकविंशोऽयं पुरुषो दशहस्ता अंगुलयो दश पाद्या आत्मा एकविंश: । ऐ० १।१९॥ (एकविंशस्तोमम्) देवतल्प इत्याहु: । तां० १०।१।१२॥ 'पंचदश' स्तोम ओज और बल है, प्राण त्रिवृत् है, आत्मा का नाम 'पञ्चदश' है ,इस मेरुयष्टि या रीढ़ में १४ करूरक मोहरे होते हैं, उनका धारक बल 'पञ्चदश' १५ वां है। प्रजापति 'सप्तदश' १७वां है। दश प्राण चार अंग ग्रीवा, सिर और १७ वां 'सप्तदश' आत्मा है। लोम, त्वचा, रुधिर, मेदस् , मज्जा, मांस, स्नायु, हड्डी इनमें दो दो कला हैं सत्रहवीं 'सप्तदश' आत्मा है। वही १७ वां स्तोम प्रतिष्ठा और प्रजोत्पत्ति का निमित्त है। एकविंश स्तोम भी यह पुरुष है, वही देव इन्द्रियों का तल्प=सेज है, अर्थात् उस में दश प्राण सोते हैं।

'षष्ठम् अह:'—देवायतनं वै षष्ठमह: । कौ० २३।५॥ प्राजापत्यं वै षष्ठमह: । कौ० २३।८॥ पुरुषो वै षष्ठमह: । अन्नं षष्ठमह: । कौ० २३।४।७॥ 'षष्ठं अह:' देवों का, प्राणों का, विद्वानों का, मुक्त जीवों का आयतन अर्थात् आश्रय स्थान है, वह प्रजापति का रूप है, वह पुरुष, परम पुरुष है, वह सबका अन्त, परम चरम धाम है अर्थात् प्रलयकाल में वही शेष है। इति दिक्।

षट् त्वा॑ पृच्छाम॒ ऋष॑यः कश्यपे॒मे त्वं हि यु॒क्तं यु॑यु॒क्षे योग्यं॑ च ।
वि॒राज॑माहु॒र्ब्रह्म॑णः पि॒तरं॒ तां नो॒ वि धे॑हि यति॒धा सखि॑भ्यः ॥७॥

भा०—हे (कश्यप) कश्यप, पश्यक ! सर्वद्रष्ट: ! विद्वन् ! आत्मन् ! (षट् इमे ऋषय:) छः ये ऋषि हम (त्वा) तुझ से (पृच्छाम) प्रश्न करते हैं, क्योंकि (त्वम्) तू (युक्तम्) समाधि में स्थित योगी को और (योग्यं च) समाधि द्वारा प्राप्त करने योग्य ब्रह्म को (युयुक्षे) परस्पर मिलाता है, उनका संग और साक्षात् कराता है। (विराजम्) 'विराड्' को (ब्रह्मण:) ब्रह्म, इस बृहत् जगत् का (पितरम्) पिता

(आहुः) बतलाते हैं। (ताम्) उस विराड् शक्ति का (यतिधा) वह जितने प्रकार की है, (नः) हम (सखिभ्यः) मित्रों को (विधेहि) विशेष रूप से उपदेश कर।

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम्।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्योमन् ॥८॥

भा०—विराट् के स्वरूपों का उपदेश करते हैं। (यां प्रच्युताम्) जिसके प्रच्युत अर्थात् नष्ट होने पर (यज्ञाः) यज्ञ अर्थात् लोक भी (प्रच्यवन्ते) विनष्ट हो जाते हैं और (उपतिष्ठमानाम्) स्थिर होने पर (उपतिष्ठन्ते) यज्ञ स्थिर हो जाते हैं या व्यवस्थित रहते हैं। (यस्याः) जिसके (प्रसवे) विशेष, उत्कृष्ट रूप में (व्रते) लोकोत्पादन रूप कार्य में (यक्षम्) वह उपासनीय देव (एजति) चेष्टा करता है। हे (ऋषयः) ऋषिगण ! (सा विराट्) वह 'विराट्' (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमन्) व्योम, विशेष रूप से सब जगत् की रक्षा करने के कार्य या पद पर विराजमान है।

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात्।
विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥९॥

भा०—'विराट्' (अप्राणा) विना प्राण की है। तो भी (प्राणतीनाम्) प्राण लेने वाली चेतना शक्तियों के (प्राणेन) प्राण जीवन शक्ति के साथ (एति) रहती है। वह (विराट्) विराट् स्वयं अप्रकाशवान् जड़ होकर (पश्चात्) पीछे (स्वराजम्) 'स्वराट्' स्वयंप्रकाश ब्रह्म के (अभि एति) पास आती है। उसका संग करती है, उसके साथ मिल कर इस प्रकार (विश्वम्) सर्वव्यापक ब्रह्म को (मृशन्तीम्) सम्पर्क, सन्धि या स्पर्श करती हुई, (अभिरूपाम्)

सब प्रकार से नाना रूपों को धारण करती हुई, अभिव्यक्त रूप से प्रकट हुई उस 'विराट्' को (त्वे) कुछ विद्वान् सूक्ष्मदर्शी लोग (पश्यन्ति) तत्त्व रूप से साक्षात् करते हैं और (त्वे) कुछ अज्ञानी लोग (एनाम्) इसको (न पश्यन्ति) नहीं देखते ।

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून् क उ कल्पमस्याः ।
क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः ॥ १० ॥ (२२)

भा०—(कः) कौन (विराजः) उस विराट् प्रकृति का (मिथुनत्वम्) परम पुरुष के साथ हुए मैथुन, एक भाव या जगत् की उत्पत्ति के कार्य को (प्र वेद) भली प्रकार जानता है ? कोई नहीं । (ऋतून्) ऋतुओं को अर्थात् गर्भधारण समर्थ या विशेष रूप से सृष्टि के उत्पन्न करने के सामर्थ्यों और अपने भीतर जगत् के मूलकारण रूप ब्रह्मशक्ति के उत्पादक बीजों को, गर्भ में धारण करने के कालों को (कः वेद) कौन जानता है ? कोई नहीं । (अस्याः) इस विराट् के (कल्पम्) उत्पादन सामर्थ्य को भी (कः उ) कौन जानता है ? (अस्याः) इस विराट् के (क्रमान्) नाना कर्मों अर्थात् क्रम से उत्पन्न होने वाले परिणामों को (कः) कौन जानता है ? और (कति-धा) कितने प्रकारों से उनका सार, बल या परम सामर्थ्य (विदुग्धान्) प्रकट करता है यह (कः) कौन जानता है ? और (अस्य) इसके (धाम) धारण करने वाले बल को (कः) कौन जानता है ? और कौन जानता है कि इसकी (कतिधा व्युष्टीः) कितने प्रकार की विविध वशकारिणी शक्तियां हैं ।

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥११॥

भा०—(इयम्) यह (एव) ही (सा) वह विराट् है (या) जो (प्रथमा) सबसे पहले विद्यमान रहकर (वि औच्छत्) नाना प्रकार से अपने को प्रकट करती है। और (आसु) इन (इतरासु) अन्य विकृतियों में (प्रविष्टा) प्रविष्ट होकर (चरति) परिणाम को प्राप्त होती है। (अस्याम्) इस विराट् में (महान्तः महिमानः) बड़े बड़े सामर्थ्य हैं। वह ही (जनित्री) सब जगत् को उत्पन्न करनेहारी प्रकृति (नवगत्) नवागता, नवविवाहिता, नवोढा (वधूः) वधू जिस प्रकार अपने पति के अन्तःकरण को जीत लेती है उसी प्रकार वह परम पुरुष के परम अन्तःकरण रूप सामर्थ्य को (जिगाय)[1] जीत लेती है, अपने भीतर ले लेती है।

छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते।
सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानती केतुमती अजरे भूरिरेतसा ॥१२॥

भा०—(छन्दः-पक्षे) छन्दस् अर्थात् दिशा रूप पक्षों वाली (उषसा) दोनों उषाएं प्रातः और सायं (पेपिशाने) रूप से अपने को सजाती हुई (समानं योनिम् अनु) समान, एक ही स्थान को लक्ष्य करके (चरेते) आरही हैं। वे दोनों (सूर्य-पत्नी) सूर्य की स्त्रियों के समान, सूर्य से भी पालित रात्रि दिन (प्रजानती) सब मनुष्यों को काल का बोध कराती हुई (केतुमती) सब के ज्ञापक सूर्य को साथ लिये हुए (अजरे) कभी भी नाश न होने वाली (भूरि-रेतसा) बहुत वीर्यशाली सहस्रों प्राणियों को उत्पन्न करने वाली (संचरतः) एक साथ ही विचरती हैं।

उषसा=दोनों उषाएं अर्थात् प्रातः सायं दोनों। छन्दपक्षे—छन्दांसि दिशः। श० ८।३।१।१२॥ प्रजापतेर्वा एतान्यङ्गानि यच्छन्दांसि। ऐत० २।१८॥

1. जि जि अभिभवे।

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् ॥ १३ ॥

भा०—(तिस्रः) तीन शक्तियां (ऋतस्य) ऋत, सत्य के या वेदज्ञान के (पन्थाम्) मार्ग पर चलने से (अनु आगुः) प्राप्त होती हैं। (त्रयः) तीन (घर्माः) घर्म, तेज (रेतः अनु) रेतस्-वीर्य के कारण (आगुः) प्राप्त होते हैं। उन तीन शक्तियों में से (एका) एक प्रजनन शक्ति (प्रजाम्) जीव लोक की प्रजा को (जिन्वति) तृप्त करती है। और (एका) एक (देवयूनाम्) देवों के अभिलाषी पुरुषों के (राष्ट्रम्) राष्ट्र की (रक्षति) रक्षा करती है।

तीन शक्तियां—१ परस्पर प्रेम, २ अन्न, ३ राजशक्ति। अथवा आत्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक शक्ति। आत्मिक शक्ति से सब जीवों पर प्रेम उत्पन्न होता है, आधिभौतिक शक्ति से प्राकृतिक अन्न और पशु आदि बल, ऊर्ज बढ़ता है और आधिदैविक शक्तियों से विशाल राष्ट्रों की रक्षा होती है।

अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्कीं यजमानाय स्वराभरन्तीम् ॥ १४ ॥

भा०—(ऋषयः) तत्त्वदर्शी ऋषिगण (अग्नि-सोमौ) अग्नि और सोम, आत्मा और परमेश्वर दोनों को (यज्ञस्य पक्षौ कल्पयन्तः) यज्ञ के दो पक्षों के तुल्य बनाते हुए (या तुरीया आसीत्) जो तुरीय, जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से परे शिवरूपा, अमात्रा, परमशक्ति है उस (गायत्री) गायत्री (त्रिष्टुभम्) त्रिष्टुप् (जगतीम्) जगती (अनुष्टुभम्) अनुष्टुभ रूप, वा इन छन्दों से गाई गई (बृहद्-अर्कीम्) बड़ी स्तुति के योग्य परम अर्चनीय ब्रह्मशक्ति को (अदधुः) धारण करते हैं।

गायत्री—'गयांस्तत्रे' प्राणों की रक्षा करने वाली, 'त्रिष्टुप्' तीनों लोकों से स्तुति करने योग्य, त्रिभुवनधारिणी शक्ति। 'जगती' निरन्तर गतिशील, ज्ञानमयी। 'अनुष्टुप्' नित्य स्तुत्य। ये सब विशेषण उस 'तुरीया' ब्रह्मशक्ति के ही हैं। 'बृहदर्की' बृहत् अर्कवाली ब्रह्म-तेजोरूपा। इसी को 'तुरीयपद' अमात्र, चतुर्थपाद, शिव, परमशक्ति आदि नाम से कहते हैं। व्याख्यान देखो 'माण्डूक्योपनिषत्' में तुरीयपद का वर्णन।

पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनु पञ्च। पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ॥ १५ ॥

भा०—प्रहेलिका। (पञ्च व्युष्टीः अनु) पांच व्युष्टियों के साथ (पञ्च दोहाः) पांच दोह हैं, और (पञ्चनाम्नीं गाम् अनु) पांच नाम वाली गौ के अनुसार (ऋतवः पञ्च) पांच ऋतु हैं। (पञ्चदशेन) पन्द्रहवें ने (पञ्च दिशः क्लृप्ताः) पांच दिशाओं को वश किया। (ताः) और ये सब (एकमूर्ध्नीः) एक ही शिर वाली (एकम्) एक (लोकम् अभि) लोक के चारों ओर आश्रय लिये हैं।

'पञ्च व्युष्टीः = पांच प्राण हैं, उनके साथ पांच प्रकार के दोह अर्थात ग्राह्य विषय हैं। इसी प्रकार आधिदैविक में पांच प्रकृति के विशेष विकार पञ्चभूत हैं। उनके साथ उनके पांच दोह अर्थात तन्मात्राएँ उनमें विद्यमान गन्ध आदि विशेष धर्म हैं। 'पंचनाम्नी गौ' अध्यात्म में चितिशक्ति या जिसमें पांच ऋतु, गतिमान् पांच प्राण हैं। शरीर में ज्ञानेन्द्रिय पांच दिशा हैं उन पर अधिकार उस पञ्चदश=आत्मा का है। प्राणो वै त्रिवृदात्मा पंचदशः। तां० १९।११। ३ ॥ वे पांचों दिश्=ज्ञानेन्द्रियें (एकमूर्ध्नीः) एक ही मूर्धास्थान में लगी हैं। अर्थात् उनका एक ही मूल [एक मूल-ध्नी=एक मूलधारिणी—एक मूर्ध्नी] आत्मा

या मुख्य प्राण है। वे सब एक ही लोक-आत्मा में आश्रित हैं। (२) आधिदैविक पक्ष में पांच प्रकृति के विकार पंचभूत पांच 'व्युष्टि' हैं, उनके पांच दोह पांच तन्मात्राएँ या गन्धादि पांच गुण हैं। वे पांचों के नाम को धारण करने वाली गौ आदित्य या पृथ्वी के आश्रय ये पांच ऋतु वसन्तादि प्रवृत्त हैं। पांच दिशा प्राची आदि हैं। उनको 'पंचदश'=तेज स्वरूप सूर्य वश में किये हुए है। वे दिशाएँ (एक-मूर्ध्नीः) एक ही आकाश रूप मूल में बद्ध होकर एकमात्र लोक=आलोककारी परब्रह्म में आश्रित हैं। तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। (कठ० उ०)।

षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः ॥१६॥

भा०—(ऋतस्य) उस 'ऋत' सत्य सामर्थ्यवान्, परमेश्वर के सामर्थ्य से (प्रथमजा) सबसे प्रथम उत्पन्न, व्यक्त (षट्) छः (भूता) 'भूत' सत् पदार्थ (जाता) उत्पन्न हुए, और (षट् उ) वे छहों भी (सामानि) अपनी शक्तियों सहित मिश्रित होकर, संयुक्त होकर, परस्पर एक दूसरे के सहायक होकर (षडहम्) समस्त ब्रह्माण्ड और पुरुष देह को (वहन्ति) धारण करते हैं। (षड्-योगम्) छः प्राणों के साथ योग करनेहारे (सीरम् अनु) सीर=शरीर के साथ (साम-साम) प्राण ही सहायक है, इसी कारण (द्यावापृथिवी षट् आहुः) द्यौ और पृथिवी को छः प्रकार का कहा जाता है और (उर्वीः) यह विशाल पृथ्वी भी (षट्) छः प्रकार की कही जाती है।

'सेरं ह्येतद्यत् सीरम्। इरामेवाऽस्मिन्नेतद् दधाति। श०७।२।२॥ इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः। तै० २।४।८।७॥

षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोतिरिक्तः।
सप्त सुपर्णाः कवयो निषेदुः सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः ॥१७॥

भा०— (षट्) छः (मासाः) मासों को (शीतान् आहुः) शीत कहते हैं। और (षट् उ मासान् उष्णान्) छः ही मासों को उष्ण कहते हैं। हे विद्वान् पुरुषो ! (ऋतुम्) उस ऋतु को (नः ब्रूहि) हमें बतलाओ (यतमः) जो इन ऋतुओं से (अतिरिक्तः) अतिरिक्त अर्थात् बड़ा है। इति पूर्वार्धः।

(सप्त सुपर्णाः) सात सुपर्ण अर्थात् पक्षियों के समान, शोभन ज्ञान प्राप्त करने में कुशल (कवयः) क्रान्तदर्शी इस देह के शिरोभाग में (निषेदुः) विराजते हैं। (सप्त छन्दांसि अनु) सात छन्दों = प्राणों के साथ (सप्त दीक्षाः) सात दीक्षाएँ = नियत कर्म या ज्ञानसाधन के सामर्थ्य हैं। इति उत्तरार्धः।

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन् ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम्॥१८॥

भा०—(सप्त होमाः) सात होम, (सप्त ह समिधः) सात समिधाएँ, (सप्त मधूनि) सात मधु, (सप्त ह ऋतवः) सात ऋतु, (सप्त आज्यानि) सात आज्य, (भूतम्) सत् पदार्थ आत्मा को (परि आयन्) प्राप्त हैं। (ताः) उनको ही (सप्त गृध्राः) सात गृध्र अर्थात् विषयों की आकांक्षा करने वाले इन्द्रियगण के नाम से (वयम्) हम (शुश्रुम) सुनते हैं।

पूर्व मन्त्र के उत्तरार्ध में कहे सुपर्ण, कवि, छन्द, दीक्षा और इस मन्त्र में कहे होम, मधु, समिध, ऋतु, आज्य और गृध्र ये सब सात शीर्षण्य प्राणों के नामभेद हैं।

सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि।
कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि॥१९॥

भा०—(सप्त च्छन्दांसि) सात छन्द = प्राण तो ये शिरोभाग में विराजमान हैं। (उत्तराणि) इन से भी उत्कृष्ट कोटि के (चतुः) और चार हैं। और वे (अन्यः अन्यस्मिन्) एक दूसरे में (अधि आ अर्पितानि) अर्पित हैं, एक दूसरे में आश्रित हैं। अब प्रश्न यह है कि (स्तोमाः) स्तोम अर्थात् छन्द या प्राणगण (तेषु) उन उत्कृष्ट चार अन्तःकरण-चतुष्टयों में (कथं प्रति तिष्ठन्ति) किस प्रकार प्रतिष्ठित या आश्रित हैं और (तानि) वे उत्कृष्ट कोटि के चारों (स्तोमेषु) स्तोम या प्राणों में (कथम्) किस प्रकार (आ अर्पितानि) आश्रय लिये हुए हैं ?

कथं गायत्री त्रिवृतं व्याप कथं त्रिष्टुप् पञ्चदशेन कल्पते ।
त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप् कथमेकविंशः ॥ २० ॥ (२३)

भा०—(गायत्री) गायत्री नामक प्राणशक्ति (त्रिवृत) त्रिवृत नाम अन्न को (कथं व्याप) किस प्रकार व्याप्त करती है। और (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् नामक प्राणशक्ति (पञ्चदशेन) पञ्चदश नाम आत्मा के साथ (कथम्) किस प्रकार (कल्पते) देह व्यापार करने में समर्थ होती है ?। (जगती) जगती नामक चितिशक्ति या प्राण-शक्ति (त्रयस्त्रिंशेन कथम्) त्रयस्त्रिंश नाम परम-आत्मा के साथ किस प्रकार जगत् को चला रही है ?। और (अनुष्टुप्) अनुष्टुप् नामक शक्ति (एकविंशः) एकविंश नाम आत्मा के साथ किस प्रकार देह व्यापार करने में समर्थ है।

त्रिवृत, पञ्चदश, एकविंश आदि की व्याख्या देखो इसी सूक्त की ऋचा ६ में। गायत्री आदि नामों की व्याख्या इसी सूक्त की ऋचा १४ में देखो।

त्रयस्त्रिंशः स्तोमानामधिपतिः। ता० ६। २। ७॥ ज्योतिः त्रयस्त्रिंशः स्तोमानाम्। ता० १३। ७। २॥ सत् त्रयस्त्रिंशः स्तोमानाम्।

ता० १५ । १२ । २ ॥ अन्तो वै त्रयस्त्रिंशः स्तोमानाम् । ता० ३ । ३ । २ ॥ तम् उ नाक इत्याहुः । ता० १० । १ । १८ ॥ देवता एव त्रयस्त्रिंशस्यायतनम् । ता० १० । १ । ६ ॥ सब स्तोमों = प्राणों का अधिष्ठाता, वही ज्योति है, वही सत् और वही सबका चरम सुख है जिस में सब प्राण लीन होते हैं । ये अन्य शरीर के घटक देव उसके आश्रय स्थान हैं ।

अ॒ष्ट जा॒ता भू॒ता प्र॑थम॒जर्तस्या॒ष्टेन्द्र॒र्त्विजो॒ दैव्या॒ ये ।
अ॒ष्टयो॑नि॒रदि॑तिर॒ष्टपु॑त्रा॒ष्ट॒मीं रात्रि॑म॒भि ह॒व्यमे॑ति ॥ २१ ॥

भा०—(ऋतस्य) ऋत अर्थात् आदि सत् पदार्थ के (प्रथमजा) प्रथम प्रादुर्भूत (अष्ट) आठ (भूता जाता) भूत अर्थात् भाव-पदार्थ उत्पन्न हुए । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ये) जो (अष्ट) आठों (दैव्याः) देव गणों के या देव, परम पुरुष के उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयरूप यज्ञ के (ऋत्विजः) 'ऋत्विग्' हैं वे यथाकाल परस्पर मिलते और सर्ग रचते हैं । उन से ही (अदितिः) अविनाशिनी प्रकृति अदिति' भी (अष्ट-योनिः) अष्ट-योनि, आठ स्वरूपों वाली और (अष्ट-पुत्रा) मानो आठ पुत्रों वाली है । वह (अष्टमीं रात्रिम्) अष्टमी रात्रि अर्थात् संसार की व्यक्त दशा को (हव्यम्) हव्य अर्थात् संसार रूप में (अभि एति) प्राप्त करती है ।

अष्टरात्रेण वै देवाः सर्वमाश्नुवत । तां० २२ । ११ । ६ ॥ प्राजापत्यमेतदहः यदष्टका । रात्रिर्व्युष्टिः । श० १३ । २ । १ । ६ ॥ 'अष्टरात्र' से देवगण अर्थात् ईश्वरीयशक्ति से युक्त प्राकृत विकार, सर्व अर्थात् संसार में व्यापक हैं । अष्टका यह प्रजापति सम्बन्धी दिन है अर्थात् परमेश्वर की सर्वव्यापक शक्ति की प्रतिनिधि है । सर्वव्यापक शक्तियों के परस्पर संयोग से जो संसार की व्यक्त होने की विशेष दशा है वही 'अष्टमी रात्रि' कहाती है । उसी दशा में वह 'अदिति' हव्य-समस्त संसार को

अपने में धारण करती है। "सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्। श० १०। ६। ५।५॥ सब संसार को अपने में लीन करती है अतः 'अदिति' कहाती है। प्रजापति की आठ मूर्तियां शतपथ में- आपः, फेन, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयः, हिरण्य और स्वयं प्रजापति आठवीं। यह अक्षर का आठ रूपों से क्षरण है। रुद्र के आठ नाम-रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान और नवम कुमार है इन के प्राकृतिक नाम क्रम से अग्नि, आपः, ओषधि, वायु, विद्युत्, पर्जन्य, चन्द्रमा, आदित्य हैं। और अग्नि का त्रिवृद्भाव देखो शत० ६। १। ३। १८॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः संचरति प्रजानन् २२

भा०—(इत्थम्) इस प्रकार (श्रेयः) परम 'श्रेय' कल्याण रूप परमपद का (मन्यमाना) ज्ञान करती हुई, मैं 'विराट्' रूप में (इदम्) इस चराचर जगत् को (आगमम्) प्राप्त हूं। और (अहम्) मैं (शेवा) अतिसुख, कल्याणमयी होकर (युष्माकम्) तुम प्राणियों के (सख्ये) सख्य, प्रेमभाव, सहयोग में (अस्मि) प्राप्त हूं। (वः) तुम्हारा (समान-जन्मा) तुम्हारे सदृश स्वभाव वाला, तुम्हारा साथी (क्रतुः) सर्वकर्त्ता प्रभु भी (वः) तुम्हारा (शिवः) कल्याणकारी है। (सः) वह (वः) तुम्हारे (सर्वाः) समस्त क्रियाओं और चेष्टाओं को (प्रजानन्) जानता हुआ (संचरति) विचरता है या व्यापक है।

अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त संप्तधा।
अपो मनुष्या३नोषधीस्तां उ पञ्चानु सेचिरे॥ २३॥

भा०—(इन्द्रस्य) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् उस परमात्मा के (अष्ट) आठ रूप और (यमस्य) संयम में रहने वाले जीव के (षट्) मन

सहित छः इन्द्रियें अथवा (यमस्य षट्) यम, नियामक कालरूप संवत्सर की छः ऋतुएं, और (ऋषीणाम्) विषयों के द्वारा इन्द्रियों के (सप्तधा) सात प्रकार से गति करने वाले (सप्त) सात प्राण (अपः) समस्त कर्मों, ज्ञानों को (मनुष्यान्) मनुष्यों और (ओषधीः) ओषधियों (तान्) उन सबको भी (पञ्च) पांच भूत ही (अनु सेचिरे)[1] रच रहे हैं, रूपवान् और सत्तावान् बना रहे हैं।

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन् ॥२४॥

भा०—(गृष्टिः) प्रथम प्रसूता गौ जिस प्रकार मधुर दुग्ध अपने केवल प्रथम वत्स के लिये ही देती है उसी प्रकार यह 'विराट्' भी (केवली)[2] केवल मात्र परमपदभागी, मुक्त (इन्द्राय) जीव के लिये ही (प्रथमम्) सबसे प्रथम प्रथम (दुहाना) दुही जाकर (वशम्) अति कमनीय (पीयूषम्) पान करने योग्य अमृत को (दुदुहे) प्रदान करती है। और वही इस प्रकार (चतुर्धा) चार प्रकार से (देवान्) देव, (मनुष्यान्) मनुष्य, (असुरान्) असुर, (उत) और (ऋषीन्) ऋषि इन (चतुरः) चारों को (अतर्पयत्) तृप्त करती है।

भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। सां० सू०। किस प्रकार प्रकृति स्वयं मोक्ष का कारण है और वह सब के भोग का भी कारण है। इसकी व्याख्या सांख्यदर्शन से जाननी चाहिये।

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥

१. षच समवाये। (भ्वादिः)।
२. चतुर्थ्यर्थे प्रथमा।

भा०—प्रश्न यह है कि (कः नु गौः) यह महान् 'गौः' सब का चलाने वाला, ब्रह्माण्ड या जगत्‌रूप गाड़े का खैंचने वाला बैल कौन है ? और इस समस्त चराचर का (ऋषिः) द्रष्टा, उसका निरीक्षक, (एकः) एकमात्र सर्वाध्यक्ष (कः) कौन है ? (किम् उ धाम) इस सबको धारण करने वाला सर्वाश्रय क्या है ? (आशिषः) सब पदार्थों को शासन करने वाली, सबको नियम में रखने वाली शक्तियां (काः) कौनसी हैं ? (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (एकवृत्) एकमात्र वरण करने और पूजने योग्य (एक-ऋतुः) एकमात्र ऋतु के समान संवत्सर रूप काल (यक्षम्) सब पदार्थों को परस्पर संगति कराने और उनको व्यवस्थित करने वाला (सः) वह (नु) भी (कतमः) कौनसा है ?

एको॒ गौरेक॑ ऋ॒षिरेकं॒ धामै॑क॒धाशिषः॑ ।
य॒क्षं पृ॑थि॒व्यामे॑क॒वृदे॑क॒र्तुर्नाति॑ रिच्यते ॥ २६ ॥ (२४)

भा०—उत्तर यह है कि (एकः गौः) वह एकमात्र परमात्मा ही (गौः) इस चराचर को चलाने वाला महावृषभ है। और वही (एकः) एकमात्र (ऋषिः) सर्वाध्यक्ष है। वही (एकं धाम) एकमात्र सबका धारण करने वाला 'बल' है और सबका आश्रय है। (एकधा आशिषः) वे सब नियामक शक्तियां भी एक ही रूप की ब्रह्ममयी हैं, (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (एकवृत) एकमात्र वरणीय, सबसे श्रेष्ठ (एक-ऋतुः) एक ऋतु के समान या एकमात्र सबका प्रेरक प्राणरूप (यज्ञम्) सबको परस्पर संगत और व्यवस्थित करने वाला बल भी वही एक है, (न अति रिच्यते) उससे बढ़कर दूसरा नियामक भी कोई नहीं है।

[१० (१)] 'विराड्' के ६ स्वरूप गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभा, समिति और आमन्त्रण ।

अथर्वाचार्य ऋषिः । विराड् देवता । १ त्रिपदार्ची पंक्तिः, २, ४, ६, ८, १०, १२ याजुष्यो जगत्यः, ३, ६ साम्न्यनुष्टुभौ ५, आर्ची अनुष्टुप्; ७, १३ विराट् गायत्र्यौ; ११ साम्नी बृहती । त्रयोदशर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ १ ॥

भा०—(इदम्) यह जगत् (अग्रे) पहले, अपने पूर्व रूप में (विराट्) विराट् ही (आसीत्) रहा । (तस्याः) उसके (जातायाः) प्रादुर्भाव अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त होते हुए (सर्वम्) सब चराचर (अबिभेत्) भयभीत हुआ, शंकित हुआ कि (इयम्) यह विराट् ही (इदम्) इस जगत्रूप को (भविष्यति) धारण करेगी अर्थात् वही जगत् रूप में प्रकट होगी ।

सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥

भा०—(सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपर उठी और (सा) वह (गार्हपत्ये) गार्हपत्य में (नि अक्रामत्) नीचे आगई ।

'प्रजापतिर्ह गार्हपत्यः' कौ० २७ । ७ ॥ अयं वै भूलोको गार्हपत्यः । श० ७।१।१।६॥ जाया गार्हपत्यः । ऐ० ८।२४॥ कर्मांत गार्हपत्यः । जै० ३।४।२६।२५॥ श्रपणो वै गार्हपत्यः । कौ० २ । १ ॥ अन्नं वै गार्हपत्यः कौ० ।२।१॥ वह विराट् उत्क्रमण करके अर्थात् विशालरूप में प्रकट होकर भी प्रजापति के वश में रही, अथवा इस भूलोक, स्त्री, अन्न, कर्म आदि के स्वल्प परिमित रूप में भी प्रकट हुई ।

गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है । वह (गृहमेधी) गृहमेधी = गृहस्थ (गृहपतिः) गृह अर्थात् जाया का पति = पालक होता है ।

सोदक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत् ॥ ४ ॥

भा०—(सा) वह जब (उद् अक्रामत्) ऊपर उठी, विशालरूप में प्रकट हुई तब (सा आहवनीये) वह अहवनीय या द्यौरूप में (नि अक्रमत) उतर आई अर्थात् प्रकट हुई ।

द्यौराहवनीयः । श० ८।६।३।११॥ इन्द्रो ह्याहवनीयः । श०२।७।१। ३८॥ यजमान आहवनीयः । पुरुषस्य मुखमेव आहवनीयः । कौ० १७ । ७ ॥ यज्ञस्य शिर आहवनीयः । श० ६।५।२।१॥ प्राणोदानावेवाहवनीयश्च गार्हपत्यः । श० २।२।२।१८॥ द्यौ, इन्द्र, जीव, यजमान, पुरुष, पुरुष का मुख, यज्ञ का मुख और प्राण आहवनीय के रूप हैं ।

यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार 'विराट्' के स्वरूपों का (वेद) ज्ञान कर लेता है वह (देवानां प्रियः) देवों का प्रिय (भवति) हो जाता है और (अस्य) इसके (देवहूतिं) दिव्यपदार्थों और विद्वानों की हूति पुकार या आमन्त्रण को (देवाः) देवगण (यन्ति) प्राप्त होते हैं ।

सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥६॥
यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

भा०—(सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपर को उठी अर्थात् प्रकट हुई और (दक्षिणाग्नौ नि अक्रामत) दक्षिणाग्नि रूप में उतर आई । (य एवं वेद) जो पुरुष इस रहस्य को जानता है वह (यज्ञर्तः) यज्ञ में पूजनीय (वासतेयः) वसति=गृह में बसने योग्य उत्तम अतिथि (भवति) होता है । वह (दक्षिणीयः) दक्षिणा प्राप्त करने योग्य, कुशल (भवति) हो जाता है ।

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी और (सा सभायां नि अक्रामत्) वह विराट् पुनः सभा के रूप में उतर आयी, प्रकट हुई। (य एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जानता है वह (सभ्यः) सभा में पूजा योग्य (भवति) हो जाता है और विद्वान्गण (अस्य सभां यन्ति) इसकी सभा में आते हैं।

सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १० ॥
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह ऊपर उठी और (सा समितौ नि अक्रामत्) वह समिति, सर्व साधारण विशाल सभा के रूप में आ उतरी, प्रकट हुई। (य एवं वेद सामित्यो भवति) जो विराट् के इस प्रकार के स्वरूपों को जान लेता है वह समिति या जनसमाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। (अस्य समितिं यन्ति) लोग उसकी समिति वा संगति को प्राप्त होते हैं।

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥
यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥ १३ ॥ (२५)

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी और फिर (सा आमन्त्रणे नि अक्रामत्) वह 'आमन्त्रण', परस्पर प्रेम और सम्मानपूर्वक बुलाने के रूप में आ उतरी, प्रकट हुई। (य एवं वेद आमन्त्रणीयः भवति। अस्य आमन्त्रणं यन्ति) जो विराट् के इस प्रकार के रूप को जान लेता है वह अन्यों द्वारा सम्मानपूर्वक आमन्त्रण पाता है और इस के आमन्त्रण को दूसरे स्वीकार करते हैं।



[२] विराट् के ४ रूप ऊर्ग्, स्वधा, सूनृता, इरावती, उसका ४ स्तनों वाली गौ का स्वरूप ।

अथर्वाचार्य ऋषिः । विराड् देवता । १ त्रिपदा साम्नी अनुष्टुप्, २ उष्णिग्गर्भा चतुष्पदा उपरिष्टाद् विराड् बृहती, ३ एकपदा याजुषी गायत्री, ४ एकपदा साम्नी पंक्तिः, ५ विराड् गायत्री, ६ आर्ची अनुष्टुप्, ७ साम्नी पंक्तिः, ८ आसुरी गायत्री, ९ साम्नी अनुष्टुप्, १० साम्नी बृहती । दशर्चं सूक्तम् ॥

सोद॑क्रामत् सान्तरि॑क्षे चतु॒र्धा विक्रा॑न्तातिष्ठत् ॥ १ ॥

भा०—(सा) वह विराट् (उद् अक्रामत्) ऊपर उठी, प्रकट हुई (सा) वह (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में, वायुमण्डल में (चतुर्धा) चार प्रकार से (विक्रान्ता) विभक्त होकर (अतिष्ठत्) विराजमान है।

तां दे॑वमनु॒ष्या॑ अब्रुवन्नि॒यमे॒व तद् वे॑द॒ यदु॒भय॑ उप॒जीवे॑मे॒मामुप॑ ह्वयामहा॒ इति॑ ॥ २ ॥

भा०—(ताम्) उसके विषय में (देव-मनुष्याः) देवगण विद्वान् जन (उभये) दोनों (अब्रुवन्) बोले कि (इयम् एव) वह विराट् ही (तत् वेद) उस परम तत्व को जानती है (यत्) जिस के आधार पर हम (उप जीवेम) आजीविका करते, एवं प्राण धारण करते हैं। (इमाम् उपह्वयामहे इति) बस हम इसी को बुलावें।

तामुपा॑ह्वयन्त ॥ ३ ॥

भा०—(ताम्) उस विराट् को उन्होंने (उपाह्वयन्त) बुलाया।

ऊर्ज॒ एहि॒ स्वध॒ एहि॒ सूनृ॑त॒ एहीरा॑व॒त्येहीति॑ ॥ ४ ॥

भा०—हे (ऊर्जे) ऊर्जे ! अन्नमयि ! (आ इहि) आ । हे (स्वधे) स्वधे, अन्नमयि शरीर धारण करने में समर्थ (आ इहि) आ । हे (सूनृते) सूनृते ! उत्तम शब्दमयी वाणी ! (आ इहि) आ (इरावति) इरावति ! अन्नवति ! (आ इहि) आ ।

तस्या॒ इन्द्रो॑ व॒त्स आसी॑द् गाय॒त्र्य॑भि॒धान्य॒भ्रमूधः ॥ ५ ॥

भा०—(तस्याः) उस अन्नमयी 'विराट् रूप' गौ का (इन्द्रः वत्सः आसीत्) इन्द्र मेघ या पवन वत्स = बछड़े के समान है और (गायत्री अभिधानी) गायत्री बांधने की रस्सी है, (अभ्रम् ऊधः) और मेघ या आकाश दूध के भरे ऊधस के समान है।

बृ॒हच्च॑ रथन्त॒रं च॒ द्वौ स्तना॑वास्तां यज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं च॒ द्वौ ॥ ६

भा०—उस विराड् रूप गौ के (बृहत् च रथन्तरं च) बृहत् और रथन्तर, (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य (द्वौ द्वौ स्तनौ) दो और दो (चार) स्तन (आस्ताम्) थे।

ओष॑धीरे॒व र॑थन्त॒रेण॑ दे॒वा अ॑दुह॒न् व्यचो॑ बृह॒ता ॥ ७ ॥

भा०—(देवाः) देवगण (रथन्तरेण) 'रथन्तर' नामक स्तन से (ओषधीः अदुहन्) ओषधियों को दुहते हैं, प्राप्त करते हैं। और (बृहता) 'बृहत्' नामक स्तन से (व्यचः) 'व्यचस्' अन्तरिक्षको दुहते उसका रस प्राप्त करते हैं।

अ॒पो वा॑मदे॒व्येन॑ य॒ज्ञं य॑ज्ञाय॒ज्ञिये॑न ॥ ८ ॥

भा०—और (वामदेव्येन) वामदेव्य नामक स्तन से (अपः) जलों को दुहा और (यज्ञायज्ञियेन) 'यज्ञायज्ञिय' नामक स्तन से (यज्ञम्) यज्ञ को दुहा, प्राप्त किया।

ओष॑धीरे॒वास्मै॑ रथंत॒रं दु॑हे॒ व्यचो॑ बृ॒हत् ॥ ९ ॥
अ॒पो वा॑मदे॒व्यं य॒ज्ञं य॑ज्ञाय॒ज्ञियं॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ १० ॥ (२६)

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार विराट् के गूढ रहस्य को जानता है (अस्मै) उसके लिये (रथन्तरम् ओषधीः एव दुहे) 'रथन्तर' नाम स्तन ओषधियों को ही प्रदान और पूर्ण करता है, (बृहत् व्यचः) 'बृहत्' नाम स्तन 'व्यचस्' को प्रदान और पूर्ण करता

है, (वामदेव्यम् अपः) वामदेव्य स्तन अपः = जलों को प्रदान और पूर्ण करता है। और यज्ञायज्ञिय नाम का स्तन यज्ञ को प्रदान करता और पूर्ण करता है।

संक्षेप—वेदों और मनुष्यों के उपजीवक विराड् के अन्तरिक्ष में चार रूप हैं। ऊर्ज, स्वधा, सूनृता, इरावती। उनका वत्स इन्द्र, रस्सी गायत्री, स्तनमण्डल मेघ हैं। उस विराड् रूप गौ के ४ स्तन हैं बृहत्, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य, उनसे चार प्रकार का दूध प्राप्त किया ओषधि, व्यचस्, अपः और यज्ञ। विराड् शक्ति के या द्यौ = आदित्य के अन्तरिक्ष में चार ऊर्ज = अन्न, स्वधा = प्राण और अन्न, सूनृता = उत्तम वाणी, वाक् विद्युद्गर्जना, इरावती = जलों या अन्नों से पूर्ण पृथिवी। वत्स इन्द्र = वायु या स्वतः जीव है। गायत्री = पृथिवी अपने साथ उसे बांधे है। मेघ उसके स्तन मण्डल हैं। मेघों के ४ स्तन हैं १. बृहत् द्यौः, उससे व्यचः = अन्न उत्पन्न है। जैसा कालिदास ने लिखा है "दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्" (रघु०)। २. दूसरा स्तन रथन्तर है। रसतमं ह वै रथन्तरम् इत्याचक्षते परोक्षम्। श० ९।१।२।३॥ इयं वै पृथिवी रथन्तरम्। ऐ० ८।१॥ रथन्तर यह पृथिवी है। इससे नाना ओषधियां उत्पन्न हुईं। ३. तीसरा स्तन 'यज्ञायज्ञिय' है। पशवोऽन्नाद्यं यज्ञायज्ञीयं। तां० १५।९।१२॥ पशु और अन्नादि खानेवाले जन्तु 'यज्ञायज्ञिय' हैं। उनसे 'यज्ञ' उत्पन्न हुआ। ४. वामदेव्य चौथा स्तन अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्षं वै वामदेव्यम्। ता० १५। १२। ५॥ उससे जलों की वर्षा हुई।

---

[३] विराड् के ४ रूप, वनस्पति, पितृ, देव और मनुष्यों के बीच में क्रम से रस, वेतन, तेज और अन्न।

अथर्वाचार्य ऋषिः। विराड् देवता। १ चतुष्पदा विराड् अनुष्टुप्; २ आर्ची त्रिष्टुप्; ३, ५, ७ चतुष्पदः प्राजापत्यः पंक्तयः; ४, ६, ८ आर्च्योविभत्यः।

सोद॑क्राम॒त् सा वन॒स्पती॒नाग॑च्छ॒त् तां वन॒स्पत॑योऽघ्नत॒ सा सं॑वत्स॒रे सम॑भवत् ॥ १ ॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् उठी, प्रकट हुई । (सा वनस्पतीन् आगच्छत्) वह वनस्पति वृक्ष लताओं के समीप आगई । (ताम्) उसको (वनस्पतयः) वृक्ष आदि वनस्पतियों ने (अघ्नत) भोग किया । (सा) वह (संवत्सरे) एक वर्ष भर (सम् अभवत्) उनके साथ संयुक्त रही ।

तस्मा॒द् वन॒स्पती॑नां संवत्स॒रे वृ॒क्णमपि॑ रोहति वृ॒श्चते॒स्याप्रि॑यो॒ भ्रातृ॑व्यो॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ २ ॥

भा०—(तस्मात्) इसी कारण से (वनस्पतीनां) वनस्पतियों में वर्ष भर में (वृक्णम् अपि) काटा हुआ भी (रोहति) पुनः अपनी नई शाखायें उत्पन्न करता है । (यः एवं वेद) जो इस रहस्य को जानता है (अस्य यः भ्रातृव्यः) इसका जो शत्रु है वह भी (वृश्चते) कट जाता है ।

सोद॑क्राम॒त् सा पि॒तॄनाग॑च्छ॒त् तां पि॒तरो॑ऽघ्नत॒ सा मा॒सि सम॑भवत् ॥ ३ ॥

तस्मा॑त् पि॒तृभ्यो॑ मा॒स्युप॑मास्यं ददति॒ प्र पि॑तृ॒याणं॒ पन्थां॑ जानाति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ४ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् उठी । (सा पितॄन् आ अगच्छत्) वह 'पितृ' लोगों के पास आई । (तां पितरः अघ्नत) उसके साथ पितृ लोग रहे । (सा मासि सम् अभवत्) वह मास भर उनके साथ रही ॥ ३ ॥ (तस्मात्) इसलिये (पितृभ्यः) पितृ लोगों

को (मासि) एक मास पर (उप-मास्यम्) मासिक वृति या वेतन (ददति) देते हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को (जानाति) जान लेता है वह (पितृयाणं पन्थाम्) पितृयाण मार्ग को (प्र जानाति) भली प्रकार जान लेता है।

प्रजा के शासक और घर के बूढ़े व्यवस्थापक लोग 'पितृ' शब्द से कहे जाते हैं। उनको प्रति मास वेतन और मासिक व्यय देना चाहिये। वही उनकी 'स्वधा' अर्थात् शरीर के धारणोपयोगी भेंट है। और यही उनका पितृत्व है कि वे पिता के समान आप शरीर-पोषक मात्र लेकर प्रजा को पिता के समान पालते हैं।

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अघ्नत सार्धमासे समभवत् ॥ ५ ॥

तस्माद् देवेभ्योऽर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ६ ॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी, (सा देवान् आ अगच्छत्) वह देव, विद्वानों के पास प्राप्त हुई। (तां देवाः अघ्नत) उसको देवगण प्राप्त हुए। (सा अर्धमासे सम् अभवत्) वह आधे मास भर उनके संग रही। (तस्मात्) इसलिये (देवेभ्यः अर्धमासे वषट् कुर्वन्ति) देवगण विद्वान् लोगों को आधे मास पर प्रति पक्ष, पर्व के दिन 'वषट्' सत्कार सहित पालन रूप से अन्न आदि दिया जाता है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है वह (देवयानं पन्थां प्र जानाति) देवयान मार्ग को भली प्रकार जान लेता है।

सोदक्रामत् सा मनुष्याँ३ नागच्छत् तां मनुष्या अघ्नत सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥

तस्मा॑न्मनु॒ष्ये॑भ्य उभय॒द्युरुप॑ हर॒न्त्युपा॑स्य गृ॒हे ह॑रन्ति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ८ ॥ (२७)

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह ऊपर उठी । (सा मनुष्यान् आ अगच्छत्) वह मनुष्यों के पास आई । (तां मनुष्याः अघ्नत) मनुष्य उसके संग रहे (सा सद्यः सम् अभवत्) वह एक ही दिन उन के संग रही । (तस्मात्) इसलिये (मनुष्येभ्यः उभयद्युः उपहरन्ति) मनुष्यों के लिए हर दूसरे दिन अन्न आदि देते हैं । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है (अस्य गृहे उपहरन्ति) इसके घर में लोग आवश्यक पदार्थ ले आते हैं अर्थात् अन्य साधारण मनुष्यों में दैनिक वेतन का नियम है ।

[४] विराट् गौ से माया, स्वधा, कृषि, सस्य, ब्रह्म और तपका दोहन ।

अथर्वाचार्य ऋषिः । विराड् देवता । १, ५ साम्न्यौ जगत्यौ; २, ६, १० साम्नां बृहत्यौ; ३, १४ साम्न्यावुष्णिहौ; ४, ८ आर्च्योवनुष्टुभौ; ७ आसुरी गायत्री; ९, १३ चतुष्पाद् उष्णिहौ; ११ प्राजापत्यानुष्टुप् ; १२, १६ आर्च्यौ त्रिष्टुभौ; १५ विराड् गायत्री । षोडशर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

सोद॑क्राम॒त् सासु॑राना॒ग॑च्छ॒त् ताम॑सु॑रा॒ उपा॑ह्वयन्त॒ माय॒ एहीति॑ ॥ १ ॥
तस्या॑ वि॒रोच॑नः प्राह्रा॑दिर्व॒त्स आसी॑दयस्पा॒त्रं पात्र॑म् ॥ २ ॥
तां द्विमू॑र्धा॒र्त्व्यो॑ऽधो॒क् तां मा॒याम॒वाधो॑क् ॥ ३ ॥
तां मा॒याम॑सु॑रा॒ उप॑ जीवन्त्युपजी॒वनी॑यो भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥४॥

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी । (सा असुरान्) वह असुरों के समीप (आ अगच्छत्) आई ॥१॥ (ताम्) उस को (असुराः) असुर लोगों ने (उपा अह्वयन्त) बुलाया—हे (माये) माये ! (एहि इति) आ ॥ २ ॥ (तस्याः) उसका (प्राह्रादिः) प्रह्राद से उत्पन्न (विरोचनः) विरोचन (वत्सः) वत्स (आसीत्) था ।

और (अयः-पात्रं) लोहे का पात्र (पात्रम्) पात्र था। (ताम्) उस माया को (द्विमूर्धा) दो शिरों वाले बुद्धिमान् (ऋत्व्यः) ऋतु से उत्पन्न ने (अधोक्) दुहा ॥ ३ ॥ (ताम्) उस माया रूप विराट् के आश्रय (असुराः उपजीवन्ति) असुर लोग अपना जीवन निर्वाह करते हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार के तत्त्व को जानता है वह (उपजीवनीयो भवति) औरों के आजीविका निर्वाह कराने में समर्थ होता है।

असितो धान्वो राजा इत्याह तस्यासुरा विशः। त इमे आसत। इति कुसीदिन उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति मायावेदः सो यम् इति। श० १३।४।३।११॥ असुर, शिल्पीगण प्राह्लादि अर्थात् प्रभूत शब्द करने वाली विरोचन, विशेष दीप्तियुक्त विद्युत्। 'अयः धातुमय, पदार्थ, द्विमूर्धा दो मूलों को धारण करने वाला, ऋत्व्यः—गतिक्रियाशास्त्र का विद्वान्, कला कौशलवित्, एनूजीनियर।

सोद॑क्राम॒त् सा पि॒तॄना॑गच्छ॒त् तां पि॒तर॒ उपा॑ह्वयन्त॒ स्वध॒ एही॒ति॑॥५॥
तस्या॑ य॒मो राजा॑ व॒त्स आसी॑द् रजतपा॒त्रं पात्र॑म् ॥ ६ ॥
ताम॑न्त॑को मार्त्य॒वोऽधो॒क् तां स्व॒धामे॒वाधो॑क् ॥ ७ ॥
तां स्व॒धां पि॒तर॒ उप॑ जीवन्त्युपजीवनी॒यो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑॥८॥

भा०—(सा) वह विराट् (उद् अक्रामत्) ऊपर उठी (सा पितॄन् आगच्छत्) वह 'पितृ' लोगों के पास आई। (तां पितर उपाह्वयन्त स्वधे एहि इति) 'पितृ' लोगों ने उसे 'स्वधे आओ' इस प्रकार आदरपूर्वक अपने समीप बुलाया। (तस्याः यमः राजा वत्सः आसीत्) उस का राष्ट्रनियामक राजा ही 'वत्स' था और (रजतपात्रं पात्रम्) रजत, चांदी और सोना के पदार्थ ही पात्र था ॥ ६ ॥ (ताम्) उस विराट् रूप गौ को (मार्त्यवः अन्तकः) मृत्यु के अधिष्ठाता अन्तक ने (अधोक्)

दुहा। (तां स्वधां एव अधोक्) उस से 'स्वधा' को ही प्राप्त किया। (तां स्वधां पितर उप जीवन्ति) उस स्वधा पर पितृगण अपनी आजीविका करते हैं। (यः एवं वेद उपजीवनीयो भवति) जो इस प्रकार जानता है वह प्रजाओं की जीविका का आधार हो जाता है।

'यमः—राजा' = राष्ट्रनियामक राजा। पितरः = पालक, राष्ट्र के रक्षक वृद्धजन। 'स्वधा' अपने शरीर पोषणयोग्य वेतन या कर। रजत-पात्र = सोने आदि के सिक्के। 'मार्त्यवः अन्तकः' अर्थात् मृत्युदण्डकारी अन्तिम शासक राजा। यमो वैवस्वतो राजेत्याह । तस्य पितरो विशः । त इम आसते। इति स्थविराः उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति यजूंषि वेद इति'। श० १३ । ४ । ३ । ६ ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्या३न् नागच्छत् तां मनुष्या३ उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥ ९ ॥

तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् ॥ १० ॥

तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ॥ ११ ॥

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या३ उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी (सा मनुष्यान् आगच्छत्) वह मनुष्यों के पास आई। (तां मनुष्याः उपाह्वयन्त इरावति एहि इति) उसको मनुष्यों ने, हे इरावति ! आओ, इस प्रकार आदर पूर्वक बुलाया। (तस्याः) उस विराट् का (मनुः वैवस्वतः वत्सः आसीत्) वैवस्वत मनु वत्स था और (पृथिवी पात्रम्) पृथिवी पात्र था। (ताम्) उस विराट् रूप गौ को (पृथी वैन्यः अधोक्) पृथी वैन्य ने दोहन किया। (तां कृषिं च सस्यं च अधोक्) उससे कृषि और धान्य प्राप्त किये। (ते मनुष्याः कृषिं च सस्यं च उपजीवन्ति) वे मनुष्य

कृषि और सस्य पर ही प्राण धारण करते हैं। (यः एवं वेद) जो इस रहस्य को जानता है वह (कृष्ट-राधिः) कृषि द्वारा ही बहुत धन धान्यसम्पन्न और (उपजीवनीयः भवति) मनुष्यों को जीविका देने में समर्थ होता है।

विराट्=इरावती पृथिवी। वैवस्वतो मनुः। विविध प्रकार से प्रजाओं को बसाने हारा मनीषी पुरुष । (वैन्यः पृथी) नाना काम्य पदार्थों का स्वामी, महान् राजा।

सोदक्रामत् सा सप्तऋषीनागच्छत् तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥

तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् ॥ १४ ॥

तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक् तां ब्रह्म च तपश्चाधोक् ॥ १५ ॥

तद् ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥ (२८)

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी। (सा सप्तऋषीन् आगच्छत्) वह सात ऋषियों के पास आई। (तां सप्तऋषयः उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वति एहि इति) उन सात ऋषियों ने हे ब्रह्मण्वति ! आओ इस प्रकार आदरपूर्वक बुलाया। (तस्याः सोमः राजा वत्सः आसीत्) उसका सोम राजा वत्स था। (छन्दः पात्रम्) छन्दस् पात्र था। (तां बृहस्पतिः आंगिरसः अधोक्) उसको आंगिरस बृहस्पति ने दोहन किया । (तां ब्रह्म च तपः च अधोक्) उसने ब्रह्मज्ञान, वेद और तपश्चर्या का दोहन किया। (तत्) उस (ब्रह्म च तपः च) ब्रह्मज्ञान और तप के आधार पर (सप्त ऋषयः उपजीवन्ति) सात ऋषिगण प्राण धारण करते हैं। (यः एवं वेद) जो इस रहस्य को जानता है वह (ब्रह्मवर्चसी उपजीवनीयः भवति) ब्रह्मवर्चस्वी और अन्यों को जीविका देने में समर्थ होता है।

विराट् = ब्रह्मण्वती अर्थात् ब्रह्मज्ञानमयी होकर ऋषियों को प्राप्त हुई उस का सोम राजा ज्ञानपिपासु वत्स के समान है। वेदवक्ता ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति उसका दोहन करता है। ब्रह्मज्ञान, वेद और तप उसका दोहन का सार है। ऋषि उसी पर जीते हैं, दोहन का पात्र 'छन्द' वेद है।



[५] विराड् रूप गौ से ऊर्जा, पुण्य गन्ध, तिरोधा और विष का दोहन।

अथर्वाचार्य ऋषिः। विराट् देवता। १, १३ चतुष्पादौ साम्नां जगत्यौ; २, ३ साम्न्याबुष्णिहौ; ४, १६ आर्च्यावनुष्टुभौ; ५ चतुष्पदा प्राजापत्या जगती; ६ साम्नां बृहती त्रिष्टुप्; ७, ११ विराडगायत्र्यौ; ८ आर्ची त्रिष्टुप्; ९ उष्णिक्; १०, १४ साम्नां बृहत्यौ, १२ त्रिपदा; ब्राह्मी भुरिग्गायत्री; १५ साम्न्यनुष्टुप्। षोडशर्चं पर्याय सूक्तम् ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥१॥
तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥ २ ॥
तां देवः सविताधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥
तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी, (सा देवान् आगच्छत्) वह देवों के पास आगई, (तां देवाः) उसको देवों ने (ऊर्जे एहि इति उप अह्वयन्त) ऊर्जे ! आओ इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः इन्द्रः वत्सः आसीत्) उसका इन्द्र = विद्युत् वत्स था। और (चमसः पात्रम्) चमस पात्र था। (तां देवः सविता अधोक्) उसको देव सविता ने दुहा। (ताम् ऊर्जाम् एव अधोक्) उससे ऊर्ज तेजोमय वीर्य ही प्राप्त किया। (ताम् ऊर्जाम् देवाः उपजीवन्ति) उस 'ऊर्ज' तेजोमय वीर्य पदार्थ पर देवगण जीवन धारण करते हैं। (यः एवं वेद)

जो इस प्रकार का रहस्य जानता है वह (उपजीवनीयः भवति) देवों को भी जीवन देने में समर्थ होता है। देव प्राण हैं, इन्द्र आत्मा है, शिरोभाग चमसपात्र है। सविता मुख्य प्राण ने विराट् अन्न में से ऊर्ज, बल का दोहन किया। देव अर्थात् प्राण उसी ऊर्ज अर्थात् वीर्य से अनुप्राणित हैं। महाब्रह्माण्ड में दिव्य पदार्थ अग्नि आदि देव हैं, इन्द्र अर्थात् विद्युत् वत्स है। आकाश चमस पात्र है। उस ब्रह्ममयी विराट् शक्ति से सूर्य ने तेज प्राप्त किया उससे ही समस्त पदार्थ अनुप्राणित हैं।

सोद॑क्रामत् सा ग॑न्धर्वा॒प्स॒रस॒ आग॑च्छत् तां ग॑न्धर्वा॒प्स॒रस॒ उपा॑ह्वयन्त॒ पुण्य॑गन्ध॒ एहीति॑ ॥ ५ ॥

तस्या॑श्चि॒त्रर॑थः सौर्यवर्च॒सो व॒त्स आसी॑त् पुष्करप॒र्णं पात्र॑म् ॥६

तां व॒सु॑रुचिः सौर्यवर्च॒सोऽधो॒क् तां पुण्य॑मे॒व ग॒न्धम॑धोक् ॥७॥

तं पुण्यं॑ ग॒न्धं ग॒न्धर्वा॒प्स॒रस॒ उप॑ जीवन्ति॒ पुण्य॑गन्धिरुपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद ॥ ८ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी (सा गन्धर्वाप्सरसः) वह गन्धर्व अप्सराओं के पास (आगच्छत्) आई। (ताम्) उसको (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व और अप्सरा गण ने (पुण्यगन्धे एहि इति उपाह्वयन्त) 'हे पुण्यगन्धे! आओ' इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः) उसका (सौर्यवर्चसः) सूर्य के समान कान्तिमान् (चित्ररथः) चित्ररथ (वत्सः आसीत्) वत्स था। (पुष्करपर्णम्) 'पुष्कर पर्ण' (पात्रम्) पात्र था। (ताम्) उसको (सौर्यवर्चसः वसुरुचिः) सूर्य के तेज से तेजस्वी वसुरुचि ने (अधोक्) दोहन किया (ताम् पुण्यमेव गन्धम् अधोक्) उससे पुण्य गन्ध को ही प्राप्त किया। (तं पुण्यं गन्धम्) उस पुण्य गन्ध से

(गन्धर्वाप्सरसः उपजीवन्ति) गन्धर्व और अप्सरा गण जीवन धारण कर रहे हैं। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार रहस्य को जानता है वह (पुण्यगन्धिः उपजीवनीयो भवति) स्वयं पुण्य गन्धवाला और उनको जीवन देने में समर्थ हो जाता है।

वरुण आदित्यो राजा इत्याह । तस्य गन्धर्वा विशः, त इम आसते। इति युवानः शोभनाः उपसमेता भवन्ति । तान् उपदिशति आथर्वणो वेदः । श० १३।४।२।७।। "सोमो वैष्णवो राजेत्याह । तस्याप्सरसो विशः। त इम आसते । इति युवतयः शोभनाः उपसमेता भवन्ति । ता उपदिशति आंगिरसो वेदः । श० १३।४।३।८॥ अर्थात् देश के युवक पुरुष ही 'गन्धर्व' हैं और नवयुवतियां 'अप्सरा' कहाती हैं। सूर्यवर्चस तेजस्वी चित्ररथ यह शरीर है। प्राणों को तृप्त करनेहारे आत्मा ने उस पुण्य गन्धर्व को दोहन किया। वह युवा युवतियों में ही विद्यमान होता है जिससे दाम्पत्य-आकर्षण होता है।

सोदक्रामत् सेतरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति ॥ ९ ॥

तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम् ॥ १० ॥

तां रजतनाभिः कौबेरकोऽधोक् तां तिरोधामेवाधोक् ॥ ११ ॥

तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

भा०—(सा उत् अक्रामत्) वह विराट् ऊपर उठी। (सा इतरजनान्) वह 'इतर जनों' के पास आई। (ताम् इतरजनाः तिरोधे एहि इति उपाह्वयन्त) उसको इतरजनों ने 'हे तिरोधे आओ' इस प्रकार सादर बुलाया। (तस्याः कुबेरः वैश्रवणः वत्सः आसीत्) उसका कुबेर वैश्रवण वत्स था। (आमपात्रं पात्रम्) आमपात्र पात्र

था। (तां रजतनाभिः कौबेरकः अधोक्) उसको 'कौबेरक रजतनाभि' ने दुहा (तां तिरोधाम् एव अधोक्) उससे 'तिरोधा' = छिपाने की कला को ही प्राप्त किया। (तां तिरोधां इतरजनाः उपजीवन्ति) उस 'तिरोधा' से इतरजन जीवन धारण करते हैं। (यः एवं वेद तिरोधत्ते सर्वम् पाप्मानम्) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है वह सब पापों को दूर कर देता है। (उपजीवनीयो भवति) और जनों को जीवन धारण कराने में समर्थ होता है।

"कुबेरो वैश्रवणो राजा इत्याह। तस्य रक्षांसि विशः। तानि इमान्यासते। इति सेलगाः पापकृतः उपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति देवजनविद्या वेदः।" श० १३।४।३।१०॥ आर्यजनों से जो इतर अनार्य अर्थात् पापरूप लोग हैं वे इतरजन हैं। जो चोरी डकैती आदि का जीवन बिताते हैं। वे स्वर्णरजत से ही बंधे रहते हैं। उस पर ही उनका मन रहता है। वे हरेक वस्तु को छिपा लेने की विद्या में निपुण होते हैं। उनका राजा 'कुबेर' है जो पृथ्वी में गड़े ख़जानों का मालिक समझा जाता है। जो इस रहस्य विद्या को जानता है वह सब पाप कार्यों को छिपा देता है। और लोग उसके बल पर भी वृत्ति करते हैं।

सोदक्रामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति॥१३॥
तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम् ॥१४॥
तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् तां विषमेवाधोक् ॥ १५ ॥
तद् विषं सर्पा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥१६॥(२९)

भा०—(सा उद् अक्रामत्) वह ऊपर उठी। (सा सर्पान् आ अगच्छत्) वह सर्पों के पास आई। (तां सर्पाः विषवति एहि इति उपाह्वयन्त) सर्पों ने उसे 'हे विषवति आओ' इस प्रकार सादर बुलाया।

(तस्याः) उसका (तक्षकः वैशालेयः वत्सः आसीत्) 'वैशालेय तक्षक' वत्स था। (अलाबुपात्रम् पात्रम्) अलाबुपात्र था। (तां धृतराष्ट्रः ऐरावतः अधोक्) उसको धृतराष्ट्र ऐरावत दोहन किया। (ताम् विषम् एव अधोक्) उससे विष ही प्राप्त कि (तत् विषम् सर्पाः उपजीवन्ति) उस विष के आधार पर सर्प प्र धारण करते हैं। (यः एवं वेद उपजीवनीयो भवति) जो इस रहस्य जानता है वह भी दूसरों को जीवन देने में समर्थ—योग्य होता है

"काद्रवेयो राजा इत्याह। तस्य सर्पाः विशः। त इम आसते इति सर्पाश्च सर्पविदश्चोपसमेता भवन्ति। तान् उपदिशति सर्पविद्या वेदः। श० १३।४।३।९॥ उसी विराट् का एक रूप विष है जिसको महानाग प्राप्त करते हैं जो कटुतुम्बी आदि वनस्पतियों या सर्पों विष की थैलियों में प्राप्त होता है। चमकीले शरीर वाले सांप उस विष को प्राप्त करते हैं, सर्प उस पर जीते हैं।

---

[६] विषनिवारण की साधना।

अथर्वाचार्य ऋषिः। विराड् देवता। १ विराड् गायत्री। २ साम्नी त्रिष्टुप्। ३ प्राजापत्या अनुष्टुप्। ४ आर्ची अनुष्टुप् द्विपदा। चतुर्ऋचं पर्यायसूक्तम्।

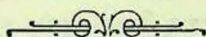
तद् यस्मा॑ एवं वि॒दुषे॑ऽलाबु॑नाभिषि॒ञ्चेत् प्र॒त्याह॑न्यात् ॥ १ ॥
न च॑ प्रत्याह॒न्यान्मन॑सा त्वा प्र॒त्याह॒न्मीति॑ प्र॒त्याह॑न्यात् ॥ २ ॥
यत् प्र॑त्या॒हन्ति॑ वि॒षमे॒व तत् प्र॒त्याह॑न्ति ॥ ३ ॥
वि॒षमे॒वास्याप्रि॑यं॒ भ्रातृ॑व्यमनु॒विषि॑च्यते॒ य ए॒वं वेद॑ ॥४॥ (३०)

भा०—(तत्) इसलिये (एवं विदुषे) इस प्रकार के पूर्व सूक्त में कहे विष-दोहन विद्या के रहस्य को जानने वाले (यस्मै) जिस विद्वान् के प्रति सर्प आदि जन्तु (अलाबुना) अपनी विष की थैली

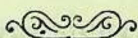
विष (अभिषिञ्चेत्) फेंके तो वह विद्वान् (प्रत्याहन्यात्) का प्रतिकार करने में समर्थ होता है और यदि (न च प्रत्याहन्यात्) उसको मारना न चाहे तो (मनसा) मानस बल, संकल्प बल से (त्वा प्रति आहन्मि) तेरा मैं प्रतिघात करता हूं (इति) ऐसी भावना से ही वह (प्रति आहन्यात्) उसके हानिकारक प्रभाव निराकरण करे । (यत्) जब (प्रति आहन्ति) वह प्रतिघात है (तत्) तब वह (विषम् एव प्रति आहन्ति) विष का ही घात किया करता है, विष के घातक प्रभाव को ही नष्ट किया करता (य एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है (विषम् अस्य अप्रियम् भ्रातृव्यम् अनु विषिच्यते) विष ही उसके अप्रिय पर जा पड़ता है।

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

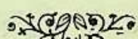
[तत्र सूक्ते द्वे, ऋचश्च त्रिणवतिस्तथा च षड्विंशर्चमेकमर्थसूक्तम्, षडाभिः पर्यायैर्युक्तं सप्तषष्ट्यर्वं सूक्तम्]



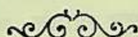
इत्यष्टमं काण्डं समाप्तम्



[अष्टमे सूक्तदशकं सप्तोनत्रिशतं ऋचः]

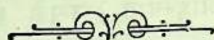


...तिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमज्जयदेवशर्मणा विरचिते अथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्येऽष्टमं काण्डं समाप्तम् ॥

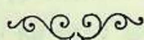


* ओ३म् *

अथर्ववेदसंहिता



अथ नवमं काण्डम् ।



[१] मधुकशा ब्रह्मशक्ति का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः। मधुकशा, अश्विनौ च देवताः । मधुसूक्तम् । १, ४, ५ त्रिष्टुभः, २ त्रिष्टुब्गर्भापंक्तिः; ३ परानुऽष्टुप्; ६ यवमध्या अतिशाक्वरगर्भा महाबृहती; ७ यवमध्या अतिजागतगर्भा महाबृहती; ८ बृहतीगर्भा संस्तारपंक्तिः; ९ पराबृहती प्रस्तारपांक्तिः; १० परा उष्णिक् पंक्तिः; ११–१३, १५, १६, १८, १९ अनुष्टुभः; १४ पुर उष्णिक्; १७ उपरिष्टाद् विराड् बृहती; २० भुरिग् विष्टारपंक्तिः; २१ एकावसाना द्विपदा आर्ची अनुष्टुप्; २२ त्रिपदा ब्राह्मी पुर उष्णिक्; २३ द्विपदा आर्ची पंक्तिः; २४ त्र्यवसाना षट्पदा अष्टिः । षड्विंशर्चम् सूक्तम् ॥

दि॒वस्पृ॑थि॒व्या अ॒न्तरि॑क्षात् समु॒द्राद॒ग्नेर्वाता॑न्मधु॒क॒शा हि ज॒ज्ञे ।
तां चा॑यि॒त्वामृ॒तं॒ वसा॑नां हृ॒द्भिः प्र॒जाः प्रति॑ नन्दन्ति॒ सर्वाः॑ ॥१॥

भा०—(दिवः) द्यौः, आकाश से (पृथिव्याः) पृथिवी से (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (समुद्रात्) समुद्र से (अग्नेः) अग्नि से और (वातात्) वात से (हि) भी निश्चयपूर्वक (मधुकशा) अमृतमय, परम रसमयी सर्वोपरि शासक, व्यापक ब्रह्मशक्ति (जज्ञे) प्रकट होती है (अमृतं वसानाम्) अमृत जीवन शक्ति, परम आनन्द

धारण करने वाली (ताम्) उस परम शक्ति की (चायित्वा) उपासना करके (सर्वाः प्रजाः) समस्त प्रजाएँ, समस्त जीव (हृद्भिः) हृदयों में (प्रतिनन्दन्ति) आनन्द अनुभव करते हैं ।

महत् पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः ।

यत ऐति मधुकशा रराणा तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥२॥

भा०—(अस्याः) इस मधुकशा का (पयः) आनन्दमय रस (महत्) बड़ा भारी, अनन्त, असीम और (विश्वरूपम्) समस्त रूपों में प्रादुर्भूत है । हे मधुकशे ! (त्वा) तुझे (समुद्रस्य) समुद्र अर्थात् सब आनन्द रसों के प्रदान करने हारे परम रससागर ब्रह्म का (रेतः) परम रेतस, वीर्य या परम तेज (आहुः) कहा करते हैं । (यतः) जहां से या जिससे (मधुकशा) वह मधुमयी, शासक प्रभु-शक्ति (रराणा) सब सुखों को प्रदान करने और सबको रमाने, एवं स्वयं सर्वत्र रमनेवाली, परम रमणीय शक्ति (एति) आती है, प्रकट होती है (तत्) वह (प्राणः) प्राण, सर्वोत्कृष्ट चेतन है । (तत्) वही (निविष्टम्) गूढ़ (अमृतम्) अमृत ब्रह्म है । अथवा (तत् अमृतम्) उसी में अमृत और (तत् प्राणः) उसी में प्राण (प्रविष्टम्) आश्रित है । इस का प्रकरण देखो प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ११७८॥ तथा श्वेताश्वतर उप० ११९॥

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ्नरो बहुधा मीमांसमानाः ।

अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ ३ ॥

भा०—(अस्याः) इस मधुकशा के (चरितम्) कर्म को (बहुधा) बहुत प्रकार से (पृथक्) भिन्न २ दृष्टियों से (मीमांसमानाः) विवेचना करते हुए (नरः) मनुष्य, विद्वान् जन (पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (पश्यन्ति) साक्षात् करते हैं । (अग्नेः) अग्नि से और

(वातात्) वायु से (मधुकशा हि) जो मधुकशा (जज्ञे) प्रादुर्भूत हुई वही (मरुताम्) मरुतों, प्राणों की (उग्रा) बड़ी प्रबल, भीषण (नप्तिः) बन्धन ग्रन्थि है ।

मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः ।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान् भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥ ४ ॥
ऋ० ८ । १०१ । १५ ॥

भा०—(आदित्यानाम्) आदित्यों, सूर्यों की (माता) रचना करनेहारी, (वसूनाम्) वसुओं या वास करनेहारे जीवों की (दुहिता) समस्त कामनापूर्ण करनेहारी, (प्रजानाम् प्राणः) प्रजाओं, शरीरधारियों का प्राण, जीवनशक्ति (अमृतस्य नाभिः) अमृत, मोक्ष पद का नाभि, आश्रयस्थान, (हिरण्यवर्णा) समस्त हिरण्य = सूर्यादि प्रकाशमान पिण्डों को आवरण करने, घेरने, उनमें व्यापक रहनेवाली (घृताची) तेजः सम्पन्न (मधुकशा) मधुकशा है । वही (मर्त्येषु) मरणधर्मा जीवों में स्वयं (महान्) बड़ा भारी (भर्गः) चैतन्यमय तेजरूप होकर (चरति) व्याप्त है ।

मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो अभवद् विश्वरूपः ।
तं जातं तरुणं पिपर्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे ॥ ५ ॥

भा०—(देवाः) दिव्य पदार्थ अग्नि, जल, वायु, आकाश, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि देव शब्द से कहे गये पदार्थ ही (मधोः) सर्वप्रेरक ज्ञानमय की (कशाम्) शासन, प्रभुशक्ति को (अजनयन्त) प्रकट करते हैं । (तस्याः) उस शक्ति का (गर्भः) गर्भ अर्थात् उत्पादक कारण (विश्वरूपः) यह हिरण्यगर्भ हुआ । (माता) माता

४-(प्र०) 'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः' ऋग्वेदे गोर्देवताका ऋक् ।

जिस प्रकार (जातम्) उत्पन्न बालक का पालन करती है उसी प्रकार यह मधुकशा अर्थात् परमप्रभु की शक्ति भी (माता) सर्व जगत् का निर्माण करने हारी होकर (तम्) उस (जातम्) प्रकट हुए (तरुणम्) युवा आदि व्यक्तियों से सम्पन्न संसार को (पिपर्ति) पालन करती है। (सः जातः) वह संसार उत्पन्न होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (वि चष्टे) प्रकाशित करता है अर्थात् संसार के साथ भूलोक आदि नाना लोक प्रकट होते हैं।

कस्तं प्र वे॑द॒ क उ॒ तं चि॑केत॒ यो अ॒स्या हृ॒दः क॒लशः॒ सोम॒धानो॒ अक्षि॑तः। ब्र॒ह्मा सु॒मे॒धाः सो अ॒स्मिन् म॑देत ॥ ६ ॥

भा०—(तं कः प्रवेद) उस संसार को कौन भली प्रकार जान सकता है ? (क उ तं चिकेत) और कौन उसकी विवेचना कर सकता है ? (यः) जो (अस्याः) इस मधुकशा के (हृदः) हृदय में (सोम-धानः) सोम से भरा हुआ, सोम अर्थात् संसार का प्रेरक, समस्त जीवनशक्ति से पूर्ण (अक्षितः) अक्षय, अविनाशी, अमित (कलशः) सोम रस से भरे कलशे के समान ज्ञान और शक्ति का भण्डार विद्यमान है (अस्मिन्) इस अक्षय भण्डार में जो (सु-मेधाः) उत्तम मेधा बुद्धि से सम्पन्न (ब्रह्मा) ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी है (सः) वही (मदेत) इस संसार में आनन्द प्राप्त कर सकता है।

स तौ प्र वे॑द॒ स उ॒ तौ चि॑केत॒ याव॑स्याः॒ स्तनौ॑ स॒हस्र॑धारा॒वक्षि॑तौ। ऊर्जं॑ दुहा॒ते॒ अन॑पस्फुरन्तौ ॥ ७ ॥

भा०—(यौ) जो (अस्याः) इस मधुकशा के (सहस्रधारौ) सहस्रधारा वाले, सहस्रों जीवों के धारण, पालन, पोषण में समर्थ, (अक्षितौ) अक्षय (स्तनौ) दो स्तन हैं (तौ) उन दोनों को (सः) वह ब्रह्मवेत्ता (प्र वेद) भली प्रकार से जानता है और (सः

उ) वह ही (तौ) उन दोनों को (चिकेत) विवेक से निश्चयपूर्वक प्राप्त करता है। वे दोनों (अनपस्फुरन्तौ) निष्प्रकम्प, निश्चल भाव से विद्यमान, अविनाशी होकर (ऊर्जम्) अन्न और बलकारक रस या शक्ति को (दुहाते) प्रदान करते हैं। प्रकृति और विकृति ये ही दो स्तन हैं।

हिङ्करिक्रती बृहती वयोधा उच्चैर्घोषाभ्येति या व्रतम् ।
त्रीन् घर्मानभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ८ ॥

भा०—(या) जो मधुकशा, ब्रह्मशक्ति (बृहती) विशाल बृहत् शक्ति (वयोधाः) समस्त प्राणों, अन्नों और लोकों को धारण करनेहारी या सबको अन्न देनेहारी (उच्चैर्घोषा) उच्च घोष करती हुई (हिङ्करिक्रती) संसार की नाना घटनाओं को उत्पन्न करती हुई (व्रतम्) व्रत, ज्ञान और कर्मनिष्ठ अभ्यासी को (अभि एति) साक्षात् होती है। वह (त्रीन्) तीनों (घर्मान्) घर्मों, ज्योतियों को (अभि वावशाना) निरन्तर वश करनेहारी होकर (मायुम्) ज्ञानी के प्रति (मिमाति) अपना घोष करती और (पयोभिः) पुष्टिकारी रसों एवं ज्ञान-धाराओं से (पयते) उसे तृप्त करती है।

यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः ।
ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः ॥ ९ ॥

भा०—(आपः) जल जिस प्रकार महानदी में जाकर मिल जाते हैं उसी प्रकार (शाक्वराः) शक्तिशाली (स्वराजः) स्वयं आत्मज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमान (ये वृषभाः) जो नाना ज्ञानधाराओं का वर्षण करते हैं वे (आपः) परमपद को प्राप्त हुए आप्त पुरुष (याम्) जिस (आपीनाम्) सर्वतोमुख रसपान करानेहारी महाशक्ति की (उपसीदन्ति) उपासना करते हैं। वे (आपः) आप्त जन, पारदृश्वा

ऋषिगण (वर्षयन्ति) स्वयं ज्ञान जल की वर्षा करते और (ते आपः) वे आप्त लोग (तद्विदे) उस परमपद को लाभ करनेवाले के लिए (कामम्) यथेच्छ, यथा संकल्पित (ऊर्जम्) बल और परम ब्रह्मरस को (वर्षयन्ति) बरसाते हैं, प्राप्त कराते हैं, प्राप्त करने में सहायक होते हैं।

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ १० ॥ (१)

भा०—हे (प्रजापते) प्रजापते परमात्मन् ! (ते वाक्) तेरी वाणी (स्तनयित्नुः) मेघ की गर्जना के समान गम्भीर, पिपासितों के हृदय में शान्तिप्रद और प्रजाजन को आश्वासन देनेवाली है। हे परमात्मन् ! तू ही (वृषा) वर्षणशील मेघ के समान समस्त सुखों को वर्षानेहारा, (भूम्याम् अधि) भूमि पर (शुष्मम्) अपने महान् बल को जल और विद्युत् के रूप में (क्षिपसि) नीचे फेंकता है। और वह (मधुकशा) मधुर रससे भरी मधु-लता जिस प्रकार (अग्नेः वातात्) अग्नि = विद्युत् और वात = वायु से मेघ जल प्राप्त करके उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस हृदयभूमि में हे प्रभो ! आप अपना ज्ञान-बल और प्रेरणाबल फेंकते हो और (अग्नेः वातात्) तेरा ज्ञानमय स्वरूप और प्राणमय बल के ध्यान और प्राणायाम के अभ्यास से वह (मधुकशा) ब्रह्मरस से भरी आनन्द-मधुवल्ली (जज्ञे) प्रादुर्भूत होती है। वह ही (मरुताम्) प्राणों की (उग्रा) अति बलशालिनी (नप्तिः) बांधनेवाली आश्रय है। वही परम चेतना है।

यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ ११ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (प्रातः सवने) प्रातः सवन अर्थात् वसु-ब्रह्मचर्य के काल में (सोमः) वीर्यशक्ति (अश्विनोः) ब्रह्मचारी

के माता पिता को (प्रियः) प्रिय होती है कि मेरे पुत्र में वीर्यशक्ति विद्यमान हो (एवा) उसी प्रकार हे (अश्विनौ) मेरे शरीर में व्यापक हे प्राण और अपान ! (मे आत्मनि) मेरे देह और आत्मा में (वर्चः) ब्रह्मतेज (ध्रियताम्) प्रिय लगे और अत एव स्थिर रहे। अथवा (सोमः) बालक जिस प्रकार (प्रातःसवने) प्रभात के समान बाल्यकाल में (अश्विनोः) मा बाप को (प्रियः भवति) प्यारा लगता है उसी प्रकार हे (अश्विनौ) मा बाप के समान गुरो ! और परमात्मन् ! (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में तेज, प्रकाश प्रिय लगे और अत एव स्थिर रहे।

यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः ।
एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १२ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (द्वितीये सवने) द्वितीय सवन अर्थात् रुद्र-ब्रह्मचर्य के काल में (सोमः) वीर्यशक्ति (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र अर्थात् आत्मशक्ति सम्पन्न और अग्नि अर्थात् ज्ञानशक्ति सम्पन्न व्यक्तियों के देवों को (प्रियः भवति) प्रिय होती है (एवा) उसी प्रकार हे (इन्द्राग्नी) आत्मिक और ज्ञानशक्ति सम्पन्न व्यक्तियो ! (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में तेज प्रिय लगे और स्थिर रहे। अथवा (यथा द्वितीये सवने इन्द्राग्न्योः सोमः प्रियो भवति) जिस प्रकार द्वितीय अवस्था में सोम अर्थात् विद्वान् शिष्य इन्द्र = आचार्य और अग्नि = परम ज्ञानोपदेष्टा ब्रह्मगुरु को प्रिय लगता है उसी प्रकार हे इन्द्र और अग्ने ! आपकी कृपा से मेरे आत्मा में तेज और ब्रह्मवर्चस् प्रिय लगे और सदा स्थिर रहे ।

यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः ।
एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (तृतीये सवने) तीसरे सवन अर्थात् आदित्य ब्रह्मचर्य काल में (सोमः) वीर्यशक्ति (ऋभूणां प्रियः भवति) ऋभुदेवों अर्थात् बहुत प्रकाशमान विद्वानों को प्रिय होती है अथवा जिस प्रकार सोम, शान्त विद्वान् शिष्य सत्य से प्रकाशित तेजस्वी पुरुषों को प्रिय लगता है (एव) उसी प्रकार हे (ऋभवः) ऋभु सत्य या ब्रह्मज्ञान से प्रकाशमान योगी विद्वान् पुरुषो ! आप लोगों की कृपा से (मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) मेरे आत्मा में ब्रह्म-तेज प्रिय लगे और सदा विराजमान हो ।

मधु जनिषीय मधु वंशिषीय ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥१४॥

भा०—हे परमात्मन् ! मैं (मधु जनिषीय) मधु, मधुर वचन, मधुर ज्ञान और मधुर कर्मफल को उत्पन्न करूं और (मधु) मधु के समान मधुर ज्ञानमय ब्रह्मरस की ही याचना, प्रार्थना करूं। हे (अग्ने) ज्ञानमय प्रभो ! अथवा आचार्य ! मैं तेरे पास (पयस्वान्) दुग्धाहार का व्रत करके शिष्य के समान (आगमम्) आया हूँ । (तं माम्) इस आप के शिष्य बनने की इच्छा वाले मुझ को (वर्चसा सं सृज) ब्रह्मवर्चस् से युक्त कर। ब्रह्मचर्य का पालन करा। अथवा आचार्य से शिष्य कहता है (मधु जनिषीय) मैं मधु, ब्रह्मविद्या का लाभ करूं। (मधु वंशिषीय) भौंरे के समान विद्वानों के पास जा जा कर मधुर ज्ञानरस का संग्रह करूं। अथवा भिक्षा से प्राप्त अन्न को ग्रहण करूं अर्थात् मधुकरी वृत्ति से जीवन निर्वाह करूं और दुग्धाहार व्रत करके तेरे पास ब्रह्मचर्य की दीक्षा लूं, तू मुझे ब्रह्मवर्चस्वी बना ।

'पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य अमिक्षाव्रतो वैश्यः ।

सं मा॑ग्ने॒ वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा ।
वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ विद्यात् स॒ह ऋषि॑भिः ॥ १५ ॥

अथर्व० ७।८१।२ ॥

भा०—व्याख्या देखो [अथर्व० । का० ७।८९।२] पृष्ठ ३८१ ।

यथा॒ मधु॑ मधु॒कृतः॑ सं॒भर॑न्ति॒ मधा॒वधि॑ ।
ए॒वा मे॑ अश्विना॒ वर्च॑ आ॒त्मनि॑ ध्रियताम् ॥ १६ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मधौ) मधु मास, वसन्त काल में (मधु-कृतः) मधुमक्षिकाएं, भौंरे (मधु) मधुरस को (अधि सं भरन्ति) संग्रह करते हैं, हे (अश्विनौ) आचार्य और परमात्मन्! (एव मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्) इसी प्रकार मेरे आत्मा में ब्रह्मतेज संगृहीत हो ।

यथा॒ मक्षा॑ इ॒दं मधु॑ न्य॒ञ्जन्ति॒ मधा॒वधि॑ ।
ए॒वा मे॑ अश्विना॒ वर्च॒स्तेजो॒ बल॒मोज॑श्च ध्रियताम् ॥ १७ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मक्षाः) मधुमक्खिएं (मधौ अधि) मधुमास या वसन्त काल में (इदम्) इस (मधु) मधुरस को (नि-अञ्जन्ति) संग्रह करती हैं, हे (अश्विनौ) आचार्य और परमात्मन्! (एव) उसी प्रकार (मे) मेरा (वर्चः ओजः बलम् ध्रियताम्) ब्रह्मवर्चस्, तेज, ओज और बल भी संगृहीत हो ।

यद् गि॒रिषु॒ पर्व॑तेषु॒ गोष्वश्वे॑षु॒ यन्मधु॑ ।
सुरा॑यां सि॒च्यमा॑नाया॒ं यत् तत्र॒ मधु॒ तन्मयि॑ ॥ १८ ॥

भा०—(यद्) जो मधुर रस, आनन्दप्रद, मधुर शीतल जल, मन्द सुगन्ध पवन, सुन्दर मनोहारी दृश्य एवं रोगहर जीवनप्रद ओषधियों का रस (गिरिषु) बड़े २ पर्वतों में, मेघों में और (पर्वतेषु)

चट्टानों में है और (यत् मधु) जो मधु, उत्तम मधुर रस दूध, घी आदि (गोषु) गौओं में और जो तीव्र वेग और विजयलक्ष्मी आदि (अश्वेषु) अश्वों में है और (सुरायाम्) शुद्ध जल के (सिच्यमानायाम्) खेत में सींचे जाने पर (तत्र) वहां (यत् मधु) जो मधु या मधुर आनन्द या जीवनी शक्ति से युक्त अन्न प्राप्त होता है (तत्) वह (मयि) मुझ में भी प्राप्त हो।

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ १९ ॥

अथर्व० का० ६। ६९। २॥

भा०—(शुभः पती) ज्ञान के स्वामी, परिपालक (अश्विनौ) माता पिता तथा गुरु और परमेश्वर दोनों, (मा) मुझे (सारघेण मधुना) सरघा अर्थात् मधुमक्षिका द्वारा संगृहीत मधु के समान मधुर अथवा सारभूत ज्ञान के निचोड़ परम तत्व से अर्थात् ब्रह्मज्ञान से (अंक्तम्) युक्त करें। (यथा) जिससे मैं (जनान् अनु) मनुष्यों के प्रति (वर्चस्वतीम्) ज्ञान और बल से युक्त ओजस्विनी (वाचम्) वाणी को (आ वदानि) बोला करूं। देखो व्याख्या [का० ६।६९।२]

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे ते नो सेषमूर्जं पिपर्ति ॥ २० ॥

भा०—हे (प्रजापते) समस्त जीवलोक के पालक! प्रजापते! (स्तनयित्नुः) मेघ के गर्जन के समान गम्भीर, प्राणियों में जीवन संचार करने वाली (ते) तेरी (वाक्) वाणी है। तू (वृषा) समस्त सुखों का वर्षक (दिवि) द्यौलोक और (भूम्याम्) भूमि में भी अपने (शुष्मम्) जल रूप वीर्य या बल को (क्षिपसि) फेंकता है।

१९-(तृ०) 'यथा भर्गस्वतीं' इति अथर्व० [का० ६। ६९। २॥]

(ताम्) उस वाणी के आधार पर (सर्वे) समस्त (पशवः) तत्त्वार्थ द्रष्टा देवगण उसी प्रकार जीते हैं जैसे मेघ की गर्जना सहित पृथ्वी पर बरसे जल के आधार पर भूमि पर के नाना पशु जीते हैं। (तेन) इस से (सा) वह मेघमयी वाणी (इषम्) जिस प्रकार अन्न और (ऊर्जम्) बलकारी अन्नरस को (पिपर्त्ति) पूर्ण करती है उसी प्रकार यह वेदवाणी (इषम्) मन की सत्कर्म में प्रेरणा और (ऊर्जम्) बलकारक तेज या सामर्थ्य को पूर्ण करती है ।

पृथि॒वी द॒ण्डो॒ऽन्तरि॑क्षं॒ गर्भो॒ द्यौः कशा॑ वि॒द्युत् प्र॑क॒शो हि॑र॒ण्ययो॑ बि॒न्दुः ॥ २१ ॥

भा०—प्रजापति का (दण्डः) दण्ड, दमन करने का बल (पृथिवी) पृथिवी है । सब प्राणी इसी पर अपने कर्म करते कर्मफल भोगते और व्यवस्थित रहते हैं। (अन्तरिक्षम् गर्भः) अन्तरिक्ष गर्भ है, इस के भीतर समस्त लोक लिपटे हुए हैं । (द्यौः कशा) द्यौः-सूर्य सब में प्रकाश करने और उनको अपने शासन में चलाने वाला पशुओं को हांकने वाले हण्टर के समान प्रेरक बल है। और (विद्युत्) बिजली की शक्ति भी (प्रकशः) एक उत्तम प्रकार की चाबुक या प्रेरक बल है। (हिरण्ययः बिन्दुः) तेज से बने हुए अर्थात् तैजस् सूर्य 'नैबुला' आदि पदार्थ उस प्रजापति के वीर्य के विन्दु के समान हैं जिनसे ब्रह्माण्ड में लक्षों सृष्टियां उत्पन्न हो रही हैं ।

यो वै कशा॑याः स॒प्त मधू॑नि॒ वेद॒ मधु॑मान् भवति ।
ब्रा॒ह्म॒णश्च॒ राजा॑ च धे॒नुश्चा॑न॒ड्वाँश्च॑ व्री॒हिश्च॒ यव॑श्च॒ मधु॑ सप्त॒मम् ॥२२

भा०—(यः वै) जो पुरुष (कशायाः) समस्त जगत् को अपने शासन में रखने वाली 'कशा' ब्रह्मशक्ति के (सप्त) सात (मधूनि)

मधु अर्थात् जीवों को अपनी ओर आकर्षित करनेहारे पदार्थों को (वेद) जान लेता है वह (मधुमान्) स्वयं मधुमान्, मधु के समान मधुर, मनोहर, चित्ताकर्षक हो जाता है। और शासनकारिणी 'कशा' के सात 'मधु' ये हैं। (१) (ब्राह्मणः च) ब्राह्मण, विद्वान् पुरुष, (२) (राजा च) राजा, (३) (धेनुः च) गौ, (४) (अनड्वान् च) बैल, (५) (व्रीहिः च) और धान्य, (६) (यवः च) और जौ ये छः और (७) (सप्तमम्) सातवां (मधु) मधु स्वयं है। ये सातों पदार्थ अपने समान गुण वाले समस्त पदार्थों के प्रतिनिधि हैं।

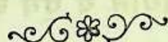
मधुमान् भवति मधुमदस्याहार्यं भवति।
मधुमतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ २३ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार के रहस्य को जान लेता है वह (मधुमान् भवति) मधुमान्, मधुमय, मधुर प्रकृति का हो जाता है। (अस्य) इस पुरुष का (आहार्यम्) भोजन भी (मधुमत्) मधुर पदार्थों से युक्त (भवति) होता है। वह (मधुमतः) मधु के समान आनन्दप्रद, सुखमय (लोकान्) लोकों पर (जयति) वश कर लेता है, उन में यथेच्छ निवास करता है।

यद् वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत् प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति।
तस्मात् प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेनु मा बुध्यस्वेति।
अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद ॥ २४ ॥ (२)

भा०—(यत्) जब (वीध्रे) आकाश या अन्तरिक्ष में (स्तनयति) मेघ गर्जता है (तत्) तब (प्रजापतिः) एक रूप में प्रजापालक परमेश्वर ही (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिए (प्रादुर्भवति) साक्षात् प्रकट होता है। प्रजापालक प्रभु की शक्ति का वही एक प्रकट

रूप है। (तस्मात्) इसलिये ये पुरुष उस समय (प्राचीनोपवीतः) जिस प्रकार गुरु के समक्ष शिष्य ज्ञानोपदेश ग्रहण करने के लिए दायें कन्धे पर यज्ञोपवीत पहन कर सावधान होकर गुरु से ज्ञानोपदेश प्राप्त करने की प्रार्थना करता है उसी प्रकार तू भी सावधान होकर दक्षिण स्कन्ध पर यज्ञोपवीत धारण करके खड़े होने वाले शिष्य के समान (तिष्ठ) खड़ा हो और (इति) इस प्रकार प्रार्थना कर—हे (प्रजा-पते) प्रजा के पालक प्रभो! (मा) मुझे (अनुबुध्यस्व) ध्यान में रक्खो, मुझ पर अनुग्रह करो (यः एवं वेद) जो इस रहस्य को जान लेता है (एनम्) इस पर (प्रजाः अनु) प्रजाएं सदा अनुग्रह करतीं और (प्रजापतिः अनु बुध्यते) प्रजापति उस पर कृपा बनाए रहता है।



[२] प्रजापति परमेश्वर और राजा और संकल्प का 'काम' पद द्वारा वर्णन।

अथर्वा ऋषिः ॥ कामो देवता ॥ १–४, ६, ९, १०, १६, २४, २५ त्रिष्टुभः। ५ अति जगती। ७,१४,१५,१७,१८,२१,२२ अतिजगत्यः। ८ आर्चीपंक्तिः। ११, २०, २३ भुरिजः त्रिष्टुभः। १२ अनुष्टुप्। १३ द्विपदा आर्च्यनुष्टुप्। १६ चतुष्पदा शक्वरीगर्भा पराजगती। पञ्चविंशर्चं सूक्तम् ॥

सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन।
नीचैः सपत्नान् मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्येण ॥१॥

भा०—मैं (सपत्न-हनम्) शत्रुओं के नाशक (ऋषभम्) सर्वश्रेष्ठ (कामम्) काम, संकल्पमय अथवा कमनीय, अति मनोहर प्रजापति राजा या ईश्वर की (आज्येन) आजि—युद्धयोग्य या प्रेमरस रूप (हविषा) सामग्री से (शिक्षामि) पुरस्कृत करता हूँ। तू (मम)

मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (नीचैः) ऊंचे पद से नीचे (पादय) करदे। हे काम ! (त्वम्) तू (महता) बड़े भारी (वीर्येण) बल से (अभि-स्तुतः) कीर्ति प्राप्त कर चुका है, अर्थात् बल के कारण तेरी सब कीर्ति गाते हैं।

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति।
तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम् ॥२

भा०—(यत्) जो पदार्थ (मे) मेरे (मनसः) मन को (न प्रियम्) प्रिय नहीं लगता और (यत् चक्षुषः न प्रियम्) जो चक्षु को भी प्रिय नहीं लगता और (यत्) जो (मे) मुझे (बभस्ति) खाता है, काटता है या मेरा तिरस्कार करता या मेरे प्रति कठोर शब्दों से बोलता, या क्रोध करता है और (न अभिनन्दति) मुझे देखकर प्रसन्न नहीं होता और (दुष्वप्न्यम्) कष्ट से सोने, बुरे स्वप्नों वा बेचैनी का कारण होता है (तत्) उस सब को (सपत्ने) मैं अपने शत्रु पक्ष में (प्रति मुञ्चामि) रहने दूं अर्थात् उससे स्वयं सदा पृथक् रहूँ। और (अहम्) मैं (कामम्) काम, कमनीय, प्रभु की (स्तुत्वा) स्तुति करके, अपने संकल्प को दृढ़ करके (उत् भिदेयम्) राग द्वेष आदि की गांठ को तोड़ दूं। अथवा (कामं स्तुत्वा उद्भिदेयम्) अपने संकल्पमय देव, आत्मा की स्तुति करके मैं ऊपर उठूं।

दुष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम्।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात् ॥३

भा०—हे (काम) काम ! प्रजापते ! देव ! (दुःष्वप्न्यम्) बुरे दुःखपूर्वक स्वप्न या शयन की दशा और (दुरितं च) दुष्ट भाव

२–भस भर्त्सनदीप्त्योः (जुहोत्यादिः)। भर्त्सनं परुषभाषणम्, दीप्तिः द्युतिः क्रोधाभिव्यंजनम्।

इनको और हे काम ! (अप्रजस्ताम्) प्रजाहीनता, (अस्वगताम्) सम्पत्तिरहितता या निर्धनता और (अवर्तिम्) बेरोजगारी या अरक्षा इन सबको हे ((उग्र) बलशालिन् ! (ईशानः) सबका ईश्वर स्वामी तू (तस्मिन्) उस त्याज्य पक्ष में (प्रति मुञ्च) रख (यः) जो कि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अंहूरणा) दुःख और विपत्तियां डालने की (चिकित्सात्) विचारा करता है ।

नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः ।
तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (काम) मेरे सत्संकल्प ! (अग्ने) हे मेरी ज्ञानाग्नि (मम) मेरे (ये) जो (सपत्नाः) अन्तः-शत्रु हैं उनको (नुदस्व) परे कर, (प्र णुदस्व) और परे हटा, हे (काम) सत्संकल्प ! वे अन्तः-शत्रु (अवर्तिम्) अपनी रोजगारी अर्थात् हमें पतित करने के काम से पृथक् (यन्तु) हों । (अधमा तमांसि) अधम अन्धकार अर्थात् तमो-गुण पक्ष में (नुत्तानाम्) ढकेले हुए उन अन्तः-शत्रुओं के (वास्तूनि) निवासों को हे (अग्ने) मेरी ज्ञानाग्नि ! (त्वम्) तू (निर्दह) जला डाल ।

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम् ।
तया सपत्नान् परि वृङ्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ ५ ॥

भा०—हे (काम) सत्संकल्प ! (सा) वह अर्थों का प्रकाश करने वाली वेदवाणी (ते) तेरे लिए (धेनुः) उत्तम रसों का पान कराने हारी (दुहिता) सब अभिलाषाओं को पूर्ण करने हारी (उच्यते) कहाती है (याम्) जिस वेदवाणी को (कवयः) क्रान्तदर्शी लोग (विराजम् वाचम्) 'विराड्' अर्थात् सदर्थों का प्रकाश करने

वाली 'वाक्' (आहुः) कहते हैं। (तया) उस 'विराड्-वाणी' द्वारा (सपत्नान्) अन्तः-शत्रुओं का (परि वृङ्धि) विनाश कर, दूर कर। और (एनान्) इन (मम) मेरे अन्तः-शत्रुओं को (प्राणः) प्राण (पशवः) पशु लोग और (जीवनम्) जीवन भी (परि वृणक्तु) छोड़ दे। अर्थात् इन अन्तः-शत्रुओं का सम्बन्ध न तो हमारे प्राण से है, न हमारे शत्रुओं से है और न हमारे जीवनों से है।

कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन।
अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नांछम्बीव नावमुदकेषु धीरः ॥ ६ ॥

भा०—(कामस्य) कान्तिमान्, (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान्, (वरुणस्य) सब से श्रेष्ठ, सबके वरण करने योग्य (विष्णोः) प्रजा में व्यापक, प्रजा के हृदयों में व्यापक, उनके प्रिय (सवितुः) सबके प्रेरक (राज्ञः) राजा अर्थात् संसार के राजा के (बलेन) बल से और (सवेन) उनकी सत्य प्रेरणा या आज्ञा से और (अग्नेः होत्रेण) अग्निहोत्र के द्वारा (सपत्नान्) अन्तः-शत्रुओं को मैं (धीरः) धीर होकर (नावम्) नाव को (शम्बी इव) नाव के चलाने वाले कैवट के समान (प्र णुदे) परे हटा दूँ।

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव।
विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम् ॥७॥

भा०—वह (उग्रः कामः) अटूट नियमों वाला सत्संकल्पमय परमात्मा (वाजी) बलवान् (मम अध्यक्षः) मेरा अध्यक्ष, साक्षी है। वह (मह्यम्) मुझे (असपत्नम् कृणोतु) अन्तः-शत्रु से रहित करे। (विश्वे देवाः) समस्त देवगण, विद्वान् पुरुष (मम नाथं

६—१. 'शम्ब संबन्धने' (चुरादिः)। शम्बयति संबध्नाति मत्स्यादिकम् अनेनेति शम्बः जालरश्म्यादिः, तद्वान् शम्बी कैवर्त्तः।

भवन्तु) इस कार्य में मेरे स्वामी हों, मेरी सहायता करें। (सर्वे देवाः) और सब विद्वान् जन (मे) मेरे (इमम्) इस (हवम्) निमन्त्रण आह्वान में (आ यन्तु) आवें।

इदमाज्यं घृतवज्जुषाणाः कामज्येष्ठा इह मादयध्वम्।
कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव ॥ ८ ॥

भा०—हे (काम-ज्येष्ठाः) सत्संकल्पों के कारण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुरुषो ! (घृतवत्) दीप्तियुक्त अर्थात् शुद्ध पवित्र (आज्यम्) अग्नि-होत्र के घी को (जुषाणाः) धारण करते हुए आप लोग (मह्यम्) मुझे (असपत्नम्) अन्तः-शत्रुओं से रहित (कृण्वन्तः) करते हुए (इह) इस जीवन में (मादयध्वम्) प्रसन्न करो।

इन्द्राग्नी काम सरथं हि भूत्वा नीचैः सपत्नान् मम पादयाथः।
तेषां पन्नानामधमा तमांस्यग्ने वास्तून्यनुनिर्दह त्वम् ॥ ९ ॥

भा०—हे (इन्द्राग्नी) मेरी आत्मिक शक्ति और ज्ञान शक्ति ! और हे (काम) हे मेरे सत्संकल्प (सरथम्) तुम तीनों एक रथ में (भूत्वा) होकर अर्थात् मेरे शरीर रथ में चढ़कर (मम) मेरे (सपत्नान्) अन्तः-शत्रुओं को (नीचैः) नीचे (पादयाथः) गिरा दो। और हे (अग्ने) मेरी ज्ञानाग्नि ! (पन्नानाम्) उन पराजित हुए अन्तः-शत्रुओं के (अधमा तमांसि) अधम तमोगुण रूप (वास्तूनि) घरों को (अनु निर्दह) जला डाल।

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान्।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥ १० ॥

भा०—हे (काम) सत्संकल्प (ये मम सपत्नाः) जो मेरे अन्तः-शत्रु हैं (अन्धा तमांसि) जो कि अन्धा कर देने वाले तमोगुण के परिणाम हैं (अव पादय) उन्हें रौंद डाल। (सर्वे) वे सब

(निरिन्द्रियाः) हमारी इन्द्रियों से जुदा हो जायं और (अरसाः) निर्बल (सन्तु) होजायं । (ते) वे (कतमत् चन) एक भी (अहः) दिन (मा जीविषुः) जीवित न रहें ।

अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥ ११॥

भा०—(मम ये सपत्नाः) मेरे जो अन्तः-शत्रुगण हैं उनको (कामः) मेरा प्रबल संकल्प (अवधीत्) मार डाले । वही (उरुं लोकम्) संसार के बड़े भारी लोक, स्थान को (मह्यम्) मेरे (एधतुम्) बढ़ने के लिये (अकरत्) कर दे । (मह्यम्) मेरे आगे (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) उपदिशाएं भी (नमन्ताम्) झुक जायं और (षड् उर्वीः) छहों बड़ी दिशाएं मेरे लिए (घृतम्) प्रकाशवान्, पुष्टिकारक पदार्थ (आवहन्तु) प्राप्त कराएँ ।

तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।
न सायकप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ १२ ॥

अथर्व० ३ । ६ । ७ ॥

भा०—(बन्धनात्) बन्धन से (छिन्ना) कटी हुई (नौः इव) नाव जिस प्रकार नदी के प्रवाह में बह जाती है उसी प्रकार (ते) वे अन्तःशत्रुगण (अधराञ्चः) जो कि नीचे ही नीचे ले जाते हैं (प्रप्लवन्ताम्) मेरे शरीर से मानों बहकर बाहिर निकल जायँ । ठीक भी है कि (सायक-प्रणुत्तानाम्) सत्संकल्परूपी वाणों की मार से दूर किये हुए अन्तःशत्रुओं का (पुनः) फिर (निवर्त्तनम्) लौट कर आना (न अस्ति) नहीं होता ।

अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः ।
यवयावानो देवा यावयन्त्वेनम् ॥ १३ ॥

भा०—(अग्निः) मेरी ज्ञानाग्नि (यवः) अन्तःशत्रुओं को भगा देने से 'यव' कहाता है। (इन्द्रः) आत्मिक शक्ति सम्पन्न मेरी आत्मा भी इसी कारण से (यवः) 'यव' है (सोमः) वीर्यशक्ति भी (यवः) इसी प्रकार 'यव' है (यवयावानः)[1] भगा देने में समर्थ (देवाः) ये दिव्य साधन (एनम्) इस अन्तःशत्रु को (यवयन्तु)[1] मुझ से पृथक् करें।

असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यो मित्राणां परिवर्ग्यः स्वानाम्।
उत पृथिव्यामव स्यन्ति विद्युत उग्रो वो देवः प्र मृणत् सपत्नान्॥१४

भा०—अन्तःशत्रु (प्रणुत्तः) दूर किया हुआ (असर्ववीरः) सब वीर्यों अर्थात् सामर्थ्यों से रहित (चरतु) हो जाय। (मित्राणाम्) जो लोग पहले अन्तःशत्रु को मित्र समझते थे उनका भी (द्वेष्यः) द्वेष का पात्र वह अन्तःशत्रु हो जाय और (स्वानाम्) उनके सम्बन्धियों के भी (परिवर्ग्यः) छोड़ने योग्य हो जाय। (उत) और (वः सपत्नान्) हे लोगो! तुम्हारे अन्तःशत्रुओं को (विद्युतः) ज्ञान, सत्संकल्प और आत्मिक शक्ति की चमक (अवस्यन्ति) विनष्ट करें और (उग्रः देवः) बलवान् देव अर्थात् परमदेव परमात्मा उनको (प्र मृणत) नष्ट कर डाले।

च्युता चेयं बृहत्यच्युता च विद्युद् बिभर्ति स्तनयित्नूंश्च सर्वान्।
उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान् नुदतां मे सहस्वान्॥१५॥

भा०—(च्युता च) अपने स्थान से च्युत हुई, चल चुकी हुई, और (अच्युता च) या अपने स्थान से न चली हुई, स्थिर, दोनों प्रकार

१. यवयावानः। योति पृथक् करोति दूरीकरोति इति यवः स इव यान्तीति यवयावानः। शत्रुनिराकरणसमर्थाः सन्तः शत्रुमभिलक्ष्य यात्राकारिणः।

की (विद्युत्) विद्युत् (बृहती) बड़ी भारी शक्ति है। वही (सर्वान्) सब (स्तनयित्नून् च) गर्जना करने वाले मेघों को (बिभर्त्ति) धारण पोषण करती है अर्थात् इसी प्रकार मेरी शक्तियां भी उत्तम भावों को धारण पोषण करने वाली हों। और साथ ही (उद्यन्) उदय को प्राप्त होता हुआ (आदित्यः) सूर्य जिस प्रकार (तेजसा) अपने तेज रूपी (द्रविणेन) सामर्थ्य द्वारा तिमिर का नाश करता है उसी प्रकार मेरे हृदयाकाश से उदय को प्राप्त होता हुआ मेरा सत्सं-कल्प (सहस्वान्) जो कि अन्तःशत्रुओं के पराजय करने में समर्थ है (सपत्नान्) मेरे अन्तःशत्रुओं को (नीचैः) नीचे (नुदताम्) करे।

यत् ते काम् शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम्। तेन सपत्नान् परि वृङ्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ १६ ॥

भा० - हे (काम) सत्संकल्प ! (ते) तेरा (यत्) जो (त्रिव-रूथम्) तीन घेरों वाला (शर्म) घर है, अर्थात् शरीर, मन और आत्मा से घिरा हुआ इन तीनों का समुदाय रूपी घर (उद्भु) और जिस प्रकार उद्भूत, (विततम्) व्यापक (ब्रह्म) ब्रह्म को तूने अपना (अनतिव्याध्यम्) अवेध्य (वर्म) कवच (कृतम्) बनाया है (तेन) उन दोनों साधनों द्वारा (ये मम) जो मेरे अन्तः शत्रु हैं उन (सपत्नान्) शत्रुओं का (परि वृङ्धि) तू विनाश कर और (एनान्) इन अन्तः-शत्रुओं को (प्राणः) प्राण (पशवः) पशु और (जीवनम्) जीवन (परिवृणक्तु) छोड़ दें। देखो मन्त्र ५ ॥

येन देवा असुरान् प्राणुदन्त येनेन्द्रो दस्यूनधमं तमो निनाय। तेन त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥१७

भा०—(येन) जिस उपरोक्त साधन से (देवाः) विद्वान् गण (असुरान्) आसुर-भावों को (प्र अनुदन्त) धकेलते, दूर करते हैं और (येन) जिस उपरोक्त साधन के सामर्थ्य से (इन्द्रः) आत्मिक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति (दस्यून्) विनाशकारी इन अन्त:शत्रुओं को (अधमं तमः) अज्ञान पक्ष में (निनाय) डालता है, हे (काम) मेरे सत्संकल्प ! (मम) मेरे (ये) जो (सपत्नाः) अन्तःशत्रु हैं (तेन) उस उपरोक्त बल से (तान्) उनको (अस्मात् लोकात) इस मेरे शरीर और लोक से (दूरम्) दूर (नुदस्व) हटा दे ।

यथा देवा असुरान् प्राणुदन्त यथेन्द्रो दस्यूनधमं तमो बबाधे।
तथा त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम्॥१८

भा०—(यथा देवाः असुरान् प्र अनुदन्त) जिस प्रकार देव, विद्वान् लोग आसुर वृत्तियों को पराजित करते हैं और (यथा इन्द्रः दस्यून् अधमं तमः बबाधे) जिस प्रकार आत्मिक शक्तिसम्पन्न व्यक्ति दस्युओं अर्थात् विनाशकारी इन अन्तःशत्रुओं को अज्ञान पक्ष में डालता है (मम ये सपत्नाः) मेरे जो ये अन्त:शत्रु हैं, हे काम ! (तान् अस्मात् लोकात् दूरं प्र नुदस्व) मेरे सत्संकल्प ! उनको इस मेरे शरीर और लोक से दूर कर ।

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ १९ ॥

भा०—(कामः) कान्तिमान् सबका अभिलषणीय वह महान् संकल्पमय ईश्वर (प्रथमः) सब से प्रथम (जज्ञे) प्रकट होता है और (एनम्) उसके समान पद को (देवाः) देवगण, विद्वान् पुरुष या सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ (पितरः) पालक मा-बाप या ऋतुएं और

(मर्त्याः) मनुष्य आदि प्राणी भी (न आपुः) नहीं प्राप्त होते, (ततः) इसी कारण हे (काम) संकल्पमय ब्रह्मन् ! (त्वम् ज्यायान् असि) तू सब से श्रेष्ठ (विश्वहा) सर्वव्यापक और (महान्) सब से बड़ा है। (तस्मै ते) उस तुझे मैं (नमः इत्) नमस्कार (कृणोमि) करता हूँ।

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुर्यावदग्निः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २० ॥ (४)

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि (वरिम्णा) अपने विस्तार से (यावती) जितनी बड़ी हैं, और (आपः) जल या संसार की आदिमूल प्रकृति के सूक्ष्म, व्यापक परमाणु (यावत्) जितने विस्तार में (सिष्यदुः) फैले हैं और (अग्निः) तेजोमय पदार्थ, अग्नि जितनी दूर तक फैली है, हे (काम) कान्तिमान् तेजोमय परमेश्वर ! (ततः त्वं ज्यायान् असि) तू उससे भी बड़ा है। तू (विश्वहा महान् असि) सर्वव्यापक, महान् है। (तस्मै इत् नमः कृणोमि) उस तुझे ही मैं नमस्कार करता हूँ।

यावतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावतीराशा अभिचक्षणा दिवः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २१ ॥

भा०—(दिशः) दिशाएं (प्रदिशः) उपदिशाएं (यावतीः) जितनी भी दूर तक फैल सकती हैं, और (दिवः) द्यौः-आकाशमण्डल को (अभिचक्षणाः) दिखलाने वाली (आशाः) दिशाएं (यावतीः) जितनी दूर तक भी फैली हैं हे (काम) कान्तिमय ! परमात्मन् ! (ततः

त्वम् ज्यायान् विश्वहा महान् असि) तू उससे भी अधिक बड़ा, व्यापक और महान् है। (तस्मै ते काम नमः इत् कृणोमि) उस तुझ महान् को मैं नमस्कार करता हूं।

यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो बभूवुः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २२ ॥

भा०—(भृङ्गाः) भौंरे या मधुमक्खियां, (जत्वः) चिमगादर (कुरूरवः) चीलें (यावतीः) जितनी हैं और (वघाः) टीडी आदि जन्तु और (वृक्षसर्प्यः) वृक्ष पर सरकने वाले कीट (यावतीः) जितने (बभूवुः) हो रहते हैं हे (काम) काममय! परमेश्वर! (ततः त्वम् ज्यायान्) उन सब के सम्मिलित सामर्थ्य से भी तू अधिक है। अर्थात् जिस काममय संकल्प से उक्त नाना प्रकार के लक्षों प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि हो रही है तेरा सामर्थ्य उससे कहीं बढ़ा चढ़ा है। तू (विश्वहा महान्) सर्वव्यापक और महान् है। (तस्मै ते काम नमः इत् कृणोमि) उस परम कान्तिमय प्रभु को मैं नमस्कार करता हूं।

ज्यायान् निमिषतोसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥२३॥

भा०—हे (काम) संकल्पमय, कान्तिमय प्रभो! हे (मन्यो) ज्ञानमय! (निमिषतः) निमेष उन्मेष करने वाले असंख्य प्राणियों से भी तू (ज्यायान्) बहुत बड़ा है। अर्थात् जितनी इच्छाशक्ति का कौशल निमेष करने में मनुष्य आदि जन्तु का है उससे भी अधिक कौशल तेरा है। और (तिष्ठतः ज्यायान्) समान-भाव से—स्थिरता से

खड़े रहने वाले वृक्ष पर्वतादि से भी स्थिरता के सामर्थ्य में तू (ज्यायान्) बहुत बड़ा है। (समुद्रात् ज्यायान् असि) जलों के वर्षाने वाले मेघ और धारण करने वाले महान् समुद्र से भी सामर्थ्य में तू (ज्यायान्) बहुत बड़ा है। (ततः त्वम्०) इत्यादि पूर्ववत्।

न वै वात॑श्चन काम॑माप्नोति नाग्निः सूर्यो॒ नोत च॒न्द्रमाः॑।
तत॒स्त्वम॑सि॒ ज्याया॑न् वि॒श्वहा॑ म॒हांस्तस्मै॑ ते काम॒ नम॒ इत् कृ॑णोमि ॥ २४ ॥

भा०—(वातः चन) वायु भी (कामं न आप्नोति) 'काम' उस महासंकल्पमय, महान् तेजस्वी परम पुरुष को नहीं व्याप सकता उस के पद तक नहीं पहुंच सकता, और (न अग्निः) न अग्नि, और (सूर्यः) न सूर्य, (उत न चन्द्रमाः) और न चन्द्रमा ही उसको व्याप या उसके पद तक पहुंच सकता है। इसलिये (ततः त्वम् ज्यायान् असि) हे काम! परमेश्वर! तू उनसे भी बड़ा है इत्यादि पूर्ववत्।

यास्ते॑ शि॒वास्त॒न्वः॑ काम भ॒द्रा याभिः॑ स॒त्यं भव॑ति॒ यद् वृ॑णी॒षे।
ताभि॒ष्ट्वम॒स्माँ अ॑भि॒संवि॑शस्वा॒न्यत्र॑ पा॒पीरप॑ वेशया॒ धियः॑ ॥२५॥

भा०—हे (काम) कान्तिमय प्रभो! (याः) जो (ते) तेरी (शिवाः) कल्याणकारी (भद्राः) सुखकारी (तन्वः) शक्तियां हैं और (याभिः) जिनसे (सत्यम्) प्रकट रूप से अभिव्यक्त यह जगत् (भवति) सत्ता को प्राप्त करता है, उत्पन्न होता है (यत्) जिस जगत् की तू स्वयं (वृणीषे) रक्षा करता है, (ताभिः) उन शक्तियों से (त्वम्) तू (अस्मान्) हमको (अभि संविशस्व) प्राप्त हो और

(पापीः) हमारी पापमय (धियः) शक्तियों, बुद्धियां और कर्मों को (अन्यत्र) हम से (अप वेशय) पृथक् कर ।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[तत्र द्वे सूक्ते, ऋचश्चैकोनपञ्चाशत्]

---

[३] शाला, महाभवन का निर्माण और प्रतिष्ठा ।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः । शाला देवता । १-५,८-१४,१६,१८-२०,२२-२४ अनुष्टुभः; ३ पथ्यापंक्तिः; ७ परा उष्णिक्; १५ त्र्यवमाना पञ्चपदातिशक्वरी; १७ प्रस्तारपंक्तिः; २१ आस्तारपंक्तिः; २५, ३१ त्रिपादौ प्रजापत्ये बृहत्यौ; २६ साम्नी त्रिष्टुप्; २७,२८,२९ प्रतिष्ठा नाम गायत्र्यः; २५—३१ एकावसानाः।

एकत्रिंशदृचं सूक्तम् ॥

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत ।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥ १ ॥

भा०—हम (उपमिताम्) सुन्दर रूप से बनी हुई, (प्रतिमिताम्) प्रत्येक अंग में नापी हुई (परि-मिताम्) चारों ओर से पर्याप्त प्रमाण वाली शाला को बनावें। और (विश्ववारायाः) सब ओर से सुरक्षित या आवृत (शालायाः) शाला के चारों ओर (नद्धानि) बंधे बन्धनों को ((विचृतामसि) खोल दें। भवन बन चुकने पर उसके चारों ओर लपेटी घास फूस की चटाइयां तथा शिल्पियों के बल्ले आदि खोलने का वर्णन करते हैं।

यत् ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः ।
बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत् ॥ २ ॥

भा०—हे (विश्ववारे) समस्त वरणीय उत्तम पदार्थों से सम्पन्न शाले ! (यत्) जो (ते) तेरे (नद्धम्) बंधा बन्धन और (यः) जो

(पाशः ग्रन्थिः च) पाश और गांठ बनाई गई है (बृहस्पतिः) बृहस्पति, वेद का विद्वान् (इव) जिस प्रकार (वाचा) अपनी उपदेश-वाणी से (वलम्) आसुर कर्मों के वल को खोलता या ढीला कर देता है उसी प्रकार (अहम्) मैं (वाचा) वेदमन्त्र या अपनी आज्ञा द्वारा (वलम्) शाला के आवरण को (वि स्रंसयामि) पृथक् खोल दूं।

आ य॒यामि॒ सं ब॑वर्ह ग्र॒न्थीँश्च॑कार ते दृ॒ढान्।
परूँ॑षि वि॒द्वाञ्छस्ते॒वेन्द्रे॑ण वि चृ॑तामसि ॥ ३ ॥

भा०—शिल्पी (ते) तेरी (ग्रन्थीन्) गांठों को (आ ययाम) बांधता है और (सं बबर्ह) तुझे ऊंचा करता है और (दृढान् चकार) तेरे सब भागों को दृढ़ करता है। (विद्वान्) जानकार (शस्ताइव) काटने वाला जिस प्रकार (परूंषि) पोरू पोरू को काटा करता है उसी प्रकार हम पोरू पोरू पर लगी गांठों को (वि चृतामसि) खोलें।

वं॒शानां॑ ते॒ नह॑नानां प्राणा॒हस्य॒ तृण॑स्य च।
प॒क्षाणां॑ विश्ववारे ते न॒द्धानि॒ वि चृ॑तामसि ॥ ४ ॥

भा०—हे (विश्व-वारे) समस्त पुरुषों के वरण करने योग्य अथवा समस्त वरणीय धनों से युक्त शाला! (ते) तेरे ऊपर (वंशानाम्) बांसों और (नहनानां) बन्धनों और (प्राणाहस्य०) ऊपर से बन्धे (तृणस्य च) घास फूस के और (पक्षाणाम्) पक्षों या पासों पर लगे (नद्धानि) बन्धनों को (वि चृतामसि) खोल दें।

सं॒दं॒शानां॑ पल॒दाना॒ं परि॑ष्वञ्जल्यस्य च।
इ॒दं मान॑स्य पत्न्या॑ न॒द्धानि॒ वि चृ॑तामसि ॥ ५ ॥

भा०—(मानस्य) माप का (पत्न्याः) पालन करने वाली अर्थात् ठीक प्रकार से मापी हुई शाला में लगी (संदंशानाम्) कैंची

के आकार से जुड़ी लकड़ियों के और (पलदानाम्) घास फूस के (परिष्वञ्जल्यस्य च) चारों ओर सटे हुए (नद्धानि) बंधनों को (इदम्) इस प्रकार से (वि चृतामसि) खोल दें।

यानि तेऽन्तः शिक्यान्याबेधू रण्याय कम्।
प्र ते तानि चृतामसि शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे भव॥६

भा०—हे (मानस्य पत्नि) मान, मापन का पालन करनेहारी शाले ! (यानि) जो (ते) तेरे (अन्तः) भीतर (शिक्यानि) छीके (रण्याय) मनोहर सजावट के लिये (ते) तेरे में (आवेधुः) बांधे गये हों (तानि) वे सब (प्र चृतामसि) अच्छी प्रकार बांधे। तू (शिवा) कल्याणकारिणी (मानस्य पत्नी) हमारे मान पालन करने हारी सद्गृहिणी के समान (नः तन्वे) हमारे शरीर के लिये (उद्-हिता) अति हितकारी (भव) हो।

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
सदो देवानामसि देवि शाले॥ ७॥

भा०—हे (देवि शाले) दिव्य गुणों से युक्त प्रकाश और जल वायु से सुन्दर ! शाले ! तू (हविर्धानम्) हवि, अन्न के रखने का स्थान हो, (अग्नि-शालम्) तुझ में अग्नि के लिये पृथक् गृह, यज्ञशाला और पाकशाला हों। (पत्नीनां सदनम्) घर की स्त्रियों के लिये पृथक् गृह हो, (सदः) अतिथियों से मिलने के लिये स्थान व बैठक पृथक् हो। और (देवानां) तू स्वयं विद्वान् पुरुषों और बड़े अधिकारियों के लिये (सदः) गृहस्वरूप भी हो।

अक्षुमोपशं विततं सहस्राक्षं विषूवति।
अवनद्धमभिहितं ब्रह्मणा वि चृतामसि॥ ८॥

भा०—हे (विपूवति) उक्त शिखर वाली शाले ! तेरा (ओपशम्) स्त्री के शिर पर लगने वाले सुन्दर आभूषण के समान (अक्षुम्) जाल (विततम्) विस्तृत (सहस्राक्षम्) हजारों, अक्षों, छिद्रों से युक्त है वह (ब्रह्मणा) ज्ञानपूर्वक (अभि-हितम्) बांधा गया और (अव-नद्धम्) कसा गया है उसको हम (वि चृतामसि) विशेष रूप से खोलते हैं ।

यस्त्वा॑ शाले प्रतिगृ॒ह्णाति॒ येन॒ चासि॑ मि॒ता त्वम् ।
उ॒भौ मान॑स्य पत्नि॒ तौ जीव॑तां ज॒रद॑ष्टी ॥ ९ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! गृह ! भवन ! (यः) जो पुरुष (त्वा) तुझे (प्रतिगृह्णाति) स्वीकार करता है, अपनाता है और (येन) जिसने (त्वम्) तुझे (मिता असि) बनाया है, हे (मानस्य पत्नि) सम्मान के पालन करने हारी ! (उभौ तौ) वे दोनों (जरदष्टी) बुढ़ापे के काल तक (जीवताम्) जीवें ।

अ॒मुत्रै॑न॒मा ग॑च्छताद् दृ॒ढा न॒द्धा परि॑ष्कृता ।
यस्या॑स्ते विचृ॒ताम॒स्यङ्ग॑मङ्गं॒ परु॑ष्परुः ॥ १० ॥ (१६)

भा०—हे शाले ! (यस्याः) जिस तेरे चारों ओर लगे बन्धन के (अङ्गम् अङ्गम्) अङ्ग अङ्ग और (परुः परुः) पोरु पोरु तक को अब हम (वि चृतामसि) विशेष रूप से जुदा कर रहे हैं (अमुत्र) भविष्य काल में तू वही (दृढा) खूब मजबूत (नद्धा) सुबद्ध (परिष्कृता) सुन्दर, सुसज्जित होकर (एनम्) इस स्वामी को (आगच्छतात्) प्राप्त हो ।

यस्त्वा॑ शाले निमि॒माय॑ संज॒भार॒ वन॒स्पती॑न् ।
प्र॒जायै॑ चक्रे त्वा शाले परमे॒ष्ठी प्र॒जाप॑तिः ॥ ११ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! (यः) जो गृहस्थी (त्वा) तुझे (निमिमाय) बनवाता है और तेरे बनवाने के लिए (वनस्पतीन्)

वृक्षों को (संजभार) कटवाता है वह भी (परमेष्ठी) परमेष्ठी, परम पद पर स्थित (प्रजापतिः) प्रजा के स्वामी के समान होकर ही (त्वा) तुझे (प्रजायै) अपनी प्रजा के लिए ही (चक्रे) बनवाता है।

नमस्तस्मै नमो दात्रे शालापतये च कृण्मः ।
नमोऽग्नये प्रचरते पुरुषाय च ते नमः ॥ १२ ॥

भा०—हम (दात्रे तस्मै नमः कृण्मः) शाला के पत्थर ईंट काट काट कर गढ़ने वाले शिल्पी को नमस्कार करते हैं, (शालापतये च नमः कृण्मः) और शाला के स्वामी को भी हम नमस्कार, उचित आदर करते हैं। और (अग्नये प्रचरते नमः) अग्नि लेकर उससे संस्कार करने हारे विद्वान् को भी हम नमस्कार करते हैं। और (ते पुरुषाय नमः) तेरे भीतर रहने वाले पुरुषों को भी नमस्कार करते हैं।

गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते ।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥ १३ ॥

भा०—(गोभ्यः) गौओं और (अश्वेभ्यः) घोड़ों के लिए, और (यत्) जो भी (शालायां वि-जायते) शाला या गृह में अन्य प्राणी उत्पन्न होते हैं (नमः) उनको अन्न दिया जाय ! हे (विजावति) नाना प्रकार के प्राणियों को उत्पन्न करने वाली ! हे (प्रजावति) प्रजा पुत्रादि से सम्पन्न शाले ! (ते पाशान्) तेरे पाशों को हम (वि चृतामसि) नाना प्रकार से खोलते हैं।

अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान् पशुभिः सह ।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥ १४ ॥

भा०—हे शाले ! तू (पशुभिः सह) पशुओं सहित (पुरुषान्) पुरुषों को और (अग्निम्) यज्ञाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीयाग्नि इन

अग्नियों को (अन्तः छादयसि) अपने भीतर विश्राम देती है। हे (विजावति प्रजावति) विविध प्राणियां के उत्पादक और प्रजा सम्पन्न शाले (ते पाशान् वि चृतामसि) तेरे पाशों के बन्धनों को खोलें।

अ॒न्त॒रा द्यां च॑ पृथि॒वीं च॒ यद् व्यच॒स्तेन॒ शालां॒ प्रति॑ गृह्णामि त इ॒माम्। यद॒न्तरि॑क्षं॒ रज॑सो वि॒मानं॒ तत् कृ॑ण्वे॒ऽहमु॒दरं॑ शेव॒धिभ्यः॑ तेन॒ शालां॒ प्रति॑ गृह्णामि॒ तस्मै॑ ॥ १५ ॥

भा०—(द्यां च) आकाश और (पृथिवीं च) पृथिवी के बीच में (यद्) जो (व्यचः) विशेष विस्तृत अवकाश है (तेन) उससे (ते) तेरे लिए हे गृहस्थ (इमाम्) इस (शालाम्) शाला को (प्रतिगृह्णामि) स्वीकार करता हूँ। और (यत्) जो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष का भाग या भीतरी का खोखला भाग (रजसः) घर का (विमानम्) विशेष परिमाण है (तम्) उसको (अहम्) मैं (शेवधिभ्यः) सुखप्रद पदार्थों और कक्षाओं के लिए या विशेष सम्पत्तियों के लिए (उदरं कृण्वे) पर्याप्तरूप में अच्छा लम्बा चौड़ा बनाऊँ (तेन) उस निमित्त से (तस्मै) उस गृहपति के लिए (शालाम्) शाला का निर्माण (प्रतिगृह्णामि) स्वीकार करता हूँ।

ऊर्ज॑स्वती॒ पय॑स्वती पृथि॒व्यां निमि॑ता मि॒ता।
वि॒श्वान्नं॑ बिभ्र॑ती शाले॒ मा हिं॑सीः प्रतिगृह्ण॒तः ॥ १६ ॥

भा०—हे (शाले) शाले! गृह! तू (ऊर्जस्वती) आरोग्य पराक्रम से युक्त एवं धन धान्य से सम्पन्न (पयस्वती) दुग्ध, रस, जल आदि से परिपूर्ण, (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (मिता) माप माप कर (निमिता) बनाई गई है, तू (विश्वान्नम्) सब प्रकार के अन्नों को (बिभ्रती) धारण करती हुई (प्रतिगृह्णतः) स्वीकार करते हुए स्वामी का (मा हिंसीः) विनाश न कर।

तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी ।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती ॥ १७ ॥

भा०—(तृणैः) तृण, घास फूस से (आवृता) ढकी हुई और (पलदान्) पलद, फूस के बने टाटियों या चटाइयों को (वसाना) ओढ़े हुई, (रात्री इव) रात्रि के समान (जगतः निवेशनी) जगत् को अपने भीतर सुख से वास देने हारी (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (मिता) मापकर बनाई गई, (पद्वती) स्थूल पैरों वाली (हस्तिनी इव) हथिनी के समान (पद्वती) स्थूल स्तम्भों से युक्त होकर (तिष्ठसि) खड़ी है ।

इटस्य ते वि चृताम्यपिनद्धमपोर्णुवन् ।
वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु ॥ १८ ॥

भा०—हे शाले ! (ते) तेरे ऊपर लगे (इटस्य) चटाई घास के (अपिनद्धम्) बँधे हुए पूलों को (अप ऊर्णुवन्) अलग करता हुआ मैं (वि चृतामि) खोलता हूँ । और (वरुणेन) रात्रि के अन्धकार से (सम् उब्जिताम्) ढकी हुई को (प्रातः) प्रातःकाल (मित्रः) सूर्य (वि उब्जतु) विशेष रूप से प्रकाशित करे ।

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम् ।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालामृतौ सोम्यं सदः ॥ १९ ॥

भा०—(ब्रह्मणा) ज्ञानपूर्वक (निमिताम्) बनाई गई, और (कविभिः) बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा (मिताम्) नापी और (निमिताम्) बनाई गई (शालाम्) शाला को (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि दोनों (अमृतौ) जीवन की वृद्धि करने वाले पदार्थ (सोम्यम्) सुखकारी (सदः) गृह (रक्षताम्) बनाये रक्खें ।

कुलायेऽधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः ।
तत्र मर्तो वि जायते यस्माद् विश्वं प्रजायते ॥ २० ॥ (७)

भा०—(कुलाये अधि कुलायम्) घोंसले पर घोसला अथवा (कोशे कोशः समुब्जितः) कोश पर कोश जिस प्रकार चढ़ाया जाता है इसी प्रकार की यह शाला बनाई जाय, अर्थात् बीच में कमरा, इसके बाहिर इसे घेरने वाले कमरे, इस प्रकार इस शाला में नाना कमरे होने चाहियें । (तत्र मर्त्तः विजायते) वहां प्राणधारी जीवों के मरण-धर्मा शरीर नाना प्रकार से प्रकट होते हैं, (यस्मात् विश्वम् प्रजायते) जिन द्वारा कि समस्त संसार प्रजा रूप समझा जाता है । अर्थात् तू प्रत्येक गृहस्थी गृहस्थाश्रम में रहता हुआ समग्र संसार को अपनी सन्तानवत् जानकर उसकी रक्षा करे ।

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ॥२१॥

भा०—(मानस्य पत्नी) मान, मातृत्व सामर्थ्य का पालन करने वाली स्त्री में (गर्भः) गर्भ रूप (अग्निः इव) जीव जिस प्रकार सोता है उसी प्रकार मैं (अग्निः) गृहपति (अष्टापक्षां दशपक्षां शालां आशये) आठ कोठरियों और दश कोठरियों वाली शाला के बीच में रहूँ (या) जो शाला (द्विपक्षा) दो कोठरियों वाली (चतुष्पक्षा) चार कोठों वाली और (या) जो (षट्पक्षा) छः कोठरियों वाली भी (निमीयते) बनाई जाती है ।

पक्ष = कक्षागृह । द्विपक्षा = जिसमें दो कमरे हों । अष्टापक्षा = आठ कमरों वाली । दशपक्षा = दश कमरों वाली ।

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् ।
अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः ॥ २२ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! (प्रतीचीं) अपने समक्ष खड़ी हुई (अहिंसतीम्) किसी प्रकार का कष्ट न देती हुई, सुखकारिणी (त्वा)

२१—पक्ष परिग्रहे (भ्वादिः) पक्षः कोष्ठः ।

तेरे प्रति (प्रतीचीनः) प्रतीचीन, तेरे अभिमुख होकर (प्रैमि) आता हूँ। और (अत्र) इसके भीतर (अग्निः) आग और (आपः) जल ही (ऋतस्य) जीवन के (प्रथमा) उत्तम (द्वाः) द्वार हैं। अथवा (अन्तः) भीतर (अग्निः) ज्ञानवान् विद्वान् और (आपः) आप्त पुरुष रहें। वे ही (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (द्वाः) द्वार हैं।

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ २३ ॥

भा०—मैं (इमाः) इन (यक्ष्म-नाशनीः) रोगजनक जन्तुओं का नाश करने वाले, और (अयक्ष्मा) रोगरहित (आपः) जलों को (प्र भरामि) लाता हूँ। और (अग्निना) अग्नि (अमृतेन) अन्न और जल के (सह) साथ अपने (गृहान्) गृह के बन्धुओं के पास (उप प्र सीदामि) आता हूँ।

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव ।
वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि ॥ २४ ॥

भा०—हे (शाले) शाले ! (नः) हमारे लगाए (पाशम्) बंधन को (मा प्रति मुचः) धारण मत कर, अब न रख। हे शाले ! (गुरुः भारः) तेरा भार बहुत अधिक है। तू (लघुः भव) हलकी होजा। हे शाले ! हमारी इच्छा है कि (त्वा) तुझको (वधूम् इव) वधू, नवविवाहिता कन्या के समान सुसज्जित करें (यत्र कामम्) और जहाँ इच्छा हो (भरामसि) तुझे ले जायँ।

इस मंत्र में एक स्थान से स्थानान्तर में ले जाने लायक गृह का वर्णन वेद ने किया है।

प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥२५॥
दक्षिणाया दिशः० ॥ २६ ॥ प्रतीच्या दिशः० ॥ २७ ॥

उदी॑च्या दि॒शः० ॥२८॥ ध्रुवाया॑ दि॒शः० ॥२९॥ ऊ॒र्ध्वाया॑ दि॒शः० ॥३०
दि॒शो दि॑श॒: शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ दे॒वेभ्यः॑ स्वा॒ह्ये॑भ्यः ॥३१॥(८

भा०—शाला के भीतर प्रवेश करके गृहपति प्रत्येक दिशा से परमात्मा और देवों की अर्चना किया करे। (शालायाः) शाला के (प्राच्याः दिशः) प्राची, पूर्वाभिमुख दिशा से (महिम्ने नमः) उस महामहिम परमात्मा का शुभ गुणानुवाद करें, और (स्वाह्येभ्यः) उत्तम रीति से स्तुति अर्चा करने योग्य (देवेभ्यः) देव, विद्वान् पुरुषों का भी हम गुणानुवाद और आदर सत्कार करें। इसी प्रकार (दक्षिणायाः) दक्षिण, (प्रतीच्याः) पश्चिम, (उदीच्याः) उत्तर, (ध्रुवायाः) ध्रुवा अर्थात् नीचे की और (ऊर्ध्वायाः) ऊपर की (दिशः) दिशाओं से भी हम परमात्मा को नमस्कार और पूज्य विद्वान् पुरुषों की पूजा सत्कार करें। इसी प्रकार (दिशः दिशः) शाला की सब दिशाओं से (नमो महिम्ने देवेभ्यः स्वाह्येभ्य-स्वाहा) परमेश्वर और पूजनीय विद्वानों की पूजा हो।

---

[४] ऋषभ के दृष्टान्त से परमात्मा का वर्णन।

ब्रह्मा ऋषिः। ऋषभो देवता। १–५,७,९,२२ त्रिष्टुभः; ६,१०,२४ जगत्यौ; ८ भुरिक्; ११–१७,१९,२०,२३ अनुष्टुभः; १८ उपरिष्टाद् बृहती; २१ आस्तारपंक्तिः। चतुर्विंशर्चं सूक्तम्॥

सा॒ह॒स्रस्त्वे॒ष ऋ॑ष॒भः पय॑स्वा॒न् विश्वा॑ रू॒पाणि॑ व॒क्षणा॑सु॒ बिभ्र॑त्।
भ॒द्रं दा॒त्रे यज॑मानाय॒ शिक्ष॑न् बार्हस्प॒त्य उ॒स्रिय॒स्तन्तु॒मात॑न् ॥१॥

भा०—(साहस्रः) सहस्रों शिरों, बाहुओं, पादों, चक्षुओं एवम् अनन्त सामर्थ्यों से युक्त, (त्वेषः) कान्तिमान् (ऋषभः) सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक, (पयस्वान्) आनन्द रस से परिपूर्ण, वीर्यवान्, परमात्मा (विश्वा रूपाणि) समस्त कान्तिमान् लोकों को अपने (वक्षणासु)

कोखों में, या वहन करने में समर्थ शक्तियों में, (बिभ्रत्) धारण करता हुआ, (बार्हस्पत्यः) स्वयं बृहत्, महान् लोकों का स्वामी होकर, (उस्त्रियः) सबके भीतर स्वयं बसने वाला एवम् सबको अपने में वास देने वाला होकर (दात्रे) दानशील, आत्मसमर्पण करने हारे (यजमानाय) यजमान, आत्मा, पुरुष को (भद्रम्) सुखकारी, कल्याणमय लोक या देह (शिक्षन्) प्रदान करता हुआ (तन्तुम्) इस विस्तृत जगत्-मय तन्तु को (आतान्) फैलाता है ।

अ॒पां यो अग्रे॑ प्रति॒मा ब॒भूव॑ प्र॒भूः सर्व॑स्मै पृथि॒वीव॑ दे॒वी ।
पि॒ता व॒त्साना॒ं पति॑र॒घ्न्याना॑ं साह॒स्रे पोषे॒ अपि॑ नः कृणोतु ॥२॥

भा०—(यः) जो (अग्रे) पूर्वकाल में (अपाम्) जगत् के कारण-भूत आप: = सूक्ष्म प्रकृति के परमाणुओं पर भी (प्रतिमा) 'प्रतिमान' मापने और उनमें भी व्यापने वाला (बभूव) रहा, और (सर्वस्मै प्रभूः) सब संसार का उत्पादक और अधिष्ठाता, (देवी पृथिवी इव) देवी पृथिवी के समान सबका आश्रय था और है । और जो (वत्सानाम्) प्रकृति के आगे उत्पन्न होने वाले पञ्चभूत आदि विकृति रूपों के या प्राणियों के आवास हेतु लोकों या मुक्त जीवों का (पिता) जनक और पालक है, और (अघ्न्यानाम् पतिः) कभी नाश न होने वाली पञ्चभूतों की सूक्ष्म तन्मात्राओं का भी पालक है वह परमात्मा (नः) हमें (साहस्रे पोषे) सहस्रों प्रकार के पोषण कार्यों में (अपि कृणोतु) समर्थ करे अर्थात् जिस प्रकार वह सहस्रों विश्वों को पुष्ट करता और पालता है उसी प्रकार वह हमें भी समर्थ करे ।

'वत्सानां पिता, अघ्न्यानां पतिः' इत्यादि विशेषणों से साधारण सांड भी उपमान रूप से ज्ञात होता है ।

पुमा॑न॒न्तर्वा॑न्त्स्थवि॒रः पय॑स्वा॒न् वसो॑ः कब॑न्धमृष॒भो बि॑भर्ति ।
तमिन्द्रा॑य प॒थिभि॑र्देव॒यानै॑र्हु॒तम॒ग्निर्व॑हतु जा॒तवे॑दाः ॥ ३ ॥

भा०—(ऋषभः) वह सब संसार को चलाने वाला, सर्वश्रेष्ठ (पुमान्) पुमान् पुरुष, पूर्ण ज्ञानी अथवा समस्त पदार्थों में व्यापक या सबको बढ़ाने वाला या स्वयं सबसे महान् (अन्तर्वान्) अतएव समस्त विश्वों को अपने भीतर धारण करने वाला, (स्थविरः) नित्य कूटस्थ, सदा स्थिर, अविनाशी होकर (वसोः) वसु, बसने वाले इस अखिल जगत् के (कबन्धम्) शरीर भाग को अथवा ज्ञानमय, सुखमय, शक्तिमय बन्धन सामर्थ्य को (बिभर्ति) स्वयं धारण करता है, (तम्) उस (हुतम्) व्यापक परमात्मा को (जातवेदाः) प्रज्ञावान् (अग्निः) अग्रणी, योगी, ज्ञानी, विद्वान् (देवयानैः) विद्वानों से जानने योग्य (पथिभिः) मोक्ष-मार्गों से (इन्द्राय) अपने ऐश्वर्य के निमित्त (वहतु) प्राप्त करे।

पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम्।
वत्सो जरायु प्रतिधुक् पीयूषं आमिक्षा घृतं तद्वस्य रेतः ॥४॥

भा०—(वत्सानां पिता) समस्त लोकों, मुक्तात्माओं या जगत् के घटक पंचभूतों का (पिता) पालक, (अघ्न्यानां पतिः) अविनाशी शक्तियों का स्वामी, (अथो) और (महताम्) बड़े २ (गर्गराणाम्) वेद या ब्रह्मज्ञान के गुरुगणों का भी (पिता) पालक है। (वत्सः) बच्चा, (जरायु) जेर, (प्रतिधुक्) नवीन दुहा हुआ या प्रतिदिन का दुहा हुआ (पीयूषम्) दूध, (आमिक्षा) जमा हुआ दही या फटा दूध और (घृतम्) घी (तत् उ) यह सब जैसे इस प्रत्यक्ष (अस्य) सांड के ही (रेतः) वीर्य का परिणाम है, उसी प्रकार (वत्सः) वायु, अग्नि या अहंकार, (जरायु) हिरण्यगर्भ, (आमिक्षा) ब्रह्माण्ड (प्रतिधुक् पीयूषम्) प्रतिकल्प, प्रतिसर्ग में दोहन करने योग्य पीयूष, पयस् रस, प्राण या परम सूक्ष्म जगत् का मूलकारण भूत परमाणु रूप 'अपः' और (घृतम्) अन्तरिक्ष, जल या

तेजस्तत्व, (तत् उ) वह सब कुछ उस महान् परमेश्वर का (रेतः)
वीर्य, महान् तेज और सामर्थ्य ही है।

'वत्सः'—अयमेव वत्सः योयं (वायुः) पवते। श० १२।४।१२॥
अग्निर्ह वै ब्रह्मणो वत्सः। जै० ३।२।१३।१॥ मन एव वत्सः। श० ११।
३।१।१॥ 'जरायु'—शणा जरायु। श० ६।६।२।१५॥ यत्र वा प्रजापति-
रजायत गर्भो भूत्वा तस्माद् यज्ञात्तस्य यन्नेदिष्ठमुल्बमासीत् ते शणाः
तस्मात्ते पूतयो भवन्ति। श० ३।२।१।११॥ 'पीयूष',—पयः पीयूषं।
यजु० ॥ रसो वै पयः। श० ४।४।४।८॥ आपो हि पयः। कौ ५।४॥
सौर्यं पयः। तै० ३।९।१७।४॥ जागतमयनं भवति। तां० १३।४।१०॥
वायव्यं पयो भवति। श० २।६।३।६॥ 'आमिक्षा'—आण्डस्य वा एतद्रूपं
यदामिक्षा। तै० १।६।२।४॥ 'घृतम्'–एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम यद् घृतम्।
तै० १।१।९।६॥ उल्बं घृतम्। श० ६।६।२।१५॥ घृतमन्तरिक्षस्य रूपम्।
श० ७।५।१।३॥

वायु 'वत्स' है ब्रह्मका 'वत्स' अग्नि है। अध्यात्म में मन आत्मा
का वत्स है। अथवा प्रकृति का विकृत रूप अहंकार 'वत्स' है। 'जरायु
और शणा' वह पदार्थ है जिसमें यज्ञमय प्रभु स्वयं हिरण्यगर्भ या
विराड् रूप से प्रथम प्रजापति रूप में प्रकट हुआ। 'पीयूष' व 'रस
'आपः' या सौर्य रस हैं जिनसे अनेक लोकों की रचना हुई है। व
जगत् का मूलकारण है। वह वायुरूप है। 'आमिक्षा' हिरण्यगर्भ
घटक पदार्थ का नाम है। 'घृत' अग्नि का प्रिय तेज है या हिरण्यग
का आवरण है। यह अन्तरिक्ष का रूप है। इस प्रकार प्राचीन परिभ
षाओं का स्पष्टीकरण जानना चाहिए।

दे॒वानां॑ भा॒ग उ॑पना॒ह ए॒षो॒३॑पां रस॒ ओष॑धीनां घृ॒तस्य॑।
सो॒मस्य॑ भ॒क्षम॑वृणीत श॒क्रो बृ॒हन्न॒द्रि॑रभव॒द् यच्छरी॑रम् ॥५॥

भा० — (एषः) यह पूर्वोक्त ऋषभ नाम से कहा गया ईश्वर ही (देवानाम्) समस्त देवों का (भागः) भजन करने योग्य, आश्रय-स्थान और (उपनाहः) अति समीपतम होकर उनको परस्पर बांध कर वश करने वाले, उनमें पिरोये सूत्र के समान है। और वही (अपाम् रसः) सूक्ष्म 'आपः' रूप परम प्रकृति के परमाणुओं का सूक्ष्मरस अर्थात् उनके भीतर उनको भी धारण करने हारा शक्तिरूप होकर उनमें भी व्यापक है। और वही (ओषधीनां रसः) ओषधियों, दिव्य शक्तियों अथवा अग्निमय रेतस पदार्थ के धारण करने वाले सूर्यों और (घृतस्य रसः) स्वतः तैजस द्रव्य के परम रूप का भी स्वयं धारण करने वाला 'रस' रूप है। वही (शक्रः) सर्वशक्तिमान् होकर (सोमस्य) उत्पन्न इस जगत् के या जीव संसार के (भक्षम्) प्राण को (अवृणीत) वश किये हुए हैं। और (यत्) जो स्वयं (शरीरम्) सबका आश्रय होकर (बृहत्) सबसे महान् (अद्रिः) अखण्ड, सबको अपने में ग्रस लेने वाला, संहारकारी (अभवत्) होता है।

(१) 'अपां रसः'–स्वधायै त्वेति रसाय त्वेत्येवैतद् आह, अर्थात् [स्वधा = रसः] इति श० ५।४।३।७॥ (२) 'ओषधयः'–जगत्यः ओषधयः। श० १।२।२।२॥ ओषधयो वै देवानां पत्न्यः। श० ६।५।४।४॥ प्रजापतिस्तां आहुतिम् अग्नौ व्यौक्षत् ओषं धयेति। ततः ओषधयः समभवन् तस्मादोषधयो नाम। श० २।२।४।५॥ (३) 'सोमः'–स्वा वै मे एषा [मूर्त्तिः] इति तस्मात् सोमो नाम। श० ३।९।४।२२॥ (४) 'भक्षम्'—प्राणो वै भक्षः। श० ४।२।१।२९॥ (५) 'शरीरम्'—अथ यत् सर्वमस्मिन्नश्रयन्त तस्माद् उ शरीरम्। श० ६।१।१।४॥

(१) रस का अर्थ स्वधा है अर्थात् स्वयं धारण करने हारा। (२) देव, दिव्य पदार्थों की शक्तियां ओषधि कहाती हैं, जिनमें परमात्मा ने अग्नि पदार्थ स्थापित किया है। वे सूर्य आदि पदार्थ जगती सौरमण्डल आदि 'ओषधि' शब्द से कहे जाते हैं। (३) प्रजापति

का अपना व्यक्त शरीर—जगत् सोम है। (४) 'भक्ष' प्राण का नाम
है। (५) वह इस समस्त जगत् का आश्रय है अतः परमात्मा
'शरीर' कहाता है।

सोमे॑न पू॒र्णं क॒लशं॑ बिभर्षि॒ त्वष्टा॑ रू॒पाणां॑ जनि॒ता प॒शू॒नाम्।
शि॒वास्ते॑ सन्तु प्रज॒न्व॑ इ॒ह या इ॒मा न्य॒स्मभ्यं॑ स्वधिते यच्छ॒
या अ॒मूः ॥ ६ ॥

भा०—हे परमात्मन्! तू (सोमेन) संसार को उत्पन्न करने वाले सामर्थ्य, जीवनरस, वीर्य एवं अमृत से (पूर्णम्) पूर्ण (कलशम्)[1] कलश के समान ब्रह्माण्ड अथवा गतिशील जगत् को (बिभर्षि) धारण और पोषण करता है। तू (रूपाणाम्) नाना रोचमान, तेजस्वी पदार्थों को और नाना जीव जन्तुओं के लक्षों रूपों को (त्वष्टा) बनाने वाला और (पशूनाम्) समस्त जीवों का (जनिता) उत्पादक है। (ते) तेरी (इह) इस लोक में (याः) जितनी (प्रजन्वः) प्रजाएँ अथवा उत्पादक शक्तियां हैं वे (शिवाः) कल्याणकारिणी (सन्तु) हों, और हे (स्वधिते) स्वयं समस्त जगत् को धारण करने हारे! और (याः अमूः) जो वे दूरस्थ तेरी उत्पादक शक्तियां हैं उनको भी (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिए (नि यच्छ) नियम में चला। पशुओं का पालन, उत्पादन, प्रजावर्धन आदि शक्तियां इस लोक के मनुष्यों के समीप और वश में भी हो सकती हैं। वे सब कल्याणकारिणी हैं, परन्तु उसके वश से बाहर, सृष्टियों का उत्पन्न होना, ऋतुओं का परिवर्तन, धूम केतुओं का उदय, ग्रहों का संचालन, विद्युतों का प्रताप आदि दैवी शक्तियों को प्रभु नियम में रक्खे। वे उपद्रवकारी न हों।

---

१. कल गतौ इत्यस्मात् 'अशच्'।

आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः।
इन्द्रस्य रूपमृषभो वसानः सो अस्मान् देवाः शिव ऐतु दत्तः ॥७॥

भा०—(अस्य) इस साक्षात् परमेश्वर का (घृतम्) अति देदीप्यमान (रेतः) उत्पादक वीर्य, (आज्यं) आज्य = समस्त देवशब्द वाच्य दिव्य पदार्थों को या प्राणों को (बिभर्त्ति) धारण पोषण करता है। वह स्वयं (साहस्रः पोषः) सहस्रों, अनन्त लोकों का सहस्रों प्रकार से पोषक है। (तम् उ) उस परमात्मा को ही (यज्ञम्) 'यज्ञ', प्रजापति, परम पुरुष, महान् आत्मा (आहुः) बतलाते हैं। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! वह (ऋषभः) सर्वश्रेष्ठ, सर्वद्रष्टा, प्रभु (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (रूपम्) पद को (वसानः) धारण करता हुआ (दत्तः) सब पदार्थों का देने हारा (शिवः) कल्याणमय (अस्मान्) हमें (आ एतु) साक्षात् प्राप्त हो।

(१) 'आज्यम्' एषा हि विश्वेषां देवानां तनूः यदाज्यम्। तै० ३। ३। ४। ६॥ प्राणो वा आज्यम्। तै० ३।८।१५।२॥ दत्त–इति कर्त्तरि क्तः।

इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत्।
बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः ॥८॥

भा०—(ये) जो (धीरासः) ध्यान योगी, (कवयः) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (मनीषिणः) मननशील, विद्वान् ऋषि हैं वे (बृहस्पतिम्) 'बृहत्' बड़े २ लोकों के स्वामी प्रभु को (एतम्) इस रूप से (संभृतम्) कल्पना किया गया या बलसम्पन्न हुआ (आहुः) कहते हैं कि इस वृषभ के रूप में (ओजः) बल वीर्य तो (इन्द्रस्य) इन्द्र का बना है, (बाहू) बाहुएं (वरुणस्य) वरुण की, (अंसौ) कन्धे (अश्विनोः) अश्विदेव अर्थात् दिन रात्रि के बने हैं, (ककुत्) कोहान का भाग (मरुताम्) मरुद्गण, प्राणों और वायुओं का बना है।

दैवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वा सरस्वन्तमाहुः ।
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥९॥

भा०—हे ऋषभ ! परमेश्वर ! तू (पयस्वान्) आनन्दमय, पोषक अन्नरस या वीर्य से सम्पन्न होकर (दैवीः) दिव्य गुणवाली (विशः) प्रजाओं को (आ तनोषि) बढ़ाता है । विद्वान् लोग (त्वाम्) तुझको (इन्द्रम् आहुः) इन्द्र, परमेश्वर कहते हैं और (त्वाम्) तुझको (सरस्वान्) 'सरस्वान्' अपार रससागर कहते हैं । (यः) जो (ब्रह्मणे) वेदवेत्ता मनुष्य के प्रति (ऋषभम्) 'ऋषभ रूप' परमेश्वर के ज्ञान रहस्य को (आजुहोति) प्रदान करता है (सः) वह (सहस्रम्) हज़ारों (एक-मुखाः) एक परमेश्वर के ही मुख्य विषय को प्रतिपादन करने वाली वेदवाणियों का (ददाति) उपदेश करता है । अर्थात् उस परमात्मा के ज्ञान प्रदान करने के प्रसंग में वह सहस्रों ऋचाओं का व्याख्यान कर देता है ।

बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः ।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१०॥

भा०—हे परमेश्वर ! (ते वयः) तेरे जीवनमय सामर्थ्य को (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों का पालक (सविता) सूर्य (दधौ) धारण करता है । (ते) तेरा (आत्मा) आत्मा (त्वष्टुः वायोः परि आभृतः) सबके उत्पादक, एवं जीवनप्रद वायु के द्वारा व्याप्त है । (अन्तरिक्षे) इस महान् अन्तरिक्ष, आकाश में (त्वा) तुझे (मनसा) अपने मानस संकल्प द्वारा (जुहोमि) अर्पित करता हूँ, कल्पित करता हूँ कि (द्यावापृथिवी) ये द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि (उभे) दोनों (ते) तेरे लिए (बर्हिः) व्याप्त होने के लिये हैं, तेरे आसन रूप हैं ।

———

ऋषभ परमेश्वर के अंगों का वर्णन।

य इन्द्र इव देवेषु गोष्वेति विवावदत्।

तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया ॥ ११ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (देवेषु) देव अर्थात् प्राणों में (इन्द्रः इव) आत्मा के समान (गोषु) वेदवाणियों में व्याप्त होकर (वि वावदत्) नाना प्रकार के ज्ञानोपदेश करता हुआ (एति) स्वयं विराजमान है, (तस्य) उस महान् (ऋषभस्य) श्रेष्ठ परमेश्वर के (अंगानि) अंगों का (ब्रह्मा) चतुर्वेदवक्ता पुरुष (भद्रया) कल्याणमयी वेदवाणी द्वारा (सं स्तौतु) उत्तम रीति से वर्णन करे।

पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजौ।

अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति ॥ १२ ॥

भा०—उस महान् परमेश्वर के (पार्श्वे) दोनों पार्श्व, पासे (अनुमत्याः) अनुमति, द्यौ के (आस्ताम्) कल्पित हैं। और (अनूवृजौ) पसुलियों के दोनों भाग (भगस्य) भग, सूर्य के हैं, (मित्रः) मित्र = वायु (अब्रवीत) कहता है कि (अष्ठीवन्तौ) अस्थि के बने दोनों घुटने (एतौ) ये दोनों (केवलौ मम) मेरे बने हुए या कल्पित हैं।

भसदासीदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पतेः।

पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधीः ॥ १३ ॥

भा०—(भसत) प्रजनन भाग (आदित्यानाम्) आदित्य, १२ मासों का कल्पित किया गया है, और (श्रोणी) कटि के दोनों भाग (बृहस्पतेः) बृहस्पति अग्नि के (आस्ताम्) कल्पित किये हैं (पुच्छं वातस्य देवस्य) पुच्छभाग वात अर्थात् वायु देव का कल्पित है। (तेन)

उससे वह (ओषधीः) ओषधि अर्थात् अग्निमय समस्त लोकों को (धूनोति) निरन्तर चला रहा है ।

गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन् ।
उत्थातुरब्रुवन् पद ऋषभं यदकल्पयन् ॥ १४ ॥

भा०—(सिनीवाल्याः) सिनीवाली अर्थात् रात्रि के (गुदाः आसन्) गुदा भाग कल्पित हैं, (त्वचम् सूर्यायाः अब्रुवन्) विद्वान् लोग सूर्या, उषा को उसकी त्वचा बतलाते हैं। (यत्) जब विद्वान् लोगों ने परमेश्वर के स्वरूप की (ऋषभम्) ऋषभ रूप से (अकल्पयन्) कल्पना की तब (उत्थातुः) उत्थाता अर्थात् प्राण को (पदः) उसके पद (अब्रुवन्) बतलाया ।

क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः ।
देवाः संगत्य यत् सर्व ऋषभं व्यकल्पयन् ॥ १५ ॥

भा०—वह परमात्मा, (जामिशंसस्य) सब जगत् को उत्पन्न करने वाली माता कहने वाले भक्त के लिये, (क्रोडः आसीत्) माता की गोद ही है। और मानो वह स्वयं (सोमस्य) सोम, आनन्द रस का (कलशः) पूर्ण कलश (धृतः) माना गया है। (देवाः) विद्वान् लोग (यत्) भी (सर्वे) सब (संगत्य) नाना प्रकार से संगति लगाकर (ऋषभम्) उस महान् परमेश्वर को (वि अकल्पयन्) विविध प्रकार से कल्पना कर लेते हैं। अथवा (सर्वे देवाः) समस्त दिव्य पदार्थ ही (संगत्य) विविध परस्पर मिलकर स्वयं (ऋषभम्) उस महान् पुरुष को (वि अकल्पयन्) विविध रूपों से कल्पित कर रहे हैं अर्थात् वे ही उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग बना रहे हैं ।

'जामिशंसः'— जाम् अपत्यं जायते अस्याम् इति जामिर्माता । जामिम् इति शंसति स 'जामिशंसः', मातृपदेन भाषमाणो जनः ।

ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान् ।
ऊबध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन् ॥ १६ ॥

भा०—(ते) वे विद्वान् जन (कुष्ठिकाः) प्रजापति की कुष्ठियों, सुमों को (सरमायै) सरमा कुत्तों की जाति रूप से कल्पना करते हैं, (शफान्) और प्रजापति के खुर भागों को (कूर्मेभ्यः) कछुआ रूप से (अदधुः) कल्पना करते हैं, (श्ववर्त्तेभ्यः) एक दो दिन जाने वाली (कीटेभ्यः) समस्त कोमल कीट जातियों को (अस्य) इसका (ऊबध्यम्) अपक्व भोजन या मल (अधारयन्) कल्पित किया ।

'श्ववर्त्तेभ्यः कीटेभ्यः' 'श्व-वर्त' अर्थात् कल तक विद्यमान, एक दिन तक जीने वाले क्षुद्र प्राणी ।

शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा ।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥ १७ ॥

भा०—(यः) जो (गवां पतिः) गौ = वे वाणियों और पृथ्वी आदि लोकों का (अघ्न्यः पतिः) अविनाशी स्वामी, परमात्मा है वह (शृङ्गाभ्याम्) सींगों के समान तीक्ष्ण व्यक्त, अव्यक्त दोनों प्रकार के साधनों से (रक्षः) पीड़कों को (ऋषति) मारता है और (चक्षुषा) अपने सूर्य समान दिव्य तेजोमय चक्षु के निमेष-उन्मेष से ही (अवर्तिम्) असत्, अविद्यमान अभाव पदार्थ का (हन्ति) विनाश करता और सत् पदार्थों को उत्पन्न करता है । वह (कर्णाभ्याम्) कानों से सदा (भद्रम्) कल्याणकारी वचनों को (शृणोति) सुन लेता है ।

शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः ।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥१८॥

भा०—(यः) जो पुरुष (ब्राह्मणे) ब्रह्म के जानने वाले विद्वान् को साक्षी रख कर (ऋषभम्) महान् परमेश्वर का (आजुहोति) यज्ञ, पूजा करता है (सः) वह मानो (शतयाजम् यजते) सैकड़ों यज्ञ करता है। (एनम्) इसको (अग्नयः) अग्नियें संतापकारी पदार्थ (न दुन्वन्ति) दुःख नहीं देते। (तम्) उसको (विश्वे देवाः) समस्त देवगण, विद्वान् और दिव्य पदार्थ अग्नि, जल आदि (जिन्वन्ति) तृप्त या प्रसन्न करते हैं।

ऋषभ दान करने का उपदेश।

ब्राह्मणेभ्य॑ ऋष॒भं द॒त्वा वरी॑यः कृणुते॒ मनः॑ ।
पुष्टिं॒ सो अ॒घ्न्याना॒ं स्वे गो॒ष्ठेव॑ पश्यते ॥ १९ ॥

भा०—यजमान पुरुष (ब्राह्मणेभ्यः) वेदवेत्ता पुरुषों को (ऋषभम्) सर्वश्रेष्ठ परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान का (दत्वा) उपदेश दान देकर (मनः) अपने चित्त को (वरीयः) विशाल (कृणुते) कर लेता है। और (सः) वह दाता इससे (स्वे गोष्ठे) अपने शरीर में (अघ्न्यानाम्) अनश्वर शक्तियों की (पुष्टिं) वृद्धि (अवपश्यते) देखता है।

गावः॑ सन्तु प्र॒जाः स॒न्त्वथो॑ अस्तु त॒नू ब॒लम् ।
तत् सर्व॒मनु॑ मन्यन्तां दे॒वा ऋ॑षभदा॒यिने॑ ॥ २० ॥

भा०—(गावः सन्तु) हमारी इन्द्रिय शक्तियां हों, (प्रजाः सन्तु) उत्तम प्रजा, सन्तानें हों, (अथो) और (तनू बलम् अस्तु) शरीर में बल हो। (देवाः) विद्वान् हितकारी लोग (ऋषभ-दायिने) सर्वश्रेष्ठ प्रभु का उपदेश करने वाले के लिये (तत् सर्वम्) उपरोक्त सब कुछ की (अनु मन्यन्ताम्) अनुमति देते हैं। अर्थात् ऐसे व्यक्ति को ये सब वस्तुएं प्राप्त हो जाती हैं—यह मानते हैं।

अ॒यं पि॑पा॒न इन्द्र॒ इद् र॒यिं द॑धातु चेत॒नीम् ।
अ॒यं धे॒नुं सु॒दुघां॒ नित्य॑वत्सां॒ वशं॑ दुहां वि॒प॒श्चितं॒ प॒रो दि॒वः॥२१॥

भा०—(अयम्) यह (पिपानः) वृद्धिशील विशाल प्रभु (इन्द्र इत्) इन्द्र ही है। वह हमें (चेतनीम्) चेतना सम्पन्न, (रयिम्) सम्पत्ति अर्थात् चितिशक्ति (दधातु) प्रदान करे। (अयम्) वह (नित्यवत्साम्) नित्य मनोरूप वत्स सहित (सु-दुघाम्) उत्तम आनन्दरस देने वाली, सुख से दोहने योग्य (धेनुम्) चितिशक्ति रूप गौ को और (वशम्) वशी, जितेन्द्रिय (विपश्चितम्) मेधावी पुरुष को पूर्ण करे।

पि॒शङ्ग॑रूपो न॒भसो॑ व॒यो॒धा ऐ॒न्द्रः शुष्मो॑ वि॒श्वरू॑पो न॒ आग॑न् ।
आयु॑र॒स्मभ्यं॒ दध॑त् प्र॒जां च॑ रा॒यश्च॒ पोषै॑र॒भि नः॑ सचताम्॥२२॥

भा०—वह ऋषभ परमात्मा (ऐन्द्रः) साक्षात् स्वयं इन्द्र, ऐश्वर्यवान् (शुष्मः) शक्तिमान् (विश्वरूपः) समस्त जगत् में व्यापक, (नभसः) महान् आकाश के (वयोधाः) गतिशील आकाशी तारों, सूर्यों को धारण करने वाला, (पिशङ्गरूपः) अग्नि के समान तेजोमय, परम भास्वरस्वरूप (अस्मभ्यम्) हमें (आयुः) आयु (दधत्) प्रदान करे, और (प्रजां च) प्रजा (रायश्च) तथा नाना सम्पत्तियां प्रदान करे, और (पोषैः) पुष्टिकारक पदार्थों सहित (नः) हमें (अभि सचताम्) प्राप्त हो।

उपे॒होप॑पर्च॒ना॒स्मिन् गो॒ष्ठ उप॑ पृञ्च नः ।
उप॑ ऋष॒भस्य॒ यद् रेत॒ उपे॑न्द्र॒ तव॑ वी॒र्य॑म् ॥ २३ ॥
ऋ० ६ । २८ । ८ ॥

२३—'उपेदमुपपर्चनमासु गोषूपपृच्यताम्। उप ऋषभस्य रेतस पेन्द्र तव-वीर्ये' इति ऋ०।

भा०—जिस प्रकार पशुशाला में गोपाल चाहता है कि सांड गोशाला में आकर गौओं को गर्भित करे उसी प्रकार हे (उपपर्चन) अति समीप हम से अनन्यभाव से सम्पृक्त सदा के संगी परमात्मन् ! (इह) इस अन्तःकरण में (उप) तुम सदा निवास करते हो, (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) गौ, इन्द्रियों के स्थिति स्थान, देह या अन्तःकरण में (नः) हमें सदा (उप पृञ्च) प्राप्त हो। (ऋषभस्य) उस व्यापक श्रेष्ठ का (यत्) जो भी (रेतः) तेज या वीर्य, उत्पादक सामर्थ्य है, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उप) साक्षात् वह (तव वीर्यम्) तेरा ही बल है।

एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्॥२४॥१०

भा०—(एतम्) इस (युवानम्) सदा युवा प्रभु को (वः) तुम्हारे लिये (प्रति दध्मः) तुममें से प्रत्येक में स्थापित करते हैं। (अत्र) इस लोक में हे प्रजाजनो ! (वशान् अनु) तुम अपनी इन्द्रियों को वश करके (तम्) उस प्रभु के साथ (क्रीडन्तीः) क्रीड़ा करती हुई (चरत) विचरो, विहार करो। हे (सुभागाः) सौभाग्ययुक्त प्रजाओ ! आप (जनुषा) स्वभाव से (नः) हमें (मा विहासिष्ट) कभी मत त्यागो और (रायः च) बहुत से धन धान्य (पोषैः) पुष्टिकारक दूध, अन्न आदि पदार्थों सहित (नः सचध्वम्) हमें प्राप्त हो।

इति द्वितीयोऽनुवाकः

[तत्र द्वे सूक्ते, ऋचश्च पञ्चाशत्]

———

[५] अज के दृष्टान्त से पञ्चौदन आत्मा का वर्णन।

भृगुर्ऋषिः। अजः पञ्चोदनो देवता। १,२,५-९,१२-१३,१५,१९,२६ त्रिष्टुभः; ३ चतुष्पात् पुरोऽति शक्वरी जगती; ४, १० जगत्यौ; १४, १७, २७, २६ अनुष्टुभः; ३० ककुम्मती; १६ त्रिपाद् अनुष्टुप्; १८,३७ त्रिपाद् विराड् गायत्री; २०—२२, २५ पञ्चपदा उष्णिग् गर्भोपरिष्टाद्बार्हता भुरिजः; २३ पुर उष्णिक्, २४ पंचपदाऽनुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद् बार्हता विराड् जगती; ३१ सप्तपदा अष्टिः, ३३—३५ दशपदाः प्रकृतयः, ३६ दशपदा प्रकृतिः, ३८ एकावसाना द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्। अष्टात्रिंशदर्चं सूक्तम्॥

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम्॥१॥

भा०—हे पुरुष! (आनय) इस जीवात्मा को वश करके सन्मार्ग पर ले चल। (एतम् आ रभस्व) इस व्रत, वानप्रस्थ को आरम्भ कर। तेरा आत्मा (सु कृताम्) पुण्य करने हारे महापुरुषों के (लोकम् अपि) लोक को भी (प्रजानन्) उत्कृष्ट, ज्ञान सम्पन्न होकर (गच्छतु) प्राप्त हो। और वह आत्मा (बहुधा) बहुत तरह के (महान्ति) बड़े बड़े (तमांसि) अज्ञानों को, शोक, मोह, लोभ, काम, क्रोध आदि को (तीर्त्वा) पार करके (अजः) स्वयं अपने को अजन्मा, नित्य जान कर (तृतीयम्) तृतीय, तीर्णतम, इन सब विघ्न बाधाओं से बहुत परे स्थित (नाकम्) सुखमय मोक्षधाम में भी (आ क्रमताम्) जावे।

'उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।' क० उप० १। १२॥ 'महान्ति तमांसि'—बड़े भारी अन्धकारमय मृत्यु के पाश, जैसे—स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।' कठ० उप० १। १८॥

'नाकम्'—स्वर्गो वै लोको नाकः। श० ६।३।३।१४॥ तम् (त्रयस्त्रिंशं स्तोमं) उ नाकमित्याहुः। नहि प्रजापतिः कस्मैचन अकम्। तां० १०।१।१८॥ नहि तत्र जग्मुषे कस्मै चन अकं भवति। तां० २१।८।४॥ नाक स्वर्ग लोक है। वह ही ३३ वां देव प्रजापति स्वयं है। प्रजापति किसी के दुःख का कारण नहीं है। उस 'नाक' प्रजापति प्रभु के पास जाने वाले किसी को दुःख नहीं होता। 'तमांसि'—मृत्युर्वै तमः। श० ५३।१।२।२॥ 'पाप्मा वै तमः'। श० १२।९।२।८॥ पं० शंकर पाण्डुरंग ने इस सूक्त का विनियोग पञ्चौदन सव में बकरे को बलि करने, मारने, उसको मार कर स्वर्ग पहुँचाने के निमित्त किया है सो असंगत है।

इन्द्रा॑य भा॒गं परि॑ त्वा नयाम्य॒स्मिन् य॒ज्ञे यज॑मानाय सू॒रिम्।
ये नो॑ द्वि॒षन्त्यनु॒ तान् र॑भ॒स्वाना॑गसो॒ यज॑मानस्य वी॒राः ॥२॥

भा०—(अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (त्वा) तुझ (सूरिम्) पाप आदि दोषों को तप से नष्ट कर देने वाले विद्वान् तपस्वी (भागम्) ईश्वर का सेवन करने वाले पुरुष को (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील (यजमानाय) समस्त यज्ञसम्पादन करने वाले के लिये (परि नयामि) प्रस्तुत करता हूं। हे तपोनिष्ठ आत्मन्! (नः) हमें (ये) जो (द्विषन्ति) द्वेष भी करते हों तू (तान्) उन को भी (अनु रभस्व) अनुकूल होकर, उन्हें प्राप्त कर, उनके भी समीप जा। जिससे (यजमानस्य) सब को संगति कराने वाले परमेश्वर के (वीराः) पुत्र सभी (अनागसः) पापरहित, निरपराध हों।

प्र प॒दो॑ऽव नेनिग्धि॒ दुश्च॑रितं॒ यच्च॒चार॑ शु॒द्धैः श॒फैरा क्र॑मतां प्रजा॒नन्।
ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा वि॒पश्य॑न्न॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म् ॥३॥

भा०—हे पुरुष! (पदः) चरणों को (प्र अव नेनिग्धि) भली प्रकार धो डाल, अर्थात् (यत् दुश्चरितं चचार) जो तूने दुष्ट आचरण किया है उसे धो डाल। फिर (शुद्धैः) शुद्ध निर्मल (शफैः) आच-

रणों से (अजः) अजन्मा, आत्मा (प्रजानन्) ज्ञानवान् होकर (आक्रमताम्) आगे बढ़े। और फिर (बहुधा) बहुत से (तमांसि) पापों और मृत्यु के शोक आदि अन्धकारों को (तीर्त्वा) पार करके (विपश्यन्) विशेष रूप से ब्रह्म का दर्शन करता हुआ विवेकी होकर (अजः) अज, आत्मा (तृतीयम्) शोक मोह आदि से पार स्थित (नाकम्) आनन्दमय परम मोक्ष पद को (आक्रमताम्) प्राप्त हो।

अनु॑ च्छ्य श्यामेन॒ त्वच॑मे॒तां वि॑शस्तर्यथाप॒र्वं॒॑सिना॒ माभि म॑स्थाः
माभि द्रु॑हः परु॒शः क॑ल्पयैनं तृ॒तीये॒ नाके॒ अधि॒ वि श्र॑यैनम् ॥४॥

भा०—हे (वि-शस्तः) विशेष रूप से ब्रह्म का उपदेश करने हारे गुरो ! पुरुष ! अथवा अपने कर्म बन्धनों को काटने में उद्यत (एताम्) इस (त्वचम्) आत्मा को ढकने वाली आवरण रूप तामस अविद्यारूप त्वचा को (श्यामेन) ज्ञानमय (असिना) सत प्रकाश से (यथापरु) यथाशक्ति (अनुच्छ्य) काट डाल। उतने पर भी स्वयं निष्पाप, निर्बन्ध, मुक्त होकर लोकलोकान्तरों में स्वतन्त्र होकर विचरने का अधिकारी होने या उच्च पद प्राप्ति के लिये (मा अभि मंस्थाः) अभिमान मत कर। और (मा अभिद्रुहः) किसी से द्रोह मत कर। प्रत्युत (एनम्) इस आत्मा के (परुषः) प्रत्येक अंग को प्रत्येक पर्व या शक्ति के भाग को (कल्पय) साधननिष्ठ एवं समर्थ, शक्तिमान् बना। और तब (एनम्) इसको (तृतीये) सब दुःखों से पार स्थित (नाके) परम सुखमय पद में (अधि विश्रय) स्थापित कर।

ऋ॒चा कु॒म्भीमध्य॒ग्नौ श्र॑या॒म्या सि॑ञ्चो॒द॒कमव॑ धे॒ह्येनम्।
प॒र्याध॑त्ता॒ग्निना॑ शमि॒तारः॑ शृ॒तो ग॑च्छतु सु॒कृतां॒ यत्र॑ लो॒कः ॥५॥

भा०—(अग्नौ) जिस प्रकार अग्नि पर (कुम्भीम्) डेगची रख कर उसे तपाया जाता है उस प्रकार मैं ज्ञान का पिपासु और मुमुक्षु (ऋचा) ज्ञान की अग्नि द्वारा अपने आप को (अग्नौ) ज्ञानाग्निमय परमात्मा या गुरु के ऊपर रख उस को (अधि श्रयामि) परिपाक करता हूँ। हे गुरो ! परम ब्रह्मन् ! (उदकम्) जिस प्रकार तपी हांडी में जल डाला जाता है उसी प्रकार मुझ परितप्त, तपस्वी जिज्ञासु में ज्ञानरूप या 'उत्-अक' उत्तमगति या परम सुख प्राप्ति के उपायभूत ब्रह्मोपदेश को (आसिञ्च) प्रदान कर मुझ में प्रवाहित कर। गुरु इस प्रकार जिज्ञासु के तप से प्रसन्न होकर योग्य पात्र जान कर प्रेम से ब्रह्मचारी, तपस्वी और जितेन्द्रिय, शान्तचित्त के प्रति उपदेश करे। हे प्रिय तपस्विन् ! (एनम्) उस पूर्वोक्त आत्मा का (अव धेहि) सावधान होकर ज्ञानकर "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च।" "तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" इत्यादि उप०। इस प्रकार जब एक गुरु से ज्ञान प्राप्त करे तब 'तीर्थात् तीर्थान्तरं व्रजेत्' इस न्याय से क्रम से बहुत से ब्रह्मज्ञानियों से ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करे। उनसे कहे—हे (शमितारः) शमदमादि गुणों से सम्पन्न गुरुजनो ! (अग्निना) उस ज्ञानमय ब्रह्म से या प्रकाशस्वरूप ब्रह्मज्ञान से (पर्याधत्त) मुझे युक्त करो, मुझ में ब्रह्माग्नि का स्थापन करो। इस प्रकार (श्रुतः) तपस्या में परिपक्व होकर तपस्वी महात्माओं का (यत्र लोकः) जहां निवास हो वहां ही (गच्छतु) जावे और उनसे ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करे।

उत्क्रा॑मा॒तः परि॑ चे॒दत॑प्तस्त॒प्ताच्च॒रोरधि॒ नाकं॑ तृ॒तीय॑म्।
अ॒ग्नेर॒ग्निरधि॒ सं ब॑भूविथ॒ ज्योति॑ष्मन्तम॒भि लो॒कं ज॑येतम्॥६॥

भा०—हे मुमुक्षो ! इस प्रकार ज्ञानवान् होकर (अतः परि च इत) इस लोक से (उत् क्राम) उत्तम लोक को प्राप्त हो। यदि तूने

(अतप्तः) पर्याप्त तप न कर लिया हो तो (तप्तात् चरोः) जिस प्रकार तपी हांडी से जल तप्त होकर ऊपर वाष्पमय होकर उठता है उसी प्रकार तू भी (तप्तात् चरोः) तपस्या के आचरण से (तृतीयम्) उस परम, सब दुःखों के पार (नाकम्) सुखमय मुक्तिधाम को प्राप्त हो। तू (अग्नेः अधि) ज्ञानवान्, प्रकाशस्वरूप परम गुरु ब्रह्म से ज्ञान प्राप्त करके स्वयं (अग्निः) ज्ञानवान् प्रकाशस्वरूप (सं बभूविथ) हो जा। और (एतम्) उस (ज्योतिष्मन्तम्) ज्योतिर्मय लोक को (अभि जय) साक्षात् प्राप्त कर।

अज के स्वरूप का वर्णन

अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः॥ ७॥

भा०—(अजः अग्निः) 'अज' आत्मा स्वयं अग्नि, प्रकाशस्वरूप है। (अजम् उ ज्योतिः आहुः) अज अर्थात् अजन्मा आत्मा को ब्रह्मज्ञानी लोग 'ज्योति' के नाम से पुकारते हैं। (जीवता) प्राणधारी विद्वान् को अपने जीवन काल में (ब्रह्मणे) उस परब्रह्म के भेंट (अजम्) इस अजन्मा आत्मा को ही (देयम्) समर्पण करने योग्य उपहार (आहुः) विद्वान् लोग बतलाते हैं। (अस्मिन् लोके) इस लोक में (श्रद्दधानेन) श्रद्धा करने हारे, सत्य धारण में समर्थ जिज्ञासु द्वारा (दत्तः) समर्पित किया हुआ (अजः) यह आत्मा ही (तमांसि) सब अज्ञान अन्धकारों को (दूरम्) दूर (अप हन्ति) मार भगाता है।

पंचौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व॥८॥

भा०—(पञ्चौदनः) यह पुरुष पांच ओदनों, पांच वीर्यों, पांच प्राणों से युक्त होकर (त्रीणि ज्योतींषि) तीनों ज्योतियों को (आक्र-

स्यमानः) प्राप्त करने की अभिलाषा वाला मुमुक्षु (पञ्चधा) पांचों प्राणों से (वि क्रमताम्) उद्योग करे। हे साधक मुमुक्षो ! तू (ईजानानाम्) प्राणाग्निहोत्र के यज्ञ करने हारे, ईश्वरसंगति के साधक (सुकृताम्) उत्तम पुण्यात्मा, सुचरित्र, निष्ठ, कृतकृत्य विद्वानों के (मध्यम्) बीच में (प्रेहि) जा, उन में निवास कर और तब उनसे ज्ञान प्राप्त करके (तृतीये नाके) तीर्णतम, परले पार के, परमोक्ष धाम में (अधि वि श्रयस्व) प्राप्त होजा।

'पञ्चौदनः'—यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ कठ उप० ६।१०॥

ये पांच इन्द्रियों के पंच ज्ञान सामर्थ्य ओदन हैं। ये भोग्य होने से खाद्य पदार्थ के तुल्य हैं। उनको तपस्या से परिपक्व करले जिनसे ये विषयों में न भागें। वे पांचों जब मनके साथ निगृहीत हों और बुद्धि भी विपरीत मार्ग में न जाए वही परमगति की प्राप्ति है।

'त्रीणि ज्योतींषि'—तीन ज्योतियां-अग्नि, विद्युत् और सूर्य तथा अध्यात्म में आत्मा, इन्द्रिय और मन। उपनिषत् की परिभाषा में—प्राण, अपान और व्यान।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते। क० ५।३॥ 'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'। प्रश्न उप०। 'पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' इत्यादि उपनिषद् वाक्य पंचौदन और तीन ज्योतियों की व्याख्या करते हैं।

अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोति दुर्गाण्येषः।
पंचौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति ॥ ९ ॥

भा०—हे (अज) अजन्मा आत्मन् ! तू यह जन्म मरण वाला देह नहीं। तू अमृत और अजन्मा आत्मा है। अतः हे अज ! (यत्र) जहां (सुकृताम्) पुण्यात्मा, जीवन्मुक्त लोगों का (लोकः) निवास

है तू उस उत्तम लोक को (आरोह) पहुंच जा। (एषः) यह आत्मा (चत्तः) अति आह्लादित होकर (शरभः न) व्याघ्र के समान (दुर्गाणि) दुःख से पाने योग्य दुर्गम मार्गों, भवबन्धनों को (अति) पार कर जाता है। (पञ्चौदनः) पूर्वोक्त पांचों प्राणों सहित यह आत्मा जब (ब्रह्मणे) ब्रह्म के निमित्त (दीयमानः) समर्पित कर दिया जाता है (सः) वह समर्पित आत्मा ही (दातारम्) अपने समर्पक पुरुष को (तृप्त्या तर्पयाति) परम आनन्द से पूर्णकाम कर देता है।

संप्राप्यैनं ऋषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ॥ मुण्डक २।५॥ मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥ गीता० १८।५० ॥

अजो नाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति।
पंचौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघास्येका ॥१०॥

भा०—वह (अजः) अज, परमात्मा (ददिवांसम्) अपने को आत्म-समर्पण करने हारे मुमुक्षु को (त्रिनाके) आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों से रहित, (त्रिदिवे) तीनों ज्योतियों से पूर्ण, (त्रिपृष्ठे) तीनों प्रकार के रस, आनन्द से सम्पन्न (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गमय परम पद के पीठ पर (दधाति) ले जाता है। ठीक भी है! (ब्रह्मणे दीयमानः पञ्चौदनः) ब्रह्म में समर्पित किया पंच प्राण, पंच ज्ञान सामर्थ्यों से युक्त आत्मा (विश्वरूपा) 'विश्वरूपा' सब प्रकार के रस देने हारी (धेनुः) गाय है। अहो ! तू आत्मा के भीतर आनन्दधारा के बहाने वाली अमृत-रस के पिलाने वाली, सचमुच (एका) एकमात्र (कामदुघा असि) साक्षात् समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली कामधेनु है।

एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पंचौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥११॥

भा०—हे (पितरः) जीवन के पालक पितृगण! प्राणो! (एतत्) यह अज आत्मारूप (ज्योतिः) ज्योति (वः) तुम्हारी (तृतीयम्) सब से बढ़ी चढ़ी ज्योति है। (ब्रह्मणे) परम ब्रह्म को (पञ्चौदनम्) पूर्वोक्त पांच ओदन रूप पांचों इन्द्रियों और उनके विषयों सहित अपने (अजम्) अजन्मा आत्मा को जो (ददाति) समर्पित कर देता है ऐसे (श्रद्दधानेन) श्रद्धासम्पन्न मुमुक्षु द्वारा (दत्तः) समर्पित वह आत्मा (अजः) अजन्मा चेतन (अस्मिन् लोके) इस लोक में ही, इस जीवन काल में ही (तमांसि) समस्त पापों, मृत्यु के बन्धनों को (दूरम् अपहन्ति) दूर कर देता है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ गीता० १८।५३॥

गीता का ब्रह्म में आत्मसमर्पण का सिद्धान्त अथर्ववेद के इसी सूक्त पर आश्रित है।

ई॒जा॒नानां॑ सु॒कृतां॑ लो॒कमीप्स॒न् पंचौ॑दनं ब्र॒ह्मणे॒ऽजं द॑दाति।

स व्याप्ति॑म॒भि लो॒कं ज॑येतं शि॒वो॒३॑ऽस्मभ्यं॑ प्रति॑गृहीतो अस्तु ॥१२॥

भा०—जो पुरुष (ईजानानाम्) अध्यात्म यज्ञशील (सुकृताम्) शुभ कर्मकारी पुण्यात्माओं के (लोकम् ईप्सन्) लोक को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ अपने (पञ्चौदनम् अजम्) पञ्चौदन अज, आत्मा को (ब्रह्मणे) ब्रह्म परमात्मा में (ददाति) समर्पित कर देता है (सः) वह (एतम्) उस (लोकम्) लोक को (व्याप्तिम्) व्याप्त करके (अभिजय) साक्षात् करले। वह (प्रतिगृहीतः) ब्रह्मद्वारा स्वीकृत होकर ब्रह्मस्वभाव को प्राप्त होकर भी (अस्मभ्यम्) हम जैसे सामान्य लोगों के लिये (शिवः अस्तु) कल्याणकारी हो जाता है।

भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ गीता १८।५५॥

अजो ह्य॒ग्नेरज॑निष्ट॒ शोका॑द् विप्रो॒ विप्र॑स्य॒ सह॑सो विप॒श्चित्।
इ॒ष्टं पू॒र्तम॒भिपू॑र्तं॒ वष॑ट्कृतं॒ तद् दे॒वा ऋ॑तु॒शः क॑ल्पयन्तु ॥ १३ ॥

भा० – (अजः) अज, आत्मा (विप्रः) मेधावी, पूर्णकाम (सहसः) उस बलशाली परमात्मा से (विपश्चित्) समस्त ज्ञान और कर्मों का संग्रह करने हारा होकर (अग्नेः) उस प्रकाशस्वरूप (विप्रस्य) परम मेधावी परमात्मा के (शोकात्) प्रकाश से (अजनिष्ट) प्रकाशित होता है। इसलिये इस पद को प्राप्त होने के लिये हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! आप लोग अपनी आत्मा की उन्नति के लिये (इष्टम्) यज्ञ, याग (पूर्तम्) प्रजा के पालनार्थ परोपकार के कार्यों (अभिपूर्तम्) आत्मा के पालनार्थ सत्य भाषणादि कार्य और (वषट्-कृतम्) स्वाहाकार आदि यज्ञों को (ऋतुशः) ठीक ठीक ऋतुओं के अनुसार (कल्पयन्तु) किया करो। इससे प्रजा में सुख शान्ति होकर ध्यान, तप आदि करने का उत्तम अवसर प्राप्त होगा।

अमो॑तं॒ वासो॑ दद्या॒द्धिर॑ण्य॒मपि॒ दक्षि॑णाम्।
तथा॑ लो॒कान्त्सम॑प्नोति॒ ये दि॒व्या ये च॒ पार्थि॑वाः ॥ १४ ॥

भा०—ब्रह्मज्ञानी अपने उपदेश करनेवाले गुरु को (अमा-उतम्) अपने घर में बुना हुआ (वासः) वस्त्र (दद्यातु) देवे, और (हिरण्यम् अपि) सुवर्ण भी (दक्षिणाम्) दक्षिणा के रूप में दे। अर्थात् ब्रह्मज्ञानी अपने आप से प्राप्त किया आच्छादन यह शरीर और हिरण्य रूप आत्मा दानों को गुरु-दक्षिणा रूप में परमात्मा के अर्पण करदे। (तथा) उस प्रकार से (ये दिव्याः ये च पार्थिवाः) जो दिव्य और

इस पृथिवी के लोक हैं उन (लोकान्) समस्त लोकों को (सम् आप्नोति) प्राप्त हो जाता है ।

एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः ।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेधि सप्तरश्मौ ॥ १५ ॥

भा०—हे (अज) अजन्मा, आत्मन् ! (एताः) ये (सोम्याः) सोम परमात्मा की (देवीः) कमनीय, (घृत-पृष्ठाः) प्रकाशस्वरूप (मधुश्चुतः) मधु, आनन्दरस को बहाने वाली (धाराः) धारण शक्तियां या आनन्दरस की धाराएं (त्वा उप यन्तु) तुझे प्राप्त हों। वह परमात्मा (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गमय परम धाम में विराजमान (सप्तरश्मौ) सात इन्द्रियों से युक्त या सर्पणशील व्यापक रश्मियों, आकर्षण शक्तियों से युक्त सूर्य के भी (अधि) ऊपर अधिष्ठातास्वरूप होकर (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और महान् आकाश को (स्तभान) थाम रहा है ।

अजोऽस्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन् ।
तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम् ॥ १६ ॥

भा०—हे आत्मन् ! (अजः असि) तू अजन्मा है । हे (अज) अजन्मन् ! आत्मन् ! तू (स्वर्गः असि) स्वयं स्वर्ग अर्थात् स्वः = परम तेजोमय परमात्मपद तक प्राप्त होने में समर्थ है। (त्वया) तेरी साधना से (अङ्गिरसः) ज्ञानी पुरुष (लोकम्) परम 'लोक' नाम से विख्यात परमेश्वर का (प्राजानन्) ज्ञान करते हैं । (तम्) उस परम (लोकम्) सब के साक्षी, सर्वद्रष्टा, सबके प्राप्त करने योग्य परमात्मा को

१६–(तृ०) तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना । इति यजु० २०, २५ तृ० च० ॥

में मुमुक्षु जन (पुण्यम्) पुण्य, परम पवित्र पद ही (प्र ज्ञेषम्) जानता हूं।

येन॑ स॒हस्रं॒ वह॑सि॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम्।
तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ वह॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥१७॥ यजु० २१। ५५॥

भा०—हे परमात्मन् ! (येन) जिस बल और सामर्थ्य से तू (सहस्रम्) इस समस्त संसार को (वहसि) धारण करता और हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप गुरो ! परमात्मन् ! (येन) जिस बल से तू (सर्ववेदसम् वहसि) समस्त ज्ञान को धारण करता है (तेन) उस बल से (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञरूप आत्मा को (देवेषु) ज्ञानवान् मुक्त पुरुषों के बीच (स्वः) प्रकाशमय मोक्षधाम (गन्तवे) प्राप्त करने के लिये (वह) लेजा।

अ॒जः प॒क्वः स्व॒र्गे लो॒के द॑धाति॒ पञ्चौ॑दनो॒ निर्ऋ॑तिं॒ बाध॑मानः।
तेन॑ लो॒कान्त्सूर्य॑वतो जयेम ॥ १८ ॥

भा०—(पंचौदनः) पंच प्राणों के सामर्थ्यों से सम्पन्न (पक्वः) परिपक्व ज्ञानी (अजः) अज, अजन्मा आत्मा, अपने ज्ञानबल से (निर्ऋतिम्) अविद्या को (बाधमानः) नाश करता हुआ (स्वर्गे लोके) परमसुखमय लोक परमेश्वर में अपने को (दधाति) रखता है। हम (तेन) उस अज, आत्मा के सामर्थ्य से (सूर्यवतः) प्रकाशमय परब्रह्म से युक्त (लोकान्) लोकों को (जयेम) प्राप्त हों।

यं ब्रा॑ह्म॒णे नि॑द॒धे यं च॑ वि॒क्षु या वि॒प्रुष॑ ओद॒नाना॑म॒जस्य॑।
सर्वं॒ तद॑ग्ने सुकृ॒तस्य॑ लो॒के जा॑नी॒तान्नः॑ सं॒गम॑ने पथी॒नाम् ॥१९॥

भा०—(यम्) जिस अज आत्मा को परमेश्वर ने (ब्रह्मणे) ब्रह्म

१७–(प्र०) 'येन वहसि सहस्रं' (तृ०) 'यज्ञं नो नय' इति यजु०।

अर्थात् वेद के विद्वान् ब्रह्मज्ञानी में (निदधे) रक्खा है और (यं च) जिस आत्मा को उस प्रभु ने (विक्षु निदधे) सर्वसाधारण प्रजाओं या प्राणधारियों में रक्खा है। और (अजस्य) उस अजन्मा आत्मा के (ओदनानाम्) ओदन रूप प्राणों के (याः) जो (विप्रुषः[1]) विशेष स्नेहन, सेचन या पूरण करने वाले सामर्थ्य या शक्तियां या विविध प्रकार की दीप्तियां हैं हे (अग्ने) परमात्मन् ! (सर्वं तत्) उस सब को (सुकृतस्य लोके) पुण्य के उस परम मोक्षलोक में और (पथीनाम्) समस्त पन्थाओं, मार्गों या प्राणशक्तियों के (संगमने) एकत्र प्राप्ति से (नः) हमें (जानीतात्) प्राप्त करने की अनुमति देना। अर्थात् मोक्षधाम में भी ये सब सामर्थ्य हमारे पास रहें, जिससे मोक्ष के परम सुख का हम स्वतन्त्रता से रस ले सकें।

अज परमात्मा के विराट् रूप का वर्णन

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम् ।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ २० ॥ (१२)

भा०—(अजः वै) निश्चय से अज अनादि, अजन्मा परमात्मा ने (इदम्) इस संसार को (अग्रे) सबसे प्रथम (व्यक्रमत) नाना प्रकार से रचा था और उस में स्वयं व्याप्त हो गया था। इसलिये संसार के भिन्न भिन्न भागों की इस रूप से कल्पना की जाती है जैसे (तस्य) उस अजन्मा परमात्मा का (उरः) वक्षःस्थल (इयम्) वह पृथिवी (अभवत्) है। (द्यौः पृष्ठम्) द्यौः पीठ है। (अन्तरिक्षम् मध्यम्) अन्तरिक्ष मध्यभाग है। (दिशः पार्श्वे) दिशाएं पार्श्व भाग हैं। (समुद्रौ कुक्षी) समुद्र दोनों, जलसमुद्र और आकाश ये उसकी कोखें हैं।

१६–१. प्रुष, प्लुष स्नेहनसेचनपूरणेषु (क्रयादिः) अथवा प्रुष प्लुष दाहे (भ्वादिः)।

सत्यं चर्तं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः ।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यद्जः पंचौदनः ॥ २१ ॥

भा०—(सत्यं च ऋतं च चक्षुषी) सत्य, व्यक्त जगत् और ऋत, अव्यक्त ये दोनों उसकी चक्षुएं हैं। (विश्वं सत्यम्) यह विश्व सत्य अर्थात् उसका प्रकट देह है, (श्रद्धा प्राणः) श्रद्धा, सत्य का धारण-बल प्राण है। (विराट् शिरः) विराट् शिरोभाग है। (यत्) और जो यह (पञ्चौदनः) पांच ओदनों वाला, पांच भूतों का पति, पांचों को प्रलयकाल में अपने भीतर भात के समान खा जाने वाला महान् (अजः) अजन्मा परमात्मा है (एष एव) वह ही (अपरिमितः) परिमाणरहित, अनन्त (यज्ञः) यज्ञ अर्थात् महान् आत्मा है। पूर्व मन्त्र और इस मन्त्र से विराट् की स्थिति और यज्ञमय प्रजापति तीनों का वर्णन समान पदों से कर दिया गया है।

अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्द्धे ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २२ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा, शक्ति रूप ज्योति से युक्त (पञ्चौदनम्) पूर्वोक्त पञ्चौदन (अजम्) आत्मा का अपने शिष्यों को या जिज्ञासुओं को उपदेश करता या उसे ब्रह्म को समर्पित कर देता है वह (अपरिमितं यज्ञम्) अपरिमित, अनन्त यज्ञमय परमात्मा को (आप्नोति) प्राप्त होता है और (अपरिमितम्) अपरिमित, अनन्त (लोकम्) लोक को (अवरुन्धे) वश करता है या अपरिमित, प्रकाशमय परब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् ।
सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत् ॥ २३ ॥

भा०—प्रत्येक प्राणी में उसी चेतन अज आत्मा को जान कर

बुद्धिमान् पुरुष (अस्य) इस प्राणी के (अस्थीनि) हड्डियों को (न भिन्द्यात्) न तोड़े, (मज्ज्ञः) मज्जाओं को भी (न निः धयेत्) न पीसे, प्रत्युत (सर्वम् एनं समादाय) उस सबको लेकर (इदम् इदम्) प्रत्येक प्राणी में उस आत्मा को साक्षात् रूप में (प्र वेशयेत्) व्याप्त जाने वा उसको व्याप्त देखे, उसकी कल्पना करे ।

इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं स गमयति ।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे योऽजं पंचौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२४॥

भा०—(इदम् इदम्) 'यह, यह' प्रत्येक प्राणी (एव) ही (अस्य) इस आत्मा का (रूपम्) अभिव्यक्त प्रकट रूप (भवति) है । विद्वान् पुरुष (तेन) उस परम आत्मा से (एनम्) इस प्राणी को (सं गमयति) तुलना करके विचार करता है । (यः) जो पुरुष (दक्षिणाज्योतिषम्, पञ्चौदनं अजं ददाति) क्रियाशक्ति रूप चेतना से सम्पन्न पंच प्राणमय, अज, चेतन आत्मा को उस परमात्मा के भेंट समर्पित कर देता है वह परमात्मा उसको (इषम्) अन्न, (महः) तेज और (ऊर्जम्) बल (दुहे) भरपूर देता है ।

पंचरुक्मा पंच नवानि वस्त्रा पंचास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति ।
योऽजं पंचौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २५ ॥

भा०—(यः अजं पंचौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति) जो पुरुष ज्योतिःस्वरूप पंचौदन अज को परमेश्वर के प्रति समर्पित कर देता है (अस्मै) उस पुरुष को (पञ्च रुक्मा) पांचों रुचिकर, सुवर्ण रूप पांचों प्रकार के भोग्य पदार्थ, (पञ्च नवानि वस्त्रा) पांचों नये वस्त्र अर्थात् पांचों कोश और (अस्मै) उस के लिये (पञ्च धेनवः) पांचों ज्ञानेन्द्रिय रूप धेनुएं (काम-दुघाः) यथेष्ट फल देने वाली कामधेनु के समान (भवन्ति) हो जाती हैं ।

पञ्च॑ रु॒क्मा ज्योति॑रस्मै भवन्ति॒ वर्म॑ वासां॑सि त॒न्वे॑ भवन्ति ।
स्व॒र्गं लो॒कम॑श्नुते॒ यो॒३॑जं पंचौ॑दनं दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति ॥२६॥

भा०—(यः दक्षिणाज्योतिषं पञ्चौदनं अजं ददाति) जो दक्षिणा ज्योतिष्, पञ्चौदन अज आत्मा का प्रदान करता है वह (स्वर्गं लोकं अश्नुते) स्वर्गलोक, परम मोक्षधाम का आनन्द प्राप्त करता है, (अस्मै) उसके (पञ्च रुक्मा) पांचों रोचमान इन्द्रियां (ज्योतिः) प्रकाशमय हो जाते हैं और (पञ्च वासांसि) पांचों आच्छादक कोश उस के (वर्म) कवच (भवन्ति) हो जाते हैं।

या पूर्वं पतिं॑ वि॒त्त्वाथान्यं वि॒न्दतेऽप॑रम् ।
पंचौ॑दनं च॒ ताव॒जं ददा॑तो न वि यो॑षतः ॥ २७ ॥

भा०—(या) जो स्त्री (पूर्वं पतिं वित्त्वा) अनादि काल से विद्यमान पति अर्थात् संसार के रक्षक को प्राप्त होकर (अथ) बाद में (अन्यम्) परमात्मा से भिन्न (अपरम्) दूसरे लौकिक पति को (विन्दते) प्राप्त करती है (च) तब भी यदि वे दोनों (पञ्चौदनम्) पांचों ओदन, पांचों भोग्य पदार्थ युक्त अपने (अजम्) अजन्मा आत्मा को (ददातः) परमात्मा के प्रति सौंपे रहते हैं तो वे (न वि योषतः) दोनों कभी परमात्मा से वियुक्त नहीं होते, अर्थात् वे सच्चे गृहस्थी भी परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं।

स॒मानलो॑को भवति पुन॒र्भुवाप॑रः पतिः॑ ।
यो॒३॑जं पंचौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति ॥ २८ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष भी (दक्षिणाज्योतिषं पञ्चौदनम् अजं) दक्षिणाज्योतिष पञ्चौदन अज को (ददाति) गृहस्थी होकर भी परमात्मा के प्रति समर्पित कर देता है वह (अपरः पतिः) दूसरा अर्थात् लौकिक पति भी (पुनर्भुवा) पुनः विवाह करने हारी द्वितीय लौकिक पति को

वरण करने वाली स्त्री के साथ पत्नीव्रत धर्म से रहता हुआ (समानलोकः भवति) उसी दर्शनीय परमात्मा को प्राप्त कर लेता है जिसे कि परमात्मपरायणा उसकी धर्मपत्नी प्राप्त करती है ।

अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम् ।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् ॥ २९ ॥

भा०—(अनुपूर्व-वत्साम्) प्रति वर्ष क्रम से बछड़ा देने वाली (धेनुम्) गाय, (अनड्वाहम्) शकट खैंचने में समर्थ बैल, (उपबर्हणम्) एक बड़ा तकिया (वासः) वस्त्र और (हिरण्यम्) सुवर्ण का (दत्त्वा) दान देकर (ते) वे लोग (उत्तमाम्) उत्कृष्ट (दिवम्) प्रकाशमय लोक को (यन्ति) प्राप्त होते हैं। धेनु आदि शब्द यहां सांकेतिक हैं जैसे धेनु वाणी । उसका वत्स मन है । क्रम से मनोयोग सहित उच्चारण की गई वाणी 'अनुपूर्ववत्सा धेनु' है । प्राण = अनड्वान् या बैल है । उपबर्हण = अन्न है । वत्स = शरीर है, हिरण्य = आत्मा है। जो प्रजाजन के भले के लिए अपनी इन शक्तियों का दान करते हैं, प्रजाजन से प्रतिफल न चाहता हुआ उनके उपकार में इन्हें लगा देता है वह मोक्ष को पाता है ।

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् ।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये ॥ ३० ॥ (३१)

भा०—(आत्मानम्) अपनी आत्मा को (पितरम्) पिता को (पुत्रम्) पुत्र को (पौत्रम्) पौत्र को, (पितामहम्) पितामह को (जायाम्) जाया को और (जनित्रीं मातरम्) उत्पन्न करने हारी माता को और (ये प्रियाः) जो मेरे प्रिय, इष्ट बन्धु हैं (तान्) उन सबको मैं (उप ह्वये) अपने पास बुलाऊँ और उनको उपदेश करूं ।

पञ्चौदन अज का रूपान्तर

यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद । एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पंचौदनः ।

निरे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रियं॑ दहति॒ भव॑त्या॒त्मना॑।
यो॒३॑जं पंचौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति ॥३१॥

भा०—(एष वै नैदाघो नाम ऋतुः) यह नैदाघ अर्थात् नितरां दग्ध करने वाली ग्रीष्म ऋतु (अजः पंचौदनः) पंचौदन अज का ही एक रूप है। अजन्मा परमात्मा अज है, और वह प्रलयकाल में पांचों भूतों का भक्षण सा कर लेता है, इसलिये ये पांचों भूत परमात्मा के ओदन रूप हैं, अर्थात् भात रूप हैं। अतः परमात्मा पंचौदन अज है। (यो वै नैदाघं नाम ऋतुं वेद) इसलिये जो कोई नैदाघ ऋतु को जानता है और इस ऋतु के उत्पादक परमात्मा को जान लेता है, और साथ ही (योजं पंचौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति) जो कोई इस पंचौदन अज का दान करता है, अर्थात् इस ज्योतिर्मय और पांचों भूतों को समेटने वाले अजन्मा प्रभु का दान करता है, जैसे कि यजमान दक्षिणा का दान किया करता है वैसे ही आत्मिक यज्ञ का जो यजमान इस प्रभु का उपदेश प्रजाजनों को दान रूप में देता है, वह (आत्मना भवति) इस आत्मा के सहारे रहता है और (निः एव अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति) इसके अप्रिय शत्रुओं का तेज नष्ट हो जाता है। काम, क्रोध आदि शत्रु उस समय अप्रिय लगने लगते हैं जिस समय कि आत्मिक यज्ञ का करने वाला आत्मा की ओर पग बढ़ाता है। प्रकृति में लीन पुरुष को काम क्रोध आदि प्रिय हैं परन्तु आत्मनिरत पुरुष को ये काम क्रोध आदि अप्रिय अर्थात् शत्रुरूप लगने लगते हैं। अतः आत्मनिरत पुरुष इनकी श्री के नाश करने में यत्नवान् होता है।

यो वै कु॒र्वन्तं॒ नाम॒र्तुं वेद॑। कु॒र्वतींकु॑र्वतीमे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒
श्रिय॒मा द॑त्ते। ए॒ष वै कु॒र्वन्नाम॒र्तुर्यद॒जः पंचौ॑दनः।
निरे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रियं॑ दहति॒ भव॑त्या॒त्मना॑।
यो॒३॑जं पंचौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति ॥३२॥

भा०—(एष वै कुर्वन् नाम ऋतुः) यह "कुर्वन्" अर्थात् क्रियाशील वर्षा के करने हारी वर्षा-ऋतु (अजः पंचौदनः) उपरोक्त पंचौदन अजन्मा परमात्मा का एक दूसरा रूप है । (यो वै कुर्वन्तं नाम ऋ' वेद) इसलिये जो कोई इस वर्षा-ऋतु के स्वरूप को जानता है और इस वर्षा-ऋतु के नियामक परमात्मा को जानता है (योऽजं पंचौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति) और साथ ही जो कोई इस ज्योतिर्मय पंचौदन अज का उपदेश, दक्षिणा की नाई देता है वह (आत्मना भवति) इस आत्मा के सहारे रहता है, और वह (कुर्वतीम् आदत्ते) अप्रिय शत्रु की क्रियाशीलता की सम्पत्ति को हर लेता है, अर्थात् उसके काम क्रोध आदि अप्रिय शत्रु उसके जीवन में अपनी क्रियाशीलता को छोड़ देते हैं ।

यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद । संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वै संयन्नामर्तुर्यदजः पंचौदनः ।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना ।
योऽजं पंचौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३३॥

भा०—(यः वै संयन्तं नाम ऋतुं वेद) जो पुरुष 'संयत्' नामक ऋतु अर्थात् उसे संयम के लिये उपयोगी शरद् ऋतु को जानता है, (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) वह अपने अप्रिय शत्रु अर्थात् काम क्रोध आदि की (संयतीं संयतीम् एव) बांधने वाली, बन्धन में डालने वाली (श्रियम् आ दत्ते) लक्ष्मी अर्थात् शक्ति को हर लेता है । (एष वै संयत् नाम ऋतुः यद् अजः पञ्चौदनः) क्योंकि जो पञ्चौदन अज अर्थात् आत्मा परमात्मा है वही यह 'संयत् नाम ऋतु है' अर्थात् वही इस ऋतु की संयमन करने वाली शक्ति है वही इस ऋतु का नियामक है । इसलिये शरद् ऋतु द्वारा उस नियामक परमात्मा की साधना करने वाला पुरुष अपने शत्रु की संयमन शक्ति पर वश कर लेता है । (निरेवाप्रियस्य०) इत्यादि पूर्ववत् ।

यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद। पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते। एष वै पिन्वन्नामर्तुर्यदजः पंचौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽजं पंचौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३४॥

भा०—(यः वै पिन्वन्तं नाम ऋतुं वेद) जो 'पिन्वन्त' नाम के ऋतु अर्थात् बढ़ाने वाली ऋतु-हेमन्त-को जानता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अपने अप्रिय शत्रु अर्थात् काम क्रोध आदि की (पिन्वतीं श्रियम् एव) बढ़ी हुई शक्ति को तृप्त करने वाली शक्ति को (आदत्ते) हर लेता है। (एष वै पिन्वत् नाम ऋतुः यद् अजः पंचौदनः) क्योंकि जो पूर्व पंचौदन नामक अज परमात्मा बतलाया गया है वह ही यह 'पिन्वत्' नामक ऋतु है। वह सबको बढ़ाने वाली, प्राणित करने वाली, तृप्त करने वाली 'ऋतु' अर्थात् शक्ति है। (निः एव अप्रियस्य०) इत्यादि पूर्ववत्।

यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद। उद्यतीमुद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते। एष वा उद्यन्नामर्तुर्यदजः पंचौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽजं पंचौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३५॥

भा०—(यः वै) जो पुरुष (उद्यन्तं नाम ऋतुं वेद) 'उद्यत्' नामक ऋतु अर्थात् शिशिर ऋतु को जानता है अर्थात् उस ऋतु को जानता है जब कि सूर्य उत्तरायण की ओर प्रयाण करने लगता है, वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अपने अप्रिय शत्रु अर्थात् काम क्रोध आदि की (उद्यतीम् उद्यतीम् श्रियम् एव आदत्ते) निरंतर उठती हुई प्रत्येक शक्ति को हर लेता है। (एष वा उद्यत् नाम ऋतुः यत् पंचौदनः अजः) क्योंकि यह जो पञ्चौदन नामक अज परमात्मा है वह ही यह

'उद्यत्' नाम ऋतु है अर्थात् वही शिशिर ऋतु की नियामक शक्ति होने के कारण, शिशिर-ऋतु रूप है। (निरेवास्य० इत्यादि) पूर्ववत्।

यो वा अभिभुवं नामर्तुं वेद। अभिभवन्तीमभिभवन्तीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते। एष वा अभिभूर्नामर्तुर्यदजः पंचौदनः। निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना। योऽजं पंचौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥३६॥

भा०—(यः वै अभिभुवं नाम ऋतुं वेद) जो पुरुष 'अभिभू' नामक ऋतु अर्थात् जाड़े को परास्त कर देने वाली वसन्त ऋतु को जान लेता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य अभिभवन्तीम्-अभिभवन्तीम् एव श्रियम् आदत्ते) अपने अप्रिय शत्रु अर्थात् काम क्रोध आदि को परास्त करने वाली प्रत्येक शक्ति को हर लेता है। (यत् अजः पञ्चौदनः एषः वा अभिभूः नाम ऋतुः) क्योंकि जो पञ्चौदन अजन्मा परमात्मा है वह 'अभिभू', नामक ऋतु है, अर्थात् परास्त करनेवाली परम शक्ति है, (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं निर्दहति, आत्मना भवति। यः अजं पञ्चौदनं दक्षिणा-ज्योतिषं ददाति) इसलिये जो पुरुष उस ज्योतिर्मय तथा पञ्चभूतों के संहार करने वाले वह अपने अप्रिय शत्रु की शक्ति को सर्वथा भस्म कर देता है, (आत्मना भवति) और वह अपने सामर्थ्य से युक्त एवं परमात्मा में लीन रहता है।

अजं च पचत पंच चौदनान्। सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः सान्तर्देशाः प्रति गृह्णन्तु त एतम् ॥ ३७ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (अजं च) इसलिये आप लोग उस अजन्मा, नित्य आत्मा अर्थात् परमात्मा को (पचत) परिपक्व करो और (पंच) पांचों (ओदनान्) भूतों वा प्राणों को भी, जो कि हमारे देह का निर्माण करते हैं, तपस्या द्वारा परिपक्व करो। हे पुरुष ! (ते)

तेरे (एतम्) इस परिपक्व भाव को (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं के वासी, (सान्तर्देशाः) उपदिशाओं के वासी, (सध्रीचीः) एक साथ सहमत होकर (सं-मनसः) एक समान चित्त होकर (प्रति गृह्णन्तु) स्वीकार करें। अर्थात् समग्र प्रजा इस के भावों के सदृश अपने भावों को बनावे।

तास्तें रक्षन्तु तव तुभ्यमेतं ताभ्य आज्यं हविरिदं जुहोमि ॥२८॥

भा०—हे पुरुष (ताः) वे सब प्रजाएँ (ते एतं रक्षन्तु) तेरे इस भाव की रक्षा करें। (तव) तेरी आज्ञा पालन करें। (तुभ्यम्) तेरे लिये हितकारी हों। मैं ब्रह्मज्ञानी होकर (ताभ्यः) उन समस्त प्रजाओं के लिये (इदं आज्यम्) इस घी (हविः) तथा सामग्री के तुल्य इस ब्रह्मज्ञान की आहुति (जुहोमि) प्रदान करता हूं।

[६ (१)] अतिथि-यज्ञ और-देवयज्ञ की तुलना।

'यो विद्यात्' इति षट् पर्यायाः। एकं सूक्तम्। ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिरुत विद्या देवता। तत्र प्रथमे पर्याये—१ नागी नाम त्रिपाद् गायत्री; २ त्रिपदा आर्षी गायत्री; ३.७ साम्न्यौ त्रिष्टुभौ; ४, ९ आर्च्यावनुष्टुभौ; ५ आसुरीगायत्री; ६ त्रिपदा साम्नां जगती; याजुषी त्रिष्टुप्; १० साम्नां भुरिग् बृहती; ११,१४–१६ साम्न्योऽनुष्टुभः; १२ विराड् गायत्री; १३ साम्नी निचृत पंक्तिः; १७ त्रिपदा विराड् भुरिक गायत्री। सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् ॥ १ ॥

सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः ॥२॥

भा०—साक्षात् ब्रह्म यज्ञस्वरूप है। (सम्भाराः) यज्ञोपयोगी पदार्थों का समुदाय (यस्य) जिस के (परूंषि) पोरु पोरु हैं। (ऋचः)

ज्ञानमय वेदमन्त्र (यस्य अनूक्यम्) जिसके पीठ के मोहरे हैं। (सामानि) सामगायन (यस्य लोमानि) जिस के लोम हैं और (यजुः हृदयम् उच्यते) यजुर्वेद के प्रतिपादित कर्म जिसके हृदय हैं (हविः इत्) हवि अर्थात् अन्न जिस का परिस्तरण = बिछौना है (यः) जो पुरुष (प्रत्यक्षम्) साक्षात् (ब्रह्म) उस ब्रह्म को (विद्यात्) जान लेता है वह विद्वान् पूजा करने के योग्य है।

अतिथि यज्ञ की देवयज्ञ से तुलना

यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते ॥३॥

भा०—(यद् वा) और जब (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालक, गृहपति (अतिथीन्) अतिथियों की (प्रतिपश्यति) प्रतीक्षा करता है तब वह (देवयजनं प्रेक्षते) एक प्रकार से देवयज्ञ करने का ही संकल्प करता है।

यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति ॥ ४ ॥

भा०—वह गृहपति (यद् अभिवदति) जब अतिथियों को अभिवादन, नमस्कार करता है, मानो तब वह अतिथि यज्ञ में (दीक्षाम् उपैति) दीक्षा प्राप्त करता है। और (यत्) जब (उदकं याचति) जल के पात्र को लाकर अतिथि को अर्घ्य-पाद्य-आचमनीय आदि प्रदान करता है तब मानो वह देवयज्ञ में (अपः प्र णयति) जलों का प्रोक्षण करता है।

या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥ ५ ॥

भा०—(याः एव यज्ञे आपः) जो जल यज्ञ में (प्रणीयन्ते) प्रोक्षण कार्य में प्रयुक्त होते हैं (ता एव ताः) वे ही वे जल हैं जो अतिथि यज्ञ में अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय आदि के लिये प्रयुक्त होते हैं।

यत् तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥६॥

भा०—(यत्) जो (तर्पणम् आ हरन्ति) अतिथि को तृप्त करने के लिये मधुपर्क और उत्तम भोजन पदार्थ लाया जाता है मानो वह (यः एव) यज्ञ में वही पदार्थ है जो कि (अग्नीषोमीयः पशुः) अग्नी-षोमीय पशु (बध्यते) यूप में बांधा जाता है (स एव सः) वह अन्न ही उसके स्थान में है।

यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति ॥७॥

भा०—और (यत्) जो अतिथि के लिए (आवसथान्) निवास के निमित्त उचित गृह आदि को (कल्पयन्ति) बनाते हैं उसको आदर से नियत घरों में रखते हैं (तत्) वह एक प्रकार से यज्ञ में (सदो-हविर्धानानि कल्पयन्ति) सदस् = प्राचीनवंश गृह और हविर्धान नामक शकट और पात्र की रचना करते हैं।

यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥ ८ ॥

यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमव रुन्द्धे ॥९॥

भा०—(यत् उपस्तृणन्ति) जो अतिथि के लिए चारपाई या टाट बिछाया जाता है (तत्) वह मानो यज्ञ में (बर्हिः एव) बर्हि या कुशाओं के बिछाने के समान ही है। और (यत्) जो (उपरिशयनं आहरन्ति) अतिथि के लिए चारपाई या टाट के ऊपर गद्दा (आहरन्ति) लाकर बिछाते हैं (तेन) उस कार्य से मानो (स्वर्गम् लोकम् एव अव रुन्धे) वे यज्ञ में स्वर्ग = सुखप्रद इष्ट लोक को ही प्राप्त करते हैं।

यत् कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते ॥ १० ॥

यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ॥ ११ ॥

भा०—(यत्) जो (कशिपु-उपबर्हणम् आहरन्ति) अतिथि के लिए चादरें और सिरहाना लाकर बिछाते हैं (ते परिधयः एव) वे यज्ञ में 'परिधि' के समान है और (यत्) जो (अञ्जनाभ्यञ्जनम्

आहरन्ति) आंखों के लिए अंजन और शरीर के लिये तेल उबटना आदि लाते हैं (तत्) वह यज्ञ में (आज्यम् एव) घृत के ही समान आवश्यक पदार्थ है ।

यत् पुरा परिवेषात् खादमाहरन्ति पुरोडाशाविव तौ ॥ १२ ॥
यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्ध्वयन्ति ॥ १३ ॥

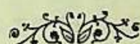
भा०—(यत्) जो गृहस्थ के लोग (परिवेषात्) भोजन परोसने के (पुरा) पूर्व ही अतिथि के लिये (खादम्) खाने योग्य भोजन (आहरन्ति) लाते हैं वह यज्ञ में (पुरोडाशौ एव तौ) दोनों पुरोडाशों के समान ही है । और (यद् अशनकृतम्) जो अतिथि के लिये विशेष भोजन बनाने में चतुर पुरुष को (ह्वयन्ति) विशेष रूप से बुलाते हैं (तत्) वह एक प्रकार से यज्ञ में (हविष्कृतम् एव) हवि अर्थात् यज्ञ में चरु को तय्यार करने हारे पुरुष को ही (ह्वयन्ति) बुलाते हैं ।

ये व्रीहयो यवा निरुप्यन्तेंशव एव ते ॥ १४ ॥
यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते ॥ १५ ॥

भा०—(ये) जो अतिथि यज्ञ के अवसर पर (व्रीहयः यवाः) धान और जौ (निरुप्यन्ते) प्राप्त किये जाते हैं (अंशव एव ते) वे यज्ञ में सोमलता के खण्डों के समान हैं । और (यानि) जो अतिथि के भोजनादि तैयार करने के लिये (उलूखल-मुसलानि) ओखली और मूसल धान कूटने के लिये काम में लाये जाते हैं (ग्रावाणः एव ते) वे यज्ञ में सोम कूटने के उपयोगी पत्थरों के समान हैं ।

शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः ॥ १६ ॥
स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो ।
वायव्यानि पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम् ॥ १७ ॥ (१५)

भा०—(शूर्पं पवित्रम्) अतिथि के निमित्त अन्न साफ करने के लिये जो छाज काम में लाया जाता है वह यज्ञ में 'पवित्र' अर्थात् सोम छानने के लिये 'दशापवित्र' नामक वस्त्र खण्ड के समान जानना चाहिये। (तुषाः ऋजीषाः) छाज से फटकते हुए जो अन्न के तुष अलग हो जाते हैं वह यज्ञ में सोम को छानने के बाद प्राप्त फोक के समान हैं। (अभिषवणीः आपः) अतिथि के भोजन बनाने के लिये जो जल प्रयुक्त होते हैं वह यज्ञ में सोम रस में मिलाने योग्य 'वसतीवरी' नामक जल-धाराओं के समान हैं। (स्रुक् दर्विः) अतिथि का भोजन बनाने के लिये जो कड़छी प्रयुक्त होती है वह यज्ञ में 'स्रुक्' या घृतचमस् के समान हैं। (आयवनम् नेक्षणम्) भोजन तैयार करते समय जो दाल आदि चलाने का कार्य किया जाता है वह यज्ञ मेंसोम-रस को वार २ मिलाने के समान है। (कुम्भ्यः द्रोणकलशाः) खाना पकाने के लिये जो डेगची आदि पात्र हैं वे यज्ञ में सोम रस रखने के लिये द्रोणकलशों के समान हैं। (पात्राणि वायव्यानि) अतिथि को खिलाने के लिये जो थाली, कटोरी आदि पात्र हैं वे यज्ञ में सोमपान करने के निमित्त 'वायव्य' पात्रों के समान हैं। और अतिथि के लिये (इयम् एव कृष्णाजिनम्) जो बैठने उठने के लिये वह भूमि है वह यज्ञ में कृष्ण मृगछाला के समान है।



[२] अतिथि-यज्ञ की देव-यज्ञ से तुलना।

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिर्विद्या वा देवता। १ विराड् पुरस्ताद् बृहती। २, १२ साम्न्यौ त्रिष्टुभौ; ३ आसुरी अनुष्टुप्; ४ साम्नी उष्णिक; ५ साम्नी बृहती; ६ आर्ची अनुष्टुप्; ७ त्रिपात् स्वराड अनुष्टुप बृहती; ८, ६ साम्न्यावनुष्टुभौ; १० आर्ची त्रिष्टुप्; ११ साम्नी बृहती भुरिक्; १३ आर्ची पङ्क्तिः। त्रयोदशर्चं द्वितीयं पर्यायसूक्तम्।

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्याणि प्रेक्षत इदं भूया३इदा३मिति ॥ १ ॥

भा०—(यद्) जिस समय (अतिथिपतिः) अतिथि का पालक गृहमेधी पुरुष (आहार्याणि) अतिथि को दान देने योग्य और भोजनार्थ उपस्थित करने योग्य पदार्थों पर (प्रेक्षते) दृष्टिपात करता है और अतिथि को अधिक भाग देने के लिये निरीक्षण करता है कि (इदम् भूयः) यह भाग अधिक हो और (इदम्) यह भी (इति) तो (एतत्) इस प्रकार से वह गृहमेधी (यजमानब्राह्मणं कुरुते) अतिथि के प्रति मानो उसी कर्म को करता है जिस कर्म को कि यज्ञों में यजमान ब्राह्मण ऋत्विक् के प्रति करता है ।

यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ २ ॥
उप हरति हवींष्या सादयति ॥ ३ ॥

भा०—और (यद्) जब गृहमेधी (आह) कहता है, प्रार्थना करता है कि भगवन् (भूयः उद्हर) इस आहार योग्य पदार्थ में, से आप और अधिक ले लीजिये तो (तेन) उस कथन के करते हुए वह (प्राणम् एव) प्राण या जीवन शक्ति के देने वाले अन्न को (वर्षीयांसम्) और अधिक उपस्थित करता है और जब वह (उपहरति) अन्न आदि पदार्थ उसके समीप लाता है तो वह मानो यज्ञ की अन्नमय हविये उसके समीप (आसादयति) उपस्थित करता है ।

तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ॥ ४ ॥
स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥ ५ ॥
एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥ ६

भा०—(तेषाम् आसन्नानाम्) अन्न आदि पदार्थों के उपस्थित हो जाने पर (अतिथिः) अतिथि उस भोजन की (आत्मन् जुहोति)

अपने मुख में आहुति देता है, उसे खा लेता है। उस समय वह (हस्तेन स्रुचा) हाथ रूपी चमस से (प्राणे यूपे) प्राणरूप यूप स्तम्भ के समक्ष, (स्रुक्कारेण वषट्कारेण) खाते समय 'सरुक' २ इस प्रकार के शब्द रूपी 'स्वाहा' शब्द के साथ अपनी जाठर अग्नि में अन्न रूप हवि की आहुति करता है। (यत् अतिथयः) ये जो अतिथि हैं चाहे (प्रियाः च) प्रिय मित्र हों और चाहे (अप्रियाः च) अप्रिय, अर्थात् प्रिय न भी हों तो भी वे (ऋत्विजः) उन यज्ञकर्त्ता ऋत्विजों के समान हैं जो यजमान को (स्वर्गं लोकं गमयन्ति) स्वर्ग प्राप्त कराते हैं।

स य एवं विद्वान् न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयान्न मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥

भा०—(यः एवं विद्वान्) जो इस प्रकार का तत्व जान लेता है (सः) वह (द्विषन्) दाता के प्रति द्वेष करता हुआ (न अश्नीयात्) दाता का अन्न न खाय और (द्विषतः) द्वेष करने वाले दाता का भी (अन्नम् न अश्नीयात्) अन्न न खावे। (न मीमांसितस्य) शङ्का के पात्र या सन्देहपात्र पुरुष का भी अन्न न खावे और (न मीमांसमानस्य) जो स्वयं शंका कर रहा हो उसका अन्न भी न खावे। अर्थात् जिसके मित्रभाव में सन्देह हो या जो उस पर सन्देह करता हो दोनों एक दूसरे का अन्न न खावें।

सर्वो वा एषो जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥ ८ ॥
सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥ ९ ॥

भा०—(एषः सर्वः वै) वे सब लोग (जग्धपाप्मा) अपना पाप नष्ट कर लेते हैं (यस्य) जिसके (अन्नम्) अन्न को अतिथि लोग (अश्नन्ति) खा लेते हैं। और (एषः वै सर्वः अजग्धपाप्मा) उन सब

के पाप नष्ट नहीं होते (यस्य अन्नं न अश्नन्ति) जिनका अन्न अतिथि लोग स्वीकार नहीं करते ।

सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो विततांध्वर आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति ॥ १० ॥

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥ ११ ॥

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननु विक्रमते य उपहरति ॥ १२ ॥

भा०—(यः उपहरति) जो अतिथियों की सेवा करता रहता है और उनका सत्कार करता रहता है (एषः वै) उसके (युक्त-ग्रावा) सोम रस निकालने वाले पत्थर (सर्वदा) सदा जुटे रहते हैं, (आर्द्र-पवित्रः) और उसके घर सोम रस नित्य 'दशा पवित्र' नामक वस्त्र पर छनता रहता है, (वितता अध्वरः) उसका यज्ञ नित्य चला करता है और (आहृत-यज्ञक्रतुः) वह सदा यज्ञ कर्म के फल को प्राप्त करता रहता है ॥ १० ॥

(यः उपहरति) जो अतिथियों का अर्घ्य, पाद्य, अन्न आदि से सदा सत्कार करता रहता है (एतस्य) उसका सदा (प्राजापत्यः यज्ञः विततः) प्राजापत्य यज्ञ जारी रहता है अर्थात् प्रजापति जिस प्रकार सब को सदा अन्न देकर अपने प्राजापत्य यज्ञ को कर रहा है इसी प्रकार अतिथि को भी अन्न देकर गृहस्थ जीवन में सदा प्राजापत्य यज्ञ रचाए रखता है ॥ ११ ॥

(यः उपहरति) जो अतिथि को अर्घ्य, अन्न आदि भेंट करता है (एषः) वह (प्रजापतेः विक्रमान् अनु) प्रजापति के महान् कार्यों का (विक्रमते) अनुकरण करता है ॥ १२ ॥

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः १३ ॥ (१६

भा०—(यः अतिथीनाम्) जो अतिथियों की शरीराग्नि है (सः) वह (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि के समान है। (यः) और जो गृहस्थ स्वयं (वेश्मनि) घर में विद्यमान है (सः गार्हपत्यः) वह गार्हपत्य अग्नि के समान है। और (यस्मिन्) जिस अग्नि में गृहमेधी लोग (पचन्ति) अतिथि के लिये, अन्न आदि पकाते हैं (सः) वह (दक्षिणाग्निः) दक्षिणाग्नि के तुल्य है।

४ अर्थ मन्त्र में 'अतिथिरात्मन् जुहोति' इस मन्त्रलिंग से अतिथि का शरीर स्वयं आहवनीयाग्नि के तुल्य है।



[३] अतिथि यज्ञ न करने से हानियें।

ब्रह्मा ऋषिः। अतिथिर्विद्यावा देवता। १–६, ९ त्रिपदाः पिपीलिकमध्या गायत्र्यः, ७ साम्नी बृहती; ८ पिपीलिकमध्या उष्णिक्। नवर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

इ॒ष्टं च॒ वा ए॒ष पू॒र्तं च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑ ॥ १ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (अतिथेः पूर्वः अश्नाति) अतिथि के पहले भोजन कर लेता है (एषः) वह (गृहाणाम्) अपने गृह के सम्बन्धियों के और (इष्टं च वा) अपने यज्ञों और (पूर्तं च) प्रजा के हितकारी कूप, तड़ाग आदि अन्य कार्यों को भी (अश्नाति) स्वयं खा जाता है अर्थात् विनाश कर देता है।

पय॑श्च॒ वा ए॒ष रसं॑ च गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑ ॥ २ ॥

ऊर्जां॑ च॒ वा ए॒ष स्फातिं॑ च गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑ ॥ ३ ॥

प्र॒जां॑ च॒ वा ए॒ष प॒शूंश्च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑ ॥ ४ ॥

कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेर-
श्नाति ॥ ५ ॥

श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेर-
श्नाति ॥ ६ ॥

भा०—(यः अतिथेः पूर्वः अश्नाति) जो पुरुष अतिथि के भोजन करने से पहले स्वयं खा लेता है (एषः) वह (गृहाणाम्) घर के (पयः च रसं च०) दुग्ध आदि पदार्थ और रसवान् स्वादु पदार्थों को नष्ट कर देता है ॥ २ ॥ (एषः वा ऊर्जां च स्फातिं च गृहाणाम्०) वह घर की अन्न सम्पति और समृद्धि को भी नष्ट कर देता है ॥ ३ ॥ (प्रजां च वा एषः पशून् च०) वह घर की प्रजाओं और पशुओं को भी नष्ट कर देता है ॥ ४ ॥ (कीर्तिम् च एषः यशः च०) घर की कीर्ति और यश तक को नष्ट कर देता है ॥ ५ ॥ (श्रियं च वा एषः संविदं च०) वह घर की लक्ष्मी और सौहार्द भाव को भी नष्ट कर देता है अतिथि के सदुपदेशों के न होने से इन सब पदार्थों की उन्नति नहीं होने पाती ॥ ६ ॥

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ ७ ॥

भा०—(एषः वै अतिथिः) यह अतिथि निश्चय से (यत् श्रोत्रियः) श्रोत्रिय अर्थात् वेद के विद्वान् ब्राह्मण के समान पूजनीय है (तस्मात्) इसलिये (पूर्वः) अतिथि से पहले (न अश्नीयात्) कभी भोजन न करे।

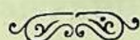
अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छे-
दाय तद् व्रतम् ॥ ८ ॥

भा०—(यज्ञस्य सात्मत्वाय) यज्ञ के सम्पूर्ण सफल करने और (यज्ञस्य अविच्छेदाय) यज्ञ को विच्छेद, विनाश न होने देने के लिए

(अतिथौ अशितावति) अतिथि के भोजन कर चुकने पर (अश्नीयात्) गृहस्थ स्वयं भोजन करे। (तत् व्रतम्) यही व्रत कर ले, यही धर्माचरण है।

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ९॥ (१७)

भा०—(एतत् वा उ) वही पदार्थ (स्वादीयः) बहुत स्वादिष्ट होता है (यत् अधिगवम्) जो कि पृथिवी में प्राप्त होता है। (क्षीरं वा) अर्थात् दूध या (मांसं वा) अन्य मनोमोहक दूध से उत्पन्न घी, मलाई, रबड़ी, खोवा, खीर, अन्न आदि पदार्थ या फलों का गूदा (तत् एव) उसी पदार्थ को गृहस्थ (न अश्नीयात्) अतिथि से पूर्व न खावे प्रत्युत अतिथि को खिला के पश्चात् खावे।



(४) अतिथियज्ञ का महान् फल।

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते। १,३,५,७ प्राजापत्या अनुष्टुभः; २,४,६,८ त्रिपदा गायत्र्यः; ९ भुरिक् प्राजापत्या गायत्री; १० चतुष्पाद् प्रस्तारपंक्तिः। दशर्चं पर्यायसूक्तम्॥

स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥ १॥
यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे॥२॥

भा०—(यः एवं विद्वान्) जो इस प्रकार अतिथि सत्कार के व्रत को जानता हुआ (क्षीरम् उपसिच्य) दूध को पात्र में डालकर (उपहरति) अतिथि को तृप्त करने के लिए लाता है तो (यावत्) जितना (सुसमृद्धेन) उत्तम रीति से सम्पादित (अग्नि-ष्टोमेन) अग्निष्टोम यज्ञ से (इष्ट्वा) यज्ञ करके (अव रुन्धे) फल प्राप्त करता है (तावत्) उतना (अनेन) इस अतिथि यज्ञ से (अव रुन्धे) प्राप्त कर लेता है।

स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति ॥ ३ ॥
यावदतिरात्रेणेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥

भा०—(यः एवं विद्वान्) जो इस प्रकार के अतिथि सत्कार के व्रत को जानता हुआ गृहस्थ (सर्पिः उपसिच्य) घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थों को पात्र में रख अतिथि के लिये लाता है (यावत् अतिरात्रेण इष्ट्वा०) तो उत्तम रीति से सम्पादित 'अतिरात्र' नामक यज्ञ को करके जितना फल प्राप्त करते हैं उतना फल वह गृहस्थ इस अतिथि यज्ञ से प्राप्त कर लेता है।

स य एवं विद्वान् मधूपसिच्योपहरति ॥ ५ ॥
यावत् सत्रसद्येनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे॥६॥

भा०—(यः एवं विद्वान् मधु उपसिच्य उपहरति) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ को जानकर मधु आदि मधु पदार्थ पात्र में रखकर अतिथि को तृप्त करता है (यावत् सत्रसद्येन इष्ट्वा०) जितना फल उत्तम रीति से सम्पादित 'सत्रसद्य' नाम के यज्ञ को करके प्राप्त करते हैं उतना फल वह अतिथियज्ञ से प्राप्त कर लेता है।

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति ॥ ७ ॥
यावद्द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥८॥

भा०—(यः एवं विद्वान् मांसम् उपसिच्य उपहरति, यावद् सुसमृद्धेन द्वादशाहेन इष्टवा अवरुन्धे सः तावद् एनेन अवरुन्धे) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ के महत्व को जानता हुआ पुरुष और मनको रुचि देने वाले घी, मलाई, फल आदि पदार्थों को अतिथि के भेंट करता है तो जितना फल उत्तम रीति से सम्पादित द्वादशाह यज्ञ से प्राप्त करते हैं उतना फल वह इस अतिथियज्ञ से प्राप्त करता है ।

स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥
प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां भवति य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ १० ॥ (१८)

भा०—(यः एवं विद्वान् उदकम् उपसिच्य उपहरति) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ के महत्व को जानता हुआ पुरुष अतिथि के निमित्त केवल जल को भी ले आता है वह (प्रजानाम्) प्रजाओं के (प्रजननाय) उत्तम रीति से उत्पादन करने में समर्थ होता है अर्थात् गृहस्थ के अधिकार के योग्य होता है (प्रतिष्ठां गच्छति) प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है और (प्रजानां प्रियः भवति) अपनी प्रजाओं का प्यारा होता है । (यः एवं विद्वान् उदकम् उपसिच्य उपहरति) जो इस प्रकार जानता हुआ जल भी अतिथि को प्रदान करता है वह भी इस फल को प्राप्त करता है, फिर औरों का तो कहना ही क्या ?



(५) अतिथि याग की सामगान से तुलना ।

ऋषिर्देवता पूर्वोक्ते । १ साम्नी उष्णिक्; २ पुर उष्णिक्; ३, (५, ७ योरुत्तरार्धयोः) साम्नी भुरिग् बृहती; ४, ६, ९ साम्न्यनुष्टुभः, ५ (पूर्वार्धस्य) त्रिपदा निचृद् विषमागायत्री; ७ (पूर्वार्धस्य) त्रिपदा विराड् विषमा गायत्री; ८ त्रिपाद् विराड् अनुष्टुप् । दशर्चं पर्यायसूक्तम् ॥

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्र स्तौति ॥ १ ॥
बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वे देवा निधनम् ॥ २ ॥
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भा०—(यः एवं वेद) जो इस प्रकार अतिथि यज्ञ और देवयज्ञ के रहस्य को जानता है (तस्मै) उसके लिये (उषाः हिङ्कृणोति) उषा

'हिं' कार करती है, (सविता प्रस्तौति) सविता—सूर्य प्रस्ताव करता है, (बृहस्पति:) बृहस्पति अर्थात् प्राण (ऊर्जया) ऊर्जा = बलकारिणी शक्ति से (उद् गायति) गान करता है। (त्वष्टा) त्वष्टा-सब जन्तुओं का उत्पादक परमेश्वर (पुष्टया) अपने पोषक बल से (प्रति हरति) उसके लिये 'प्रतिहार' करता है, (विश्वे देवा: निधनम्) विश्वेदेव, समस्त विद्वान् गण उसके लिए 'निधन' करते हैं। वह स्वयं (भूत्याः) भूति, सम्पत्ति, सत्ता का (प्रजायाः) प्रजा का और (पशूनाम्) पशुओं का (निधनम् भवति) निधान अर्थात् परम आश्रय हो जाता है।

हिंकार, प्रस्ताव, उद्गान, प्रतिहार और निधन ये सामगान के पांच अंग हैं। अतिथियज्ञ के कर्ता पुरुष के यश का उषा, सविता, बृहस्पति, त्वष्टा और विश्वेदेव ये अपनी शक्तियों से गान करते हैं। अर्थात् उषा देवी उसके यश को प्रकाशित करती है, सविता अर्थात् सूर्य उसके यश को उज्ज्वल करता है, बृहस्पति अर्थात् प्राण अपने बल से उसका गान करता है अर्थात् प्रत्येक प्राणी उसके अन्न के बल से उसका गुण गाता है, (त्वष्टा) अर्थात् प्रजोत्पादक प्रभु अपने पोषणकारी बल से 'निधन' अर्थात् उसे निःशेष सम्पत्तियों का पात्र बनाता है। इस प्रकार वह सम्पत्ति सत्ता, प्रजा और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है।

तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्र स्तौति ॥ ४ ॥
मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रति हरत्यस्तंयन्निधनम् ।
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

भा०—(उद् यत् सूर्यः तस्मै हिंकृणोति) उदय होता हुआ सूर्य उसके यशोगान करने के लिये 'हिंकार' करता है (संगवः प्रस्तौति) 'संगव' काल का सूर्य जब पर्याप्त ऊपर आ जाता है वह उसके लिए 'प्रस्ताव' करता है, (मध्यन्दिनः उद्गायति) मध्यन्दिन का सूर्य उद्गान करता है (अपराह्णः प्रतिहरन्ति) अपराह्ण काल का सूर्य उसके लिये

'प्रतिहार' करता है और (अस्तं यन् निधनम्) अस्त जाता हुआ सूर्य 'निधन' करता है। अर्थात् सूर्य दिन की पांच अवस्थाओं में उसके यश को उज्ज्वल करता, विस्तृत करता, गायन करता, उसको सब पदार्थ प्राप्त कराता और उसे समस्त पदार्थों से सम्पन्न करता है और इस प्रकार वह (भूत्या: प्रजाया: पशूनां निधनं भवति) सम्पत्ति, प्रजा और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है।

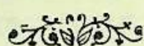
तस्मा अभ्रो भवन् हिङ्कृणोति स्तनयन् प्र स्तौति ॥ ६ ॥
विद्योतमानः प्रति हरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन् निधनम् ।
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

भा०—जो अतिथि यज्ञ का रहस्य जानता है उसका यशोगान मेघ भी करता है। अर्थात् (तस्मै) उसके यशोगान करने के लिये सामगान के पांच अंगों में से क्रम से (भवन् अभ्रः हिंकृणोति) उत्पन्न होता हुआ मेघ 'हिंकार' करता है, (स्तनयन् प्रस्तौति) गर्जता हुआ मेघ 'प्रस्ताव' करता है, (विद्योतमानः) बिजुली चमकाता हुआ मेघ 'प्रतिहार' करता है, (वर्षन् उद् गायति) वर्षण करता हुआ मेघ 'उद्गान' करता है और (उद्गृह्णन् निधनम्) पुनः जल को ऊपर ग्रहण करता हुआ मेघ 'निधन' को करता है और इस प्रकार वह पुरुष (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) सम्पत्ति, प्रजा और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है।

अतिथीन् प्रति पश्यति हिङ्कृणोत्यभि वदति प्र स्तौत्युदकं याचत्युद्गायति ॥ ८ ॥
उप हरति प्रति हरत्युच्छिष्टं निधनम् ॥ ९ ॥
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ १० ॥ (१९)

भा०—वह स्वयं भी एक प्रकार से अतिथियज्ञ करता हुआ साम गान करता है। क्योंकि जब वह (अतिथीन् प्रतिपश्यति) अतिथियों का

दर्शन करता है मानो (हिंकृणोति) सामगान के हिंकार को करता है (अभिवदति प्रस्तौति) जब वह अभिवादन करता है तो वह मानो प्रस्ताव करता है, (उदकं याचति) जब जल लेकर स्वीकार करने की प्रार्थना करता है तब मानो (उद्गायति) 'उद्गान' करता है, (उपहरति प्रतिहरति) जब खाद्य पदार्थ उसके समक्ष रखता है मानो वह 'प्रतिहार' करता है, (उच्छिष्टं निधनम्) और जो उसके भोजन कर चुकने पर शेष बचता है वह 'निधन' है। उसका उपभोग करता हुआ गृहमेधी (य एवं वेद) जो इस अतिथियज्ञ को सामगान के तुल्य जानता है वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) सम्पत्ति, प्रजाओं और पशुओं का परम आश्रय हो जाता है।



(६) अतिथियज्ञ की यज्ञ-कार्य से तुलना।

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते। १ आसुरी गायत्री; २ साम्नी अनुष्टुप्; ३, ५ त्रिपदे आर्च्यौ पङ्क्त्यौ; ४ प्राजापत्या गायत्री; ६-११ आर्च्यो बृहत्यः; १२ एकपदा आसुरी जगती; १३ याजुषी त्रिष्टुप्; १४ आसुरी उष्णिक्। चतुर्दशर्चं पर्याय-सूक्तम् ॥

यत् क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत् ॥ १ ॥
यत् प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत् ॥ २ ॥
यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते ॥ ३ ॥ तेषां न कश्चनाहोता ॥ ४ ॥

भा०—अतिथियों का सत्कार करने वाला पुरुष (यत्) जब (क्षत्तारं ह्वयति) अपने कोठारी को बुलाता है मानो (तत्) उस समय अध्वर्यु कर्म में (आ-श्रावयति) आ श्रवण कराता है। (यत् प्रति शृणोति) और जब कोठारी उसकी आज्ञा को स्वीकार करता है

तब मानो वह (प्रति आ श्रावयति) आध्वर्यव काण्ड का प्रत्याश्रवण करता है। और (यत्) जब (परिवेष्टारः) रसोई परसने वाले लोग (पात्रहस्ताः) हाथ में भोजन के पात्र लिये (पूर्वे च अपरे च) अगले और पिछले (प्रपद्यन्ते) आ पहुँचते हैं (चमसाध्वर्यवः एव ते) वे मानो चमस लेकर यज्ञ करने वाले 'चमसाध्वर्यु' लोग ही हैं। (तेषाम्) उनमें से (कश्चन) कोई भी ऐसा (न) नहीं होता जो (अहोता) आहुति न देता हो। वे अतिथि को भोजन परसते हुए मानो हवि की आहुति दे रहे होते हैं।

यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति ॥ ५ ॥

यत् सभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत् ॥ ६ ॥

भा०—(यद् वै) और जब (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालक, गृहस्थ (अतिथीन्) अतिथियों को (परि-विष्य) भोजन परोस कर उनको पूर्णतया तृप्त करके (गृहान् उप उद् आ एति) पुनः अपने गृहों को या अपने गृह के सम्बन्धियों के पास आता है मानो (तत्) सब यज्ञ कर चुकने बाद (अवभृथम् एव उप अव आ एति) अवभृथ स्नान ही कर लेता है। अर्थात् अतिथियों को तृप्त करके पुनः अपने गृह में आना उसके यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान के समान है ॥५॥ और (यत्) जब वह (सभागयति) उनको कुछ धन द्रव्य भेंट करता है तो मानो (दक्षिणाः सभागयति) वह यज्ञ में पुरोहितों को दक्षिणा प्रदान करता है। और (यत्) जब (अनुतिष्ठते) उनके विदाई के लिये कुछ दूर तक उनके साथ आता है (तत्) तब (उद् अवस्यति एव) यज्ञ का उदवसान करता है। यज्ञ के उद्-अवसान में यजमान विधिपूर्वक यज्ञ-स्थान से अपने घर लौट आता है।

स उपहूतः पृथिव्यां भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यत् पृथिव्यां विश्वरूपम् ॥ ७ ॥

भा०—(सः) अतिथियों का सेवक वह गृहस्थ भी (उपहूतः) आदरपूर्वक निमन्त्रित किया जाता है, (पृथिव्यां भक्षयति) और पार्थिव भोगों का भोग करता है। (तस्मिन्) उन वस्तुओं के निमित्त वह गृहस्थ (उपहूतः) निमन्त्रित होता है (पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (यत्) जो कुछ भी (विश्वरूपम्) नाना प्रकार के पदार्थ हैं अर्थात अतिथि सेवक गृहस्थ का आदर सर्वत्र होता है और वह भी समाज में निमन्त्रण पाता है।

स उपहूतोऽन्तरिक्षे भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यदन्तरिक्षे विश्वरूपम् ॥ ८ ॥

भा०—(सः उपहूतः) अतिथियों का सेवक वह गृहस्थ आदर पूर्वक निमन्त्रित किया जाता है (तस्मिन्) उन वस्तुओं के निमित्त वह (उपहूतः) अन्यों द्वारा सादर आमन्त्रित किया जाता है, (अन्तरिक्षे यत् विश्वरूपम्) और अन्तरिक्ष में जो कि नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं उनका (भक्षयति) भोग करता है। अन्तरिक्ष में विचरना और अन्तरिक्षीय घटनाओं का निरीक्षण करना ही अन्तरिक्ष के पदार्थों का भोग करना है।

स उपहूतो दिवि भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् दिवि विश्वरूपम् ॥९॥

भा०—(सः उपहूतः) वह अतिथिसेवक गृहस्थ सादर निमन्त्रित किया जाता है (दिवि भक्षयति) और द्युलोक के भोगों को भोगता है (तस्मिन्) उन वस्तुओं के निमित्त वह सादर निमन्त्रण पाता है (यद् दिवि विश्वरूपम्) जो कि द्युलोक में नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं।

अर्थात् ऐसे गृहस्थी को दिव्य पदार्थों की घटनाओं के निरीक्षण का निमन्त्रण मिलता है।

स उपहूतो देवेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् देवेषु विश्वरूपम् ॥१०॥

भा०—(सः) वह अतिथि सेवक (उपहूतः) सादर निमन्त्रित किया जाता है, (देवेषु भक्षयति) और विद्वत्समाज में वह विद्या के नाना प्रकार के भोगों को भोगता है। (तस्मिन्) उन वस्तुओं के निमित्त वह निमन्त्रण पाता है (यद् देवेषु विश्वरूपम्) जो कि देवों—विद्वानों के नाना प्रकार के विद्या-सम्बन्धी भोग पदार्थ हैं। उन सबका वह गृहस्थ भी (भक्षयति) उपभोग करता है।

स उपहूतो लोकेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यल्लोकेषु विश्वरूपम् ॥११॥

भा०—(सः) वह अतिथिसेवक (उपहूतः) सादर निमन्त्रित होता है। (लोकेषु भक्षयति) और सर्व साधारण लोगों को भी वह भोगता है। तो (तस्मिन्) उन वस्तुओं के निमित्त भी निमन्त्रण पाता है (लोकेषु यत् विश्वरूपम्) जो कि सर्व साधारण लोगों में नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ हैं। उन सब को भी निमन्त्रित होकर (भक्षयति) वह भोग करता है।

स उपहूतः उपहूतः ॥ १२ ॥

आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम् ॥ १३ ॥

भा०—(सः) वह अतिथिसेवक (उपहूतः) सादर निमन्त्रित होता है, (उपहूतः) सर्वत्र सादर निमन्त्रित किया जाता है ॥ १२ ॥ वह अर्थात सेवक (इमं लोकम् आप्नोति) इस लोक के भोगों के लिये

भी सादर निमन्त्रण प्राप्त करता है और (अमुम् प्राप्नोति) दूसरे लोकों के भोगों में भी आदरपूर्वक निमन्त्रण पाता है ।

ज्योतिष्मतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ १४ ॥ (२०)

भा०—(य एवं वेद) जो अतिथिसेवक इस अतिथि सेवा की महिमा को जानता है वह (ज्योतिष्मतः) ज्योतिर्मय, प्रकाशवान्, ज्ञानवान् (लोकान्) लोकों, जनों के हृदयों पर भी (जयति) विजय प्राप्त करता है, उन पर वश करता है, उनमें प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

[तत्र सूक्तद्वयं ऋचश्चैकादशाधिकं शतम्]

---

[७] विश्व का गौरूप से वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । गोदेवता । १ आर्ची बृहती; २ आर्ची उष्णिक्; ३,५ आर्च्यौ अनुष्टुभौ; ४,१४,१५,१६ साम्न्यो बृहत्यः; ६,८ आसुर्यौ गायत्र्यौ; ७ त्रिपदा पिपीलिकमध्या निचृद्गायत्री; ९,१३ साम्न्यौ गायत्री; १० पुर उष्णिक्; ११,१२,१७,२५ साम्न्युष्णिहः, १८,२२ एकपदे आसुर्यौ जगत्यौ; १९ एकपदा आसुरी पंक्तिः; २० याजुषी जगती; २१ आसुरी अनुष्टुप्; २३ एकपदा आसुरी बृहती; २४ साम्नी भुरिग् बृहती; २६ साम्नो त्रिष्टुप्; इह अनुक्तपादा द्विपदाः । षड्विंशर्चं एकं पर्यायसूक्तम् ॥

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ १ ॥

भा०—(प्रजापतिः च परमेष्ठी च शृंगे) विराड् या विश्व गौ के दोनों सींग प्रजापति और परमेष्ठी हैं । (इन्द्रः शिरः) इन्द्र शिर है । (अग्निः ललाटम्) अग्नि ललाट है (यमः कृकाटम्) कृकाट, गले की पेटी यम है ।

सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः ॥ २॥

भा०—(सोमः राजा) सोम राजा (मस्तिष्कः) उसका मस्तिष्क है। (द्यौः उत्तरहनुः) द्युलोक उसका ऊपर का जबड़ा है। (पृथिवी अधरहनुः) पृथ्वी उसका नीचे का जबड़ा है।

विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः ॥ ३ ॥

भा०—(विद्युत्) विद्युत् (जिह्वा) उसकी जीभ है, (मरुतो) मरुत् अर्थात् प्राणगण और नाना प्रकार की वायुएं (दन्ताः) उसके दांत हैं, (रेवतीः ग्रीवाः) रेवती नक्षत्र उसकी ग्रीवा-गर्दन है (कृत्तिकाः स्कन्धाः) कृत्तिकायें उसके कन्धे हैं, (घर्मः) प्रकाशमान सूर्य या ग्रीष्म (वहः) उसका 'वह' ककुद के पास का स्थान है।

विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः ॥४॥

भा०—(विश्वं वायुः) विश्व, समस्त संसार वायु अर्थात् प्राण है, (स्वर्गः लोकः) स्वर्ग लोक (कृष्णद्रम्) कृष्णद्र [कण्ठ] है, (विधरणी निवेष्यः) विधरणी, लोगों को पृथक्-पृथक् स्थापित करनेवाली शक्ति अर्थात् पृथिवी उसका निवेष्य अर्थात् बैठने के कूल्हे या सीमा है।

श्येनः क्रोडोऽन्तरिक्षं पाजस्यं बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः॥

भा०—(श्येनः क्रोडः) श्येनयाग उसका क्रोड़ भाग है, (अन्तरिक्षम् पाजस्यम्) अन्तरिक्ष उसका पाजस्य अर्थात् पेट है, (बृहस्पतिः ककुत्) बृहस्पति उसका ककुद् या कोहान भाग है, (बृहतीः कीकसाः) बड़ी दिशाएं उसके गले के मोहरे हैं।

देवानां पत्नीः पृष्टय उपसदः पर्शवः ॥ ६ ॥

भा०—(देवानां पत्नीः) देवों, विद्वानों की स्त्रियां (पृष्टयः) पृष्टि अर्थात् पीठ के मोहरे हैं (उपसदः पर्शवः) उपसद् इष्टियां उसकी

पर्शु = पसुलियां हैं।

मित्रश्च वरु॑णश्चां॑सौ त्वष्टा चार्य॒मा च॒ दो॒षणी॑ महादे॒वो बा॒हू ॥७॥

भा०—(मित्रः च वरुणः च) मित्र और वरुण (अंसौ) दोनों अंस, बाहुओं के ऊपर के भाग हैं, (त्वष्टा च अर्यमा च) त्वष्टा और अर्यमा (दोषणी) दो बाहुओं के ऊपर के भाग हैं। (महादेवः बाहू) महादेव बाहु भाग या अगली टांगों का निचला भाग है।

इ॒न्द्रा॒णी भ॒सद् वा॒युः पुच्छं॒ पव॑मानो॒ बाला॑: ॥ ८ ॥

भा०—(इन्द्राणी) विद्युत् की शक्ति (भसत्) गुह्य भाग है, (वायुः पुच्छम्) वायु पुच्छ भाग है, (पवमानः बालाः) बहता हुआ वायु उसके बाल हैं।

ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॒ श्रोणी॒ बल॑मू॒रू ॥ ९ ॥

भा०—(ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी) ब्रह्म = ब्राह्मण और क्षत्र = क्षत्रिय दोनों श्रोणी, चूतर, कूल्हे भाग हैं, (बलम् ऊरू) बल = सेना ऊरु जाघें हैं।

धा॒ता च॑ सवि॒ता चा॑ष्ठी॒वन्तौ॒ जङ्घा॑ ग॒न्ध॒र्वा अ॑प्स॒रस॑: कु॒ष्ठिका॒ अदि॑ति॒ श॒फाः ॥१०॥

भा०—(धाता च सविता च) धाता और सविता दोनों (अष्ठीवन्तौ) उस महावृषभ के टखने हैं, (गन्धर्वः जंघाः) गन्धर्व, पुरुष-वर्ग जंघाएं हैं, (अप्सरसः कुष्ठिकाः) अप्सराएं स्त्रियें खुरों के ऊपर पीछे की ओर लगी अंगुलियें हैं, (अदितिः शफाः) अदिति अर्थात् पृथ्वी शफ अर्थात् खुर हैं।

चे॒तो हृद॑यं॒ यकृ॑न्मे॒धा व्र॒तं पुरी॑तत् ॥११॥

भा०—(चेतः हृदयम्) समस्त चेतना उसका हृदय है, (मेधा

यकृत्) मेधा बुद्धि उसका यकृत् कलेजा भाग है, (व्रतम्) व्रत उसके (पुरीतत्) आंतें हैं।

क्षुत् कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः ॥१२॥

भा०—(क्षुत् कुक्षिः) भूख उसकी कोंख है, (इरा वनिष्ठुः) इरा = अन्न या जल उसकी वनिष्ठु गुदा या बड़ी आंत है, (पर्वताः) पर्वत मेघ (प्लाशयः) प्लाशियें, छोटी आंतें हैं।

क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः ॥ १३ ॥

भा०—(क्रोधः वृक्कौ) क्रोध उसके गुर्दे हैं (मन्युः आण्डौ) मन्यु अण्डकोश हैं, (प्रजा शेपः) प्रजाएं उसका लिंग भाग है।

नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः ॥१४॥

भा०—(नदी सूत्री) नदी उसकी सूत्री जन्म देने वाली नाडि-सूत्री है और (वर्षस्य पतयः स्तनाः) वर्षा के पालक मेघ उसके स्तन हैं और (स्तनयित्नुः ऊधः) गर्जनशील मेघ ऊधस अर्थात् दूध के भरे थन हैं।

विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम् ॥१५॥

भा०—(विश्वव्यचाः) सर्वव्यापक आकाश उसका (चर्म) चमड़ा है, (ओषधयः लोमानि) ओषधियां उसके लोम हैं, (नक्षत्राणि रूपम्) नक्षत्र उसके रूप अर्थात् उसके देह पर चितकबरे चिह्न हैं।

देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम् ॥१६॥

भा०—(देव-जनाः) देव जन (गुदाः) गुदा हैं, (मनुष्याः आन्त्राणि) सामान्य मनुष्य उसकी आंतें हैं (अत्रा उदरम्) अन्य भोजन करने वाले प्राणिगण उसके उदर भाग हैं।

रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम् ॥१७॥

भा०—(रक्षांसि) राक्षस लोग (लोहितम्) उसके लोहित, रक्त भाग हैं, (इतरजनाः ऊबध्यम्) इतरजन तिर्यग् योनियां ऊबध्य, भनपचा अन्न वा गुदा से निकले अपान वायु के तुल्य हैं।

अ॒भ्रं पीवो॑ म॒ज्जा नि॒धन॑म् ॥१८॥

भा०—(अभ्रं पीवः) मेघ उसके पीवस् = मेद के बराबर है, (निधनं मज्जा) समस्त धन सम्पत्ति उसका मज्जा भाग है।

अ॒ग्निरासी॑न॒ उत्थि॑तो॒ऽश्विना॑ ॥१९॥

भा०—(अग्निः) अग्नि उसका (आसीनः) बैठने का रूप है और (अश्विनौ) दोनों अश्वी, दिन-रात उसके (उत्थितः) खड़े होने के रूप हैं।

इन्द्रः॒ प्राङ् तिष्ठ॑न् दक्षि॒णा तिष्ठ॑न् य॒मः ॥ २०॥

भा०—(प्राङ् तिष्ठन्) प्राची दिशा में विराजमान वह (इन्द्रः) इन्द्र है। (दक्षिणा तिष्ठन्) दक्षिण दिशा में विराजमान वह (यमः) यम है।

प्र॒त्यङ् तिष्ठ॑न् धा॒तोद॒ङ् तिष्ठ॑न्त्सवि॒ता ॥ २१ ॥

भा०—(प्रत्यङ् तिष्ठन् धाता) प्रतीची अर्थात् पश्चिम में विराजमान वह धाता स्वरूप है। (उदङ् तिष्ठन् सविता) उत्तर दिशा में विराजमान वह सविता स्वरूप है।

तृणा॑नि प्रा॒प्तः सोमो॒ राजा॑ ॥ २२ ॥

भा०—(तृणानि प्राप्तः) वह तृणों के पास गया हुआ (सोमो राजा) सोम राजा है।

मि॒त्र ई॒क्षमा॑ण॒ आवृ॑त्त आन॒न्दः ॥ २३ ॥

भा०—(ईक्षमाणः मित्रः) जब वह समस्त प्राणियों पर कृपा दृष्टि से देखता है तब वह सब का 'मित्र' है (आवृत्तः आनन्दः) जब उन को व्याप लेता है तो वही आनन्द रूप हो जाता है।

युज्यमा॑नो वैश्वदे॒वो युक्तः प्र॒जाप॑ति॒र्विमु॑क्तः सर्व॑म् ॥ २४ ॥

भा०—(युज्यमानः) समाधि द्वारा ध्यान किये जाने के अवसर पर वह (वैश्वदेवः) विश्वदेवों का समष्टिरूप है। (युक्तः प्रजापतिः) समाधि प्राप्त कर लेने पर वह प्रजापति हो जाता है। (विमुक्तः) वही सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त रूप में (सर्वम्) सर्व रूप है।

ए॒तद् वै वि॒श्वरू॑पं॒ सर्व॑रूपं गोरू॒पम् ॥ २५ ॥

भा०—(एतत् वै विश्वरूपम्) यह ही विश्वरूप परमात्मा का विराट् रूप है, वही (सर्वरूपम्) सर्वरूप, (गो-रूपम्) गौ या वृषभ का रूप है, जिसका इस प्रकार वर्णन किया जाता है।

उपै॑नं वि॒श्वरू॑पाः सर्व॑रूपाः प॒शव॑स्तिष्ठन्ति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥२६॥(२१)

भा०—(यः एवं वेद) इस प्रकार जो प्रजापति के विराट् रूप को वृषभ रूप में यथार्थ रूप से जान लेता है (एनम्) उसको (विश्व-रूपाः) विश्वरूप (सर्वरूपाः) सर्वरूप (पशवः) पशु (उपतिष्ठन्ति) प्राप्त होते हैं अर्थात् उसको समस्त प्राणियों में विश्व और सर्व का उक्त रूप प्रत्यक्ष दीखने लगता है।

इसकी तुलना ११ वें काण्ड के ३ रे सूक्त के द्वितीय पर्याय से और नवम के ४र्थ सूक्त मन्त्र ६–१६ तक कहे साहस्र ऋषभ के साथ भी करो।

---

[८] शरीर के रोगों का निवारण।

भृग्वङ्गिराः ऋषिः। सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणं देवता। १-११, १३, १४, १६-२० अनुष्टुभः; १२ अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती चतुष्पादुष्णिक्; १५ विराड् अनुष्टुप्; २१ विराट् पथ्या बृहती; २२ पथ्यापंक्तिः; द्वाविंशर्चं सूक्तम् ॥

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम् ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ १ ॥

भा०—(शीर्षक्तिम्) शिर में व्यापक (शीर्षामयम्) शिरो रोग, (कर्णशूल्) कान का दर्द, (विलोहितम्) जिसमें विकृत रुधिर बहे ऐसे (ते) तेरे (सर्वं) सारे (शीर्षण्यं रोगम्) सिर के रोग को (बहिः) बाहर (निर्मन्त्रयामहे) विशेष रूप से सर्वथा स्तम्भित करते हैं, रोकते हैं, उसका उपाय करते हैं ।

कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम् । सर्वं० ॥२॥

भा०—(ते कर्णाभ्याम्) तेरे कानों से और तेरे (कंकूषेभ्यः) कंकूष = कर्ण के भीतरी भागों में से (विसल्पकम्) नाना प्रकार से रेंगने वाली, चीस चलाने वाली (कर्ण-शूलम्) कान की पीड़ा को और (सर्वं ते शीर्षण्यं रोगं निर्मन्त्रयामहे) समस्त सिर के रोग को हम उपाय से रोक दें और दूर करें ।

यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः । सर्वं० ॥ ३ ॥

भा०—(यस्य हेतोः) जिस हेतु अर्थात् कारण से (कर्णतः) कान से और (आस्यतः) मुख से (यक्ष्मः) रोगकारी, पीड़ाजनक मुवाद (प्रच्यवते) बहता है (सर्वं० इत्यादि) उस समस्त शिर के रोग को हम उपाय से रोकें और दूर करें ।

य कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम् । सर्वं० ॥ ४ ॥

भा०—जो कान का रोग (पुरुषम्) पुरुष को (प्रमोतम्

१. मन स्तम्भे (चुरादिः) इत्यतः सार्वधातुकः ष्ट्रन् । मन्त्रः स्तम्भक उपायः ।

४. प्रमोत—मूङ् बन्धने क्र्यादिः, मृङ् बन्धने (भ्वादिः) इतः क्तः । प्रवद्धसर्वेन्द्रियव्यापारमित्यर्थः । मूकबधिरामिति यावत् ।

कृणोति) खूब बांध दे अर्थात् पुरुष के शिर की इन्द्रियां कान आदि की शक्तियों को जो पीड़ा दे, शिथिल करदे उसको गूंगा, बहरा करदे और जो (अन्धम् कृणोति) उसको अन्धा करदे ऐसे (सर्व० इत्यादि) समस्त शिर के रोग को हम उपाय से रोकें और दूर करें।

अङ्गभेदमङ्गज्वरं विश्वाङ्ग्यं विसल्पकम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ५ ॥

भा०—(अङ्ग-भेदम्) शरीर के अंगों को तोड़ डालने वाले, (अंग-ज्वरम्) शरीर के अंगों में ज्वर, संताप उत्पन्न करने वाले (विश्वाङ्ग्यम्) समस्त शरीर में पीड़ा उत्पन्न करने वाले (वि-सल्पकम्) विशेष रूप से तीव्र वेदना से फैलने वाले (सर्व० इत्यादि) समस्त प्रकार के शिर के रोग को हम बाहर करदें।

यस्य भीमः प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम्।
तक्मानं विश्वशारद बहि० ॥ ६ ॥

भा०—(यस्य) जिसका (भीमः) भयानक (प्रतीकाशः) स्वरूप ही (पूरुषम्) पुरुष को (उद्वेपयति) कंपा देता है ऐसे (तक्मानम्) दुःखदायी (विश्व-शारदम्) सब वर्षों और ऋतुओं में होने वाले ज्वर को हम शरीर से (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर ही रोकदें। उसे शरीर में प्रवेश न करने दें।

य ऊरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके।
यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहि० ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो रोग (ऊरू) जंघाओं की ओर (अनुसर्पति) बढ़ता है (अथो) और (गवीनिके एति) मूत्राशय के समीप 'गविनी' नामक नाड़ियों में पहुँच जाता है उस (यक्ष्मम्) रोग को (ते) तेरे

(अन्तरङ्गेभ्यः) भीतर के अंगों से (बहिः) बाहर (निर्मन्त्रयामहे) निकाल दें।

यदि कामादपकामाद्धृदयाज्जायते परि।

हृदो बलासमङ्गेभ्यो बहि० ॥ ८ ॥

भा०—(यदि) यदि (बलासम्) शरीर के बल का नाशक, कफ रोग (कामात्) हमारे इच्छाकृत कार्य से या (अकामात्) विना कामना के बाह्य जल वायु के विकार से (हृदयात् परि) हृदय के समीप (जायते) उत्पन्न हो जाय तो उसे (हृदः) हृदय के साथ सम्बन्ध रखने वाले (अंगेभ्यः) सब अंग, छाती, फेफड़े और हृदय के विभागों से (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर निकाल दें।

हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात्।

यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥९॥

भा०—(ते अंगेभ्यः) तेरे अंगों से (हरिमाणम्) हरिमा, पीलिया रोग को और (उदरात् अन्तः) पेट के भीतर (अप्वाम्) उदर रोग को और (आत्मनः) शरीर के (अन्तः) भीतर से (यक्ष्मोधाम्) यक्ष्मा रोग के अंशों को रखने वाले रोग को (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर निकाल दें।

आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत्।

यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥१०॥ (२२)

भा०—(बलासः) शरीर के बल का, कफ (आसः भवतु) बाहर फेंक दिया जाय और (आमयत्) रोगकारी पदार्थ (मूत्रं भवतु) मूत्र रूप होकर बाहर आजावे (सर्वेषां यक्ष्माणाम्) समस्त रोगों के (विषम्) विष को (अहम्) मैं (त्वत्) तेरे शरीर से (निर् अवोचम्) निर्मूल करदूं।

बहिर्विलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात्। यक्ष्माणां० ॥११॥

भा०—(तव उदरात्) तेरे पेट से (काहाबाहम्) 'काहाबाह' अर्थात् कड़कड़ाने वाला रोग (विलं बहिः) भीतर से बाहर (निर्द्रवतु) द्रवीभूत होकर सर्वथा निकल जाय। और इस प्रकार (सर्वेषां यक्ष्माणाम्) सब रोगों के (विषं अहं त्वत् निर् अवोचम्) विष को तेरे शरीर से बाहर कर दूं।

उदरात् ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥१२॥

भा०—(ते उदरात्) तेरे पेट से (क्लोम्नः) 'क्लोम' कलेजे से (नाभ्याः) नाभी से और (हृदयात् अधि) हृदय से भी (सर्वेषां यक्ष्माणां विषम्) समस्त प्रकार के रोगों के विष को (अहं त्वत् निर् अवोचम्) मैं तेरे शरीर से बाहर करदूं।

याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥१३॥

भा०—(याः) जो (अर्षणीः) तीव्र पीड़ाजनक रोगमात्राएं (सीमानम्) सीमा, सिर के ऊपरी भाग; खोपड़ी को (विरुजन्ति) नाना प्रकार से पीड़ित करती हैं और (मूर्धानम् प्रति) शिर के प्रति दौड़ती हैं वे (अनामयाः) रोगशून्य होकर (अहिंसन्तीः) रोगी को विना कष्ट दिये ही (बहिः बिलम्) शरीर के छिद्रों से बाहर (निर्द्रवन्तु) द्रवीभूत होकर निकल जावें।

या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः। अहिं० ॥१४॥

भा०—और (याः) जो पीड़ाकारी रोगांश (हृदयम् उप ऋषन्ति) हृदय की ओर तीव्र वेदना सहित बढ़े चले जाते हैं और (कीकसाः अनुतन्वन्ति) गले के मोहरे को बांध या जकड़ लेते हैं वे भी (अहिं-

सन्तीः अनामयाः बहिर्बिलम् निर्द्रवन्तु) रोग रहित होकर विना कष्ट दिये ही शरीर के छिद्रों से बाहर हो जायँ ।

याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः । अहिं० ॥१५॥

भा०—और (याः) जो पीड़ाएं (पार्श्वे उप ऋषन्ति) पासों या दोनों कोखों में तीव्र वेदना करती हैं और (पृष्टीः) पीठ के मोहरों तक (अनुनिक्षन्ति) पहुंच जाती हैं वे भी (अनामयाः अहिंसन्तीः) रोग रहित और कष्ट रहित होकर शरीर से बाहर हो जायं ।

यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते । अहिं० ॥१६॥

भा०—(याः) जो रोगमात्राएं (तिरश्चीः उप-ऋषन्ति) तिरछी वेदना उत्पन्न करतीं और (ते वक्षणासु) तेरी पसलियों में चली जातीं हैं वे भी (अहिंसन्तीः अना०) रोग रहित तुझे कष्टकारी न होकर शरीर से बाहर हो जायं ।

या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च । अहिं० ॥१७॥

भा०—(याः) जो पीड़ाजनक रोगमात्राएं (गुदाः अनुसर्पन्ति) गुदाओं में पहुँच जाती हैं (आन्त्राणि मोहयन्ति च) आन्तों में फैल जाती हैं वे भी (अहिंसन्तीः०) बिना कष्ट दिये रोग रहित होकर शरीर से बाहर हो जायँ ।

या मज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥१८॥

भा०—(याः) जो रोग मात्राएं (मज्ज्ञः निर्धयन्ति) मज्जाओं को सर्वथा चूस जाएं, सुखा डालें, उनमें भी संताप उत्पन्न करदें । और (परूंषि विरुजन्ति च) पोरू पोरू, जोड़ जोड़ में तीव्र वेदना, फूटन पैदा करदें वे भी (अहिंसन्तीः) विना कष्ट दिये शरीर से बाहर हो जायं ।

ये अङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १९ ॥

भा०—(ये) जो (यक्ष्मासः) रोगजनक पदार्थ (तव) तुझे (रोपणाः) मूर्छा उत्पन्न करें और (अंगानि) अंगों में (मदयन्ति) कंप-कंपी पैदा करें उन (सर्वेषां यक्ष्माणां) सब रोगों के (विषम्) विष को (अहं त्वत् निर् अवोचम्) मैं तेरे शरीर से बाहर करदूं ।

विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥२०॥

भा०—(विसल्पस्य) नाना प्रकार से फैलने वाले पीड़ाकारी रोग, (विद्रधस्य) गिल्टियों की सूजन और (वातीकारस्य) वायु की पीड़ा (वा अलजेः) और आंख के भीतर दाने या रोहे फूलने आदि (सर्वेषां यक्ष्माणाम्) समस्त रोगों के (विषम्) विष को (अहं त्वत् निर्-अवोचम्) मैं तेरे शरीर से निकाल दूं ।

पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः ।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् ॥२१॥

भा०—(ते पादाभ्यां) तेरे चरणों से, (जानुभ्यां) गोड़ों से, (श्रोणिभ्याम्) कूल्हों से, (परिभंससः) जघन भाग से, (अनूकाद्) रीढ़ से (उष्णिहाभ्यः) गर्दन की नाड़ियों से और (शीर्ष्णः) शिर से (अर्षणीः) तीव्र वेदनाओं को और उनके उत्पादक (रोगम्) रोग को (अनीनशम्) नाश करता हूं ।

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः ।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः
॥२२॥ (२३)

भा०—हे रोगी ! (ते) तेरे (शीर्ष्णः) सिर के (कपालानि) कपाल भाग और (हृदयस्य च) हृदय की (यः) जो (विधुः) विशेष प्रकार की पीड़ा थी वह (सम्) अब शान्त हो गई है। हे (आदित्य) सब रोगों के हरने हारे सूर्य ! तू (उद्यन्) उगता हुआ ही अपनी (रश्मिभिः) किरणों से (शीर्ष्णः) शिर के रोग को (अनीनशः) नाश करता है और (अंगभेदम्) शरीर के अंगों को तोड़ने वाली तीव्र वेदना को भी (अशीशमः) शान्त कर देता है।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयम् ऋचश्चाष्टाचत्वारिंशत्]

---

[९] विश्वस्रष्टा परमेश्वर का निरूपण।

ब्रह्मा ऋषिः। आदित्यो देवता। अध्यात्मकं अस्यवामीयं सूक्तम्। १–११,१३,१५, १७,१९–२१ त्रिष्टुभः; १२,१४,१६,१८ जगत्यः। द्वा-विंशर्चं सूक्तम्॥

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥१॥

ऋ० १। १६४। १॥

भा०—(अस्य) इस (वामस्य) सेवन करने योग्य, सुन्दर, वरणीय (पलितस्य) समस्त जगत् के पालक, (होतुः) स्वयं अपने में उसको ले लेने वाले, प्रलयकारी, (तस्य) उस महान् परमेश्वर का (भ्राता) भ्राता, भरण पोषण समर्थ स्वरूप (मध्यमः) सब सृष्टि के भी भीतर वर्त्तमान, (अश्नः) सर्वव्यापक (अस्ति) है। और (अस्य) इस परमेश्वर का (तृतीयः) सबसे उत्कृष्ट, तीर्णतम (भ्राता) सर्व-धारक स्वरूप (घृत-पृष्ठः) अत्यन्त प्रदीप्त, तेजोमय है (अत्र) इस

[९] १–ऋग्वेदे अस्य सूक्तस्य दीर्घतमा ऋषिः।

परमरूप में ही मैं क्रान्तदर्शी योगी (सप्त-पुत्रम्) सर्पणशील 'पुम्' अर्थात् जीवों और लोगों के त्राण करने वाले (विश्पतिं) सब प्रजाओं के पालक परमेश्वर को (अपश्यम्) साक्षात् करता हूं।

अध्यात्म में—(अस्य पलितस्य होतुः वामस्य तस्य मध्यमः भ्राता अश्नः अस्ति) इस सर्वव्यापक, परम पुराण, परम वरणीय आत्मा का मध्यम भ्राता 'अश्न' कर्मफल भोक्ता जीव है। (अस्य तृतीयः भ्राता घृत-पृष्ठः) इसका तीसरा भाई 'घृतपृष्ठ' जलमय, आपोमय प्रकृति तत्व है, (अत्र) वहां ही मैं (सप्तपुत्रम् विश्पतिं अपश्यम्) सर्पणशील लोकों के प्रजापति को साक्षात् करता हूं।

आदित्यपक्ष में—इस सुन्दर पुण्य, सर्वदाता सूर्य का मध्यम भ्राता (अश्नः) सर्वव्यापक वायु है। उसका तृतीय भ्राता 'घृतपृष्ठ' जल को पीठ पर लिए यह मेघ या भूलोक है। यहां 'सप्तपुत्रम्' सात मरुद्गणों से युक्त, सप्त रश्मियों से युक्त या सात ग्रहों या लोकों से युक्त (विश्पतिम्) प्रजापति के समान सूर्य को देखता हूं।

भौतिक पक्ष में—इस प्रशंसनीय वृद्ध ज्ञानी के भरण पोषण में समर्थ, (मध्यमः) पृथिवी आदि लोकों में प्रसिद्ध, (अश्नः) सब पदार्थों को भस्म कर खा जाने वाला अग्नि विद्यमान है, उसका तीसरा भ्राता मानो (घृत-पृष्ठः) जल की पीठ पर लिएं विद्युत्रूप अग्नि है। और (अपश्यं सप्तपुत्रं विश्पतिं) सातों प्रकार के तत्वों से उत्पन्न प्रजा के पालक सूर्य को देखता हूं। [महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य के अनुसार]

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ २ ॥
ऋ० १। १६४। २ ॥ अथर्व० १३। ३। १८ ॥

भा०—(एकचक्रं रथम्) जिस प्रकार संवत्सर रूप एकचक्र-रथ में (सप्त) सर्पण स्वभाव के सात ऋतु गण (युञ्जन्ति) जुतते हैं, तो भी (एकः) एक ही (अश्वः) व्यापक (सप्त-नामा) सातों के नामों को धारण करने वाला सर्पणशील ऋतुओं को नमाने अर्थात् उनको परिणत करने वाला स्वयं उस काल चक्र को (वहति) धारण करता है। और वह (चक्रम्) चक्र (त्रि-नाभि) तीन नाभियों वाला है, (अजरम्) कभी नाश न होने वाला नित्य और (अनर्वम्) कभी शिथिल नहीं होता। (यत्र) जिसमें (इमा) ये (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक (तस्थुः) स्थित हैं। उसी प्रकार अध्यात्म में इस (एकचक्रं रथम्) एक-चक्र अर्थात् कर्ता से युक्त रथ रूप रमण साधन देह को (सप्त) सर्पणशील या सात शीर्षण्य अथवा इन्द्रिय और मन (युञ्जन्ति) वहन करते हैं। और वही (एकः) एकमात्र (अश्वः) अश्व अर्थात् कर्मफल भोक्ता, स्वयं (सप्त-नामा) समस्त सर्पणशील प्राणों का नमन, दमन करने हारा होकर उनको (वहति) धारण करता है। वह (चक्रम्) कर्त्तास्वरूप आत्मा स्वतः (त्रि-नाभि) प्रकृति के तीनों गुणों में बँधा हुआ (अजरम्) अजर, अविनाशी, (अनर्वम्) 'अर्वा' अर्थात् करण न होकर कर्त्तारूप है। (यत्र) जिसमें (विश्वा) समस्त (भुवनानि) सत् कर्म और ज्ञान (तस्थुः) आश्रित हैं। जिस प्रकार देह में आत्मा उसी प्रकार इस विराट् विश्वमय देह में परमात्मा व्यापक है। यह विश्व एक चक्रस्थ है, इसका एक ही कर्त्ता है। इसको नाना सर्पणशील सौर मण्डल एवं पञ्चभूत उठा रहे हैं। एक अश्व अर्थात् व्यापक प्रभु सबको वश करके उनको उठाये हुए है। वह चक्र भूत, भविष्यत्, वर्तमान या सत्व-रजस्-तमस् इन तीन में बंधा है। वह अजर, अनादि (अनर्वम्) अविनाशी, अशिथिल है। जिसमें समस्त भुवन अर्थात् लोक स्थिर हैं।

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा ॥३॥
ऋ० १।१६४।३॥

भा०—(इमम्) इस (सप्त-चक्रम्) सर्पणशील, विषयों तक गति करने वाले इन्द्रियों से युक्त (रथम्) रमणसाधन, भोगायतन देह में (ये) जो (सप्त) सात या सर्पणशील प्राण (तस्थुः) स्थित हैं वे भी (अश्वाः) विषयों का भोग करते हैं या समस्त देह में व्यापक भी हैं। वे उस रथ को (वहन्ति) धारण करते हैं। (सप्त) वे सातों (स्वसारः) स्व अर्थात् आत्मा के बल पर सरण करने वाले (अभि सं नवन्त) देह को भली प्रकार वश करते हैं (यत्र) जहां (गवाम्) गौ = इन्द्रियों के (सप्त) सात (नामा) स्वरूप (निहिता) रक्खे हैं।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः गुहाशयाः निहिता सप्त सप्त ॥
मु० उप० २।१।८॥

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
को दर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ॥ ४ ॥
ऋ० १।१६४।४॥

भा०—[प्रश्न १] (प्रथमम्) सब से प्रथम (जायमानम्) प्रादुर्भूत, प्रकट होते हुए इस महान् हिरण्यगर्भ को (कः ददर्श) कौन देखता है ? [प्र० २] (यद्) और (अनस्था) हड्डी अर्थात् शरीर से रहित आत्मा (अस्थन्वन्तम्) इस अस्थि वाले अर्थात् कठोर शरीर और रूपवान् जगत को कौन (बिभर्ति) धारण करता है ?

१—(तृ०) 'स नवन्ते' (च०) 'सप्तनाम' इति ऋ०।

[प्र० ३] (भूम्याः) भूमि, पृथिवी और पृथिवी का यह शरीर और (असुः) वायु का अंश प्राण और (असृक्) जल का अंश रुधिर इन तीनों से बना देह और इस शरीर में रहने वाला (आत्मा) आत्मा, चेतन ये भी (क्व स्वित्) कहां, किस पर आश्रित है ? [प्र० ४] (कः) कौन पुरुष (एतत्) इस रहस्यमय प्रश्न को सबसे प्रथम (प्रष्टुम्) पूछने के लिए (विद्वांसम्) किसी विद्वान् के पास (उप गात्) पहुंचा होगा ? इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। (१) जब सब से प्रथम प्रथम प्रकृति के अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप उत्पन्न हुआ तब उसको देखने वाला साक्षी कौन था ? (२) शरीर को किस अशरीरी ने धारण किया ? (३) शरीर, प्राण, रुधिर आदि संघात का आत्मा कहां स्थित है ? (४) सबसे प्रथम किसने इस प्रश्न को किसी विद्वान् से पूछा ?

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥५॥

ऋ० १ । १६४ । ७ ॥

भा०—(अंग) हे विद्वान् पुरुषो ! (यः) जो (ईम्) भी (अस्य) इस (वेः) गतिशील हंसरूप (वामस्य) सबसे सुन्दर, सबसे वरणीय और सेवनीय आत्मा के (इह निहितम्) इस देह के भीतर छुपे हुए (पदम्) ज्ञातव्य स्वरूप को (वेद) जानता है वह (इह ब्रवीतु) हमें बतलावे। और जिस प्रकार सूर्य की किरणें अपने पदभाग से जल पी जाती हैं उसी प्रकार उस आत्मा का भी क्या स्वरूप है जिसकी (गावः) विषयों के प्रति गमन करने वाली इन्द्रियां (अस्य) इस आत्मा के (वव्रिम्) स्वरूप को (वसानाः) धारण करती हुई अर्थात् चेतना के संग से स्वयं चेतन होती हुई (शीर्ष्णः)

शिरो-भाग से (क्षीरम्) दूध के समान मधुर ज्ञानरूप रस (दुह्रते) पूर्ण करतीं, प्रदान करती हैं, और (पदा) अपने चेतना-सामर्थ्य रूप पद वा गति से मानो चरण से (उदकम्) जल के समान ग्राह्य विषयों के आनन्दरस का (अपुः) पान करती हैं। यह एक पहेली के समान है कि—'उस सुन्दर पक्षी का स्वरूप बतलाओ जिसकी गौएं पैरों से रस पीएं और सिर से रस बरसावें ? इसके उत्तर दो हैं। एक 'सूर्य' दूसरा 'आत्मा'। सूर्य की किरणें चरणों से भूमि पर से जल-पान करती हैं और आकाश रूप से सिर से मेघ रूप से बरसाती हैं। इसी प्रकार देह में लगी इन्द्रियां बाह्य विषयों का रसपान करती हैं और शिरोभाग से आनन्द या ज्ञान-रस उत्पन्न करती हैं।

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥६॥
ऋ० १ । १६४ । ५ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (पाकः) परिपक्व होने योग्य अपक्व ज्ञानवाला, अल्पज्ञानी मैं (मनसा) अपने मन, संकल्प विकल्पवान् अन्तःकरण से (अविजानन्) विशेष ज्ञान को करने में असमर्थ होकर (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ कि (देवानाम्) प्रकाश करने वाले सूर्यादि पदार्थों के, ज्ञाना को दिखलाने वाले इन्द्रिय आदि गण के (एना) ये नाना प्रकार के (पदानि) ज्ञातव्य स्वरूप (निहिताः) जो भीतर छिपे हैं वे कहां आश्रित हैं और किस प्रकार हैं ? और (कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान् ऋषिगण (बष्कये) सत्यस्वरूप (वत्से) सर्वाच्छादक, सर्वव्यापक या स्तुत्य प्रभु के (अधि) आश्रय पर (ओतवा उ) जगत् को बुनने के लिये या उसमें अपने आपको ओत-प्रोत करने के लिए (सप्त तन्तून्) सात प्राणमय तन्तुओं को (वि) नाना प्रकार से (तत्निरे) तानते हैं। हे विद्वान् पुरुषो ! बतलाओ वह किस प्रकार

करते हैं। यह भी एक समस्या या पहेली है कि—देवों के पद कहां रक्खे हैं। और 'वष्कय वत्स' पर विद्वानों ने बुनने के लिये ही सात सूत ताने तो कैसे ? । इस अध्यात्म समस्या या पहेली का उत्तर है कि आत्मा में देवों के 'पद' अर्थात् स्वरूप छिपे हैं। इस 'वष्कय वत्स' सत्य स्वरूप जगत् के आच्छादक प्रभु में विद्वानों ने जगत्-रूप पट को वयन करने के लिये सात प्राकृतिक विकार पञ्चभूत, महान् और अहंकार इनको तान दिया और अपने को उसमें ओत-प्रोत करने के लिये सात प्राणों को वश कर उसमें लगा दिया और अपने आत्मा के सात शीर्षण्य प्राणों को उसमें तान दिया।

अचि॑कित्वाँश्चि॒कितु॑षश्चि॒दत्र॑ क॒वीन् पृ॑च्छामि वि॒द्मनो॒ न वि॒द्वान्।
वि यस्त॒स्तम्भ॒ षडि॒मा रजां॑स्य॒जस्य॑ रू॒पे किमपि॑ स्वि॒देक॑म् ॥७॥
ऋ० १ । १६४ । ६ ॥

भा०—(अचिकित्वान् चित्) ज्ञानरहित (न विद्वान्) इस गूढ़ रहस्य को न जानता हुआ मैं शिष्य (अत्र) इस विषय में (चिकितुषः) पूर्ण रीति से ज्ञानसम्पन्न (विद्मनः) विद्वान् (कवीन्) क्रान्तदर्शी तत्वज्ञ ऋषियों से (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ कि (यः) जो (इमाः) इन (षट्) छः (रजांसि) तीन भूमियों, तीन द्यौः को अथवा पांच इन्द्रियों और छठे मन को संवत्सर की छः ऋतुओं या सत्य लोक को छोड़ कर शेष भू आदि छः लोकों को (तस्तम्भ) थामे हुए है उस (अजस्य) अजन्मा आत्मा के (रूपे) निरूपण में (किम् अपि) कोई भी (एकम् स्वित्) एक तत्व है या नाना शक्तियां इस जगत् को चला रही हैं, इसका निर्णय करो।

७—'विद्मने न विद्वान्' इति ऋ० ।

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥ ८ ॥
ऋ० १। १६४। ८ ॥

भा०—(माता) बच्चे की मां जिस प्रकार बालक उत्पन्न करने के पूर्व बालक के (पितरम्) पिता के समीप आती और (मनसा सं जग्मे) प्रेम से उसका संग करती है और वह (गर्भ-रसा निविद्धा) गर्भजनक वीर्य से सम्पन्न होकर प्रजा को उत्पन्न करती है उसी प्रकार (माता) जगत् का निर्माण करने हारी मूल कारण प्रकृति (पितरम्) जगत के पिता या पालक परमात्मा को (ऋते) उसके सत्यमय सामर्थ्य में आश्रय पाकर (आ बभाज) उसे प्राप्त करती है। और (अग्रे) जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व (धीती) क्रियाशक्ति से और (मनसा) परमेश्वर की ज्ञानशक्ति से (सा) वह प्रकृति (हि) भी (सं जग्मे) उस के साथ संगत हुई, मिली और गर्भ धारण किया। और (सा) वह प्रकृति (बीभत्सुः) उस के साथ बन्धने की इच्छा करती हुई अर्थात् सुसंगत होकर (गर्भ-रसा) उसके गर्भधारक रस, तेज से (निविद्धा) अच्छी प्रकार सम्पन्न होकर इस संसार को उत्पन्न करती है। (नमस्वन्तः) ज्ञानवान् पुरुष (इत) ही (उपवाकम्) इस प्रकार के वचन अर्थात् तत्वज्ञान को (ईयुः) प्राप्त होते हैं। आदित्य पक्ष में—माता पृथ्वी पिता सूर्य को प्राप्त होती है, उससे संगत होकर वह उससे वर्षित जल को अपने भीतर लेती है, और प्राणी जन अन्न प्राप्त करके नाना प्रकार की वाणियां उच्चारण करते हैं।

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥ ९ ॥
ऋ० १। १६४। ९ ॥

भा०—(माता) सर्व जगत् को निर्माण करने वाली प्रकृति (दक्षिणायाः) क्रिया या बल से सम्पन्न, बलवती शक्ति के (धुरि) मूल केन्द्र परमेश्वर में (युक्ता) जुडी हुई (आसीत्) थी। (वृजनीषु) जलों, 'आपः' या सूक्ष्म प्रकृति के परमाणुओं के (अन्तः) भीतर वह परब्रह्म की सर्गकारिणी शक्ति (गर्भः) परस्पर ग्रहण करने, एक दूसरे को पकड़ लेने या परस्पराकर्षण करनेवाले बल रूप में (अतिष्ठत्) विद्यमान थी। (वत्सः अनु गाम्) जिस प्रकार गौ को देखकर बछड़ा (अमीमेत्) हम्भारता है उसी प्रकार (वत्सः) वत्सरूप जीव (गाम्) सर्वव्यापक उस परमात्मा को (अनु) देख कर (अमीमेत्) उत्सुक होकर उसको पुकारता है और (त्रिषु योजनेषु) तीनों लोकों में (विश्व-रूप्यम्) समस्त विश्व को रूप देने वाले, ब्रह्माण्ड के कर्त्ता विश्वरूप परमात्मा का (अपश्यत्) दर्शन करता है।

आदित्य के पक्ष में—माता पृथ्वी दक्षिणा द्यौ या आदित्य शक्ति के (धुरि) केन्द्र में आकर्षणशक्ति से बँधी है (वृजनीषु) उस आदित्य की रश्मियों में जल गर्भित हो जाते हैं। (वत्सः) मेघ पृथिवी के प्रति बरसने के पूर्व ध्वनि करता है और लोग तीन योजनों में अर्थात् सूर्य का पृथ्वी से योग, मेघ का वायु से योग, पुनः वृष्टि जल का पृथ्वी से योग इन तीन योजनाओं में 'विश्वरूप' नाना रूप उत्पन्न सृष्टि को देखते हैं।

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ॥
१० ॥ (२४) ऋ० १ । १६४ ॥

१०-(द्वि०) ग्लापयन्ति (च०) 'विश्वविदां वाचमविश्वमिन्वाम्' इति ऋ०।

भा०—(एकः) एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर (तिस्रः) तीन (मातृः) जगत् की निर्माणकारिणी शक्तियों और (त्रीन् पितॄन्) पिताओं के समान तीन पालकों को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (ऊर्ध्वः) उनसे भी ऊपर (तस्थौ) अधिष्ठाता रूप से विराजमान है । इसलिये ये तीनों (ईम्) कभी (न अव ग्लापयन्त) शक्तिहीन, विषादयुक्त, निर्बल नहीं हो पाते । (अमुष्य दिवः) उस द्यौः आदित्य या प्रकाशस्वरूप परमात्मा के (पृष्ठे) स्वरूप के विषय में (विश्वविदः) विश्व के तत्त्व को जानने वाले विद्वान् (अविश्वविन्नाम्) सबके न समझने योग्य, अत्यन्त गूढ़ (वाचम्) वाणी का (मन्त्रयन्ते) विचार करते हैं ।

'तिस्रः मातृः' = तीन माताएँ = सूर्य, मेघ, पृथिवी । 'त्रीन् पितॄन्' = तीन पिता = तीन लोक या अग्नि, वायु, सूर्य ।

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः ॥११॥

ऋ० १ । १६४ । १३ ॥

भा०—(पञ्चारे) पांच तत्त्व रूप अरों वाले (परिवर्त्तमाने) घूमते हुए (यस्मिन्) जिस (चक्रे) चक्र में (विश्वा भुवनानि) समस्त लोक लोकान्तर (आतस्थुः) स्थिर हैं (भूरिभारः) बहुत भार वाला (अक्षः) जिस प्रकार साधारण गाड़ी का अक्ष, धुरा गर्म हो जाता है उस प्रकार (तस्य) उसका (अक्षः) धुरा अर्थात् वहन समर्थ व्यापक विभु, प्रभु (न तप्यते) कभी तप्त नहीं होता, कभी पीड़ित नहीं होता । और जिस प्रकार गाड़ी का धुरा चलते चलते पुराना होकर घिस जाता है और टूट फूट जाता है उसी प्रकार वह (सनात्)

११–(च०) 'नशीर्यत सनाभिः' इति ऋ० ।

अति पुरातन, सनातन शक्ति (एव) ही (सनाभिः) समान रूप से समस्त विश्व की 'नाभि' अर्थात् सबको अपने में बांधने वाला केन्द्र होकर भी (न च्छिद्यते) कभी नहीं टूटता फूटता, कभी विच्छिन्न नहीं होता, कभी पृथक् नहीं होता।

आदित्यकृत, काल के पक्ष में—संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, उदावत्सर, अनुवत्सर इन पांच वर्षों के रूप पांच अरों से युक्त काल चक्र या पांच ऋतु रूप अरों से बना संवत्सर कालचक्र बराबर घूमता है। उसमें समस्त लोक स्थिर हैं। उसका अक्ष कभी नहीं तपता और वह कभी छिन्न भी नहीं होता।

अध्यात्म में—पांच प्राणरूप पांच अरों से बना चक्र = कर्त्तारूप आत्मा, उसमें समस्त भुवन = प्राण इन्द्रिय आदि आश्रित हैं उसकी अक्षः = दर्शनशक्ति या अध्यक्षता कभी पीड़ित नहीं होती अर्थात् वह आत्मा नित्य, अविनाशी सब प्राणों को समान रूप में बांधे रह कर भी कभी उच्छिन्न नहीं होता।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥१२॥

ऋ० १ । १६४ । १२ ॥

भा०—(दिवः) द्युलोक, प्रकाशमय परमेश्वर के (परे अर्धे) परम स्वरूप के निरूपण के विषय में विद्वान् ऋषि लोग (पुरीषिणम्) ब्रह्माण्ड रूप पुर में विराजमान परम पुरुष को (पञ्च-पादम्) पञ्चपाद और (द्वादशाकृतिम्) १२ आकृति वाला (पितरम्) पिता (आहुः) कहते हैं। जिस प्रकार सूर्य की पांच ऋतु उसके पांच पाद या चरण हैं और १२ आकृतियां १२ मास हैं उसी प्रकार अन्न, प्राण, मन, विज्ञान

१२–(तृ०) 'उपरि विचक्षण' इति ऋ० ।

और अहंकार इनमें विद्यमान ईश्वरीय शक्ति की १२ आकृतियां हैं। शरीर में अध्यात्म उक्त पांच चरण हैं या पञ्चप्राण पञ्चपाद हैं और १२ प्राण १२ आकृतियां हैं। (अथ) और (उपरे) सबके रमण योग्य (विचक्षणे) सबके साक्षी द्रष्टा परम ब्रह्म के विषय में (इमे) और ये (अन्ये) दूसरे विद्वान् (सप्त चक्रे) सात चक्रमय, सप्तशीर्षण्य प्राणों से बने (षडरे) छः, पांच इन्द्रिय और छठा मन इन अरों से युक्त चक्र में उस (पुरीषिणम्) पुरुष को (अर्पितम्) अर्पित, स्थित, विराजमान (आहुः) बतलाते हैं।

आदित्य पक्ष में—पञ्चपाद = पांच ऋतु। द्वादश आकृति = १२मास। पुरीषी = वृष्टि के उदक से सम्पन्न सूर्य। सप्त चक्र = सात आदित्यरश्मियां यद्वा अयन ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त इनके पुनः आवर्त्तन करनेवाले चक्रों में षट् अर = षट् ऋतु लगी हैं। विशेष देखो प्रश्नोपनिषद् [प्रश्न १। ११]।

द्वाद॑शारं न॒हि तज्जरा॑य॒ वर्व॑र्ति च॒क्रं परि॒ द्यामृ॒तस्य॑।
आ पु॒त्रा अ॑ग्ने मिथु॒नासो॒ अत्र॑ स॒प्त श॒तानि॑ विंश॒तिश्च॑ तस्थुः॥१३॥

० १। १६४। ११॥

भा०—हे (अग्ने) सूर्य ! परमात्मन् ! तेरा यह (द्वादशारम्) १२ अरों से युक्त (ऋतस्य) सत्य, व्यक्त ब्रह्माण्ड का (चक्रम्) चक्र (द्याम् परि) द्युलोक आकाश में (वर्वर्त्ति) घूम रहा है, (तत्) वह कभी (नहि जराय) जीर्ण नष्ट नहीं होता। (अत्र) इस में (पुत्राः) मनुष्यों का दुःखों से त्राण करने वाले (सप्त शतानि विंशतिश्च) सातसौ बीस [७२०] (मिथुनासः) जोड़े, दिन और रात (तस्थुः) स्थिर हैं।

इस चक्र को कोई काल-चक्र और संवत्सर-चक्र इत्यादि नाना

रूप से कल्पना करते हैं। अध्यात्म में द्वादश अर = १२ प्राण हैं। संवत्सर के रात दिनों की संख्या ७२० है। ३६० रात्रि और ३६० दिन।

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१४॥
ऋ० १।१६४।१४॥

भा०—(सनेमि) नेमि अर्थात् चक्रधारा सहित, नमनशक्ति से युक्त, सबको वश करने वाला यह (अजरम्) अविनाशी (चक्रम्) चक्र, कालशक्ति—ब्रह्मचक्र (विवावृते) नाना रूप से चल रहा है। उसको (उत्तानायाम्) इस उत्तान जगती में (दश) दश प्राण (युक्ताः) जुतकर (वहन्ति) उठा रहे हैं। (सूर्यस्य) सूर्य, सब के प्रकाशक परमेश्वर की (चक्षुः) चक्षु अर्थात् साक्षात् ज्ञानशक्ति, दर्शन-शक्ति जो संसार को उत्पन्न करती है वह (रजसा) रजो-गुण से (आवृतम्) युक्त होकर (एति) गति करती है, समस्त संसार को चलाती है। जिस राजस शक्ति में (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन और लोक (आ तस्थुः) स्थिर होते हैं।

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पिता-सत् ॥ १५ ॥

भा०—(मे) मेरी जो (स्त्रियः) प्रकृति के परमाणुओं में घनी-भाव उत्पन्न करने वाली (सतीः) प्रबल शक्तियां हैं (तान् उ) उनको ही विद्वान् लोग (पुंसः) 'पुं शक्ति या प्रबल पुरुष रूप से (आहुः) कहते हैं। उनको (अक्षण्वान्) चक्षुष्मान् विद्वान्

१४-(च०)'यस्मिन्नार्पिता' इति ऋ०।
१५-(प्र०) 'ता उ' (तृ०) 'इमाः' (च०)'सवितुःपि'--इति तै०आ०।

(पश्यत्) साक्षात् करता है । (अन्धः) अन्धा मूर्ख पुरुष उनको (न विचेतत्) नहीं जान पाता । (यः) जो (पुत्रः) पुत्र बालक होकर भी (कविः) क्रान्तदर्शी है (सः) वह (ईम्) इस रहस्य को (आ चिकेत) जानता है, और जो (ताः) उन शक्तियों को (विजानात्) विशेष रूप से जान लेता है (सः) वह (पितुः पिता असत्) पिता का भी पिता हो जाता है । अथवा—(स्त्रियः सतीः तान् उ मे पुंसः आहुः) जो स्त्रियां हैं उन स्त्री प्राणियों को भी विद्वान् पुरुष 'जीवात्मा' या 'पुरुष' नाम से पुकारते हैं । आदित्य पक्ष में—आदित्य की रश्मियें जलों को गर्भ में धारण करने से स्त्रियां हैं, तो भी वृष्टि के जल सेचन में समर्थ होने और पृथ्वी जल सेचन के बाद अन्नोत्पादन में समर्थ होने से उनको भी पुमान्; 'मेघ' कहा जाता है । शेष पूर्ववत् ।

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥१६

ऋ० १ । १६४ । १५ ॥

भा०—(साकं-जानां) एक ही साथ उत्पन्न हुए प्राणों में से (सप्तथम्) सातवें को (एकजम्) एकज अर्थात् एक रूप से उत्पन्न हुआ (आहुः) बतलाते हैं । (यमाः) दो दो जोड़े रूप से विद्यमान (ऋषयः) प्राण (षट्) छः हैं और वे (देवजा इति) देव अर्थात् आत्मा से उत्पन्न हुए बतलाये जाते हैं । (तेषाम्) उनके (धामशः) धारण सामर्थ्य या ग्रहणशक्ति के अनुसार ही (इष्टानि) इनकी इच्छाएं या चेष्टाएं या कार्य (विहितानि) बनाये हैं । वे (स्थात्रे) स्थिर, नित्य, आत्मा के हित के लिये ही (रूपशः) भिन्न-भिन्न रूपों में (विकृतानि) विकार को प्राप्त होकर (रेजन्ते) प्रकट होते हैं । अर्थात् कान, नाक, आंख ये छहों दो दो के जोड़े हैं । इनमें सातवां मुख का

प्राण जोड़ा नहीं, वह एक ही है। वह 'एकज' है। इनमें उक्त छहों ऋषि ज्ञानद्रष्टा हैं ये 'देवज' कहाते हैं। उन सबके अपने-अपने ग्राह्य विषय नियत हैं और आत्मा के निमित्त ये गति कर रहे हैं। आदित्य पक्ष में—छः ऋतुएं हैं। जिनमें सातवीं ऋतु एक मलमास से उत्पन्न होने से वह एकज है। शेष ऋतु दो दो मासों से बनते हैं वे 'यम' हैं। वे सूर्य से उत्पन्न होती हैं इसलिये 'देवज' हैं। उनके अपने-अपने सामर्थ्य से अपना इष्ट परिणाम होता है। वे 'स्थाता' सूर्य के कारण नाना रूपों में प्रकट होती हैं।

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे
अस्मिन् ॥ १७ ॥ ऋ० १ । १६४ । १६ ॥

भा०—(एना गौः) यह ब्रह्मशक्ति (परेण) दूर से भी दूर लोक से नीचे है और (एना अवरेण) इस नीचे के लोक से ऊपर भी रहकर (पदा) ज्ञान द्वारा (वत्सम्) जगत् को (बिभ्रती) पुष्ट करती हुई (उद् अस्थात्) सर्वोपरि स्थित है। (सा) वह (कद्रीची) न जाने कहां से आती और कहाँ को जाती है। और वह (कं स्वित्) किस (अर्धम्) परम श्रेष्ठ प्रभु के पास (परा अगात्) पुनः लौट जाती है। न जाने (क स्वित् सूते) वह कहां इस सन्तान को उत्पन्न करती है। (नहि यूथे अस्मिन्) वह स्वयं इस यूथ अर्थात् विकृतिगण में नहीं है। वह ब्रह्मशक्ति इस लोक के ऊपर और उस लोक से नीचे समस्त संसार को पालती है और फिर उसी में लीन होजाती है। इतने प्राणी कहां से उत्पन्न करती है इसका ज्ञान नहीं है। वह प्राकृतिक विकार रूप महत् आदि पदार्थों से अवश्य भिन्न है।

१७—(च०) यूथि अन्तः' इति ऋ० ।

आदित्यपक्ष में—उषा वह गौ जो अपने चरण के समीप सूर्य रूप वत्स को धारण करती है वह कहां से आती कहां जाती है और कहां अपने सूर्य बालक का प्रसव करती है? पूर्व प्रकाशित तारायूथ में वह उसका नहीं प्रसव करती।

अध्यात्म में—(परेण अवः) पर आत्मतत्व से नीचे और (एना अवरेण परः) इस अधोवर्त्ती इन्द्रियगण से ऊपर (पदा) ज्ञानशक्ति से (वत्सम्) अपने वत्स रूप मन को (बिभ्रती गौः उदस्थात्) पुष्ट करती हुई गौः अर्थात् चेतना शक्ति प्रकट होती है। (सा कद्रीची) वह कहां से आती है? (कं स्विद् अर्धं परागात्) किस उत्तम, समृद्ध आत्मा में पुनः लौट जाती है? इस मन को वह कहां उत्पन्न करती है? जिससे यह वत्स मन इस इन्द्रिय गण में परिगणित नहीं होता।

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण।
कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥१८॥

भा०—(परेण अवः) परम परमेश्वर से उतर कर विराजमान (अस्य) इस पूर्वोक्त मन के (पितरम्) पालक आत्मा को और (परेण अवः एना अवरेण परः) पर आत्मा से नीचे और इस इन्द्रियगण से उत्कृष्ट इस मन के विषय में (यः वेद) जो जानता है वह (कवीयमानः) स्वयं अपने को क्रान्तदर्शी विद्वान् मेधावी के समान (प्रवोचत्) बता कर (कः) कोई दुर्लभ ही (इह) इस जगत् में बतला सकता है कि (देवम्) क्रीड़ाशील या ज्ञान को संकल्प विकल्प द्वारा दर्शाने वाला (मनः) मन अन्तःकरण (कुतः अधि प्रजातम्) कहां से प्रकट हुआ है?

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥१९॥

१८–(प्र० द्वि०) 'यो अस्यानुवेद पर एनावरेण' इति श०।

भा०—(ये) जो जीवगण (अर्वाञ्चः) इस लोक में भोग-परायण हैं उनको (पराचः) परम ब्रह्म से दूर हटा हुआ (आहुः) कहते हैं। और (ये) जो इस लोक के भोगों से (पराञ्चः) परे हट गये हैं (तान्) उनको ही (अर्वाचः) परम पद के समीप (आहुः) कहा जाता है। (इन्द्रः च सोम) हे इन्द्र और सोम! जीव और ब्रह्म! (या चक्रथुः) जिन लोकों को आप दोनों अपनी कर्म-शक्ति और फलदायिनी-शक्ति द्वारा निर्माण करते हो (तानि रजसः) वे कर्म ही इन लोकों को (धुरा युक्ता न) धुरे में जुते घोड़ों के समान (वहन्ति) धारण कर रहे हैं।

आदित्य पक्ष में—जो ग्रह अर्वाग् हैं उनको ज्योतिषी पराक् दूरस्थ कहते हैं, गति के वश से जो समीप होते हैं वे ही फिर दूर हो जाते हैं। इन्द्र और सोम अर्थात् सूर्य और चांद गति के वश से कभी समीप होते हैं और कभी दूर हो जाते हैं।

द्वा सु॒प॒र्णा स॒युजा॒ सखा॑या समा॒नं वृ॒क्षं परि॑ षस्वजाते।
तयो॑र॒न्यः पिप्प॑लं स्वा॒द्वत्त्यन॑श्नन्न॒न्यो अ॒भि चा॑कशीति ॥२०॥

भा०—(सयुजा) एकत्र रहने वाले (सखाया) एक दूसरे के मित्र (सुपर्णा) उत्तम ज्ञान, पालन और सामर्थ्य से युक्त, दोनों ईश्वर और जीव दो पक्षियों के समान हैं। वे दोनों (समानं वृक्षम्) एक ही संसार रूप वृक्ष को (परि षस्वजाते) चिपटे रहते हैं अर्थात् उस पर आश्रय लेते हैं। (तयोः) उन दोनों में (अन्यः) एक पक्षी, जीव (स्वादु) आनन्ददायक (पिप्पलम्) पिप्पल, कर्मफल को (अत्ति) भोग करता है और (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) भोग न करता हुआ (अभि चाकशीति) केवल देखा करता है। अर्थात् दूसरा साक्षी रूप से विराजता है। किन्हीं के मत में ये दो पक्षी जीव और मन हैं। जो समान भाव से उच्छेद करने योग्य देह रूप वृक्ष में आश्रित हैं।

असङ्ग आत्मा साक्षी है और मन भोग करता है। यह रूपक छत्रि-न्याय से दोनों पक्षों में संगत है। देखो श्वेताश्वतर, मुण्डक और कठ उपनिषदें।

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥२१॥
ऋ० १।१६४।२२ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिस (वृक्षे) ब्रह्ममय वृक्ष पर (मध्वदः) मधु अर्थात् आत्म ज्ञानरस का उपभोग करने हारे (सुपर्णाः) शुभ ज्ञानसम्पन्न ब्रह्मज्ञ (निविशन्ते) आश्रय लेते हैं और (विश्वे) संसार में (अधि सुवते च) पुनः आते हैं अर्थात् पुनः मुक्ति से लौट आते हैं, (तस्य) वे उस ब्रह्ममय वृक्ष का (यत्) जो (स्वादु) परम सुखकारी (अग्रे) सर्वश्रेष्ठ (पिप्पलम्) फल है (आहुः) उसका वर्णन करते हैं। (यः) जो पुरुष (पितरम्) भवतारक, सकल दुःख-वारक, परिपालक, उस परम पालक प्रभु को (न वेद) नहीं जानता, उसकी उपासना नहीं करता (तत्) वह परम स्वादु फल उसको (न नशत्) नहीं प्राप्त होता।

अध्यात्म में—जिस आत्मारूप वृक्ष पर मधुर फल के भोग करने वाले पक्षियों के समान प्राण या इन्द्रियगण स्वाप-काल में लीन हो जाते हैं और पुनः जागरण काल में उत्पन्न हो जाते हैं, जिसका वह परम स्वादिष्ट फल है, जो उस पालक आत्मा को नहीं जानते, उनको वह फल प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार आदित्य पक्ष में—सुपर्ण = किरणें सूर्य रूप वृक्ष में मधु अर्थात् जल ग्रहण करने वाली उसमें लीन होती और उषाकाल में पुनः प्रकट होती हैं, उसका पालक आरोग्यप्रद फल है। जो सूर्य का सेवन नहीं करते उनको वह फल नहीं मिलता।

२१—(तृ०) 'तस्य इदाहुः' इति ऋ०।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमानिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश
॥ २२ ॥ (२५) ऋ० १ । १६४ । २१ ॥

भा०—(यत्र) जिस ब्रह्म में रहते हुए (सुपर्णाः) उत्तम ब्रह्मज्ञानी, मुक्त पुरुष (अनिमेषम्) निरन्तर एक क्षपक भर सूक्ष्म काल के व्यवच्छेद के भी बिना अर्थात् सदा (अमृतस्य) उस अविनाशी नित्य अमृतरस के (भक्षम्) उपभोग को (विदथा) अपने ज्ञान सामर्थ्य से (अभिस्वरन्ति) प्राप्त करते और उसका प्रगान करते हैं। नाना वाणियों द्वारा प्रकट करते हैं, (एना) वह (विश्वस्य) समस्त (भुवनस्य गोपाः) भुवनों का परिपालक (धीरः) सबका धारण-कर्त्ता, सर्वज्ञ, ब्रह्म (मा) मुझ (पाकम्) अपक्व या अल्पपक्व, और भी पाक होने योग्य ज्ञानी मुमुक्षु को (अत्र) इस संसार में (आ विवेश) प्रविष्ट करता है।

आदित्य पक्ष में—जिस आदित्य में सुपर्णाः = रश्मियें, अमृत = जल को प्राप्त करके प्रतप्त होती हैं वह समस्त भुवनों का स्वामी मुझे सुख प्रदान करे। अध्यात्म पक्ष में सुपर्णाः = इन्द्रियगण ।



[१०] आत्मा और परमात्मा का ज्ञान ।

ब्रह्मा ऋषिः । गौः, विराड् आत्मा च देवताः । १, ७, १४, १७, १८ जगत्यः, २, २६, २७ भुरिजः त्रिष्टुभः; ३—६, ८—१३, १५, १६, १९, २०, २२, २३, २५, २८ त्रिष्टुभः; २१ पञ्चपदा शक्वरी; २४ चतुष्पदा पुरस्कृतिर्भुरिक् अतिजगती । अष्टाविंशर्चं सूक्तम् ॥

२२—(प्र०) 'अमृतस्य भागम्' (तृ०) 'इतो विश्वस्य' इति ऋ०

यद् गा॒य॒त्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं त्रैष्टु॑भं वा त्रैष्टु॑भान्निरत॑क्षत।
यद्वा जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इत् तद् वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः॥१

ऋ० १। १६४। २४॥

भा०—(यद्) जो (१) (गायत्रे) 'गायत्र' में (गायत्रं अधि आहितम्) गायत्र स्थित है (वा) और (२) (त्रैष्टुभात्) त्रैष्टुभ से (त्रैष्टुभं) त्रैष्टुभ की (निर् अतक्षत्) रचना की, कल्पना की। (यद् वा) और (३) जो (जगत्याम्) जगती में (जगत्) जगत् (आहितम्) स्थिर है (तत्) उस रहस्य को (ये विदुः) जो विद्वान् लोग जानते हैं (ते) वे (अमृतत्वम् आनशुः) अमृतत्व, मोक्ष पद का भोग करते हैं।

(१) 'इमे वै लोका गायत्रम्'। तां० १६।११।११॥ गायत्रोऽयं भूलोकः। कौ० ८।९॥ गायत्रेऽस्मिन् लोके" गायत्रोऽयमग्निरध्यूढः। कौ० ३४।२॥ प्राणो गायत्री प्रजननम्। ता० १६।४।५॥ प्राणो गायत्रम्। जै०उ० १।३७।७॥ अग्निर्वै गायत्री॥ श० १६।१।१।५॥ गायत्री ब्राह्मणः। ऐ० १।२८॥ तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्रम्। कौ० १७।२।९॥ वीर्यं गायत्री। तां० ७।३।१३॥गायत्रम् हि शिरः॥ श० ८।६।१।६॥ अष्टाक्षरा गायत्री। ऐ० २।१७॥ चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। श० ३।५।१।१०॥ गायत्री प्राची दिक्। श० २।३।१।१२॥ गायत्री वसूनां पत्नी। गो० उ० २।९॥ वसवो गायत्रीं समभरन्। जै० उ० २।१८।४॥ गायत्रं वै रथन्तरम्। ता० ५।१।१५॥ गायत्रः सप्तदशः स्तोमः। तां० ५।१।१५॥ गायत्रो यज्ञः। गो० पू० ४।२४॥ गायत्रं वै प्रातःसवनम्। गो० उ० ३।१६॥ गायत्रो वै पुरुषः॥ तै० ३।२।१।१॥

गायत्री और गायत्र शब्द से वैदिक परिभाषा में तीनों लोक, भूलोक, प्राण, अग्नि, ब्राह्मण, ब्रह्मवर्चस् तेज, वीर्य, शिर, मुख, अष्टाक्षर

[१०] १—(द्वि०) 'त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं' इति ऋ०।

छन्द, प्राची दिशा, वसुपत्नी, रथन्तर, सप्तदशस्तोम, यज्ञ, प्रातःसवन और पुरुष इतने पदार्थ लिये जाते हैं। गायत्र में गायत्र आश्रित है, अर्थात् इस लोक में अग्नि आश्रित है या भूलोक अग्नि पर आश्रित है या ब्राह्मण में ब्रह्मतेज है, पत्नी पुरुष पर आश्रित है, प्रातःसवन यज्ञ में आश्रित है, रथन्तर साम गायत्री छन्द पर आश्रित है। प्राण आत्मा पार्थिव देह में आश्रित है, यह जीवात्मा परमात्मा में आश्रित है।

(२) त्रैष्टुभम्—त्रिवृद् वज्रस्तस्य स्तोमम् इवेत्यौपमिकम्॥ दे० ३। १६॥ वज्रः त्रिष्टुप्, त्रैष्टुभ इन्द्रः। कौ० ३। ३॥ त्रैष्टुभो वज्रः। गो० ३।१।१८॥ ऐन्द्रं हि त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्। ऐ० ६। ११॥ एते वै छन्दसां वीर्यवत्तमे यद् गायत्री च त्रिष्टुप् च। ता० २०।१६।८॥ बलं वै वीर्यं त्रिष्टुप्। कौ० ७।२॥ ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप्। ऐ० १।५।२८॥ उरः त्रिष्टुप्। श० ८।६।२।७॥ त्रिष्टुप् छन्दो वै राजन्यः। तै० १।२८॥ क्षत्रं वै त्रिष्टुप्। कौ० ७।१०॥ या राका सा त्रिष्टुप्। ऐ० ३। ४७॥ त्रैष्टुभो हि वायुः। श० ८।७।३।१२॥ त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षलोके त्रैष्टुभो वायुरध्यूढः। कौ० १७। ३॥ यजुषां वायुर्दैवतं तदेव ज्योतिस्त्रैष्टुभं छन्दोऽन्तरिक्षं स्थानम्। गो० पू० १।२९॥ अपानस्त्रिष्टुप्। तां० ७।३।७॥ यः एवायं प्रजननः प्राण एष त्रिष्टुप्। श० १९।३।१।१॥ त्रैष्टुभं चक्षुः। ता० २०।१६।५॥ आत्मा वै त्रिष्टुप्। श० ६।४।२।६॥ त्रैष्टुभः पञ्चदश स्तोमः। तां० ५।२।१४॥ त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी। गो० उ० २।९॥ एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्। कौ० ३।२॥ चतुश्चत्वारिंशदक्षरा वै त्रिष्टुप्। श० ८।५।१।११॥ त्रिष्टुप् इयं पृथ्वी। २।१।२०॥ त्रिष्टुप् असौ द्यौः। श० १।७।२।१५॥ 'त्रिष्टुप्' और 'त्रैष्टुभ' शब्द से वैदिक परिभाषा में तीनों लोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः, वज्र, इन्द्र, माध्यन्दिन, सवन, ओज, इन्द्रिय, क्षात्रबल, क्षत्रिय, राका, वायु, अपान, प्रजनन, प्राण, चक्षु, उरःस्थल, आत्मा, पञ्चदश स्तोम, रुद्रों की पत्नी, ११ अक्षरों का या ४४ अक्षरों का छन्द इतने पदार्थ लिये

जाते हैं। 'त्रैष्टुभ से त्रैष्टुभ की रचना की' अर्थात् अन्तरिक्ष से वायु प्रकट हुआ, उरःस्थल से बल उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय में बाहुबल है, इन्द्र में वज्र आश्रित है, आत्मा में इन्द्रिय हैं, प्रजनन या अपान भी मध्य-भाग में आश्रित है और ये भी आत्मा में स्थित हैं, रुद्रों की पत्नी अर्थात् शक्ति रुद्रों में आश्रित है और जीवात्मा उस परम लोक में आश्रित है।

(३) सर्वं वा इदमात्मा जगत्। श० ४।५।९।८॥ इयं पृथिवी जगती। अस्यां हि इदं सर्वं जगत्। श० १।८।२।११॥ या सिनीवाली सा जगती। ऐ० ३।४७ ॥ जागतो वै वैश्यः। ऐ० १।२८॥ ता वा एता जगत्यो यद् द्वादशाक्षराणि पदानि। जगती प्रतीची दिक्। श० ८।३।१।१२॥ जगत्यादित्यानां पत्नी। गो० ३।२।९॥ साम्नां आदित्यं दैवतं तदेव ज्योतिर्जागतं छन्दो द्यौः स्थानम्। गो० पू० १।२९॥ श्रोणी जगत्यः। श० ८।६।२।८॥ अवाङ् प्राणः एष जगती। जागतं श्रोत्रम्। ता० २०।१६।५॥ जागतं वै तृतीयसवनम्। ऐ० ६।२।१२॥ जागता वै ग्रावाणः। कौ० २९।१॥ जगत्येव यशः।

वैदिक परिभाषा में 'जगती', 'जाग्रत' शब्दों से समस्त संसार, आत्मा, पृथिवी, सिनीवाली, ब्रह्म, पशु, वैश्य, द्वादशाक्षर छन्द, प्रतीची दिशा, आदित्यों की पत्नी, द्यौः स्थान, अवाङ् प्राण, श्रोत्र, तृतीय सवन, ग्रावा और यश, ये पदार्थ लिये जाते हैं। 'जगती में जगत् आश्रित है' अर्थात् समस्त जगत् उसके चलाने वाले परमात्मा में आश्रित है, आदित्य द्यौलोक में स्थित है, अवाङ् प्राण अर्थात् नाभि से नीचे का प्राण, श्रोणी या कूल्हों में स्थित है, पशुगण वैश्यों में या वैश्यवर्ण पशु-समृद्धि में स्थित है, आदित्य ब्रह्मचारी तृतीय सवन में स्थित है, ४८ वर्ष की ब्रह्मचर्य-शक्ति आदित्य ब्रह्मचारियों में स्थित है। श्रोत्र, श्रवण या श्रुतिविद्या का श्रवण-पठन-मनन विद्वानों में स्थित है। इत्यादि।

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम् ।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ॥ २ ॥

भा०—(१) (गायत्रेण) गायत्र से (अर्कम्) अर्क को (प्रति मिमीते) प्रतिमान करता है, मापता है, ज्ञान करता है, परिमित करता है, प्राप्त करता है। (२) और (अर्केण साम) अर्क से साम को परिमित करता या मापता या ज्ञान करता है। (३) (त्रैष्टुभेन वाकम्) त्रैष्टुभ से 'वाक' को और (४) (वाकेन वाकम्) वाक से वाक को प्रतिमान या मापन करता या ज्ञान करता है। और (५) (द्विपदा) दो पद के और (चतुष्पदा अक्षरेण) चारपद के अक्षरों से (सप्त वाणीः प्रति मिमते) सात प्रकार की वाणियों को मापते हैं।

(१) 'गायत्रेण अर्कम्'—गायत्रं पुरस्तादुक्तम्। अर्कः—अन्नं वै देवा: अर्क इति वदन्ति। ता० १५।३।-३॥ आदित्यो वा अर्कः। श० १०।६।२।६॥ अर्कश्चक्षुः तदसौ सूर्यः। अग्निरर्कः। श० २।५।१।४॥ स एषोऽग्निरर्को यत्पुरुषः। श० १०।३।४।५॥ प्राणो वा अर्कः। वेत्थार्कमिति। पुरुषं हैव तदुवाच। वेत्थार्कपर्णे इति कर्णौ हैव तदुवाच। वेत्थार्कपुष्पे इत्यक्षिणी हैव तदुवाच। वेत्थार्ककोश्याविति नासिके हैव तदुवाच। वेत्थार्कसमुद्गकावित्योष्ठौ हैव तदुवाच। वेत्थार्कधाना दन्तान्हैव तदुवाच। वेत्थार्काष्ठीलामिति जिह्वां हैव तदुवाच। वेत्थार्कमूलम् इत्यन्नं हैव तदुवाच। श०१०।३।४।५॥ अन्नं वै देवा अर्क इति वदन्ति। रसमस्य पुष्पम्। तां० १५।३।-३॥

वैदिक परिभाषा में अर्क शब्द से अन्न, आदित्य, चक्षु, अग्नि, जीव, परमपुरुष, प्राण और पुरुष या जीवात्मा कहे जाते हैं। "गायत्र से अर्क को पाता है, ज्ञान करता है या मापता है" अर्थात् पृथ्वी से अन्न प्राप्त करता है, प्राण से आत्मा का ज्ञान करते हैं, आत्मा से परमात्मा का ज्ञान करते हैं इत्यादि योग्य योजनाएँ करनी चाहियें।

(२) 'अर्केण साम'—अर्कः पुरस्तादुक्तः। साम—स प्रजापति हैवं षोडशधा आत्मानं विकृत्य सार्धं समैत्। तद् यत्सार्धं समैत् तत साम्नः सामत्वम्। जै० उ० १।४८।७॥ एष आदित्यः सर्वैर्लोकैः समः, तस्मादेष एव साम। जै० उ० १।१।२५॥ एतं पुरुषं छन्दोगा उपासते। एतस्मिन् हि इदं सर्वं समानम्। श० १०।५।२।१०॥ तद् यत् सा च अमश्च तत् साम अभवत्। जै० उ० १।५३।५॥ यद्वै तत्सा च अमश्च समवदताम् तत्साम्नः सामत्वं। गो० उ० ३।२०॥ सैव नाम ऋक् अमो नाम सा। गो० उ० ३।२०॥ प्राणो वाव अमः वाक् सा तत्साम। जै० उ० ४।२३।३॥ प्राणो वै साम प्राणे हीमानि भूतानि सम्यञ्चि। श० १४।८।१४।३॥ तद् यतेतत्सर्वं वाचमेवाभिसमायति तस्माद्वागेव साम। जै० उ० १।४०।६। स्वर्गो लोकः सामवेदः। ष० १५॥ साम वै देवाना-मन्नम्। तां० ६।४।१३॥ साम्राज्यं वै साम। श० १२।८।३।२३॥ क्षत्र साम। १२।८।३।२३॥ संवत्सर एव साम। जै० उ० १।३।१॥ बन्धु-मत्साम्। जै० उ० ३।६।७॥ साम हि सत्याशीः। ता० ११।१०।१०॥ तयोः सदसतोः यत् सत् तत् साम तन्मनः, स प्राणः। जै० उ० २।५३।२॥ धर्मः इन्द्रो राजा। तस्य देवा विशः। सामानि वेदः। श० १३।१।३।१४॥

वैदिक परिभाषा में साम शब्द से षोडशकल प्रजापति, सर्वलोक-मय आदित्य परमेश्वर, सर्वोपास्य पुरुष, ऋग्वेद और सामवेद, प्राण और वाक् प्राण, स्वर्ग = मोक्षपद, देवों का अन्न = ज्ञान, क्षत्रबल, साम्राज्य, सत्, मनः, प्राण, विद्वानों का ब्रह्म, ज्ञानमय उपासना काण्ड = सामवेद, इतने अभिप्राय लिये जाते हैं।

'अर्क से साम' का प्रतिमान, ज्ञान, मापन और प्राप्त किया जाता है अर्थात् अन्न से प्राण और मन प्राप्त किया जाता है, आदित्य से क्षात्रबल की उपमा है, आदित्य से ब्रह्म की उपमा है। अग्नि = जीव या आत्मा से षोडशकल प्रजापति का परिज्ञान किया जाता है, प्राण से

वाणी उत्पन्न होती है, आत्मा से परमपद या परमात्मा प्राप्त होता है । ऋग्वेद से सामवेद का गान उत्पन्न होता है । इत्यादि नाना सत्य योजना करनी चाहिये ।

(३) 'त्रैष्टुभेन वाकम्' त्रैष्टुभः प्रागुक्तः । वाकम्—वाग् वै गीः । श० ७।२।२।५॥ वाग् वै धेनुः । गो० पू० २।२१॥ वाक् सरस्वती । श० ७।५।१।३१॥ वाग् वै सरस्वती पावीरवी । ऐ० ३।३७॥ अथ यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदग्नेः सारस्वतं रूपम् । ऐ० ३।३॥ सा वाक् ऊर्ध्वा उदातनोद यदपां धारा संतता । ता० २० । १४ । २॥ वाग् वै मनः समुद्रस्य चक्षुः । ता० ६।४।७॥ यदाहुः किं सहस्रम् इति इमे लोकाः इमे वेदाः अथो वाग् इति ब्रूयात् । ऐ० ६।१५॥ वाग् वै सिनीवाली । श०६।५।१।९॥ वाग् वै सार्पराज्ञी । कौ०२७।४॥ वाग् वै धिषणा। श० ६।५।४।५॥ वाग् वै राष्ट्री । ऐ० १ । १९ ॥ वाग् इति पृथिवी । जै० उ० ४।२२।११॥ वाग् इति अन्तरिक्षम् । जै० उ० ४ । २२ । ११ ॥ वाग् वै विराट् । श० ३।५।१।३४॥ वाग् वै विश्वकर्मा ऋषिः वाचा हि इदं सर्वं कृतम् । श० ८।१।२।९॥ मांहर्षी हि वाक् । श० ६।५।३।४॥ वाग् ऋक् । जै० उ० ४।२३।४॥ वाग् हि शस्त्रम् । ऐ० ३।४४॥ वाग् वा इन्द्रः, या वाक् सा अग्निः । गो० उ० ४।११॥ वाग् हि अग्नेः स्वो महिमा । श० १।४।२।१७॥ प्रजापतिर्हि वाक् । तै० १।३।४।५॥ वाग् वै वायुः । तै० १ । ८ । ८ । १ ॥ तस्याः वाचः प्राणः स्वरसः । जै० उ० १।१।७॥ मनसः एषा कुल्या यद् वाक् । जै० उ० १।५८।३॥ अपरिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि वाक् । श० १।४।४।७॥ मनो ह पूर्वं वाचः यद्धि मनसा अभिगच्छति तद्वाचा वदति । ता० ११।१।३॥ वाग् यज्ञः । श० १।५।२।७॥ वज्र एव वाक् । ऐ० २।२१॥ वाग् इति स्त्री । जै० उ० ४।२२।११॥ वाचो वाव तौ स्तनौ सत्यानृते वाव ते । ऐ० ४ । ९ ॥ इत्यादि ।

वैदिक परिभाषा के अनुसार वाक् शब्द से वाणी, धेनु, मेघ, गर्जना, विद्युत्, वेद, सिनीवाली, पृथिवी, बुद्धि, राष्ट्रशक्ति, अन्तरिक्ष, विराट् विश्वकर्मा = परमात्मा, रात्रि, ऋग्वेद, अग्नि, प्रजापति = परमेश्वर, वायु, यज्ञ, वज्र, स्त्री इत्यादि पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं। त्रैष्टुभ से वाक् को प्राप्त किया जाता है, परिमित तथा ज्ञान किया जाता या मापा जाता है। अर्थात् अन्तरिक्ष से वायु परिमित है, प्राण से वाणी उत्पन्न होती है, मन के भावों को वाणी परिमित करती है, वायु से वाक् या शब्द उत्पन्न होता है, राजा से राष्ट्रशक्ति परिमित है, राष्ट्र-शक्ति से पृथिवी शासित है, द्यौ से पृथिवी परिमित है इत्यादि योजनाएं स्पष्ट हैं।

(४) 'वाकेन वाकम्'—वाक इति प्रागुक्तम्। 'वाणी से वाणी' या वाक् से वाक् परिमित है अर्थात् वाक् से ये समस्त वेद प्राप्त हैं, परिमित हैं या वाणी द्वारा प्रजापति जाना जाता है। वाणी से यज्ञ होता है। वाणी से राष्ट्रशक्ति संचालित है, वाणी से लोक तथा वेद सीमित, परिज्ञात एवं वर्णित हैं इत्यादि योजनाएं स्पष्ट हैं।

(५) (द्विपदा चतुष्पदा अक्षरेण सप्तवाणीः मिमते) द्विपाद्, चतुष्पाद् अक्षरों से सातों वाणियों को मापा जाता है अर्थात् अक्षरों की गणना से दो दो चरणों और चार २ चरणों से सात मुख्य छन्दों की रचना होती है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती, ये सात छन्द हैं। इसी प्रकार सात प्रतिछन्द, सात विच्छन्द गिने जाते हैं। जिनका संक्षिप्त विवरण साम की भूमिका में स्पष्ट है। अथवा—द्विपदाः (ऋचः) पुरुषो द्विपदाः। तै० ३।९।१२।३॥ द्विपद्वा अयं पुरुषः। श० २।३।४।६३॥ चतुष्पदाः पशवः। गो० उ० १।४॥ चतुष्पाद् वा ब्रह्म। छान्दो० उपनि०। कतमत्तदक्षरमिति यत्क्ष-रन्नाक्षीयतेति इन्द्रः। विराजो वा एतद् रूपं यदक्षरम्। तां० ८।६।१४॥ अक्षयं वा नामैतत् तदक्षरं परोक्षम्। अर्थात् द्विपद् पुरुष और

चतुष्पाद् ब्रह्म जो अक्षर अविनाशी है उनसे समस्त सातों वाणियों, सातों छन्दों का ज्ञान किया जाता है। या वे सातों छन्द आत्मा परमात्मा के वाचक हैं। जैसा गायत्र, त्रैष्टुभ, जगती आदि की विवेचना में दर्शाया है।

जगता सिन्धुं दिव्य॑स्कभायद् रथंतरे सूर्यं पर्यपश्यत् ।
गायत्रस्य॑ समिध॑स्तिस्र आ॑हुस्ततो॑ मह्ना प्र रि॑रिचे महि॒त्वा ॥३

ऋ० १ । १६४ । २५ ॥

भा०—(१) परमात्मा ने (दिवि) द्यौलोक, आकाश में (जगता) 'जगत्' गतिशक्ति से (सिन्धुम्) सिन्धु गतिशील पदार्थों को (अस्कभायत) थाम रक्खा है। (२) (रथन्तरे) रथन्तर में (सूर्यम्) 'सूर्य' का (परि अपश्यत्) दर्शन किया है। (३) (गायत्रस्य) गायत्र की (तिस्रः समिधः) तीन समिधा, तीन प्रकाशमान् अग्नियां (आहुः) बतलाते हैं। (४) वह परमात्मा (ततः) उन सबसे भी अधिक (मह्ना महित्वा) बड़े भारी सामर्थ्य से (प्र रिरिचे) सबसे अधिक महान् है।

(१) 'जगता' = जगत् निरन्तर गति से, 'सिन्धु' = गतिशील पदार्थों को थाम रक्खा है। अथवा तद् यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः। जै० उ० १।२९।९॥ प्राणो वै सिन्धुश्छन्दः। श०८।५।२५॥ जगत् अर्थात् अन्य आदित्यों की शक्ति से सब के बन्धक सिन्धु आदित्य को आकाश लोक में थामा है।

(२) रथन्तरं = रसतमं ह वै तद् रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्। श० ९ । १ । २ । ३६ ॥ अयं पृथिवी लोको रथन्तरम्। ऐ० ८ । १ ॥ वाग् रथन्तरम्। तां० ७।६।१७॥ ब्रह्म वै रथन्तरम्। ऐ० ७ । १ । १२ ॥ अपानो रथन्तरम्। तां० ७।६।१४॥ प्रजननं वै रथन्तम्। ता० ७।७।१६॥ रथन्तरे इति निमित्त सप्तमी।

योगी या साधक रसतम परम ब्रह्मपद में उस सूर्य = परम ज्योतिर्मय का दर्शन करता है या पृथ्वी के निमित्त सूर्य को बना देखता है।

(३) (गायत्रस्य तिस्रः समिध आहुः) समस्त संसार की तीन प्रकाशमान् अग्नि हैं। अग्नि, विद्युत् और सूर्य।

(४) परन्तु वह परमात्मा अपने महान् सामर्थ्य से उनसे भी बड़ा है। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ कठ० उप०।

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभीद्धो॑ घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥४॥

ऋ० १। १६४। २६ ॥ अथर्व० ७। ७२। ७ ॥

भा०—व्याख्या देखो [का० ७।७३।७]

हि॒ङ्कृ॒ण्व॒ती व॑सुप॒त्नी वसू॑नां व॒त्समि॒च्छन्ती॒ मन॑सा॒भ्याग॑त् ।
दु॒हाम॒श्विभ्यां॒ पयो॑ अ॒घ्न्येयं सा व॑र्धतां मह॒ते सौभ॑गाय ॥५॥

ऋ० १। १६४। २७ ॥ अथर्व० ७। ७३। ८ ॥

भा०—व्याख्या देखो [का० । ७३। ८]

गौर॑मीमे॒दनु॑ व॒त्सं मि॒षन्तं॑ मू॒र्धानं॒ हिङ्ङ॑कृणो॒न्मात॒वा उ॑ ।
सृक्का॑णं घ॒र्मम॒भि वा॑वशा॒ना मिमा॑ति मा॒युं पय॑ते॒ पयो॑भिः ॥६॥

ऋ० १। १६४। २८ ॥

भा०—(गौः) जिस प्रकार गौ (मिषन्तं वत्सं अभि) उत्सुकता के कारण छटपटाते या अनिमेष वृत्ति से देखते हुए बछड़े के प्रति (अमीमेत्) हंभारती है और जिस प्रकार (मातवै उ) बछड़ा भी

६–(प्र०) 'अनुवत्स' इति ऋ०।

माता के लिये अपने (मूर्धानम्) शिर को (हिङ् अकृणोत्) हिंकार के शब्द से उत्सुकता से हिलाता और हंभारता है उसी प्रकार यह प्रजापति की परम वाणी मेघमयी (सृक्वाणम्) अपने सर्जन करने वाले (घर्मम्) अति तेजस्वी सूर्य के प्रति (वावशाना) अति कामनायुक्त होकर शब्द करती या गर्जती हुई (मायुम्) घनघोर शब्द (मिमाति) करती है और स्वयं (पयोभिः) अपने जल वर्षणों द्वारा (पयते) रसों का पान कराता है । अध्यात्म में—गौ = सर्वव्यापक ब्रह्मशक्ति (मिषन्तं वत्सम्) अति उत्कण्ठित जीव के प्रति अपना (अभीमेद्) ज्ञान प्रदान करती या अनाहत नाद उत्पन्न करती है और वह जीवात्मा भी अपने (मातवै) माता के समान प्रेमी परमात्मा के लिये अपने शिरोभाग द्वारा (हिङ् कृणोति) उत्सुकता प्रकट करता है । वह ब्रह्ममयी ऋतम्भरा अपने (घर्मं सृक्वाणं वावशाना) तेजोमय स्रष्टा के प्रति कामना करती हुई (मायुं मिमाति) शब्द या परमज्ञान उत्पन्न करती और (पयोभिः पयते) आनन्दमय अमृतों से तृप्त करती है ।

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान् विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥७

ऋ० १ । १६४ । २९ ॥

भा०—(अयम्) यह मेघ जो ध्वनि करता है (सः) वही परमात्मा प्रजापति (शिङ्क्ते) ध्वनि करता है । (येन) जिससे (अभीवृता) घिरी हुई (गौः) मध्यम लोक की वाणी (मायुम्) मायु = शब्द को (मिमाति) करती है और वह (ध्वसनौ) मेघ में (अधिश्रिता) आश्रय लिये रहती है । (सा) वह (चित्तिभिः) नाना क्रियाओं से (मर्त्यान्) मनुष्यों को (हि) निश्चय से (नि चकार)

७—(तृ०) 'चकार मर्त्यं' इति ऋ० ।

उपकार करती है। और (विद्युत् भवन्ती) वह विद्युत् रूप में प्रकट होती हुई (वव्रिम्) रूप को (प्रति औहत) प्राप्त होती है।

ब्रह्मपक्ष में—(अयं सः शिङ्क्ते) यह वही परमात्मा वेदमय ज्ञान का उपदेश करता है (येन गौः अभीवृता) जिसने समस्त ज्ञानमय वाणी को अपने में धारण किया है। वही (मायुं मिमाति) ज्ञानमय वेद-वाणी की रचना करता है। यह वेदवाणी (ध्वसनौ अधिश्रिता) समस्त संसार के ध्वंस प्रलय के करनेहारे परमात्मा में वा प्रलयकाल में भी आश्रित रहती है। (सा) वह वेद-वाणी ही (चित्तिभिः) नाना प्रज्ञानों और कर्मों के उपदेशों से (मर्त्यान् नि चकार) सब मरणधर्मा प्राणियों को सब कार्यों के करने में समर्थ करती है। और वही (विद्युत् भवन्ती) विशेष रूप से पदार्थों के द्योतन-प्रकाशन करने में समर्थ होकर (वव्रिम्) प्रत्येक रूपवान् पदार्थ को या ज्ञान को (प्रत्यौहत) धारण करती है।

शास्त्रयोनित्वात्। वेदान्तसूत्र १। ३॥ न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते॥

परमात्मा वेद का परम कारण है। और कोई ऐसा ज्ञान नहीं जो शब्दज्ञान के विना हो।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥ ८॥
ऋ० १। १६४। ३०॥

भा०—(पस्त्यानाम्) समस्त गृहों, लोकों और प्रजाओं के (मध्ये) बीच में वह महान् परमेश्वर प्रभु (ध्रुवम्) नित्य, कूटस्थ होकर (एजत्) सबको चलाता हुआ (जीवम्) चेतनस्वरूप (तुरगातु) अति तीव्र गति से सर्वत्र व्यापक (अनत्) प्राणशक्ति का संचार करता हुआ (शये) सर्वत्र प्रशान्त रूप में; अव्यक्त रूप में व्यापक है। और

(जीवः) यह जीवात्मा (अमृतस्य) उसी परम अमृत, मोक्षस्वरूप परमेश्वर के दिये अथवा (मृतस्य स्वधाभिः) मृत, गत देह के (स्वधाभिः) निज कर्मफलों से (चरति) नाना योनियों में फल भोगता हुआ विचरता है। वह जीवात्मा भी (अमर्त्यः) अपने अमरणधर्मा रह कर भी (मर्त्येन) इस मरणशील अनित्य देह के (सयोनिः) साथ रहने के कारण जन्म लेकर रहता है। इसलिये शरीर के धर्म आत्मा के साथ कहे जाते हैं।

वि॒धुं द॑द्रा॒णं स॑लि॒लस्य॑ पृ॒ष्ठे यु॑वा॒नं॒ सन्तं॑ पलि॒तो ज॑गार ।
दे॒वस्य॑ पश्य॒ काव्यं॑ महि॒त्वाद्या म॒मा॒र॒ स ह्यः समा॑न ॥ ९ ॥

ऋ० १० । ५५ । ५ ॥ साम० प्र० ४ । ४ । २ ॥

भा०—(सलिलस्य) सर्वव्यापक परमात्मा के (पृष्ठे) आश्रय पर (ददाणम्) गति करते हुए (विधुम्) धोंकनी के समान प्राण धारण करनेहारे (युवानम्) युवा, बलशाली (सन्तम्) अपने समीप प्राप्त जीव को (पलितः) सर्वव्यापक, परमपद में प्राप्त मोक्षरूप प्रभु (जगार) अपने भीतर ले लेता है, लीन, मग्न कर लेता है। हे जीव! वहां उस (देवस्य) प्रकाशस्वरूप प्रभु परमात्मा के (काव्यम्) परम ज्ञानमय कौशल को (पश्य) देख, (महित्वा) जिसके महान् सामर्थ्य से (ह्यः) कल (सम् आन) जो भली प्रकार जीवन धारण किये हुए होता है वह (अद्य) आज (ममार) प्राण त्याग देता है। जो सामर्थ्यवान् जीव परमात्मा तक पहुँचता है, परमात्मा उसे अपनी शरण में रख लेता है और उस परमात्मा के अद्भुत व्यवस्थामय कौशल को देखो जो कल जीता है वह उसी की महिमा से आज प्राण त्याग रहा है और प्राण आदि बन्धनों से मुक्त होकर वह परमात्मा की शरण में जाता है।

९—(प्र०) 'दद्राणं' समने बहूनां' इति ऋ०, साम० ।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश ॥१०(२६

ऋ० १ । १६४ । ३२ ॥

भा०—(यः) जो (ईम्) इस जगत् में छोटी २ नाना (चिकार) रचनाएँ करता है (सः) वह जीव (अस्य) इस परमेश्वर के विषय में (न वेद) नहीं जानता । और (यः) जो परमेश्वर (ईं ददर्श) इस समस्त संसार को देखता है, उस पर अध्यक्ष है वह भी (तस्मात्) उस जीव से (हिरुग् इत् नु) छिपा ही हुआ है। (सः) वह परमात्मा (मातुः) निर्माण करने वाली प्रकृति के (योनौ) परमरूप वा आश्रय में (परिवीतः) प्रविष्ट हुआ (बहुप्रजाः) नाना लोकों को उत्पन्न करता हुआ (निर्ऋतिः) ऋति = चेतना से रहित इस जड़ प्रकृति के भीतर (आविवेश) व्याप्त होकर रहता है।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥११॥

ऋ० १ । १६४ । ३१ ॥ १० । १७७ । ३ ॥ यजु० ३७ । १७ ॥

भा०—मैं योगी (गोपाम्) समस्त ज्ञानवाणी या गतिशील जगत् के पालक परमेश्वर को (आ पथिभिः च) समीप के लोकों और (परा पथिभिः च) दूर के लोकों में भी (चरन्तम्) व्यापक (अनिपद्यमानम्) कभी भी न नाश होने वाले, अविनश्वर, नित्य रूप में (अपश्यम्) साक्षात् करता हूँ । (सः) वह परमेश्वर (सध्रीचीः) एक साथ विराजमान और (वि षूचीः) नाना प्रकार से एक दूसरे के विपरीत नाना शक्तियों को भी (वसानाः) स्वयं धारण करता हुआ (भुवनेषु) समस्त लोकों के (अन्तः) भीतर (आ वरीवर्त्ति) समस्त चेष्टाओं और गतियों को उत्पन्न कर रहा है।

द्यौर्नः॑ पि॒ता ज॑नि॒ता नाभि॒रत्र॒ बन्धु॑र्नो मा॒ता पृ॑थि॒वी म॒हीयम्॑ ।
उ॒त्ता॒नयो॑श्च॒म्वो॒३॑र्योनि॑र॒न्तरत्रा॑ पि॒ता दु॑हि॒तुर्गर्भ॒माधा॑त् ॥ १२ ॥
ऋ० १ । १६४ । ३३ ॥

भा०—(द्यौः) प्रकाशस्वरूप सूर्य के समान परमेश्वर ही (नः पिता) हमारा पालक पिता है । और (जनिता) वही हमारा उत्पादक है । वही (नाभिः) हम सब का उत्पत्ति स्थान, मूल कारण है । वही (मही इयम् पृथिवी) अति विस्तृत पृथिवी के समान विशाल होकर (नः) हमारी (माता) माता के समान है । वही (नः बन्धुः) हमारा बन्धु है । वही परमेश्वर (उत्तानयोः) ऊपर को विस्तृत, उत्तान रूप से विराजमान (चम्वोः) व्यापनशील, द्यौ, पृथिवी दोनों का (योनिः) परम आश्रय स्थान है । (पिता) सबका पालक परमेश्वर (अत्र) इस संसार में (दुहितुः) समस्त पदार्थों को पूर्ण करने और उत्पन्न करनेहारी पृथिवी और द्यौ दोनों के भीतर (गर्भम्) नाना पदार्थों के उत्पादन और ग्रहण करने के सामर्थ्य को (आधात्) धारण करता है, प्रदान करता है ।

पृ॒च्छामि॑ त्वा॒ पर॒मन्तं॑ पृथि॒व्याः पृ॒च्छामि॒ वृष्णो॒ अश्व॑स्य॒ रेतः॑ ।
पृ॒च्छामि॒ विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य॒ नाभि॑ पृ॒च्छामि॑ वा॒चः प॑र॒मं व्योम ॥ १३ ॥
ऋ० १ । १६४ । ३४ ॥

भा०—हे विद्वान् गुरो ! (त्वा) तुझसे मैं जिज्ञासु (पृथिव्याः) इस विस्तृत पृथिवी या जगत् का (परम् अन्तम्) परम अन्त, सबसे परला अन्त (पृच्छामि) पूछता हूं । और (वृष्णः) सब पदार्थों के

१२–(प्र०) द्यौर्मे' (द्वि०) 'बन्धुर्मे' इति ऋ० ।

१३–(द्वि०, त०) 'पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः । पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः ।' इति ऋ०, यजु० (तृ०) ।

मेघ के समान वर्षण करने हारे, परम बलशाली (अश्वस्य) सर्वव्यापक परमेश्वर के (रेतः) सर्वोत्पादक वीर्य, सामर्थ्य के विषय में (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ। और (विश्वस्य) समस्त (भुवनस्य) संसार के (नाभिम्) नाभि, केन्द्र, परम बन्धन स्थान, उत्पत्तिस्थान, मूलकारण के विषय में (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ। और (वाचः) वेदज्ञान या वाणी के (परमं व्योम) परम आश्रय स्थान के विषय में (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥१४॥

ऋ० १।१६४।३४॥ यजु० २३।६१।६२॥

भा०—(इयम्) यह (वेदिः) ज्ञानमय और सब को प्राप्त करनेवाली या सत्ता स्वरूप प्रभुशक्ति, परमेश्वरी शक्ति (पृथिव्याः परः अन्तः) पृथिवी, इस जगत् का परम आश्रय है। (अयम्) यह (सोमः) सब का प्रेरक सूर्य (वृष्णः अश्वस्य रेतः) जिस प्रकार वर्षणशील अश्व = मेघ का परम उत्पादक है उसी प्रकार वह सूर्य इस बलवान् सर्ववर्षक (अश्वस्य) सर्वव्यापक परमेश्वर का (रेतः) उत्पादक सामर्थ्य, तेज है। (अयं यज्ञः) यह यज्ञमय परमात्मा (विश्वस्य भुवनस्य नाभिः) समस्त भुवन की नाभि, केन्द्र या आश्रय है। (अयं ब्रह्मा) वह परम महान् परमात्मा ही (वाचः) वेदवाणियों का (परमम्) परम (व्योम) रक्षा-स्थान या आश्रय है।

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥१५॥

ऋ० १।१६४।३७॥

भा०—मैं जीव (यद् इव इदम् अस्मि) जिस पदार्थ के समान

यह जो कुछ भी शरीरादि संघात रूप हूँ (न विजानामि) इस बात को भी विशेष रूप से नहीं जानता। अर्थात् मैं आत्मा का स्वरूप बतलाने के लिए किसी अन्य पदार्थ को उसके लिए दृष्टान्त के रूप में नहीं रख सकता और न शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के संघात के तत्व को बतला सकता हूँ और जब मैं अपने पर विचार करता हूँ तब देखता हूँ कि मैं स्वयं (निण्यः) भीतर छुपा हुआ और (सं-नद्धः) बन्धनों से बँधा हुआ हूँ और (मनसा) मनस् अर्थात् संकल्प-विकल्प शक्ति से (चरामि) कर्म-फल भोगता और जीवन-यापन करता हूँ। और (यदा) जब (ऋतस्य) सत्य ज्ञानमय वेद के (प्रथम-जाः) प्रथम प्रथम उत्पन्न, ज्ञान (मा अगन्) मुझे प्राप्त होते हैं (आत् इत्) तभी मैं (अस्याः) इस (वाचः) परम ब्रह्ममय वेदवाणी के (भागम्) प्राप्त करने योग्य सार का (अश्नुवे) ज्ञान प्राप्त करता हूँ।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥ १६ ॥ ऋ० १ । १६४ । ३८ ॥

भा०—(अमर्त्यः) अमरणधर्मा नित्य आत्मा (मर्त्येन) मरणधर्मा अनित्य देह के साथ (सयोनिः) एकत्र होकर (स्वधया) स्वयं धारण किये हुए अपने कर्मबन्धन या कर्मफल से (गृभीतः) बद्ध होकर (अपाङ्) नीचे के लोकों और (प्राङ्) उत्कृष्ट लोकों में (एति) जाता है। (तौ) वे दोनों नित्य और अनित्य अर्थात् आत्मा और देह (विषूचीना) नाना प्रकार के गति करनेहारे (वियन्ता) विशेष रूप से बद्ध होकर रहा करते हैं। इनमें से (अन्यम्) एक को तो (निचिक्युः) लोग साक्षात् जान लेते हैं और (अन्यम्) दूसरे आत्मा के स्वरूप को (न निचिक्युः) नहीं जान पाते हैं।

सुप्तार्धगुर्भा भुव॑नस्य रेतो॒ विष्णो॑स्तिष्ठन्ति प्र॒दिशा॒ विध॑र्मणि । ते धी॒तिभि॒र्मन॑सा॒ ते वि॑प॒श्चित॒: परि॒भुव॒: परि॑ भवन्ति वि॒श्वत॑: ॥ १७ ॥ ऋ० १ । १६४ । ३० ॥

भा०—(सप्त-अर्ध-गर्भाः) सात या सर्पण स्वभाव, गतिशील, 'अर्ध-गर्भ अर्थात् परम उत्कृष्ट परमेश्वर की शक्ति को अपने भीतर धारण किये हुए प्रकृति के विकारभूत अहंकार, महत् और पञ्च तन्मात्राएँ (भुवनस्य) इस समस्त संसार के (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (रेतः) उत्पादक वीर्य के स्वरूप हैं, जो उस (विधर्मणि) विशेष रूप से धारण करने में समर्थ परमेश्वर में ही (प्रदिशा) उसके उत्कृष्ट शासन से (तिष्ठन्ति) विराजते हैं। (ते) वे (विपश्चितः) सब कर्मों और ज्ञानों के स्वामी परमेश्वर की (धीतिभिः) धारणा-शक्तियों से सम्पन्न होकर और उसी के (मनसा) मानस संकल्पबल से या स्तम्भन सामर्थ्य से (परि-भुवः) सर्वत्र फैलकर (विश्वतः) सब प्रकार से और सब रूपों में (परि भवन्ति) परिणत हो जाते हैं। अध्यात्म में—सप्तार्ध गर्भाः = सात प्राण, (विष्णोः विपश्चितः) व्यापक ज्ञानी आत्मा के कर्म और मनःसामर्थ्य से नाना रूपों को धारण करते और कार्य करते हैं।

ऋ॒चो अ॒क्षरे॑ प॒रमे॒ व्यो॑मन् यस्मि॑न् दे॒वा अधि॒ विश्वे॑ निषे॒दुः । यस्तन्न वेद॒ किमृ॒चा क॑रिष्यति॒ य इत् तद् वि॒दुस्ते अ॒मी समा॑सते ॥ १८ ॥ ऋ० १ । १२४ । ३९ ॥

भा०—(ऋचः) ऋग् = ऋग्वेद आदि चारों वेदों की ऋचाओं का प्रतिपाद्य विषय अथवा अर्चनीय, परम पूजनीय ईश्वर के (यस्मिन्) जिस (परमे) परम (व्योमन्) विशेष रक्षा में (विश्वे देवाः)

१८–(च०) 'त इमे' ऋ० ।

समस्त विद्वान् गण एवं दिव्य पदार्थ, सूर्य, चन्द्र आदि (निषेदुः) आश्रय लेते हैं। (यः) जो पुरुष (तत् न वेद) उसका ज्ञान नहीं करता (ऋचा) ऋग् मन्त्रों से (किम् करिष्यति) क्या फल प्राप्त करेगा और (ये इत् तत् विदुः) जो विद्वान् उस परम तत्व को जान लेते हैं (ते) वे (अमी) ये लोग (आसते) मोक्ष में स्थान प्राप्त करते हैं।

ऋचः पुदं मात्रया कुल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत् ।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥१९॥

भा०—जिस प्रकार (ऋचः) ऋचा के (पदं मात्रया) एक चरण को ह्रस्व, दीर्घ आदि मात्रा से कल्पित करते हैं; उसी प्रकार (ऋचः) परम अर्चनीय अथवा ऋचाओं के परम प्रतिपाद्य विषय या परम पूजनीय ब्रह्म की (मात्रया) मात्रा अर्थात् जगत् का निर्माण करनेहारी शक्ति से उसके (पदम्) परम स्वरूप की (कल्पयन्तः) कल्पना करते हुए विद्वान् पुरुष (अर्धर्चेन) उसके तेजोमय समृद्ध ज्ञानमय स्वरूप से इस (एजत्) गतिशील (विश्वम्) विश्व को (चक्लृपुः) बना हुआ मानते हैं। वस्तुतः (त्रिपात्) तीन चरणों वाला, तीन रूपों वाला ब्रह्म ही (पुरुरूपम्) नाना रूप धारण करके (वितस्थे) विविध रूप से स्थित है, (तेन) उसी के सामर्थ्य से (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाएँ, दिशाओं के लोक (जीवन्ति) प्राण धारण करते हैं।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ २० ॥
(२७) ऋ० १ । १६४ । ४० ॥ अथर्व० ७ । ७३ । ११ ॥

भा०—व्याख्या देखो अथर्व० [७ । ७३ । ११]

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः
समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥ २१ ॥　　ऋ० १ । १६४ । ४२ ॥

भा०—(गौः इत्) वह पूर्वोक्त गौ, व्यापक ब्रह्मशक्ति ही (सलिलानि) जगत् के कारणस्वरूप प्रकृति के सूक्ष्म आपः-स्वरूप परमाणुओं को (तक्षती) विपरिणत करके सृष्टि की रचना करती है। वह (एकपदी) एक ब्रह्म रूप से जानने योग्य होने से 'एकपदी' है। वह (द्विपदी) चर और अचर रूप से या प्रकृति-पुरुष रूप से भेद वर्तमान रहने के कारण 'द्विपदी' कहाती है। (चतुष्पदी) चारों दिशाओं में व्यापक होने से या चार भूतों में परिणाम पैदा करने से 'चतुष्पदी' कहाती है। (अष्टापदी) अवान्तर दिशाओं में व्याप्त होने से अथवा वह ब्रह्मशक्ति प्रकृति के आठ भेदों से आठ रूपों में अभिव्यक्त होने के कारण 'अष्टापदी' कहाती है। (नवपदी) वही उक्त आठों में पुरुष या जीवात्मा की गणना से 'नवपदी' कहाता है। वही (सहस्राक्षरा) सहस्रा या बलमयी, शक्तिमयी 'अक्षरा', अविनाशिनी ब्रह्मशक्ति, सहस्रों पृथक् रूपों में या सहस्र = विश्व के रूपों में प्रादुर्भाव होनेवाली (भुवनस्य) इस समस्त भुवन, ब्रह्माण्ड की (पङ्क्तिः) पकाने या परिपक्व करनेवाली है अर्थात् उसको अपरिपक्व, अव्याकृत दशा से परिपक्व अर्थात् व्याकृत दशा में लानेवाली है।

'एक पदी'—'अजः एकपात्'। वेद।

'द्विपदी'—प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि। [गीता० १३। १२]

'चतुष्पदी'—प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च। [गीता० १३। १]

'अष्टापदी'—भूमिरापोऽनलोवायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

२१-(प्र०) 'गौरीर्मिमाय' (च०) 'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' इति ऋ०। पञ्चमः पादः। ऋ० १। १६४। ४२ ॥ इत्यस्याः प्रथमः पादः।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। [गी० अ० ७ । ४ ।]
'नवपदी'—अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ [गी०३।७।५]
'सहस्राक्षरा—'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। [गी० अ० ७ । ६]

(तस्याः) उसी ब्रह्मशक्ति से (समुद्राः) समुद्र, अक्षय भण्डारे प्रकृति के अक्षयकोष (अधि वि क्षरन्ति) नाना प्रकार से बह रहे हैं। पांचों भूत पांच अक्षय कोष हैं।

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्। इति मनुः १२ । १ । ४॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् [गी० अ० १० ।]

वाक् पक्ष में—वह सदा ब्रह्ममयी वाणी, घट आदि पदार्थों को प्रकाशित करती हुई अव्याकृत 'ओम्' रूप एकपदा; सुप्, तिङ् भेद से द्विपदा, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात भेद से 'चतुष्पदा'; सात विभक्ति और सम्बोधन भेद से 'अष्टापदी;' अव्यय भेद से नवपदी, अथवा नाभि सहित कण्ठ तालु आदि भेद से नवपदी और फिर भी नाना रूप होकर परम व्योम हृदय-देश या मूलाधार में सहस्राक्षरा होकर विराजती है, इति दिक्।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः॥ २२॥

ऋ० ३।१६४।४७॥ अथर्व० का० ६।२२।१॥

भा०—व्याख्या देखो [अथर्व० का० ६ । २२ । १] (नियानम्) अपने परम आश्रय स्थान (कृष्णम्) आकर्षणशील या सर्व भवदुःखों के विलेखन या विच्छेदन करनेहारे उस ब्रह्म को (सुपर्णाः) उत्तम ज्ञानसम्पन्न, मुक्त जीवात्मा (हरयः) रश्मियों के समान प्रदीप्त

तेज:सम्पन्न (अप: वसाना:) कर्म और ज्ञानों से सम्पन्न होकर (दिवम्) प्रकाशमय परम मोक्षपद को (उत्पतन्ति) जाते हैं। (ते) वे अपना मोक्षानन्द भोग कर (ऋतस्य सदनात्) उस सत्य-ज्ञान के आश्रय स्थान परमात्मा के पास से (आ ववृत्रन्) पुनः लौट कर आते हैं और (घृतेन इत्) प्रकाशमय ज्ञान से सूर्य में निकली किरणें जिस प्रकार मेघ-जल से पृथिवी को सींचती हैं उसी प्रकार (पृथिवीं व्यूदुः) वे पृथिवीवासी जनों को तृप्त करते हैं अर्थात् ज्ञान का प्रकाश करते हैं ॥

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत ।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति ॥२३॥

ऋ० १ । १५२ । ३ ॥

भा०—(पद्वतीनां प्रथमा) पूर्वोक्त एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी आदि ब्रह्मशक्तियों में से सबसे प्रथम विद्यमान, अव्याकृत ब्रह्मशक्ति (अपाद्) 'अपात्' अविज्ञेय रूप, अमात्र है। वही परम 'तुरीय पद' कहाती है। हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण, प्राण और अपान ! (वां कः) तुम दोनों में से कौन (तत्) उस 'अपात्' ब्रह्मशक्ति के स्वरूप को (चिकेत) जानता है। (अस्याः) इसके (गर्भः) गर्भ में स्थित तेजोमय स्वरूप ज्ञान या इसका धारण करनेहारा ब्रह्म ईश्वर (भारम्) समस्त विश्व के भार को या भरणपोषण के सामर्थ्य को (आभरति चित्) निश्चय से धारण करता है। और वही परमेश्वर (ऋतम्) सत्य ज्ञान और अनन्त बल या जगत् को (पिपर्त्ति) पूर्ण रूप से धारण या पालन करता है और (अनृतम्) असत्य, अज्ञान अन्धकार का नाश करता है।

२३—(च०) 'अस्य ऋतुं', 'नितारीत्' इति ऋ० ।

(तृ०) 'आचित् । अस्याः । ऋतम् ।' इति अथर्वगतमन्त्रस्य पदच्छेदः । 'आचित् । अस्य । ऋतम् ।' इति ऋग्वेदीयः पदच्छेदः ।

विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः ।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे
स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥ २४ ॥

भा०—(विराट्) विराट् (वाक्) वाणी है । (विराट् पृथिवी) विराट् पृथिवी है । (विराट् अन्तरिक्षम्) विराट् अन्तरिक्ष है । (विराट् प्रजापतिः) विराट् प्रजापति है । (विराट् मृत्युः) विराट् मृत्यु है, वही विराट् (साध्यानाम्) समस्त साध्य अर्थात् वश करने योग्य अथवा संसार के पदार्थों के रचने के लिये विशेष नियम में लाने योग्य प्राकृत विकारों तथा साधनासम्पन्न मुमुक्षु जीवों का (अधिराजः) अधीश्वर (बभूव) है । (तस्य वशे) उसके वश में (भूतम्) भूत, उत्पन्न संसार और (भव्यम्) भविष्यत्-कालिक संसार भी है । वह (भूतं भव्यम्) भूतकाल और भविष्यत्काल को (मे वशे कृणोतु) मेरे वश में करे । अर्थात् विराट् शब्द से वाक्, पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रजापति, मृत्यु इनका भी ग्रहण है और इन नामों से विराट् परमेश्वर का ग्रहण है इन आठ रूपों को लेकर वाक् और ईश्वरीय शक्ति 'अष्टापदी' कही गई है ।

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥२५॥

ऋ० १ । १६४ । ४३ ॥

भा०—मैं तत्वदर्शी ऋषि, (विषूवता) नाना प्रकार से उत्पत्ति क्रिया से युक्त (एना अवरेण) इस प्रत्यक्ष कार्यरूप जगत् से (परः) परे (शकमयम्) शक्तिमय (धूमम्) इस संसार को गति देने वाले

परमेश्वर को कारण रूप से, (आरात्) साक्षात् (अपश्यम्) देख रहा हूँ। (वीराः) वीर्यवान्, ब्रह्मचारी विद्वान् लोग उसी (उक्षाणम्) समस्त जगत् को धारण करने में समर्थ (पृश्निम्) आदित्य स्वरूप, तेजोमय समस्त आनन्द रसों को धारण करने वाले आनन्दघन को (अपचन्त) योग-अभ्यास, तप द्वारा परिपक्व करते हैं । (तानि) वे (धर्माणि) धारण करने योग्य यम, नियम आदि के तपोमय आचार (प्रथमानि) सबसे श्रेष्ठ (आसन्) हैं जिनके अभ्यास से उस परम-शक्ति का साक्षात् होता है।

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥२६॥

ऋ० १ । १६४ । ४५ ॥

भा०—(त्रयः) तीन (केशिनः) केशी, तेजस्वी पदार्थ (ऋतुथा) ऋतुकाल के अनुसार (वि चक्षते) दिखाई देते हैं या इस विश्व को देखते हैं, उस पर अपनी दृष्टि रखते हैं। (एषाम्) इनमें से (एकः) एक (संवत्सरे) वर्ष भर (वपते) ओषधि आदि वन-स्पतियों के बीज वपन करता है। (अन्यः) दूसरा विश्व को (अभि-चष्टे) प्रकाशित करता है, देखता है, रक्षा करता है। और (एकस्य) एक की (ध्राजिः) संहारकारी प्रबलगति (ददृशे) देखी जाती है, (रूपं न) उसका रूप नहीं दिखाई देता।

सृष्टि, स्थिति तथा संहार ये ईश्वर की तीनों शक्तियां यहां तीन केशी हैं वे यथाकाल अपना कार्य करती हैं एक शक्ति समस्त प्राणियों, वनस्पतियों या लोकों को उत्पन्न करती, दूसरी पालन करती और तीसरी संहार करती है। भौतिक पक्ष में अग्नि, आदित्य और वायु अथवा मेघ, आदित्य और वायु हैं।

२६–(तृ०) 'विश्वमेको' इति ऋ० ॥

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥२७॥
ऋ० १ । १६४ । ४५ ॥

भा०—(वाक्) वाणी के (चत्वारि पदानि) चार ज्ञातव्य रूप (परिमितानि) जाने गये हैं। (तानि) उनको (ये मनीषिणः) जो मनीषी, संकल्प-विकल्पचतुर, मननशील (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण लोग हैं वे (विदुः) जानते हैं। (त्रीणि) तीन रूप तो (गुहा) गुहा में, गूढ़ परमात्मा की शक्ति में (निहिता) गुप्तरूप से रक्खे हैं वे (न इङ्गयन्ति) अपना रूप प्रकट नहीं करते और (वाचः) वाणी के (तुरीयम्) चौथे रूप को (मनुष्याः वदन्ति) मनुष्य स्पष्ट बोलते हैं।

'चत्वारि पदानि' = कई विद्वानों के मत से 'भूः, भुवः, स्वः, ओ३म्' ये चार पद हैं। दूसरे वैयाकरण लोगों के मत से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, ये चार पद हैं। याज्ञिकों के मत में मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण और लौकिक भाषा, ये चार पद हैं। निरुक्तवादियों के मतमें—ऋग्, यजुः, साम और लौकिक भाषा ये चार पद हैं। ऐतिहासिकों के मत में सर्पों की, पक्षियों की, क्षुद्र जन्तुओं की और मनुष्यों की वाणी, ये चार पद हैं। अध्यात्मवादियों के मत से पशुओं में, वाद्य यन्त्रों में, मृगों में और मानव देह में फैली वाणियां चार पद हैं, यान्त्रिक लोकों के मत में—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार पद हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार तीनों लोकों में वाणी के तीन रूप हैं। पृथिवी में अग्निरूप, अन्तरिक्ष में वायुरूप, द्यौ में आदित्यरूप, उससे अतिरिक्त चतुर्थ व्याकृता वाणी ब्राह्मणों में है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥२८॥(८)

भा०—उस परमेश्वरीय शक्ति को (इन्द्रं, मित्रं, वरुणम्, अग्निम् आहुः) इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि नाम से पुकारते हैं। (अथो) और (सः) वही (गरुत्मान्) ज्ञान से सम्पन्न, महान् (सुपर्णः) उत्तम पालक होने से 'सुपर्ण' और (गरुत्मान्) ज्ञानमय होने से 'गरुत्मान्' भी कहा जाता है। उसी को (अग्निम्) प्रकाशमान होने से 'अग्नि' (यमं मातरिश्वानम् आहुः) नियन्ता होने से यम और अन्तरिक्ष में या प्रकृति में व्यापक प्रेरक होने से 'मातरिश्वा' भी कहते हैं। (एकं सद्) उस एक सत्, सत्यरूप परमात्मा को (विप्राः) विद्वान् मेधावी लोग (बहुधा) बहुत नामों से (वदन्ति) कहते हैं।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥ इति मनु० १२।१२३॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।

आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ इति मनु० १२।१२५॥

॥ इति पंचमोऽनुवाकः ॥

[तत्र सूक्तद्वयं ऋचश्च पंचाशत]

नवमं काण्डं समाप्तम्



इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मणा विरचितेऽथर्वणो ब्रह्मवेदस्यालोकभाष्ये नवमं काण्डं समाप्तम् ॥

आर्य्य-साहित्य मण्डल के प्रकाशित ग्रन्थ

(चारों वेदों के सरल सुबोध भाषा-भाष्य)

(१) सामवेद भाषा-भाष्य

पृष्ठसंख्या ६५० से अधिक मू० ५)

(२) अथर्ववेद भाषा-भाष्य (चार भागों में)

अथर्ववेद में ब्रह्मविद्या, राजविद्या और मानव समाज की उन्नति के लिए सभी उत्तम २ विद्याओं का बड़ी गम्भीरता और उत्तमता से उपदेश किया गया है। मूल्य चारों भागों का २३) रुपये.

(३) यजुर्वेद भाषा-भाष्य (दो भागों में)

इस भाष्य में महर्षि दयानन्द की दर्शाई दिशा को मुख्यता दी गई है। मूल्य दोनों भागों का १३) रुपये।

(४) ऋग्वेद भाषा-भाष्य (सात भागों में)

महर्षि दयानन्दकृत संस्कृत भाष्यशैली से भाष्य किया गया है और जिन भागों पर महर्षि दयानन्द का भाष्य नहीं है, उन पर भी सरल भाष्य कर दिया गया है। मूल्य प्रति भाग ५) रुपया।

विशेष टिप्पणी—वेद-भाष्य के प्रत्येक खण्ड में लगभग ८००पृष्ठ हैं। पूरे सेट का रुपया पेशगी भेजने पर पेकिंग व मार्ग-व्यय नहीं लिया जाता।

१—यजुर्वेद (मूल गुटका)

नित्य वेदों का पाठ करने के लिए यजुर्वेद मूल गुटके के रूप में प्रकाशित किया गया है। प्रत्येक मन्त्र पृथक् २ छापा गया है।

सजिल्द का मूल्य केवल ४।।) पृष्ठ ५०० से भी ऊपर है।

"कर्त्तव्य-दर्पण"

पूज्य श्री १०८ नारायण स्वामी कृत

नित्य कर्म, प्रातः सायं के प्रार्थना-मन्त्र, स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ अर्थसहित, आर्य्य-समाज के मन्तव्य, आश्रम और वर्ण-संस्कार, महर्षि का आदर्श जीवन तथा अनेक भक्ति-पूर्ण भजन संकीर्तन संकलित हैं। पढ़ने से जीवन में सच्ची शान्ति, सच्ची उन्नति तथा सच्ची ईश्वर-भक्ति का उदय होता है। जेबी गुटका-साइज़। पृष्ठसंख्या १०० । कपड़े की जिल्द अति मनोहर। मूल्य केवल १।)

आर्य्यमन्तव्य-दर्पण

महर्षि दयानन्द के लिए उद्देश्यों और मन्तव्यों का वेदमन्त्रों के उत्तम २ प्रमाणों सहित सुबोध व्याख्या। मूल्य ।।।) आना।

वेदोपदेश

नित्य स्वाध्याय के लिए अपूर्व ग्रन्थ, रचयिता प्रसिद्ध विद्वान् श्री स्वामी वेदानन्दजी तीर्थ।

यह पुस्तक "वैदिक राष्ट्रगीता" कहाने योग्य है। इस पुस्तक के पाठ से मातृभूमि, प्रजाप्रेम और स्वराज्य के उत्तम भाव हृदय में जागृत होते हैं। मूल्य १) रुपया।

भारतीय समाज-शास्त्र

श्री पं० धर्मदेवजी विद्यावाचस्पति, देहली

भारत की प्राचीन उज्ज्वल सुवर्णीय आर्य्यसभ्यता और आदर्श समाज-व्यवस्था। मूल्य २) रु०।

——— ———



